

चौबीस गीता (द्वितीय खण्ड)

(सूल व सरल भाषानुवाद सहित जनोपयोगी संस्करण)



भाष्यकारः

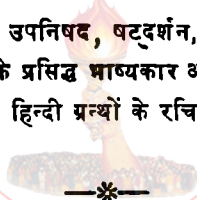
वेदमूर्ति, तपोनिष्ठ

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

चार वेद, १०८ उपनिषद्, षट्दर्शन, २० स्मृतियाँ,

१८ पुराणों के प्रसिद्ध भाष्यकार और लगभग

१५० हिन्दी ग्रन्थों के रचयिता



प्रकाशकः

संस्कृति संस्थान

स्वाजा कुतुब (वेद नगर) बरेली (उ०प्र०)

: BOOK MADE AVAILABLE FOR DIGITIZATION BY :

YUG NIRMAN YOJANA, GAYATRI TAPOBHUMI
MATHURA, INDIA

: OUR MAIN CENTERS :

Shantikunj, Haridwar,
Uttaranchal, India – 249411
Phone no : 91-1334- 260602,
Website : www.awgp.org
E-mail : shantikunj@awgp.org

Gayatri Tapobhumi,
Mathura, U.P., India – 281003
Phone no : 91-0565-2530128,
Website : www.awgp.org
E-mail : yugnirman@awgp.org

: BOOK DIGITIZED BY :

Vicharkranti Pustakalay, Thana-Faliya, Dindoligam, Surat-394210, Gujarat, India
E-mail: vicharkranti.awgp@gmail.com | Website : www.vicharkrantibooks.org

प्रकाशक :

डा० चमनलाल गौतम

संस्कृति संस्थान

ह्वाजा कुतुब (वेद नगर)

बरेली (उ० प्र०)

✽

लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

✽

सर्वाधिकार सुरक्षित www.vicharkrantibooks.org

✽

मुद्रक :

दाऊदयाल गुप्ता

सस्ता साहित्य प्रेस

मथुरा

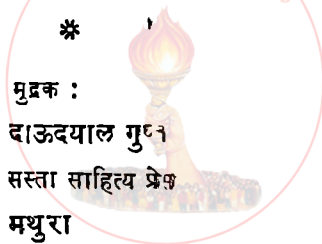
✽

प्रथम संस्करण

१९७१

✽

मूल्य ७)५०



निवेदन

प्राचीन भारतीय साहित्य में आध्यात्मिक-ज्ञान की दृष्टि से उपनिषदों का स्थान सर्वोपरि माना जाता है। अब से कई हजार वर्ष पहले जब संसार के अधिकांश देश अर्द्ध सभ्य अवस्था में थे और आजकल के समान पढ़ने-लिखने का कोई साधन न था, भारतीय ऋषियों ने आत्मा, परमात्मा और विश्व-रचना के सम्बन्ध में सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्वों का पता लगा लिया था, यह कोई कम महत्त्व की बात नहीं है। उपनिषदों में परमात्मा की जैसी व्याख्या कर दी गई है और आत्मा और परमात्मा की एकता पर जो प्रकाश डाला गया है, उससे अभी तक कोई आगे नहीं बढ़ सका है। उनमें किसी भी देवी-देवता, स्वर्ग-नरक, लोक-परलोक की चर्चा नहीं पाई जाती। समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड में केवल एक अव्यक्त तत्त्व के अस्तित्व का वर्णन ही किया गया है।

पर उपनिषद-साहित्य भी काफी विस्तृत होगया और उसकी विवेचन शैली भी औसत दर्जे के पाठकों के लिये अधिकांश में गूढ़ और दुरूह सिद्ध होने लगी तो उसका सारांश लेकर “गीता” की रचना की गई। “गीता” यद्यपि आजकल अनेक देखने और सुनने में आती हैं, पर मुख्य रूप से उनका आशय “भगवद्गीता” से ही समझा जाता है। उसके लिये स्पष्ट कहा गया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

इसके अनुसार “भगवद्गीता” उपनिषद-साहित्य को मथकर निकाला हुआ नवनीत ही है। इसमें आध्यात्मिक तत्त्व को ऐसे संक्षेप और सरल ढंग से वर्णित किया गया है कि सामान्य ज्ञान रखने वाला

व्यक्ति भी उससे लाभ उठा सकता है। कुल सात सौ श्लोकों में आत्मा की अमरता से लेकर जीवन-यापन सम्बन्धी सभी समस्याओं का युक्ति युक्त समाधान कर देना एक बड़ी विशेषता युक्त रचना मानी गई।

“महाभारत” के रचियता श्रीव्यासजी ने “भगवत गीता” का वर्णन करने के उपरान्त स्वयं कहा है—

गीता सुगता कतव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।

अर्थात् “गीताजी को भली प्रकार पढ़ समझ कर धारण करना ही मुख्य कर्तव्य है। फिर अन्य शास्त्रों के विस्तार से क्या प्रयोजन है।”

यही कारण है कि जैसे-जैसे समय बीतता गया उसकी महत्ता बढ़ती ही गई और अब से दो-तीन सौ वर्ष पूर्व ही जब आवागमन और प्रचार के साधन बहुत कम थे वह अनुवादित होकर एशिया और योरोप के अनेक देशों में पहुँच गई थी। आज तो संसार की कदाचित् ही कोई सभ्य भाषा ऐसी हो जिसमें उसका अनुवाद न हो चुका हो।

जिस प्रकार वाल्मीकीय और तुलसी रामायणों के अनुकरण पर संस्कृत और हिन्दी में पचासों “रामायण” नाम की रचनायें हो चुकी हैं, उसी प्रकार “भगवत् गीता” से प्रेरणा लेकर उसी के आदर्श पर बहु-संख्यक ‘गीताओं’ की रचना की गई है। धीरे-धीरे “गीता” शब्द आध्यात्मिक ज्ञान के संक्षिप्त विवेचन के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और विभिन्न मतों तथा सम्प्रदायों के विद्वानों ने अपने ढंग पर आत्म-ज्ञान का परिचय देने के लिये विभिन्न गीताओं की रचना कर डाली। अनेक आचार्यों ने कोई पृथक् गीता न लिखकर “भगवत् गीता” की ही अपने अपने सिद्धान्तानुकूल व्याख्याएँ और भाष्य लिख डाले जो एक स्वतंत्र ग्रन्थ की तरह ही थे। इस प्रकार क्रमशः “गीता-शास्त्र” का बहुत विस्तार हो गया और जनता में बहुत सी गीताएँ प्रचलित हो गईं, जिनमें छोटी-बड़ी, उत्तम-मध्यम सभी तरह की रचनाएँ थीं। यद्यपि “भगवत गीता” की स्थिति को तो कोई रचना अल्पांश में भी प्राप्त न कर सकी तो भी अपनी अपनी योग्यतानुसार उनका भी प्रचार जनता में

होता रहा और आज यदि संग्रह किया जाय तो महाभारत तथा अन्य पुराणों में पच्चीस-पन्नास गीताएँ मिल सकती हैं। ये सब गीताएँ एक समान महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, क्योंकि कुछ नकल का ही धंधा करने वाले लोगों ने बिल्कुल घटिया बाजारू पुस्तकों का नाम भी “गीता” ही रख दिया है। तो भी अनेक गीताओं में आध्यात्म, ज्ञान-योग, निष्काम कर्म योग और योग आदि के उच्च सिद्धान्त समाविष्ट हैं। इस द्वितीय खण्ड में ही अनेक स्थानों पर पाठकों को ऐसे-ऐसे तथ्य मिलेंगे जहाँ तक अब भी अधिकांश व्यक्ति नहीं पहुँच सके हैं। मनुष्य मात्र की एकता का प्रतिपादन करते हुये महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है—

“मोक्ष ज्ञान से ही मिलता है, अज्ञान से नहीं—विद्वानों का यही कथन है। इसलिये यथार्थ ज्ञान की खोज करे, जिससे जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा पाया जा सके। इस प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या उनसे भी नीच वर्ण में उत्पन्न व्यक्ति से भी होती हो तो उसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण करे। जिस मनुष्य में श्रद्धा है वही जन्म-मरण के बन्धन से छूट सकता है। ब्रह्मा से सभी वर्णों की उत्पत्ति हुई है इसलिये सभी वर्ण ब्राह्मण हैं। मैं ब्रह्म बुद्धि से यथार्थ शास्त्र का सिद्धान्त कहता हूँ कि वह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म ही है। ब्रह्म के मुख से ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई, ब्रह्म की भुजाओं से क्षत्रियों की उत्पत्ति हुई, ब्रह्म की नाभि से वैश्य और पाँवों से शूद्र उत्पन्न हुए। इसलिये सभी वर्णों के मनुष्य ब्रह्मरूप ही हैं। ब्रह्म से भिन्न किसी को न समझे। अज्ञान मूलक कर्मों का अनुष्ठान करने वाले मनुष्य विभिन्न योनियों में जन्म लेते और मृत्यु को प्राप्त होते हैं और फिर भिन्न योनियों को प्राप्त करते हैं। इसलिये सब प्रकार से ज्ञान पाने का ही यत्न करे। ज्ञान में स्थित ब्राह्मण अथवा किसी अन्य वर्ण का हो, उसके जिये नित्य मोक्ष का होना कहा गया है।”

इसी प्रकार भृगुजी ने कहा है कि “आरम्भ में कोई वर्ण भेद न था ब्रह्माजी से उत्पन्न होने के कारण यह सम्पूर्ण विश्व ब्राह्मण ही कहा

जाता था । परन्तु विविध कर्मों के कारण उनमें वर्णों का भेद बाद में हुआ है । जो अपने ब्राह्मणोचित धर्म को छोड़ कर विषय-भोगों से प्रेम करने वाले, तीक्ष्ण स्वभाव वाले, क्रोधी और साहसी होगये, वे ब्राह्मण क्षत्रिय-भाव को प्राप्त हो गये और क्रोधादि के कारण उनके शरीर का रङ्ग लाल पड़ गया । जिन्होंने ब्राह्मणोचित कर्म छोड़ कर गौओं के द्वारा अथवा कृषिकर्म द्वारा जीविका चलाई, वे वैश्यभाव को प्राप्त हुये, उनका रङ्ग भी पीलापन लिये होगया । जो ब्राह्मण शौच, सदाचार से भ्रष्ट होकर हिंसा और असत्य के द्वारा, व्याधों के समान कर्म करके जीविकोपार्जन करने लगे, उनका रङ्ग काला पड़ गया और वे शूद्र कहे जाने लगे । इन सब कर्मों से ही वे सब ब्राह्मण ब्राह्मणत्व से पृथक् होकर अन्यान्य वर्णों के हो गये, परन्तु उनके लिये धर्मानुष्ठान और यज्ञादि कर्मों का कभी प्रतिबन्ध नहीं किया गया ।”

इस प्रकार सभी गीतकारों ने आत्मतत्त्व की एकता की दृष्टिसे समस्त मनुष्य को एक वर्ण का—परस्पर भाई-भाई माना है । उनमें जो कुछ अन्तर है वह जीविकोपार्जन के लिये किये जाने वाले पेशे का है । आधुनिक समाजशास्त्र (सोशियोलॉजी) के जानकारों का भी यही कथन है कि कुछ हजार वर्ष पहले सभी मनुष्य छोटे-बड़े समूहों में संगठित हो कर जंगली फल-फूल पर साधारण खेती-बाड़ी अथवा शिकार द्वारा गुजर बसर करते थे और उनमें छोटे-बड़े या ऊँच-नीच का कोई अन्तर न था । पर जैसे-जैसे समाज का विस्तार होता गया और राज्य-शासन तथा व्यापार के कारण नये-नये पेशों का विकास होता गया वैसे-वैसे ही नई जातियाँ और उपजातियाँ बनती चली गईं । उसके पश्चात् जब धन सम्पत्ति की अधिक वृद्धि होगई तब उसकी अधिकता और न्यूनता के हिसाब से छोटे-बड़े, ऊँच-नीच का अन्तर भी उत्पन्न हो गया । स्वयं परमात्मा ने किसी को न ऊँचा बनाया है न नीचा । मनुष्य जैसा भी दिखाई पड़ता है वह अपने कर्मों के कारण ही है ।

इस प्रकार ये गीतायें श्रेष्ठ और उपयोगी ज्ञान के भण्डार हैं । जो अन्ध विश्वासी और कट्टरपन्थी लोग ब्राह्मण आदि में जन्म लेने के कारण

अपने को श्रेष्ठ और दूसरों को हीन समझते हैं और छोटी जाति कहे जाने वालों के साथ अन्याय-अत्याचार का व्यवहार करते हैं वे वास्तव में धर्म-तत्व और उसके स्वरूप से अनजान हैं और केवल अपने स्वार्थ के कारण असत्य और धर्म विरोधी मार्ग पर चलते हैं । वे इन गीताओं का मनन करके जान सकते हैं कि हमारे पूर्वज ऐसे संकीर्ण विचारों के न थे । क्या पारलौकिक और क्या लौकिक, क्या सामाजिक और क्या आर्थिक सभी विषयों में वे उदार विचारों के पोषक थे और धन संग्रह तथा परिग्रह-वृत्ति के बजाय त्याग, दान और तपस्या का जीवन अतिवाहित करना ही परम कर्तव्य समझते थे । यदि पाठक इस दृष्टि से इस ग्रंथ का अध्य-यन और मनन करेंगे तो वे जीवन के सत्य को प्राप्त कर सकेंगे और हमारे इस प्रयत्न को भी सार्थक बनायेंगे ।



— प्रकाशक

विषय सूची

निवेदन	३
१३—याज्ञवल्क्य-गीता	६
१४—वसिष्ठ-गीता	५५
१५—मार्कण्डेय-गीता	६४
१६—भृगु-गीता	१४८
१७—कपिल-गीता	१६५
१८—ब्रह्म-गीता	२२२
१९—बृहस्पति-गीता	२४३
२०—उतथ्य-गीता	२६६
२१—पंचशिख-गीता	२८५
२२—सावित्री-गीता	३०६
२३—ईश्वर-गीता	३२६
२४—व्यास-गीता	४०६



चौबीस गीता

[द्वितीय खण्ड]

१३-याज्ञवल्क्य गीता

धर्माधर्मविमुक्तं यद् विमुक्तं सर्वसंशयात् ।
जन्ममृत्युविमुक्तं च विमुक्तं पुण्यपापयोः ॥१
यच्छिवं नित्यमभयं नित्यमक्षरमव्ययम् ।
शुचि नित्यमनायासं तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥२
अत्र ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम् ।
याज्ञवल्क्यस्य संवादं जनकस्य च भारत ॥३
याज्ञवल्क्यमृषिश्रेष्ठं देवरातिर्महायशः ।
पप्रच्छ जनको राजा प्रश्नं प्रश्नविदां वरम् ॥४
अतीन्द्रियाणि विप्रर्षे कति प्रकृतयः स्मृताः ।
किमव्यक्तं परं ब्रह्म तस्माच्च परतस्तु किम् ॥५
प्रभवं चाप्ययं चैव कालसंख्यां तथैव च ।
वक्तुमर्हसि विप्रेन्द्र त्वदनुग्रहकाङ्क्षितः ॥६
अज्ञानात् परिपृच्छामि त्वं हि ज्ञानमयो निधिः ।
तदहं श्रोतुमिच्छामि सर्वमेतदसंशयम् ॥७

युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह ! धर्म-अधर्म के बंधन से रहित, संशयों से परे, जन्म-मरण-विहीन, पुण्य-पाप से मुक्त, नित्य, निर्भय, कल्याणमय, अक्षर, अव्यय, पवित्र और क्लेश-रहित तत्त्व का उपदेश करिये । भीष्मजी ने कहा—हे भारत ! इस विषय में एक प्राचीन कालीन

जनक-याज्ञवल्क्य संवाद तुम्हारे प्रति कहूंगा । एक समय देवरात-पुत्र महं यशस्वी जनक ने प्रश्न के रहस्य को भले प्रकार समझने वाले ऋषिभ्रां याज्ञवल्क्यजी से प्रश्न किया । जनक ने कहा—हे विप्रर्षे ! इन्द्र! कितनी हैं ? प्रकृति के कितने भेद हैं ? अव्यक्त क्या है ? उससे परे प ब्रह्म का स्वरूप क्या है ? सृष्टि और प्रलय किसे कहते हैं ? काल व गणना किस प्रकार की जाती है ? यह सब मुझे बताने की कृपा करिये क्योंकि हम आपके अनुग्रह की आकांक्षा रखते हैं । मैं इस विषय में अभिज्ञ होने के कारण आपसे प्रश्न कर रहा हूँ । आप ज्ञाननिधि हैं, इस लिये आपसे ही सब विषयों को सुनना चाहता हूँ, जिससे कि कोई संशय शेष न रहे ॥१-७॥

श्रूयतामवनीपाल यदेतदनुपृच्छसि ।

योगानां परमं ज्ञानं सांख्यानां च विशेषतः ॥८

न तवाविदितं किञ्चिन्मां तु जिज्ञासते भवान् ।

पृष्टेन चापि वक्तव्यमेष भर्मः सनातनः ॥९

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराश्चापि षोडश ।

तत्र तु प्रकृतीरष्टौ प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः ॥१०

अव्यक्तं च महान्तं च तथाहङ्कार एव च ।

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥११

एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ विकारानपि मे शृणु ।

श्रोत्रं त्वक्चैव चक्षुश्च जिह्वा घ्राणं च पञ्चमम् ॥१२

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ।

वाक् च हस्तौ च पादौ च पायुर्मैद्वं तथैव च ॥१३

एते विशेषा राजेन्द्र महाभूतेषु पञ्चसु ।

बुद्धीन्द्रियाण्यथैतानि सविशेषाणि मेथिल ॥१४

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—राजन् ! तुमने जो प्रश्न किया है उसके अनुसार मैं योग और विशेषकर सांख्य का परम रहस्यमय ज्ञान तुम्हारे प्रति कहता हूँ । यद्यपि तुमसे कोई विषय छिपा नहीं है, फिर भी मुझसे पूछते

हो तो कहता हूँ । क्योंकि प्रश्नकर्त्ता का समाधान करना ही सनातन धर्म है । प्रकृतियाँ आठ और उनके विकार सोलह कहे गये हैं । आध्यात्मिक शास्त्रों के चित्तक पुरुष अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इन नामों वाली आठ प्रकृतियाँ बताते हैं । उपरोक्त आठ प्रकृतियों के अतिरिक्त श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, वाणी, हाथ, पाँव, उपस्थ और गुदा यह उनके विकार हैं । हे राजेन्द्र ! उनमें माँच कर्मेन्द्रियाँ और शब्द आदि पाँच विषय 'विशेष' संज्ञा वाले हैं और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ 'सविशेष' संज्ञा वाली हैं । यह विशेष और सविशेष तत्त्व पंच महाभूतों में ही स्थित हैं ॥८-१४॥

मनः षोडशकं प्राहुरध्यात्मगतिचिन्तकाः ।

त्वं चैवान्ये च विद्वांस्तत्त्वबुद्धिविशारदाः ॥१५

अव्यक्ताच्च महानात्मा समुत्पद्यति पार्थिव ।

प्रथमं सर्गमित्येतदाहुः प्राधानिकं बुधाः ॥१६

महत्तत्त्वाप्यहङ्कार उत्पन्नो हि नराधिप ।

द्वितीयसर्गमित्याहुरेतद् बुद्ध्यात्मकं स्मृतम् ॥१७

अहङ्काराच्च सम्भूतं मनो भूतगुणात्मकम् ।

तृतीयः सर्ग इत्येष आहङ्कारिक उच्यते ॥१८

मनसस्तु समुद्भूता महाभूता नराधिप ।

चतुर्थं सर्गमित्येतन्मानसं विद्धि मे मतम् ॥१९

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ।

पञ्चमं सर्गमित्याहुर्भौतिकं भूतचिन्तकाः ॥२०

श्रोत्रं त्वक् चैव चक्षुश्च जिह्वा घ्राण च पञ्चमम् ।

सर्गं तु षष्ठमित्याहुर्वहुचिन्तात्मकं स्मृतम् ॥२१

यह सब पन्द्रह हैं । इनके साथ मन को मिलाकर सोलह हुए । अध्यात्म गति के चित्तक और तत्त्व ज्ञान विशारद तुम और अन्य विद्वान् इन्हीं को सोलह विकार मानते हैं । अव्यक्त प्रकृति से महत्तत्त्व की उत्पत्ति हुई । इसे ज्ञानियों ने प्रथम तथा प्राकृत सृष्टि कहा है । हे राजन् ! महत्तत्त्व से अहंकार उत्पन्न होता है, जिसे दूसरी सृष्टि कहते हैं, यह बुद्ध्या-

त्मक है। अहंकार से मन की उत्पत्ति हुई, जो पंच भूत और शब्द आदि गुण रूप है। इसे तीसरी आहंकारिक सृष्टि कहते हैं। मन के द्वारा पाँच सूक्ष्म महाभूतों की उत्पत्ति हुई, यह चौथी सृष्टि है और मैं इसे मानसी सृष्टि मानता हूँ। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गंध-इन पंच विषयों की उत्पत्ति पंच महाभूतों से हुई है। यह पाँचवीं सृष्टि है। इसे भूतचिन्तक विद्वान् भौतिक सृष्टि कहते हैं। श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका यह ज्ञानेन्द्रिय पंचक छटवीं सृष्टि है। इसे बहुचिन्तात्मक सर्ग समझना चाहिये ॥१५-२१॥

अधः श्रोत्रेन्द्रियग्राम उत्पद्यति नराधिप ।

सप्तमं सर्गमित्याहुरेयदैन्द्रियकं स्मृतम् ॥२२

ऊर्ध्वं स्रोतस्तथा तिर्यगुत्पद्यति नराधिप ।

अष्टमं सर्गमित्याहुरेतदार्जवकं स्मृतम् ॥२३

तिर्यक्स्रोतस्त्वधःस्रोत उत्पद्यपि नराधिप ।

नवमं सर्गमित्याहुरेतदार्जवकं बुधाः ॥२४

एतानि नव सर्गाणि तत्त्वानि च नराधिप ।

चतुर्विंशतिरुक्तानि यथाश्रुतिनिदर्शनात् ॥२५

अत ऊर्ध्वं महाराज गुणस्यैतस्य तत्त्वतः ।

महात्मभिरनुप्रोक्तां कालसंख्यां निबोध मे ॥२६

अव्यक्तस्य नरश्रेष्ठ कालसंख्यां निबोध मे ।

पञ्चकल्पसहस्राणि द्विगुणान्यहरुच्यते ॥२७

रात्रिरेतावती चास्य प्रतिबुद्धो नराधिप ।

सृजत्योषधिमेवाग्रे जीवनं सर्वदेहिनाम् ॥२८

हे राजन् ! श्रोत्र आदि के पश्चात् जो पंच कर्मेन्द्रिय उत्पन्न होती हैं, वह सातवीं सृष्टि एन्द्रिक सर्ग बतायी गयी है। फिर ऊपर की ओर प्रवाह वाले प्राण और तिरछा चलने वाले समान, ध्यान और उदान की उत्पत्ति हुई। यह आठवीं सृष्टि आर्जवक सर्ग कही जाती है। फिर तिरछे प्रवाह वाले व्यान और उदान अपान वायु के साथ निचले भाग में उत्पन्न हुए। यह नवीं सृष्टि भी आर्जवक नाम वाली विद्वानों ने बतायी है। हे नरा-

धिप ! यह नौ सर्ग और चौबीस तत्त्व श्रुति के निर्देशानुसार ही यहाँ कहे गये हैं । हे महाराज जनक ! इसके बाद अब महात्माओं द्वारा कही हुई इस गुणमयी सृष्टि की काल गणना कहता हूँ, उसे श्रवण करो । याज्ञवल्क्यजी ने कहा—हे नरश्रेष्ठ ! अब मुझसे अव्यक्त की काल संख्या सुनो—इस अव्यक्त का एक दिन दस हजार कल्पों का बताया गया है । हे नरेश्वर ! अव्यक्त की रात्रि भी उतनी ही लम्बी होती है । ज्ञान रूप ब्रह्म सब प्राणियों के जीवन निर्वाह के लिये प्रथम औषधि उत्पन्न करते हैं ॥२२-२८॥

ततो ब्रह्माणमसृजद्विरण्याण्डसमुद्भवम् ।
 सा मूर्तिः सर्वभूतानामित्येवमनुशुश्रुम् ॥२६
 संवत्सरमुषित्वाण्डे निष्क्रम्य च महामुनिः ।
 संदधे स महीं कृत्स्नां दिवमूर्ध्वं प्रजापतिः ॥२७
 द्यावापृथिव्योरित्येष राजन् वेदेषु पठ्यते ।
 तयोः शकलयोर्मध्यमाकाशमकरोत् प्रभुः ॥२८
 एतस्यापि च संख्यानं वेदवेदाङ्गपारगैः ।
 दशकल्पसहस्राणि पादोनान्यहरुच्यते ॥२९
 रात्रिमेतावतीं चास्य प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः ।
 सृजत्यहङ्कारमृषिभूतं दिव्यात्मकं तथा ॥३०
 चतुरश्रापरान् पुत्रान् देहात् पूर्वं महानृषिः ।
 ते वं पितॄणां पितरः श्रूयन्ते राजसत्तम ॥३१
 देवाः पितॄणां च सुता देवैर्लोकाः समावृताः ।
 चराचरा नरश्रेष्ठ इत्येवमनुशुश्रुम् ॥३२

सुना जाता है कि औषधियों की उत्पत्ति के बाद परमात्मा ने ब्रह्मा जी को उत्पन्न किया, जो स्वर्णिम अण्ड के भीतर से प्रकट हुए थे । वे ब्रह्माजी सब भूतों के उत्पत्ति स्थान हैं । वे प्रजापति ब्रह्मा उस स्वर्णिम अण्ड में एक वर्ष तक रह कर उससे बाहर निकले और फिर उन्होंने पृथिवी, आकाश और स्वर्ग की रचना का विचार किया । हे राजन् !

वेदों में कहा गया है कि ब्रह्माजी ने उस अण्ड के दोनों टुकड़ों के तथा स्वर्ग और पृथिवी के मध्य भाग में आकाश की रचना की। वेद-वेदांगों के ज्ञाता ब्रह्माजी की काल संख्या को कहते हैं कि दस हजार कल्पों में से एक चौथाई कम करने पर जितना शेष रहे, उतना ही उनका एक दिन होता है। अध्यात्म तत्त्व चिन्तकों का कहना है कि ब्रह्माजी की रात्रि भी इतनी ही बड़ी होती है। महान् ऋषि ब्रह्मा अहंकार नामक दिव्य भूत की रचना करते हैं। ब्रह्माजी ने पूर्वकाल में भौतिक देह की उत्पत्ति से पूर्व बुद्धि, अहंकार, मन और चित्त नामक चार पुत्रों को उत्पन्न किया। वे चारों पितरों के पितर अर्थात् पंच महाभूतों के भी पिता सुने गये हैं। देवगण पितरों के पुत्र कहे गये हैं अर्थात् सभी इन्द्रियाँ पंचभूतों से प्रकट हुई हैं। वे सभी चराचर विश्व के आश्रय में स्थित सुने जाते हैं ॥२६-३५॥

परमेष्ठी त्वहङ्कारः सृजन् भूतानि पञ्चधा ।

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥३६

, एतस्यापि निशामाहुस्तृतीयमिह कुर्वतः ।

पञ्चकल्पसहस्राणि तावदेवाहरुच्यते ॥३७

शब्दः स्पशश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ।

एते विशेषा राजेन्द्र महाभूतेषु पञ्चसु ॥३८

यैराविष्टानि भूतानि अहन्यहनि पार्थिव ।

अन्योन्यं स्पृह्यन्त्येते अन्योन्यस्य हिते रताः ॥३९

अन्योन्यमतिवर्तन्ते अन्योन्यस्पर्धनस्तथा ।

ते वध्यमाना ह्यन्योन्यं गुणैर्ह्यभिभिरव्ययैः ॥४०

इहैव परिवर्तन्ते तिर्यग्योनिप्रवेशिनः ।

त्रीणि कल्पसहस्राणि एतेषामहरुच्यते ॥

रात्रिरेतावती चैव मनसश्च नराधिप ॥४१

मनश्चरति राजेन्द्र चारितं सर्वमिन्द्रियैः ॥४२

न चेन्द्रियाणि पश्यन्ति मन एवानुपश्यति ।

चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा तु न चक्षुषा ॥४३

स्रष्टा के श्रेष्ठ पद पर प्रतिष्ठित अहंकार आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी इन पंच भूतों की उत्पत्ति करता है। इस तीसरी भौतिक सृष्टि को रचने वाले अहंकार की रात्रि पाँच हजार कल्पों की होती है तथा उसका दिन भी इतना ही बड़ा कहा जाता है। हे राजेन्द्र ! आकाश आदि पंच महाभूतों में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध—यह विशेष गुण कहे हैं। प्रवाह रूप से स्थित इन शब्द आदि विषयों से आविष्ट हुए सब प्राणी परस्पर एक दूसरे को चाहते हैं। कभी एक-दूसरे का हित करने में और कभी एक दूसरे को गिराने में लगे रहते हैं। कभी परस्पर ईर्ष्या रखते और कभी मार-पीट भी कर बैठते हैं। विषयों में आसक्त ऐसे प्राणी तिर्यग्योनियों में जन्म लेते हुए संसार में भटकते रहते हैं। इन शब्दादि विषयों का एक तीन हजार कल्पों का और रात्रि भी इतनी बड़ी कही गयी है। मन के दिन-रात्रि भी इतने ही बड़े बताये जाते हैं। मन इंद्रियों द्वारा संचलित होता और सब विषयों की ओर दौड़ता है। मन ही उन विषयों को निरन्तर देखता रहता है, इन्द्रियाँ नहीं देखतीं। नेत्र मन के द्वारा ही रूप को देखते हैं, अपनी शक्ति से नहीं देख पाते ॥३६-४३॥

मनसि व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति ।
 तथेन्द्रियाणि सर्वाणि पश्यन्तीत्यभिचक्षते ॥४४
 न चेन्द्रियाणि पश्यन्ति मन एवात्र पश्यति ।
 मनस्युपरते राजन्निन्द्रियोपरमो भवेत् ॥४५
 न चेन्द्रियव्युपरमे मनस्युपरमो भवेत् ।
 एवं मनःप्रधानानि इन्द्रियाणि प्रभावयेत् ॥४६
 इन्द्रियाणां तु सर्वेषामीश्वरं मन उच्यते ।
 एतत् विशन्ति भूतानि सर्वाणीह महायशः ॥४७
 तत्त्वानां सर्वसंख्या च कालसंख्या तथैव च ।
 मया प्रोक्ताऽऽनुपूर्व्येण संहारमपि मे शृणु ॥४८
 यथा संहरते जन्तून् ससर्जं च पुनः पुनः ।
 अनादिनिधनो ब्रह्मा नित्यश्चाक्षर एव च ॥४९

जब मन में व्यग्रता होती है, तब नेत्र उसे देखते हुई भी नहीं देख पाते । जो लोग यह कहते हैं कि सभी इन्द्रियाँ विषयों को प्रत्यक्ष देखती हैं, यह उनका भ्रम मात्र ही समझना चाहिये । इन्द्रियाँ कुछ नहीं देखतीं, मन ही देखता है । यदि मन विषयों से उपरत हो जाता है तो इन्द्रियाँ भी विषयों का त्याग कर देती हैं । परन्तु, इन्द्रियों के उपरत होने पर मन में उपरति नहीं हो पाती । इससे यही मानना होता है कि सभी इन्द्रियों में मन ही प्रमुख है । मन को सभी इन्द्रियों का स्वामी कहा गया है । हे महान् यशस्वी राजन् ! संसार के सभी जीव इस मन के ही आश्रित समझने चाहिये । याज्ञवल्क्यजी ने कहा—राजन् ! अब मेरे द्वारा कही गयी तत्त्वों की सम्पूर्ण संख्या, काल संख्या और तत्त्वों के संहार का वर्णन सुनो । अनादि, अनन्त, नित्य, अक्षरस्वरूप ब्रह्माजी किस प्रकार जीवों की उत्पत्ति और संहार करते रहते हैं, यह तुम्हारे प्रति कहता हूँ ॥४४-४६॥

अहःक्षयमथो बुद्ध्वा निशि स्वप्नमनास्तथा ।

चोदयामास भगवानव्यक्तोऽहंकृतं नरम् ॥५०

ततः शतसहस्रांशुरव्यक्तेनाभिचोदितः ।

कृत्वाद्वादशधाऽऽत्मानमादित्यो ज्वलदग्निवत् ॥५१

चतुर्विधं महीपाल निर्दहत्याशु तेजसा ।

जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जं च नराधिप ॥५२

एतदुन्मेषमात्रेण विनष्टं स्थाणु जङ्गमम् ।

कूर्मपृष्ठसमा भूमिर्भवत्यथ समन्ततः ॥५३

जगद् दग्ध्वामितबलः केवलां जगतीं ततः ।

अम्भसा बलिना क्षिप्रमापूरयति सर्वशः ॥५४

ततः कालाग्निमासाद्य तदम्भो याति संक्षयम् ।

विनष्टेऽम्भसि राजेन्द्र जाज्वलत्यनलो महान् ॥५५

तमप्रमेयोऽतिबलं ज्वलमानं विभावसुम् ।

ऊष्माणं सर्वभूतानां सप्ताचि धमथाञ्जसा ॥५६

भक्षयामास भगवान् वायुरष्टात्मको बली ।

विचरन्नमितप्राणस्तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ॥५७

ब्रह्माजी जब अपने दिन का अन्त हुआ समझते हैं, तब वे अपने मन में रात्रि को शयन करने का विचार करते हैं । इसलिये वे अहङ्कार के अभिमानी देवता रुद्र को सृष्टि का संहार करने की प्रेरणा देते हैं । उस समय रुद्रदेव ब्रह्माजी की प्रेरणा से प्रचण्ड सूर्य का रूप धारण कर अपने को बारह रूपों में प्रकट कर अग्नि के समान प्रज्वलित होते हैं । हे राजन् ! फिर वे अपने तेज से जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज— इन चारों प्रकार के प्राणियों से युक्त संसार को शीघ्र ही भस्म कर देते हैं । पलक झपकते-झपकते इस सम्पूर्ण चराचर विश्व का नाश हो जाता है और यह पृथिवी सब ओर से कलुए की पीठ के समान जान पड़ती है । संसार को भस्म करने के पश्चात् अत्यन्त बलशाली रुद्र इस एकाकी बची हुई भूमि को शीघ्रातिशीघ्र जल में डुबो देते हैं । फिर कालाग्नि की लपट में पड़ कर वह सम्पूर्ण जल सूख जाता है तब अग्नि भीषण रूप धारण करती हुई सब ओर ही प्रज्वलित होजाती है । सभी भूतों को उष्णता देने वाली अत्यन्त प्रबल प्रज्वलित सप्त ज्वालाओं वाली उस अग्नि को महाबली वायु देवता अपने आठ रूपों में प्रकट होकर निगल लेते तथा ऊपर, नीचे और बीच में सभी ओर प्रवाहमान होते हैं ॥५०-५७॥

तमप्रतिबलं भीममाकाशं ग्रसतेऽऽत्मना ।

आकाशमप्यभिनन्दन्मनो ग्रसति चाधिकम् ॥५८

मनो ग्रसति भूतात्मा सोऽहंकारः प्रजापतिः ।

अहंकारं महानात्मा भूतभव्यभविष्यवित् ॥५९

तमप्यनुपमात्मानं विश्वं शम्भुः प्रजापतिः ।

अणिमा लघिमा प्राप्तिरीशानो ज्योतिरव्ययः ॥६०

सर्वतःपाणिपादान्तः सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः ।

सर्वतःश्रुतिमांल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥६१

हृदयं सर्वभूतानां पर्वणाङ्गुष्ठमात्रकः ।

अथ ग्रसत्यनन्तो हि महात्मा विश्वमीश्वरः ॥६२

ततः समभवत् सर्वमक्षयाव्ययमव्रणम् ।

भूतभव्यभविष्याणां स्रष्टारमनघं तथा ॥६३

एषोऽप्ययस्ते राजेन्द्र यथावत् समुदाहृतः ।

अध्यात्ममधिभूतं च अधिदैवं च श्रूयताम् ॥६४

फिर आकाश उस महा प्रबल और भयङ्कर वायु को अपने में बिलीन कर लेता है और फिर उस गर्जन करने वाले आकाश को उससे भी प्रबल मन ग्रस लेता है । भूतात्मा और प्रजापति रूप अहङ्कार मन को अपने में लय कर लेता है और फिर त्रिकालज्ञ महत्तत्त्व उस अहङ्कार को निगल लेता है । फिर सब ओर हाथ पाँव वाले, सब ओर नेत्र, मस्तक, मुख और कान वाले, जगत् में सबको व्याप्त करके रहने वाले, सभी भूतों के हृदय में अंगुष्ठ पर्व के आकार में विराजमान, अणिमा, लघिमा और प्राप्ति आदि ऐश्वर्यों के नियामक, सर्व नियन्ता, ज्योति स्वरूप, अविनाशी, कल्याणमय, प्रजाओं के ईश्वर, अनन्त, महान और सर्वेश्वर परब्रह्म उस अनुपम विश्व रूप बुद्धि तत्त्व को स्वयं ग्रस लेते हैं । फिर ह्रास और वृद्धि से रहित, अविनाशी, अविकारी, और सर्वरूप परब्रह्म ही शेष रहता है । उसी के द्वारा तीनों कालों की रचना करने वाले निष्पाप ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है । हे राजेन्द्र ! इस प्रकार तुम्हारे आगे संहार क्रम को यथार्थ रूप से मैंने कहा है । अब अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव का वर्णन मेरे द्वारा सुनो ॥५८-६४॥

पादावध्यात्ममित्याहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः ।

गन्तव्यमधिभूतं च विष्णुस्तत्राधिदैवतम् ॥६५

पायुरध्यात्ममित्याहुर्यथा तत्त्वार्थदर्शिनः ।

विसर्गमधिभूतं च मित्रस्तत्राधिदैवतम् ॥६६

उपस्थोऽध्यात्ममित्याहुर्यथा योगप्रदर्शिनः ।

अधिभूतं तथाऽऽनन्दो दैवतं च प्रजापतिः ॥६७

हस्तावध्यात्ममित्याहुर्ग्रथा श्रुतिनिर्दिशिनः ।
 कर्तव्यमधिभूतं तु इन्द्रस्तत्राधिदैवतम् ॥६८
 वागध्यात्ममिति प्राहुर्ग्रथा श्रुतिनिर्दिशिनः ।
 वक्तव्यमधिभूतं तु वह्निस्तत्राधिदैवतम् ॥६९
 चक्षुरध्यात्ममित्याहुर्ग्रथा श्रुतिनिर्दिशिनः ।
 रूपमत्राधिभूतं तु सूर्यश्चाप्यधिदैवतम् ॥७०

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—तत्त्वदर्शी ब्राह्मणों का कहना है कि दोनों पाँच अध्यात्म, गन्तव्य स्थान अधिभूत और विष्णु अधिदैवत समझने चाहिये । तत्त्वार्थ को देखने वाले विद्वान् पुरुष गुदा को अध्यात्म, मल त्याग को अधिभूत और मित्र को अधिदैवत कहते हैं । योग मतानुयायियों के अनुसार उपस्थ अध्यात्म, मैथुन का आनन्द अधिभूत और प्रजापति अधिदैवत हैं । सांख्य दर्शियों के अनुसार दोनों हाथ अध्यात्म, कर्तव्य अधिभूत और इन्द्र अधिदैवत हैं । वेदार्थ के विचारकों का कहना है कि वाक् अध्यात्म, वक्तव्य अधिभूत और अग्नि अधिदैवत हैं । वेदों के ज्ञाता विद्वानों के मत में नेत्र अध्यात्म, रूप अधिभूत और सूर्य अधिदैवत हैं ॥६५-७०॥

श्रोत्रमध्यात्ममित्याहुर्ग्रथा श्रुतिनिर्दिशिनः ।
 शब्दस्तत्राधिभूतं तु दिशश्चात्राधिदैवतम् ॥७१
 जिह्वामध्यात्ममित्याहुर्ग्रथा श्रुतिनिर्दिशिनः ।
 रस एवाधिभूतं तु आपस्तत्राधिदैवतम् ॥७२
 घ्राणमध्यात्ममित्याहुर्ग्रथा श्रुतिनिर्दिशिनः ।
 गन्ध एवाधिभूतं तु पवनश्चाधिदैवतम् ॥७३
 त्वगध्यात्ममिति प्राहुस्तत्त्वबुद्धिविशारदाः ।
 स्पर्शमेवाधिभूतं तु पवनश्चाधिदैवतम् ॥७४
 मनोऽध्यात्ममिति प्राहुर्ग्रथा शास्त्रविशारदाः ।
 मन्तव्यमधिभूतं तु चन्द्रमाश्चाधिदैवतम् ॥७५

अहंकारिकमध्यात्माहुस्तत्त्वनिर्दिशिनः ।

अभिमानोऽधिभूतं तु रुद्रश्चात्राधिदैवतम् ॥७६

बुद्धिरध्यात्ममित्याहुर्यथावदभिर्दिशिनः ।

बोद्धव्यमधिभूतं तु क्षेत्रज्ञश्चाधिदैवतम् ॥७७

वैदिक सिद्धान्त के ज्ञाता पुरुषों वा कथन है कि श्रोत्र अध्यात्म, शब्द अधिभूत और दिशाएँ अधिदैवत हैं। वेद के अनुसार देखने वाले विद्वानों का कहना है कि जिह्वा अध्यात्म, रस अधिभूत और जल अधिदैवत हैं। वैदिक मत के अनुसार यथार्थ तत्त्व के ज्ञाताओं का कहना है कि नासिका अध्यात्म है, गन्ध अधिभूत है और पृथिवी अधिदैवत है। तत्त्वज्ञान में कुशल पुरुष कहते हैं कि त्वचा अध्यात्म, स्पर्श अधिभूत और वायु अधिदैवत हैं। शास्त्रज्ञानी विद्वानों का कहना है कि मन अध्यात्म, मन्तव्य अधिभूत तथा चन्द्रमा अधिदैवत है। तत्त्वदर्शियों का कहना है कि अहंकार अध्यात्म, अभिमान अधिभूत और रुद्र अधिदैवत हैं। यथार्थ ज्ञानियों का कथन है कि बुद्धि अध्यात्म, बोद्धव्य अधिभूत और आत्मा अधिदैवत है ॥७१-७८॥

एषा ते व्यक्तितो राजन् विभूतिरनुदिशिता ।

आदौ मध्ये तथान्ते च यथातत्त्वेन तत्त्ववित् ॥७८

प्रकृतिगुणान् विकुरुते स्वच्छन्देनात्मकाम्यया ।

क्रीडार्थं तु महाराज शतशोऽथ सहस्रशः ॥७९

यथा दीपसहस्राणि दीपान्मर्त्याः प्रकुर्वते ।

प्रकृतिस्तथा विकुरुते पुरुष्य गुणान् बहून् ॥८०

सत्त्वमानन्द उद्रेकः प्रीतिः प्राकाश्यमेव च ।

सुखं शुद्धित्वमारोग्यं संतोषः श्रद्धानता ॥८१

अकार्पण्यमसंरम्भः क्षमा धृतिरहिंसता ।

समता सत्यमानृण्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥८२

शौचमार्जवमाचारमलौल्यं हृद्यसम्भ्रमः ।

इष्टानिष्टवियोगानां कृतानामविकत्थना ॥८३

दानेन चात्मग्रहणमस्पृहत्वं परार्थता ।

सर्वभूतदया चैव सत्त्वस्यैते गुणाः स्मृताः ॥८४

हे राजन् ! तुम्हारे प्रति मैंने आदि, मध्य और अन्त में तत्त्व से प्रकाश में आने वाले प्राणी की व्यक्तिगत विभूति का वर्णन किया है । हे महाराज ! स्वच्छन्दता से खेल करने के लिये यह प्रकृति अपनी ही इच्छा से सैकड़ों सहस्रों गुणों को प्रकट करती है । जैसे एक दीपक से ही सहस्रों दीपक जलाये जा सकते हैं, वैसे ही प्रकृति पुरुष के संसर्ग से अनेक गुणों की उत्पत्ति करती है । धैर्य, आनन्द, प्रीति, उत्कर्ष, प्रकाश, सुख, शुद्धि, आरोग्य, सन्तोष, श्रद्धा, अकार्पण्य, असंरम्भ, क्षमा, धृति, अहिंसा, समता, सत्य, ऋणाभाव, मृदुता, लज्जा, अचञ्चलता, शौच, सरलता, सदाचार, अलोलुपता, असम्भ्रम, इष्ट और अनिष्ट के वियोग का अकथन, दान के द्वारा धैर्य धारण, वस्तु विशेष की अनिच्छा, परो-प्रकार और सब प्राणियों पर दया—यह सभी गुण तत्त्व सम्बन्धी कहे गये हैं ॥७८-८४॥

रजोगुणानां संघातो रूपमैश्वर्यविग्रहौ ।

अत्यागित्वमकारुण्यं सुखदुःखोपसेवनम् ॥८५

परापवादेषु रतिर्वादानां च सेवनम् ।

अहंकारमसत्कारश्चिन्ता वरोपसेवनम् ॥८६

परितापोऽभिहरणं ह्रीनाशोऽनार्जवं तथा ।

भेदः परुषता चैव कामः क्रोधो मदस्तथा ॥८७

दर्पो द्वेषोऽतिवादश्च एते प्रोक्ता रजोगुणाः ।

तामसानां तु संघातं प्रवक्ष्याम्युपधायताम् ॥८८

मोहोऽप्रकाशस्तामिस्रमन्धतामिस्रसंज्ञितम् ।

मरणं चान्धतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते ॥८९

तमसो लक्षणानीह भक्षणाद्यभिरोचनम् ।

भोजनानामपर्याप्तिस्तथा पेयेष्वतृप्तता ॥९०

गन्धवासो विहारेषु शयनेष्वासनेषु च ।

दिवास्वप्नेऽतिवादे च प्रमादेषु च वै रतिः ॥९१

नृत्यवादित्रगीतानामज्ञानाच्छ्रद्धानता ।

द्वेषो धर्मविशेषाणामेते वै तामसा गुणाः ॥६२

रूप, ऐश्वर्य, विग्रह, त्याग का अभाव, करुणा का अभाव, दुःख सुख का उपभोग, परनिन्दा-प्रेम, वाद विवाद, अहङ्कार, माननीय पुरुषों का असत्कार, चिन्ता, वैर, सन्ताप, परधन हरण, निर्लज्जता, कुटिलता, भेद बुद्धि, कठोरता, काम, क्रोध, मद, दर्प, द्वेष, अतिभाषण—यह सब रजोगुण के कार्य हैं। अब तमोगुण के भावों का वर्णन करता हूँ। मोह, अज्ञान, तामिस्र, अन्धतामिस्र—यह तमोगुण के कार्य हैं। इनमें तापिस्र से क्रोध और अन्धतामिस्र से मरण का तात्पर्य है। भोजन में अरुचि, तृप्ति या सन्तोष का अभाव अथवा अधिक भोजन को भी अपर्याप्त मानना, पीने के पदार्थों से अतृप्त रहना, दुर्गन्धित वस्त्र, अनुचित विहार, मैला बिछौना, दिन में शयन, अत्यन्त वाद-विवाद और प्रमाद में आसक्ति, अज्ञानवश नृत्य, गान और वाद्यों में रुचि तथा धर्मों से द्वेष—यह सभी तमोगुण के लक्षण समझने चाहिये ॥६१-६२॥

एते प्रधानस्य गुणास्त्रयः पुरुषसत्तम ।

कृत्स्नस्य चैव जगतस्तिष्ठन्त्यनपगाः सदा ॥६३

अव्यक्तरूपो भगवान् शतधा च सहस्रधा ।

शतधा सहस्रधा चैव तथा शतसहस्रधा ॥६४

कोटिशश्च करोत्येष प्रत्यगात्मानमात्मना ।

सात्त्विकस्योत्तमं स्थानं राजसस्येह मध्यमम् ॥६५

तामसस्याधमं स्थानं प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः ।

केवलेनेह पुण्येन गतिमूर्ध्वमवाप्नुयात् ॥६६

पुण्यपापेन मानुष्यमधर्मेणाप्यधोगतिम् ।

द्वन्द्वमेषां त्रयाणां तु संनिपातं च तत्त्वतः ॥६७

सत्त्वस्य रजसश्चैव तमसश्च शृणुष्व मे ।

सत्त्वस्य तु रजो दृष्टं रजसश्च तमस्तथा ॥६८

तमसश्च तथा सत्त्वं सत्त्वस्याव्यक्तमेव च ।

अव्यक्तः सत्त्वसंयुक्तो देवलोकमवाप्नुयात् ॥६९

याज्ञवल्क्यजी बोले—हे पुरुषश्रेष्ठ ! सत्त्व, रज और तम यह तीनों प्रकृति के गुण हैं। यह सम्पूर्ण विश्व में सदा विद्यमान रहते हैं, उससे कभी पृथक् नहीं होते। यह ऐश्वर्यमयी प्रकृति अपने ही प्रभाव से प्राणी को सैकड़ों, सहस्रों, लाखों, करोड़ों रूप में उत्पन्न करती है। अध्यात्म शास्त्र के चिंतक पुरुषों का कहना है कि सतोगुणी पुरुष को श्रेष्ठ, रजोगुणी को मध्यम और तमोगुणी को अधम स्थान मिलता है। ऊर्ध्व लोक में तो पुण्य करने वाले पुरुष ही जाते हैं। पुण्य-पाप दोनों के कारण मर्त्य लोक में जन्म होता है। केवल पापचार करने वाले को अधोगति की प्राप्ति होती है। अब मैं सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों के द्वन्द्व और संनिपात का वर्णन करता हूँ—उसे सुनो। सत्त्वगुण के साथ रजोगुण, रजोगुण के साथ तमोगुण, तमोगुण के साथ सतोगुण और सतोगुण के साथ अव्यक्त को मिला हुआ देखते हैं। जीवात्मा के सतोगुण से मिलने पर देवलोक की प्राप्ति होती है ॥६३-६६॥

रजःसत्त्वसमायुक्तो मानुषेषु प्रपद्यते ।

रजस्तमोभ्यां संयुक्तस्तिर्यग्योनिषु जायते ॥१००

राजसस्तामसैः सत्त्वैर्युक्तो मानुषमाप्नुयात् ।

पुण्यपापवियुक्तानां स्थानमाहुर्महात्मनाम् ।

शाश्वतं चाव्ययं चैवमक्षयं चामृतं च तत् ॥१०१

ज्ञानिनां सम्भवं श्रेष्ठं स्थानमव्रणमच्युतम् ।

अतोन्द्रियमबीजं च जन्ममृत्युतमोनुदम् ॥१०२

अव्यक्तस्थं परं यत् तत् पृष्ठस्तेऽहं नराधिप ।

स एष प्रकृतिस्थो हि तत्स्थ इत्यभिधीयते ॥१०३

अचेतना चैव मता प्रकृतिश्चापि पार्थिव ।

एतेनाधिष्ठिता चैव सृजते संहरत्यपि ॥१०४

अनादिनिधनावेतावुभावेव महामते ।

अमूर्तिमन्तावचलावप्रकम्प्यगुणागुणौ ॥१०५

रजोगुण और सतोगुण से युक्त होने पर मानवलोक की प्राप्ति होती है तथा रजोगुण-तमोगुण सहित होने पर पशु-पक्षी आदि की योनियों में

जन्म मिलता है। राजस, तामस और सात्त्विक तीनों भावों के मिलने पर मनुष्य योनि और पुण्य-पाप दोनों से रहित मनुष्य सनातन विकार-रहित, अक्षय और अमृत पद प्राप्त करते हैं। जिस स्थान में किसी को कोई कष्ट नहीं होता, जहाँ जाने पर कभी पतन नहीं होता, जहाँ बंधन में डालने का कोई कारण नहीं है, जो इन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता और जो जन्म, मरण तथा अज्ञान का नाशक है उस परमपद को ज्ञानी-जन ही पा सकते हैं। हे राजन् ! अव्यक्त प्रकृति में स्थित जिस परमतत्त्व के सम्बन्ध में तुमने मुझ से जो पूछा है, वह परम तत्त्व प्राकृत देह में स्थित होने पर ही प्रकृतिस्थ कहा जायगा। हे भूपते ! प्रकृति जड़ मानी गयी है। इस परमतत्त्व के अधिष्ठान से ही वह जगत की रचना और संहार करने में समर्थ होती है। जनक ने कहा—हे महामते ! प्रकृति और पुरुष दोनों का ही आदि-अन्त नहीं है। वे दोनों ही अमूर्त और अविचल हैं। दोनों ही अपने अपने गुण में स्थिर रहने वाले तथा दोनों ही निर्गुण हैं ॥१००-१०५॥

अग्राह्यावृषिशार्दूल कथमेको ह्यचेतनः ।

चेतनावांस्तथा चैकः क्षेत्रज्ञ इति भाषितः ॥१०६

त्वं हि विप्रेन्द्र कात्स्न्येन मोक्षधर्ममुपाससे ।

साकल्यं मोक्षधर्मस्य श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥१०७

अस्तित्वं केवलत्वं च विनाभावं तथैव च ।

दैवतानि च मे ब्रूहि देहं यान्याश्रितानि वै ॥१०८

तथैवोत्क्रामिणः स्थानं देहिनो वै विपद्यतः ।

कालेन यद्धि प्राप्नोति स्थानं तत् प्रब्रवीहि मे ॥१०९

सांख्यज्ञानं च तत्त्वेन पृथग्योगं तथैव च ।

अरिष्टानि च तत्त्वानि वक्तुमर्हसि सत्तम ।

विदितं सर्वमेतत् ते पाणावामलकं यथा ॥११०

न शक्यो निर्गुणस्तात गुणीकतुं विशाम्पते ।

गुणवांश्चाप्यगुणवान् यथातत्त्वं निबोध मे ॥१११

गुणैर्हि गुणवानेव निर्गुणश्चागुणस्तथा ।

प्राहुरेवं महात्मानो मुनयस्तत्त्वदर्शिनः ॥११२

वे दोनों ही बुद्धि द्वारा अग्राह्य हैं । फिर आपने इन दोनों में से एक प्रकृति को ही जड़ क्यों कहा है ? और पुरुष परमतत्त्व को आपने चेतन तथा क्षेत्रज्ञ किस प्रकार बताया है ? हे विप्रेन्द्र ! आप पूर्णतया मोक्ष धर्म का सेवन करने वाले हैं । अतः आपके ही मुख से मैं सम्पूर्ण मोक्ष-धर्म को सुनने की इच्छा करता हूँ । पुरुष के अस्तित्व, केवलत्व और प्रकृति से भिन्न होने का आप स्पष्ट विवेचन करिये और देह का आश्रय लेने वाले देवताओं का तत्त्व भी मुझसे कहिये । और मरने वाले प्राणी के प्राण जब उत्क्रमण करते हैं, तब उस प्राणी को कौन-सा स्थान प्राप्त होता है । इस पर भी व्यक्त कीजिये । हे ऋषिसत्तम ! सांख्य और योग के ज्ञान का पृथक्-पृथक् वर्णन करिये और मृत्यु सूचक लक्षणों को भी यथावत् बताइये । क्योंकि आप यह सभी बातें हाथ पर रखे आँवले के समान जानते हैं । याज्ञवल्क्यजी ने कहा—हे तात ! जो निर्गुण है उसे सगुण नहीं कर सकते और सगुण को निर्गुण नहीं कर सकते । इस विषय में यथार्थ तत्त्व मुझ से सुनो । तत्त्वदर्शियों का कहना है कि गुणों के साथ जिसका सम्पर्क है वही गुणवान हो सकता है, गुणों से हीन को निर्गुण ही कहेंगे ॥१०६-११२॥

गुणस्वभावस्त्वव्यक्तो गुणान् नैवातिवर्तते ।

उपयुङ्क्ते च तानेव स चैवाज्ञः स्वभावतः ॥११३

अव्यक्तस्तु न जानीते पुरुषो ज्ञः स्वभावतः ।

न मत्तः परमोऽस्तीति नित्यमेवाभिमन्यते ॥११४

अनेन कारणेनैतदव्यक्तं स्यादचेतनम् ।

नित्यत्वाच्चाक्षरत्वाच्च क्षरत्वान्न तदन्यथा ॥११५

यदाज्ञानेन कुर्वीत गुणसर्गं पुनःपुनः ।

यदाऽऽत्मानं न जानीते तदाऽऽत्मापि न मुच्यते ॥११६

कर्तृत्वाच्चापि सर्गाणां सर्गधर्मा तथोच्यते ।

कर्तृत्वाच्चापि योगानां योगधर्मा तथोच्यते ॥११७

कर्तृत्वात् प्रकृतीनां च तथा प्रकृतिधर्मिता ॥११८

कर्तृत्वाच्चापि बीजानां बीजधर्मा तथोच्यते ।

गुणानां प्रसवत्वाच्च प्रलयत्वात् तथैव च ॥११९

अव्यक्त प्रकृति स्वभाव से ही गुणमयी है, वह गुणों को कभी लांघ नहीं सकती तथा उन्हीं को उपयोग में लाती है । तथा ज्ञान-हीनता भी उसके स्वभाव में है । प्रकृति किसी वस्तु को नहीं जानती, परन्तु पुरुष स्वभाव से ही ज्ञानमय है । वह सदा इस बात को जानती है कि मुझसे श्रेष्ठ कोई अन्य पदार्थ नहीं है । इस कारण प्रकृति अचेतन मानी गयी है । क्षर अक्षर होने के कारण वह जड़ ही तो हो सकती है । परन्तु, पुरुष नित्य और होने के कारण चेतन है । परन्तु, जब तक वह पुरुष अज्ञान के कारण गुणों से मिलता है और अपने संग-रहित स्वरूप को भूला रहता है, तब तक वह संसार-बंधन से मुक्त नहीं होता । जब वह अपने को सृष्टि का कर्त्ता मानता है तब सर्गधर्मा कहा जाता है और जब योग का कर्त्ता मानता है, तब योगधर्मा कहलाता है । जब वह विभिन्न प्रकृतियों को अपने में निहित मान लेता है, तब वह प्रकृतिधर्मा हो जाता है । स्थावर पदार्थों के बीजों का कर्त्ता होने पर वह बीजधर्मा कहा जाता है और गुणों की सृष्टि और प्रलय का कर्त्ता होने पर उसे गुणधर्मा कहते हैं । ॥११३-११९॥

उपेक्षत्वादनन्यत्वादभिमानाच्च केवलम् ।

मन्यन्ते यतयः सिद्धा अध्यात्मज्ञा गतज्वराः ।

अनित्यं नित्यमव्यक्तं व्यक्तमेतद्वि शुश्रुम ॥१२०

अव्यक्तं कत्वमित्यहर्नात्वं पुरुषे तथा ।

सर्वभूतदयावन्तः केवलं ज्ञानमास्थिताः ॥१२१

अन्यः स पुरुषोऽव्यक्तस्त्वध्रुवो ध्रुवसंज्ञकः ।

यथा मुञ्ज इषीकाणां तथैवैतद्वि जायते ॥१२२

अन्यच्च मशकं विद्यादन्यच्चोदुम्बरं तथा ।

न चोदुम्बरसंयोगैर्मशकस्तत्र लिप्यते ॥१२३

अन्य एव तथा मत्स्यस्तदन्यदुदकं स्मृतम् ।

न चोदकस्य स्पर्शेन मत्स्यो लिप्यति सर्वशः ॥१२४

अन्यो ह्यग्निरुखाप्यन्या नित्यमेवमवेहि भोः ।

न चोपलिप्यते सोऽग्निरुखासंस्पर्शनेन वै ॥१२५

पुष्करं त्वन्यदेवात्र तथान्यदुदकं स्मृतम् ।

न चोदकस्य स्पर्शेन लिप्यते तत्र पुष्करम् ॥१२६

अध्यात्म शास्त्र के ज्ञाता सिद्ध पुरुष उस पुरुष को प्रकृति संग से रहित मानते हैं । क्योंकि वह पुरुष साक्षी और अद्वितीय है । सुख-दुःख का अनुभव तो वह केवल अभिमान के कारण ही करता है, परन्तु प्रकृति के संसर्ग से वह अनित्य और व्यक्त प्रतीत होता है । सभी प्राणियों पर दया करने वाले और केवल ज्ञान में अवस्थित सांख्य के कुछ विद्वान् प्रकृति को एक और पुरुष को अनेक समझते हैं । पुरुष प्रकृति से भिन्न तथा नित्य है और प्रकृति पुरुष से भिन्न और अनित्य है । जैसे सींक मूँज से भिन्न होती है, वैसे ही प्रकृति को पुरुष से भिन्न समझना चाहिये जैसे गूलर और उसके कीड़े एक साथ होते हैं । गूलर के संयोग से कीड़े उसमें लिप्त नहीं रहते । जैसे जल और मत्स्य भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं, जल के स्पर्श से मत्स्य को उसमें लिप्त होता नहीं देखा जाता । जैसे अग्नि और मिट्टी की हँडियाँ भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं, इन दोनों की भिन्नता नित्य है । उस हाँडी के स्पर्श से अग्नि किसी प्रकार दूषित नहीं होती जैसे कमल अन्य वस्तु है, जल अन्य वस्तु । जल के स्पर्श से कमल कभी लिप्त नहीं हो सकता । वैसे ही पुरुष भी प्रकृति से अन्य और असंग समझनी चाहिये ॥१२०-१२६॥

एतेषां सहवासं च निवासं चैव नित्यशः ।

याथातथ्येन पश्यन्ति न नित्यं प्राकृता जनाः ॥१२७

ये त्वन्यथैव पश्यन्ति न सम्यक् तेषु दर्शनम् ।

ते व्यक्तं निरयं घोरं प्रविशन्ति पुनः पुनः ॥१२८

सांख्यदर्शनमेतत् ते परिसंख्यानमुत्तमम् ।

एवं हि परिसंख्याय सांख्याः केवलतां गताः ॥१२९

ये त्वन्ये तत्त्वकुशलास्तेषामेतन्निदर्शनम् ।
 अतः परं प्रवक्ष्यामि योगानामनुदर्शनम् ॥१३०
 सांख्यज्ञानं मया प्रोक्तं योगज्ञानं निबोध मे ।
 यथाश्रुतं यथादृष्टं तत्त्वेन नृपसत्तम ॥१३१
 नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम् ।
 तावुभावेकचर्यौ तावुभावनिधनौ स्पृष्टौ ॥१३२
 पृथक् पृथक् प्रपश्यन्ति येऽप्यबुद्धिरता नराः ।
 वयं तु राजन् पश्याम एकमेव तु निश्चयात् ॥१३३

इनके सहवास और निवास को साधारण मनुष्य ठीक प्रकार से कभी नहीं समझ पाते । जो व्यक्ति प्रकृति और पुरुष की यथार्थ भिन्नता को नहीं जानते उनकी दृष्टि भ्रम पूर्ण है । वे बारम्बार घोर नरक में प्रवेश करते हैं । इस प्रकार का यह विचार प्रधान और श्रेष्ठ सांख्यदर्शन मैंने तुम्हारे प्रति कहा है । सांख्य ज्ञानी पुरुष इस प्रकार जानते हुए मोक्ष को प्राप्त हो गये हैं । तत्त्व का विचार करने में कुशल अन्य विद्वानों का भी ऐसा ही मत है । अब, इसके पश्चात् में योगियों के शास्त्र का यथावत् वर्णन करूँगा । याज्ञवल्क्यजी ने कहा—हे राजन् ! मैंने तुम्हें सांख्य विषयक ज्ञान कहा । अब जैसा मैंने देखा, सुना या समझा है, उसके आधार पर मुझ से तत्त्वज्ञान सुनो । सांख्य के समान कोई ज्ञान नहीं और योग के समान कोई बल नहीं । इन दोनों का लक्ष्य एक ही है । क्योंकि, दोनों ही मृत्यु-निवारक कहे गये हैं । हे राजन् ! अज्ञान परायण मनुष्य ही इन दोनों शास्त्रों को अलग-अलग समझते हैं । हम तो विचार करके इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि यह दोनों एक ही हैं ॥१२७-१३३॥

यदेव योगाः पश्यन्ति तत् सांख्यैरपि दृश्यते ।
 एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स तत्त्ववित् ॥१३४
 रुद्रप्रधानानपरान् विद्धि योगानरिदम ।
 तेनैव चाथ देहेन विचरन्ति दिशो दश ॥१३५
 यावद्धि प्रलयस्तात सूक्ष्मेणाष्टगुणेन ह ।
 योगेन लोकान् विचरन् सुखं संन्यस्य चानघ ॥१३६

वेदेषु चाष्टगुणिनं योगमाहुर्मनीषिणः ।
 सूक्ष्ममष्टगुणं प्राहुर्नेतरं नृपसत्तम ॥१३७
 द्विगुणं योगकृत्यं तु योगानां प्राहुरुत्तमम् ।
 सगुणं निर्गुणं चैव यथा शास्त्रनिदर्शनम् ॥१३८
 धारणं चैव मनसः प्राणायामश्च पार्थिव ।
 एकाग्रता च मनसः प्राणायामस्तथैव च ॥१३९
 प्राणायामो हि सगुणो निर्गुणं धारयेन्मनः ।
 यद्यदृश्यति मुञ्चन् वै प्राणान् मैथिलसत्तम ।
 वाताधिक्यं भवत्येव तस्मात् तं न समाचरेत् ॥१४०

योगियों द्वारा जिस तत्व का साक्षात्कार किया जाता है, उसी तत्व को साँख्य के विद्वान् भी देखते हैं। इसलिये साँख्य और योग को एक ही देखने वाला पुरुष तत्व ज्ञानी है। योग-साधनों में रुद्र अर्थात् प्राण की प्रमुखता है इसे तुम सर्व श्रेष्ठ समझो। प्राण को अपने वश में कर लेने वाले योगी अपने इसी शरीर से दसों दिशाओं में स्वच्छन्द घूमने में समर्थ हैं। हे अनघ ! मृत्यु न होने पर भी योगी अपने योगबल से स्थूल देह को यही छोड़ कर आठों सिद्धियों से युक्त सूक्ष्म देह द्वारा लोक लोकान्तरों में सुख पूर्वक विचरण कर सकता है। मनीषियों का कहना है कि वेद में स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकार के योग कहे गये हैं। उनमें स्थूल योग अग्निमा आदि आठ प्रकार की सिद्धि के देने वाला और सूक्ष्म योग ही अष्ट गुणों से युक्त है, अन्य नहीं। योग-साधन मुख्यतः सगुण और निर्गुण दो प्रकार का कहा है। शास्त्रों का यही निर्णय है। हे पृथ्वीपते ! किसी विशेष देश में चित्त को स्थापित करना 'धारणा' है। मन की धारणा के साथ ही प्राणायाम किया जाता है, वह सगुण है और किसी एक देश का आग्रह न लेकर मन को निर्बीज समाधि में स्थित करने को निर्गुण प्राणायाम कहा है। सगुण प्राणायाम मन को निर्गुण करके स्थिर में सहायता देता है। यदि पूरक आदि के समय किसी देवता का ध्यान द्वारा साक्षात् किया बिना ही प्राणवायु का रेचन किया जाता है तो शरीर में वायु का प्रहो।

बढ़ जाता है। इसलिये व्यान रहित प्राणायाम करना उचित नहीं है ॥१४०॥

निशायाः प्रथमे यामे चोदना द्वादश स्मृताः ।

मध्ये स्वप्नात् परे यामे द्वादशैव तु चोदनाः ॥१४१॥

तदेवमुपशान्तेन दान्तेनैकान्तशीलना ।

आत्मारामेण बुद्धेन योक्तव्योऽऽत्मा न संशयः ॥१४२॥

पञ्चानामिन्द्रियाणां तु दोषानाक्षिप्य पञ्चधा ।

शब्दं रूपं तथा स्पर्शं रसं गन्धं तथैव च ॥१४३॥

प्रतिभामपवर्गं च प्रतिसंहृत्य मैथिल ।

इन्द्रियग्राममखिलं मनस्यभिनिवेश्य ह ॥१४४॥

मनस्तथैवाहंकारे प्रतिष्ठाप्य नराधिप ।

अहंकारं तथा बुद्धौ बुद्धिं च प्रकृतावपि ॥१४५॥

एवं हि परिसंख्याय ततो ध्यायन्ति केवलम् ।

विरजस्कमलं नित्यमनन्तं शुद्धमव्रणम् ॥१४६॥

तस्थुषं पुरुषं नित्यमभेद्यमजराजरम् ।

शाश्वतं चाव्ययं चैव ईशानं ब्रह्म चाव्ययम् ॥१४७॥

रात्रि के प्रथम प्रहर में वायु-धारण की बारह प्रेरणायें कही हैं। मध्य रात्रि के दो प्रहरों में शयन करना और रात्रि के अन्तिम प्रहर में पुनः बारह प्रेरणाओं का ही अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकार प्राणायाम के द्वारा मन को वश में करके शान्त और जितेन्द्रिय रहें और अपने मन को, संशय-रहित होकर परमात्मा में लगावे। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध—यह पाँचों इन्द्रियों के दोष हैं, इन्हें दूर करना चाहिये। फिर लय और विक्षेप को शान्त करके सभी इन्द्रियों को मन में स्थिर करे। फिर मन को अहंकार में, अहंकार को बुद्धि में और बुद्धि को प्रकृति में स्थित करे। इस प्रकार सबको लीन करके योगीजन केवल रजोगुण रहित, मल रहित, नित्य, अनन्त, शुद्ध, छिद्र-रहित, कूटस्थ, अन्तर्यामी, अभेद्य, अजर, अमर, अविकारी, सब के शासक और सनातन परब्रह्म परमात्मा का ध्यान करते हैं ॥१४१-१४७॥

युक्तस्य तु महाराज लक्षणान्युपधारय ।

लक्षणं तु प्रसादस्य यथा तृप्तः सुखं स्वपेत् ॥१४८

निर्वाते तु यथा दीपो ज्वलेत् स्नेहसमन्वितः ।

निश्चलोर्ध्वशिखस्तद्वद् युक्तमाहुर्मनीषिणः ॥१४९

पाषाण इव मेघोत्थैर्यथा विन्दुभिराहतः ।

नालं चालयितुं शक्यस्तथा युक्तस्य लक्षणम् ॥१५०

शङ्खदुन्दुभिर्घोषैर्विविधैर्गीतवादितैः ।

क्रियमाणेन कम्पेत युक्तस्यैतन्निदर्शनम् ॥१५१

तैलपात्रं यथा पूर्णं कराभ्यां गृह् पुरुषः ।

सोपानमारुहेद् भीतस्यर्ज्यमानोऽसिपाणिभिः ॥१५२

संयतात्माभयात् तेषां न पात्राद् विन्दुमुत्सृजेत् ।

तथैवोत्तरमागम्य एकाग्रमनसस्तथा ॥१५३

स्थिरत्वादिन्द्रियाणां तु निश्चलत्वात् तथैव च ।

एवं युक्तस्य तु मुनेर्लक्षणान्युपलक्षयेत् ॥१५४

हे महाराज ! अब समाधिस्थ योगी के लक्षण सुनो । जैसे तृप्त मनुष्य सुख-पूर्वक शयन करता है, वैसे ही योगी के चित्त में सदा प्रसन्नता रहती है । वह कभी समाधि से मन नहीं हटता, यही उसकी प्रसन्नता का लक्षण है । तेल से भरा दीपक वायु-रहित स्थान में जैसे निरन्तर जलता रहता है और उसकी शिखा ऊपर की ओर उठी हुई स्थिर रहती है, वैसे ही समाधिनिष्ठ योगी भी स्थिर कहे जाते हैं । जैसे मेघ द्वारा बरसायी गई बूँदों के आघात से पर्वत विचलित नहीं होता, वैसे विभिन्न प्रकार के विक्षेप योगी को विचलित नहीं कर पाते । यही योगी का लक्षण है । योगी के पास शंख और नगाड़े की ध्वनि करने और नृत्य संगीत आदि करने पर भी उसका ध्यान भंग नहीं होता । उसकी समाधि की यही पहचान है । जैसे संयमी और सावधान मनुष्य हाथ में तेल से भरा प्याला लेकर सीढ़ी पर चढ़े और अनेक पुरुष उसे तलवार आदि से डगावें धमकावें तो भी वह उनसे न डरता हुआ तेल की एक बूँद भी प्याले से नहीं गिरने देता, वैसे ही योग की उच्चावस्था को प्राप्त एकाग्रचित्त वाला

योगी, अपनी इन्द्रियों की स्थिरता और मन की एकाग्रता के कारण समाधि से विचलित नहीं होता। योग में सिद्ध पुरुष के यही लक्षण हैं ॥१४८-१५४॥

स्वयुक्तः पश्यते ब्रह्म यत् तत्परममव्ययम् ।
 महत्तस्तमसो मध्ये स्थितं ज्वलनसंनिभम् ॥१५५
 एतेन केवलं याति त्यक्त्वा देहमसाक्षिकम् ।
 कालेन महता राजञ्श्रुतिरेषा सनातनी ॥१५६
 एतद्वियोगं योगानां किमन्यद् योगलक्षणम् ।
 विज्ञाय तद्वि मन्यन्ते कृतकृत्या मनीषिणः ॥१५७
 तथैवोत्क्रममाणं तु शृणुष्ववाहितो नृप ।
 पद्भ्यामुत्क्रममाणस्य वंष्णवं स्थानमुच्यते ॥१५८
 जङ्घाभ्यां तु वसून् देवानाप्नुयादिति नः श्रुतम् ।
 जानुभ्यां च महाभागान् साध्यान् देवानवाप्नुयात् ॥१५९
 पायुनोत्क्रममाणस्तु मैत्रं स्थानमवाप्नुयात् ।
 पृथिवीं जघनेनाथ ऊरुभ्यां च प्रजापतिम् ॥१६०
 पार्श्वभ्यां मरुतो देवान् नाभ्यामिन्द्रत्वमेव च ।
 बाहुभ्यामिन्द्रमेवाहुररसा रुद्रमेव च ॥१६१

भले प्रकार समाधिस्थ योगी महान् अंधकार के मध्य प्रकाशित प्रज्वलित अग्नि के समान हृदयमें निवास करने वाले अविनाशी परब्रह्म से साक्षात्कार करता है। हे राजन् ! इस साधना के करने वाला योगी दीर्घकाल के बाद अपने जड़ शरीर को छोड़ कर केवल परब्रह्म परमात्मा को ही प्राप्त होता है—यह सनातन श्रुति है। यही योगियों का योग है। इसके अतिरिक्त योग का अन्य क्या लक्षण हो सकता है ? जो इसे जान लेते हैं, वे मनीषी पुरुष कृतकृत्य हो जाते हैं। याज्ञवल्क्यजी ने कहा—हे राजन् ! अब, शरीर छोड़ने के समय प्राण जिन-जिन अंगों से निकल कर ऊर्ध्व लोकों में गमन करते हैं, उनके संबंध में कहता हूँ। पावों के मार्ग से उत्क्रान्त करने पर मनुष्य को भगवान् विष्णु

का परम धाम प्राप्त होन कहा गग है । दोनों पिण्डलियों के मार्ग से प्राण बाहर निकलने पर वसु नामक देवाताओं का लोक मिलता है और घुटनों से प्राण निकलने पर साध्य देवताओं के लोक की प्राप्ति होती है । गुदा मार्ग से प्राण निकलने पर मित्र देवता का श्रेष्ठ लोक मिलता है । कटि के अग्रभाग से प्राण निकलने पर पृथिवी लोक और दोनों जांघों से प्राण निकलने पर प्रजापति लोक की प्राप्ति होती है । दोनों पसलियों से प्राण निकलने पर मरुद्गण के लोक की, नाभि से या दोनों भुजाओं से निकलने पर इन्द्र लोक की और वक्षःस्थल से निकलने पर रुद्रलोक की प्राप्ति होती है ॥१५५-१६१॥

ग्रीवया तु मुनिश्रेष्ठं नरमाप्नोत्यनुत्तमम् ।

विश्वेदेवान् मुखेनाथ दिशः श्रोत्रेण चाप्नुयात् ॥१६२

घ्राणेन गन्धवहनं नेत्राभ्यामग्निमेव च ।

भ्रूभ्यां चैवाश्विनौ देवौ ललाटेन पितृनथ ॥१ ३

ब्रह्माणमाप्नोति विभुं मूर्ध्ना देवाग्रजं तथा ।

एतान्युत्क्रमणस्थानान्युक्तानि मिथिलेश्वर ॥१६४

अरिष्टानि प्रवक्ष्यामि विहितानि मनीषिभिः ।

संवत्सरवियोगस्य सम्भवन्ति शरीरिण ॥१६५

योऽरुन्धतीं न पश्येत दृष्टपूर्वा कदाचन ।

तथैव ध्रुवमित्याहुः पूर्णेन्दुं दीपमेव च ।

खण्डाभासं दक्षिणतस्तेऽपि संवत्सरायुषः ॥१६६

परचक्षुषि चात्मानं ये न पश्यन्ति पार्थिव ।

आत्मच्छायाकृतीभूतं तेऽपि संवत्सरायुषः ॥१६७

अतिद्युतिरतिप्रज्ञा अप्रज्ञा चाद्युतिस्तथा ।

प्रकृतेर्विक्रियापत्तिः षण्मासान्मृत्युलक्षणम् ॥१६८

ग्रीवा से प्राण निकलें तो मुनियों परम श्रेष्ठ पुरुष की निकटता प्राप्त होती है । मुख से प्राण निकलने पर विश्वेदेवों के लोक की और श्रोत्र से निकलने पर दिशाओं की अधिष्ठात्री देवियों के लोक की प्राप्ति होती है । नासिका से प्राण निकलने पर वायु लोक, दोनों नेत्रों से निकलने पर अग्नि

लोक, दोनों भौहों से निकलने पर अश्विनी कुमारों का लोक और ललाट से निकलने पर पितर लोक मिल जाता है। मस्तक से प्राण निकलें तो देवताओं के अग्रज ब्रह्माजी का लोक मिलता है। इस प्रकार प्राणों के निष्क्रमण के यह स्थान कहे गये हैं। अब, ज्ञानीजनों द्वारा निश्चित किये हुए उन अमंगल सूचक चिन्हों का वर्णन करता हूँ, जो किसी देहधारी की मृत्यु होने से एक वर्ष पूर्व उसे दिखाई देते हैं। जिस किसी को कभी पहिले की देखी हुई अरुन्धती और ध्रुव को न देख पावे अथवा पूर्ण चन्द्रमा का मण्डल और दीपक की लौ दाहिनी ओर से खण्डित दिखाई दे तो यह उसके एक वर्ष तक जीवित रहने के चिन्ह हैं। जिन्हें दूसरे के नेत्र में अपनी छाया दिखाई न दे, उनका जीवन में भी एक वर्ष शेष समझना चाहिये। जिस अत्यन्त कान्ति वाले मनुष्य की कान्ति फीकी पड़ जाय अथवा बुद्धिमत्ता बुद्धि हीनता में बदल जाय और स्वभाव भी परिवर्तित हो जाय तो यह चिह्न छः महीने में मृत्यु होने की सूचना देता है ॥१६२-१६८॥

दैवतान्यवजानाति ब्राह्मणैश्च विरुद्धयते ।

कृष्णश्यावच्छविच्छायः षणमासान्मृत्युलक्षणम् ॥१६९

ऊर्णनाभेर्यथा चक्रं छिद्रं सोमं प्रपश्यति ।

तथैव च सहस्रांशुं सप्तरात्रेण मृत्युभाक् ॥१७०

शवगन्धमुपाघ्रात सुरभिं प्राप्य यो नरः ।

देवतायतनस्थस्तु सप्तरात्रेण मृत्युभाक् ॥१७१

कर्णनासावनमनं दन्तदृष्टिविरागिता ।

संज्ञालोपो निरूष्मत्वं सद्योमृत्युनिदर्शनम् ॥१७२

अकस्माच्च स्रवेद् यस्य वातमक्षि नराधिप ।

सूर्धतश्चोत्पतेद् धूमः सद्योमृत्युनिदर्शनम् ॥१७३

एतावन्तित्वरिष्ठानि विदित्वा मानवोऽऽत्मवान् ।

निशि चाहनि चात्मानं योजयेत् परमात्मनि ॥१७४

प्रतीक्षमाणस्तत्कालं यत्कालं प्रेतता भवेत् ॥१७५

जो श्यामवर्ण वाला होकर भी पीला पड़ने लगे, देवताओं का अनादर और ब्राह्मणों से विरोध करने लगे, वह भी छः महीने से अधिक जीवित नहीं रहता । जिस मनुष्य को सूर्य-चन्द्रमा के मण्डल मकड़ी के जाले के समान छेद वाले दिखाई देने लगे, उसकी आयु सात रात्रि ही शेष रहती है । जो मनुष्य देव मन्दिर में बैठा होने पर भी वहाँ के सुगन्धित द्रव्य में सड़े मुर्दे की सी दुर्गन्ध का अनुभव करता है, उसकी मृत्यु सात दिन में ही हो जाती है । हे राजन् ! जिसके नाक-कान टेढ़े हो जाय, दाँतों और नेत्रों का रंग बदल जाय, जो बेहोश होने लगे, शरीर ठंडा पड़ने लगे, बाँये नेत्र से अकस्मात् आँसू बहने लगे या मस्तक से धुँआ उठने लगे, वह तुरन्त मृत्यु को प्राप्त होता है । क्योंकि यह लक्षण तत्काल मृत्यु होने की सूचना देते हैं । इन लक्षणों को जान कर मन को बश में रखता हुआ साधक हर समय परब्रह्म का ध्यान करता रहे और मृत्यु के समय की प्रतीक्षा करे ॥१६६-१७५॥

अथास्य नेष्टं मरणं स्थातुमिच्छेदिमां क्रियाम् ।
 सर्वगन्धान् रसांश्चैव धारयीत नराधिप ॥१७६
 ससांख्यधारणं चैव विदितात्मा नरर्षभ ।
 जयेच्च मृत्युं योगेन तत्परेणान्तरात्मना ॥१७७
 गच्छेत् प्राप्याक्षयं कृत्स्नमजन्म शिवमव्ययम् ।
 शाश्वतं स्थानमवलं दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥१७८
 अव्यक्तस्थं परं यत् तत् पृष्ठस्तेऽहं नराधिप ।
 परं गुह्यमिमं प्रश्नं शृणुष्वावहितो नृप ॥१७९
 यथाऽऽर्षेणोह विधिना चरतावनतेन ।
 मयाऽऽदित्यादवाप्तानि यजूंषि मिथिलाधिप ॥१८०
 महता तपसा देवस्तपिष्णुः सेवितो मया ।
 प्रीतेन चाहं विभुना सूर्येणोक्तस्तदानघ ॥१८१
 वरं वृणीष्व विप्रर्षे यदिष्टं ते सुदुर्लभम् ।
 तत् ते दास्यामि प्रीतात्मा मत्प्रसादो हि दुर्लभः ॥१८२

हे राजन् ! यदि योगी मरना न चाहे अभी संसारमें रहने का इच्छुक हो तो उसे पूर्वोक्त रीति से पंचभूत विषयक धारणा करके पृथिवी आदि तत्त्वों पर विजय प्राप्त करनी चाहिये तथा गन्ध, रस, रूप, आदि सम्पूर्ण विषयों को अपने वश में करना चाहिये । सांख्य और योग के अनुसार धारणा करते हुए आत्म तत्व का ज्ञान पाकर ध्यान-योग द्वारा अन्तरात्मा को परमात्मा में लगाने वाला योगी मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है । ऐसा करके वह सनातन पद पाता है । वह पद अशुद्ध चित्त वालों को अत्यन्त दुर्लभ है और अक्षय, अजन्मा, अविचल, अविकारी तथा पूर्ण कल्याण रूप है । याज्ञवल्क्यजी ने कहा—हे राजन् ! तुमने अव्यक्त में स्थित परब्रह्म के सम्बन्ध में जो पूछा है, सो वह विषय अत्यन्त गूढ़ है, उसे ध्यान से सुनो । पूर्व काल में मैंने शास्त्र-विधि व्रत का आचरण किया था और मस्तक झुका कर भगवान् सूर्य से शुक्ल यजुर्वेद के मन्त्र जिस प्रकार प्राप्त किये थे, वह सब तुम्हारे प्रति कहता हूँ । हे राजन् ! पूर्व काल की बात है—मैंने घोर तपस्या की थी, जिसमें तपने वाले भगवान् भास्कर की आराधना की थी । मेरी उस आराधना से प्रसन्न होकर भगवान् सूर्य ने मुझ से कहा था । हे ब्रह्मर्षे ! अपनी इच्छा के अनुसार वर माँग लो । यदि वह दुर्लभ होगा तो भी तुम्हें दूँगा । मेरी कृपा का प्रसाद अत्यन्त दुर्लभ है । परन्तु, मेरा मन तुम्हारी तपस्या से अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ है ॥१७६-१८२॥

ततः प्रणम्य शिरसा मयोक्तस्तपतां वरः ।

यजूंषि नोपयुक्तानि क्षिप्रमिच्छामि वेदितुम् ॥१८३

ततो मां भगवानाह वितरिष्यामि ते द्विज ।

सरस्वतीह वाग्भूता शरीरं ते प्रवेक्ष्यति ॥१८४

ततो मामाह भगवानास्यं स्वं विवृतं कुरु ।

विवृतं च ततो मेऽऽस्यं प्रविष्टा च सरस्वती ॥१८५

ततो विदह्यमानोऽहं प्रविष्टोऽम्भस्तदानघ ।

अविज्ञानादमर्षाच्च भास्करस्य महात्मनः ॥१८६

ततो विदह्यमानं मामुवाच भगवान् रविः ।

मुहूर्तं सह्यतां दाहस्ततः शीतीभविष्यति ॥१८७

शीतीभूतं त मां दृष्ट्वा भगवानाह भास्करः ।

प्रतिष्ठास्यति ते वेदः सखिल सोत्तरो द्विज ॥१८८

कृत्स्नं शतपथं चैव प्रणेष्यसि द्विजर्षभ ।

तस्यान्ते चापुनर्भावे बुद्धिस्तव भविष्यति ॥१८९

तब मैंने सिर झुका कर तपने वालों में श्रेष्ठ भगवान् सूर्य को प्रणाम कर उनसे निवेदन किया कि हे प्रभो ! मैं उन यजुर्वेद के मन्त्रों का शीघ्र ज्ञान पाना चाहता हूँ, जिनका आज से पहिले किसी ने उपयोग न किया हो । तब भगवान् सूर्य ने कहा—हे ब्रह्मन् ! मैं तुम्हें यजुर्वेद देता हूँ । तुम अपना मुख खोलो । वाङ्मयी सरस्वतीजी अब तुम्हारे शरीर में प्रविष्ट होंगी । यह सुनकर मैंने मुख खोला और सरस्वतीजी ने उसमें प्रवेश किया । सरस्वतीजी के प्रविष्ट होते ही मैं तापसे जलता हुआ समुद्र में प्रविष्ट हुआ । उस समय भगवान् सूर्य की महिमा न जानने से और सहिष्णुता न होने से मुझे अत्यन्त कष्ट उठाना पड़ा । फिर मुझे ताप से जलता हुआ देख भगवान् सूर्य बोले कि तुम दो घड़ी तक इस ताप को सहन करो फिर यह स्वयं ही शीतल तथा शांत होजायगा । जब मैं पूर्ण शीतल हो गया, तब मुझे देख कर भगवान् सूर्य बोले कि हे द्विज ! खिल और उपनिषदों सहित सम्पूर्ण वेद अब तुम्हारे भीतर प्रविष्ट हो जाँयगे । हे द्विजोत्तम ! तुम सम्पूर्ण शतपथ का भी प्रणयन करोगे और फिर तुम्हारी बुद्धि मोक्ष में स्थिर हो जायगी ॥१८३-१८९॥

प्राप्स्यसे च यदिष्टं तत् सांख्ययौगेप्सितं पदम् ।

एतावदुक्त्वा भगवानस्तमेवाभ्यवर्तत ॥१९०

ततोऽनुव्याहृतं श्रुत्वा गते देवे विभावसौ ।

गृहमागत्य संहृष्टोऽचिन्तयं वै सरस्वतीम् ॥१९१

ततः प्रवृत्तातिशुभा स्वरव्यञ्जनभूषिता ।

ओङ्कारमादितः कृत्वा मम देवी सरस्वती ॥१९२

ततोऽहमर्घ्यं विधिवत् सरस्वत्यै न्यवेदयम् ।

तपतां च वरिष्ठाय निषण्णस्तत्परायणः ॥१६३

ततः शतपथं कृत्स्नं सरहस्यं ससंग्रहम् ।

चक्रे सपरिशेषं च हर्षेण परमेण ह ॥१६४

कृत्वा चाध्ययनं तेषां शिष्याणां शतमुत्तमम् ।

विप्रियार्थं सशिष्यस्य मातुलस्य महात्मनः ॥१६५

ततः सशिष्येण मया सूर्येणोव गभस्तिभिः ।

व्यस्तो यज्ञो महाराज पितुस्तव महात्मनः ॥१६६

जिस पद को सांख्यवेत्ता और योगीजन भी प्राप्त करना चाहते हैं, तुम उस अभीष्ट पद को पाओगे । यह कह कर भगवान् सूर्य अन्तर्धान हो गये । मैंने भगवान् सूर्यकी वह बात सुनी और जब वे चले गये तब अपने घर आकार प्रसन्नता पूर्वक देवी सरस्वती का चिन्तन किया । मेरे द्वारा स्मरण करते ही स्वर और व्यंजनों से विभूषित अत्यन्त कल्याणमयी देवी सरस्वतीजी ओंकार को आगे करके मेरे सामने प्रकट हो गई । तब मैंने सरस्वतीजी और भगवान् सूर्य को अर्घ्य दिया और उन्हीं का स्मरण करता हुआ वहां बैठ गया । उस समय अत्यन्त हर्ष पूर्वक मैंने रहस्य, संग्रह और परिशिष्ट-भाग सहित समस्त शतपथ को संकलित किया । हे राजन् फिर मैंने अपने सौ श्रेष्ठ शिष्यों को शतपथ का अध्ययन कराया और शिष्य सहित अपने मामा का अप्रिय करने के लिये रश्मिन्त सूर्य के समान शिष्यों से सुशोभित होकर मैंने तुम्हारे पिता महाराज जनक के यज्ञ का अनुष्ठान कराया ॥१६०-१६६॥

मिषतो देवलस्यापि ततोऽर्धं हृतवानहम् ।

स्ववेददक्षिणायार्थे विमर्दं मातुलेन ह ॥१६७

सुमन्तुनाथ पैलेन तथा जैमिनिना च वै ।

पित्रा ते मुनिभिश्चैव ततोऽहमनुमानितः ॥१६८

दश पञ्च च प्राप्तानि यजूंष्यकर्म्मयानघ ।

तथैव रोमहर्षेण पुराणमवधारितम् ॥१६९

बीजमेतत् पुरस्कृत्य देवीं चैव सरस्वतीम् ।

सूर्यस्य चानुभावेन प्रवृत्तोऽहं नराधिप ॥२००

कर्तुं शतपथं चेदमपूर्वं च कृतं मया ।

यथाभिलषितं मार्गं तथा तच्चोपपादितम् ॥२०१॥

शिष्याणामखिलं कृत्स्नमनुज्ञातं ससंग्रहम् ।

सर्वे च शिष्या शुचयो गताः परमर्हषिताः ॥२०२॥

शाखाः पञ्चदशेमास्तु विद्या भास्करदेशिताः ।

प्रतिष्ठाप्य यथाकामं वेद्यं तदनुचिन्तयम् ॥२०३॥

उस समय अपने वेद की दक्षिणा के निमित्त मामा के विशेष आग्रह पर महर्षि देवल के समक्ष ही मैंने आधी दक्षिणा उन्हें दी और आधी स्वयं ले ली । फिर सुमन्तु, पैल, जैमिनी, तुम्हारे पिता तथा अन्य ऋषियों ने भी मेरा बहुत आदर-सत्कार किया । हे राजन् ! इस प्रकार भगवान् भास्कर से मैंने शुक्ल यजुर्वेद की पन्द्रह शाखाएँ प्राप्त कीं तथा इसी प्रकार रोमहर्षण सूत से मैंने पुराणों का भी अध्ययन किया । हे राजाओं में श्रेष्ठ ! फिर मैंने बीज रूप प्रणव और सरस्वती जी के सामने बैठ कर भगवान् भास्कर की कृपा से शतपथ की रचना की और जिस मोक्ष-मार्ग की मुझे कामना थी, उसका मैंने भले प्रकार सम्पादन किया । फिर वह सम्पूर्ण ग्रन्थ रहस्य और संग्रह सहित शिष्यों को पढ़ाया और उन्हें अपने-अपने गृह जाने की अनुमति दी तब वे पवित्राचरण वाले सभी शिष्य परम हर्षित हुए अपने-अपने घरों को गये । इस प्रकार भगवान् सूर्य द्वारा उपदेशित शुक्ल यजुर्वेद विद्या की इन पन्द्रह शाखाओं का पाकर मैंने जानने योग्य तत्व का इच्छानुसार चिन्तन किया ॥१६७-२०३॥

किमत्र ब्रह्मण्यमृतं किं च वेद्यमनुत्तमम् ।

चिन्तयंस्तत्र चागत्य गन्धर्वो मामपृच्छत् ॥२०४॥

विश्वावसुस्ततो राजन् वेदान्तज्ञानकोविदः ।

चतुर्विंशस्ततोऽपृच्छत् प्रश्नान् वेतस्य पार्थिव ।

पञ्चविंशतिमं प्रश्नं पप्रच्छान्वीक्षिकीं तदा ॥२०५॥

विश्वाविश्वं तथाश्वाश्वं मित्रं वरुणमेव च ।

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञोऽज्ञः कस्तपा अतपास्तथा ॥२०६॥

सूर्यातिसूर्य इति च विद्याविद्ये तथैव च ।

वेद्यावेद्यं तथा राजन्नचलं चलमेव च ॥२०७

अपूर्वमक्षयं क्षय्यमेतत् प्रश्नमनुत्तमम् ॥२०८

अथोक्तश्च महाराज राजा गन्धर्वसत्तमः ।

पृष्ठवाननुपूर्वेण प्रश्नमर्थविदुत्तमम् ॥२०९

मुहूर्तमुष्यतां तावद् यावदेवं विचिन्तये ।

बाढमित्येव कृत्वा च तूष्णीं गन्धर्व आस्थितः ॥२१०

हे राजन् ! एक समय की बात है—वेदान्त ज्ञान कोविद विश्वावसु नामक गंधर्व ने मेरे पास आकर ब्राह्मण जाति के लिये यहाँ हितकर क्या है तथा सत्य और सर्वश्रेष्ठ जानने योग्य वस्तु क्या है, यह प्रश्न किया । फिर उन्होंने वेद विषयक चौबीस प्रश्न किये और आन्वीक्षिकी विद्या के विषय में पच्चीसवाँ प्रश्न किया । विश्व क्या है ? अविश्व क्या है ? अश्वा क्या है ? अश्व क्या है ? मित्र क्या है ? वरुण क्या है । ज्ञान क्या है ? ज्ञेय क्या है ? ज्ञाता क्या है ? अज्ञ क्या है ? कौन है ? तपस्वी कौन है ? अतपस्वी कौन है ? सूर्य कौन है ? अति-सूर्य कौन है ? विद्या क्या है ? अविद्या क्या है ? वेद्य क्या है ? अवेद्य क्या है ? चल क्या है ? अचल क्या है ? अपूर्व क्या है ? अक्षय क्या है ? विनाशशील क्या है ? उनके यह चौबीस श्रेष्ठ प्रश्न थे । इन प्रश्नों पर गंधर्व श्रेष्ठ विश्वावसु से मैंने कहा—हे राजन् ! आपने अत्यन्त श्रेष्ठ प्रश्न रखे हैं । आप अर्थ के जानने वाले हैं । कुछ देर ठहरिये, मैं आपके प्रश्नों पर विचार कर लूँ । तब गंधर्वराज 'अच्छा' कह कर बैठ गये ॥२०४-२१०॥

ततोऽनुचिन्तयमहं भूयो देवीं सरस्वतीम् ।

मनसा स च मे प्रश्नो दध्नो घृतमिवोद्धतम् ॥२११

तत्रोपनिषदं चैव परिशेषं च पार्थिव ।

मन्थामि मनसा तात दृष्ट्वा चान्वीक्षिकीं पराम् ॥२१२

चतुर्थी राजशार्दूल विद्यं षा साम्परायिकी ।

उदीरिता मया तुभ्यं पञ्चविंशदधिष्ठिता ॥२१३

अथोक्तस्तु मया राजन् राजा विश्वावसुस्तदा ।

श्रूयतां यद् भवानस्मान् प्रश्नं सम्पृष्टवानिह ॥२१४

विश्वाविश्वेति यदिदं गन्धर्वेन्द्रानुपृच्छसि ।

विश्वाव्यक्तं परं विद्याद् भूतभव्यभयंकरम् ॥२१५

त्रिगुणं गुणकर्तृत्वादविश्वो निष्कलस्तथा ।

अश्वश्चाश्व च मिथुनमेवमेवानुदृश्यते ॥२१६

अव्यक्तं प्रकृतिं प्राहुः पुरुषेति च निर्गुणम् ।

तथैव मित्रं पुरुषं वरुणं प्रकृतिं तथा ॥२१७

फिर मैंने सरस्वती देवी का पुनः चिन्तन किया और तब जैसे दही से घृत निकलता चला आता है, वैसे ही उन प्रश्नों का उत्तर निकलता चला आया । उस समय मैंने उपनिषद्, उसके परिशिष्ट और आन्वीक्षिकी विद्या पर दृष्टि डाली और मन ही मन उन सबका मन्थन करने लगा । हे राजन् ! यह आन्वीक्षिकी विद्या त्रयी, वार्ता और दण्डनीति के बाद चौथी विद्या कही गयी है । यह मोक्ष में सहायता देने वाली है । पञ्चीसवें तत्त्वरूप पुरुष से अधिष्ठित उस विद्या को मैं तुम्हारे प्रति प्रतिपादित कर चुका हूँ । हे राजन् ! विश्वावसु से मैंने उस समय कहा कि हे गन्धर्व-राज ! आपने मुझसे जो प्रश्न किये हैं, उन सबके उत्तर श्रवण करिये । हे गन्धर्वेन्द्र ! आपने जो विश्व, अविश्व इत्यादि से यह प्रश्न प्रस्तुत किये हैं, उनमें विद्या अव्यक्त प्रकृति है । वह संसार के बन्धन में डालने वाली होने से भूत, भविष्यत, वर्तमान में भयंकर है—इसे यथार्थ रूप से समझ लो । इस प्रकार विश्वा नाम वाली अव्यक्त प्रकृति तीनों गुण वाली है, क्योंकि वह त्रिगुणात्मक विश्व को उत्पन्न करती है । उससे भिन्न निष्कल आत्मा अविश्व है । इसी प्रकार अश्व और अश्व भी संयुक्त रूप में देखे जाते हैं । अव्यक्त प्रकृति सगुण कही गयी है और पुरुष निर्गुण बताया गया है । इसी प्रकार वरुण प्रकृति और मित्र पुरुष है—ऐसा समझना चाहिये ॥२११-२१७॥

ज्ञानं तु प्रकृतिं प्राहुर्ज्ञेयं निष्कलमेव च ।

अज्ञश्च ज्ञश्च पुरुषस्तस्मान्निष्कल उच्यते ॥२१८

कस्तपा अतपाः प्रोक्तः कोऽसौ पुरुष उच्यते ।

तपास्तु प्रकृतिं प्राहुरतपा निष्कलः स्मृतः ॥२१६

सूर्यमव्यक्तमित्युक्तमसूर्यस्तु निष्कलः ।

अविद्या प्रकृतिज्ञेया विद्या पुरुष उच्यते ॥२२०

तथैवावेद्यमव्यक्तं वेद्यः पुरुष उच्यते ।

चलाचलमिति प्रोक्तं त्वया तदपि मे शृणु ॥२२१

चलां तु प्रकृतिं प्राहुः कारणं क्षयसर्गयोः ।

आक्षेपसर्गयोः कर्ता निश्चलः पुरुषः स्मृतः ॥२२२

तथैव वेद्यमव्यक्तमवेद्यं पुरुषस्तथा ।

अज्ञाबुभौ ध्रुवौ चैव अक्षयौ चाप्युभावपि ॥२२३

अजौ नित्याबुभौ प्राहुरव्यात्मगतनिश्चयाः ॥२२४

ज्ञान शब्द से प्रकृति और कला-रहित आत्मा ज्ञेय कहा जाता है ।

इसी प्रकार अज्ञ को प्रकृति और उससे भिन्न कला-रहित पुरुष को ज्ञाता कहा गया है । क, तपा और अतपा के सम्बन्ध में जो पूछा गया है, उसका उत्तर यह है कि पुरुष ही क है, प्रकृति तपा और कला-रहित पुरुष अतपा कहा गया है । अव्यक्त प्रकृति को सूर्य और कला-रहित पुरुष को अतिसूर्य कहा गया है । प्रकृति को अविद्या और पुरुष को विद्या भी कहते हैं । इसी प्रकार अवेद्य नाम से अव्यक्त प्रकृति और वेद्य नाम से पुरुष समझना चाहिये । आपने जो चल, अचल के सम्बन्ध में पूछा है—उसका उत्तर यह है । सृष्टि और संहार की कारणभूता प्रकृति 'चला' तथा सृष्टि और संहार का करने वाला पुरुष ही 'अचल' कहा गया है । वैसे ही अव्यक्त प्रकृति को वेद्य समझना चाहिये । पुरुष अवेद्य है । अध्यात्मतत्त्व के ज्ञानियों का कथन है कि प्रकृति और पुरुष दोनों ही अज्ञ, अचल, अक्षय, अजन्मा और अविनाशी हैं ॥२१८-२२४॥

अक्षयत्वात् प्रजनने अजमत्राहुरव्ययम् ।

अक्षयं पुरुषं प्राहुः क्षयो ह्यस्त न विद्यते ॥२२५

गुणक्षयत्वात् प्रकृतिः कर्तृत्वादक्षयं बुधाः ।

एषातेऽऽन्वीक्षिकी विद्या चतुर्थी साम्परायिकी ॥२२६

विद्योपेतं धनं कृत्वा कर्मणा नित्यकर्मणि ।

एकान्तदर्शना वेदाः सर्वे विश्वावसो स्मृताः ॥२२७

जायन्ते च म्रियन्ते च यस्मिन्नेते यतश्च्युताः ।

वेदार्थं ये न जानन्ति वेद्यं गन्धर्वसत्तम ॥२२८

साङ्गोपाङ्गानपि यदि यश्च वेदानधीयते ।

वेदवेद्यं न जानीते वेदभारवहो हि सः ॥२२९

यो घृतार्थी खरीक्षीरं मथेद् गन्धर्वसत्तम ।

विष्ठां तत्रानुपश्येत् न मण्डं न च वं घृतम् ॥२३०

तथा वेद्यमवेद्यं च वेदविद्यो न विन्दति ।

स केवलं मूढमतिज्ञानिभारवहः स्मृतः ॥२३१

ज्ञानियों का कहना है कि जन्म लेने परभी क्षय-रहित होने से पुरुष को अजन्मा, अविनाशी और अक्षय कहा गया है। क्योंकि उसका कभी भी क्षय नहीं होता। गुणों का क्षय होता है, इसलिये गुण वाली प्रकृति क्षय होने वाली कही गयी है और उसका प्रेरक होने से विज्ञानों ने पुरुष को अक्षय कहा है। यह मैंने मोक्ष में सहायक चतुर्थ अन्वीक्षिकी विद्या तुम्हारे प्रति प्रतिपादित की है। हे विश्वावसो ! अन्वीक्षिकी विद्या सहित वेद विद्या स्वरूप धन का उपार्जन करके भावधानी से नित्यकर्म में लगा रहे। सभी वेद एकान्त रूप से स्वाध्याय और मनन करने के योग्य बताये हैं। हे गन्धर्वराज ! जिसमें सभी भूत स्थित हैं, सभी जिससे उत्पन्न होकर उसीमें लीन हो जाते हैं ऐसे वेद द्वारा प्रतिपादन किये उस परब्रह्म को नहीं जानते, वे लोग परमार्थसे भ्रष्ट हो जाते और जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहते हैं। अङ्ग उपाङ्गों से युक्त वेद पढ़ कर भी जो वेदों के द्वारा जानने योग्य परब्रह्म को नहीं जानता, वह मूर्ख वेदों का बोझ वहन करने वाला ही होता है। हे गन्धर्वश्रेष्ठ ! जो घृत-पान की कामना से गधी के दूध का मन्थन करता है, उसे वहाँ विष्ठा ही दिखाई देती है क्योंकि, उसे मक्खन या घृत कुछ भी नहीं मिलता। इसी प्रकार जो पुरुष वेदपाठी होकर भी वेद्य और अवेद्य के तत्त्व को नहीं जानता, वह मूर्ख केवल ज्ञान का बोझ वहन करने वाला ही होता है ॥२२५-२३१॥

द्रष्टव्यौ नित्यमेवैतौ तत्परेणान्तरात्मना ।
 तथास्य जन्मनिधने न भवेतां पुनः पुनः ॥२३२
 अजस्रं जन्मनिधनं चिन्तयित्वा त्रयीमिमाम् ।
 परित्यज्य क्षयमिह अक्षयं धर्ममास्थितः ॥२३३
 यदानुपश्यतेऽत्यन्तमहन्यहनि काश्यप ।
 तदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति ॥२३४
 अन्यश्च शाश्वतोऽव्यक्तस्तथान्यः पञ्चविंशकः ।
 तस्य द्वावनुपश्येतां तमेकमिति साधवः ॥२३५
 ते नैतन्नाभिनन्दन्ति पञ्चविंशकमच्युतम् ।
 जन्ममृत्युभयाद् योगाःसांख्याश्च परमैषिणः ॥२३६
 पञ्चविंशं यदेतत् ते प्रोक्तं ब्राह्मणसत्तम ।
 तथा तन्न तथा चेति तद् भगवान् वक्तुमर्हति ॥२३७

मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह सदा प्रयत्न पूर्वक अपने अन्तरात्मा द्वारा इन प्रकृति-पुरुष दोनों का ज्ञान प्राप्त करे । जिस कारण उसे जन्म-मरण के चक्र में न पड़ना पड़े । जगत् में जन्म-मरण की परम्परा निरन्तर चलती रहती है यह समझ कर वैदिक कर्म काण्ड में कहे हुए सभी कर्मों और उनके फलों को नाशवान जान छोड़ दे और केवल अक्षय धर्म का ही आश्रय ले । प्रतिदिन परब्रह्म के स्वरूप का विचार और चिन्तन करने वाला साधक प्रकृति के संसर्ग से दूर रहता हुआ छब्बीसवें तत्त्व स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है । मूर्ख मनुष्य उस आत्मा के विषय में द्वैतभाव वाली धारणा से कहते हैं कि सनातन अव्यक्त ब्रह्म अन्य है और पच्चीसवाँ तत्त्वरूप जीवात्मा अन्य । परन्तु, साधु पुरुष उन दोनों में कोई भेद नहीं मानते । जन्म-मरण के भय से रहित हुए परमपद प्राप्त करने की इच्छा वाले सांख्य वेत्ता और योगीजन जीवात्मा और परमात्मा को परस्पर भिन्न नहीं समझते । जीवात्मा परमात्मा की अभिन्नता प्रतिपादित करने वाला यह पूर्वोक्त दर्शन साधु सम्मत है और वे उसे मानते ही हैं । विश्वा-वसु ने कहा—हे विप्रश्रेष्ठ ! आपने पच्चीसवें तत्त्वरूप जीवात्मा का

परमात्मा से जो अभेद प्रतिपादन किया है, उसमें जीवात्मा-परमात्मा के अभिन्न होने के विषय में संशय होता है, उसे आप दूर करें ॥२३२-२३७॥

जैगीषव्यस्यासितस्य देवलस्य मुया श्रुतम् ।

पराशरस्य विप्रर्षेर्वाषिगण्यस्य धीमतः ॥२३८

भृगोः पञ्चशिखस्यास्य कपिलस्य शुकस्य च ।

गौतमस्याष्टिषेणस्य गर्गस्य च महात्मनः ॥२३९

नारदस्यासुरेश्चैव पुलस्त्यस्य च धीमतः ।

सनत्कुमारस्य ततः शुक्रस्य च महात्मनः ॥२४०

कश्यपस्य पितुश्चैव पूर्वमेव मया श्रुतम् ।

तदनन्तरं च रुद्रस्य विश्वरूपस्य धीमतः ॥२४१

दैवतेभ्यः पितृभ्यश्च दैतेयेभ्यस्ततस्ततः ।

प्राप्तमेतन्मया कृत्स्नं वेद्यं नित्यं वदन्त्युतः ॥२४२

तस्मात् तद् वै भवद्बुद्ध्या श्रोतुमिच्छामि ब्राह्मण ।

भवान्प्रबर्हःशास्त्राणां प्रगल्भश्चातिबुद्धिमान् ॥२४३

न तवाविदितं किञ्चिद् भवाञ्श्रुतिनिधिः स्मृतः ।

कथ्यते देवलोके च पितृलोके च ब्राह्मण ॥२४४

ब्रह्मलोकगताश्चैव कथयन्ति महर्षयः ।

पतिश्च तपतां शश्वदादित्यस्तव भाषिता ॥२४५

मुनिश्रेष्ठ जैगीषव्य, असित, देवल, ब्रह्मर्षि पराशर, मेधावी वार्षगण्य, भृगु, पञ्चशिख, कपिल, शुक, गौतम, आष्टिषेण, महात्मा गर्ग, नारद, आसुरि, बुद्धिमान् पुलस्त्य, सनत्कुमार, महात्मा शुक्र और अपने पिता कश्यपजी के मुख से भी मैंने पहिले इस विषय को सुना था । फिर रुद्र, बुद्धिमान् विश्वरूप, देवगण, पितर और दैत्यों से भी मैंने यह सभी ज्ञान प्राप्त किया था । उन सभी का कहना है कि ज्ञेय तत्त्व पूर्ण और नित्य है । हे विप्र-देव ! अब, इस सम्बन्ध में आपकी बुद्धि के द्वारा हुए निर्णय को भी सुनने का इच्छुक हूँ । क्योंकि, आप विद्वानों में उत्तम, शास्त्रों के प्रगल्भ षड्विध और अत्यन्त मेधावी हैं । आप किसी भी विषय में अनजान नहीं हैं । वैदिक ज्ञान के तो आप निधि ही हैं । हे ब्रह्मन् ! देवलोक और

पितर-लोक में भी आप प्रसिद्ध हैं। ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए महर्षि भी आपकी महिमा को कहते हैं। तपने वाले तेजस्वी ग्रहों के स्वामी सनातन भगवान् भास्कर ने आपको वेद का उपदेश किया ही है ॥२३८-२४५॥

सांख्यज्ञानं त्वया ब्रह्मब्रुवाप्तं कृत्स्नमेव च ।

तथैव योगशास्त्रं च याज्ञवल्क्य विशेषतः ॥२४६

निःसंदिग्धं प्रबुद्धस्त्वं बुध्यमानश्चराचरम् ।

श्रोतुमिच्छामि तज्ज्ञानं धृतं मण्डमयं यथा ॥२४७

कृत्स्नधारिणमेव त्वां मन्ये गन्धर्वसत्तम ।

जिज्ञाससे च मां राजस्तन्निबोध यथाश्रुतम् ॥२४८

अबुध्यमानां प्रकृतिं बुध्यते पञ्चविंशकः ।

न तु बुध्यति गन्धर्वं प्रकृतिः पञ्चविंशकम् ॥२४९

अनेन प्रतिबोधेन प्रधानं प्रवदन्ति तत् ।

सांख्ययोगाश्च तत्त्वज्ञा तथाश्रुतिनिदर्शनात् ॥२५०

पश्यंस्तथैव चापश्यन् पश्यत्यन्यः सदानघः ।

षड्विंशं पञ्चविंशं च चतुर्विंशं च पश्यति ॥२५१

न तु पश्यति पश्यंस्तु यश्चैनमनुपश्यति ।

पञ्चविंशोऽभिमन्येत नान्योऽस्ति परतो मम ॥२५२

हे याज्ञवल्क्यजी ! आपने सम्पूर्ण सांख्य शास्त्र और योगशास्त्र का भी विशेष ज्ञान पाया है। आप पूर्ण ज्ञानी हैं, इसमें किंचित संशय नहीं है। आप सम्पूर्ण चराचर विश्व के भी ज्ञाता हैं। इसलिये नवनीत-युक्त धृत के समान स्वादिष्ट और सारभूत तत्त्वज्ञान को मैं आपके द्वारा सुनने की इच्छा कर रहा हूँ। याज्ञवल्क्यजी ने कहा—(अर्थात् मैंने कहा) हे गन्धर्व-राज ! मैं आपको सभी ज्ञानों के धारण करने वाली बुद्धि से सम्पन्न समझता हूँ। आप सब कुछ जानते हुए भी, मुझसे पूछते हैं और मेरे विचार को जानना चाहते हैं तो जैसा मैंने सुन रखा है, वैसा आपके प्रति कहता हूँ। हे गन्धर्वश्रेष्ठ ! प्रकृति अचेतन है, इसलिये पच्चीसवाँ तत्त्व जीवात्मा तो जानता है, परन्तु, वह उस जीवात्मा को नहीं जानती। सांख्य और योग के तत्त्व ज्ञान को जानने वाले विद्वान् श्रुति में प्रतिपादित जल

में प्रतिबिम्बित होने वाले चन्द्रमा के समान प्रकृति में ज्ञान रूप जीवात्मा के बोध के प्रतिबिम्बित होने से उस प्रकृति को 'प्रधान' संज्ञक कहते हैं । आग्रत आदि अवस्थाओं में जीवात्मा सभी कुछ देखता है और सुषुप्ति अथवा समाधि की अवस्था में कुछ भी नहीं देख सकता । परन्तु परब्रह्म अपने छब्बीसवें तत्त्व रूप स्वयं को सदा ही देखता रहता है । तथा पच्चीसवें तत्त्वरूप जीव और चौबीसवें तत्त्व रूप प्रकृति को भी देखता रहता है । यदि जीवात्मा यह अभिमान करे कि मुझसे श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है तो जो ब्रह्म उसे निरन्तर देखता है, वह उसे समझता हुआ भी नहीं समझ पाता ॥२४६-२५२॥

न चतुर्विंशको ग्राह्यो मनुजैर्ज्ञानदर्शिभिः ।

मत्स्यश्चोदकमन्वेति प्रवर्तते प्रवर्तनात् ॥२५३

तथैव बुध्यते मत्स्यस्तथैषोऽप्यनुबुध्यते ।

स स्नेहात् सहवासाच्च साभिमानाच्च नित्यशः ॥२५४

स निमज्जति कालस्य यदैकत्वं न बुध्यते ।

उन्मज्जति हि कालस्य समत्वेनाभिसंवृतः ॥२५५

यदा तु मन्यतेऽन्योऽहमन्य एष इति द्विजः ।

तदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति ॥२५६

अन्यश्च राजन्नवरस्तथान्यः पञ्चविंशकः ।

तत्स्थानाच्चानु पश्यन्ति एक एवेति साधवः ॥२५७

ते नैतन्नाभिनन्दन्ति पञ्चविंशकमच्युतम् ।

जन्ममृत्युभयादर्भीतायोगाः सांख्याश्चकाश्यप ।

षड्विंशमनुपश्यन्तः शुचयस्तत्परायणाः ॥२५८

यदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति ।

तदा स सर्वविद्विद्वान् न पुनर्जन्म विन्दति ॥२५९

तत्त्व ज्ञानियों को प्रकृति को आत्म भाव से ग्रहण नहीं करना चाहिये । जैसे जल का अनुसरण करने वाला मत्स्य जल को अपने से भिन्न ही समझता है, वैसे ही मनुष्य उसकी प्रवृत्ति का तो अनुसरण करे, परन्तु उसे अपना रूप कभी भी न समझे । जैसे जल में रहने वाली मछली

अपने को जल से भिन्न मानती है, वैसे ही इस प्राकृत देह में रहने वाला आत्मा प्रकृति को अपने से भिन्न मानता है। तो भी वह शरीर के प्रति स्नेह, सहवास और अभिमान के कारण ब्रह्म से अपनी एकता नहीं समझता और काल-समुद्र में डूब जाता है। परन्तु, जब वह अपनी समान बुद्धि से सम्पन्न होकर ब्रह्म में और अपने में एकत्व मान लेता है, तब उस काल समुद्र से मुक्त हो जाता है। जब द्विज इस बात को जान लेता है कि मुझमें और प्राकृत शरीर में सर्वथा भिन्नता है, तब वह प्रकृति-संसर्ग से पृथक् होकर, छब्बीसवें परमात्म तत्त्व के दर्शन करता है। हे राजन् ! परमात्मा और जीवात्मा भिन्न-भिन्न हैं। क्योंकि परमात्मा जीवात्मा का आश्रय है। परन्तु, ज्ञानीजन उन दोनों को सदा एक ही देखते और मानते हैं। हे काश्यप ! जन्म-मरण से भयभीत हुए योग और सांख्य की साधना करने वाले पुरुष भगवत् परायण होकर छब्बीसवें तत्त्व ब्रह्म का पवित्र भाव से दर्शन करते हुए जीव और ब्रह्म को एक मानते हैं तथा इस अभेद दर्शन की सदा प्रशंसा करते रहते हैं। प्रकृति के संसर्ग को छोड़ कर जीवात्मा जब परब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है, तब वह सर्वज्ञानी होकर इस संसार में फिर जन्म ग्रहण नहीं करता ॥२५३-२५६॥

एवमप्रतिबुद्धश्च बुध्यमानश्च तेऽनघ ।

बुद्धश्चोक्तो यथातत्त्वं मया श्रुतिनिदर्शनात् ॥२६०

पश्यापश्यं योनपश्येतुक्ष्म्यं तत्त्वं च काश्यप ।

केवलाकेवलं चाद्यं पञ्चविंशं परं च यत् ॥२६१

तथ्यं शुभं चैतुदुक्तं त्वया विभो

सम्यक् क्ष्म्यं दैवताद्यं यथावत् ।

स्वस्त्यक्षयं भवतश्चास्तु नित्यं

बुद्ध्या सदा बद्धियुक्तं मनस्ते ॥२६२

एवमुक्त्वा सम्प्रयातो दिवं स

विभ्राजन् वै श्रीमता दर्शनेन ।

दृष्टश्च तुष्ट्या परयाभिनन्द्य

प्रदक्षिणं मम कृत्वा महात्मा ॥२६३

ब्रह्मादीनां खेचराणां क्षितौ च

ये चाधस्तात् संवसन्ते नरेन्द्र ।

तत्रैव तद्दर्शनं दर्शयन् वै

सम्यक् क्षेम्यं ये पथं संश्रिता वै ॥२६४

सांख्याः सर्वे सांख्यधर्मे रताश्च ।

तद्वद् योगा योगधर्मे रताश्च ।

ये चाप्यन्ये मोक्षकामा मनुष्या-

स्तेषामेतद् दर्शनं ज्ञानदृष्टम् ॥२६५

ज्ञानान्मोक्षो जायते राजसिंह

नास्त्यज्ञानादेवमाहुर्नरेन्द्र ।

तस्माज्ज्ञानं तत्त्वतोऽन्वेषितव्यं

येनात्मानं मोक्षयेज्जन्ममृत्योः ॥२६६

हे निष्पाप ! इस प्रकार तुम्हारे प्रति मैंने अचेतन प्रकृति, चेतन जीवात्मा और बोध स्वरूप परमात्मा का श्रुति के अनुसार ही यथार्थ रूप से निरूपण किया है । जो मनुष्य जीव और प्रकृति आदि अचेतन तत्त्वों को भिन्न नहीं मानता और मंगलकारी तत्त्व पर दृष्टि नहीं रखता, वह केवल तथा अकेवल और सब के कारण रूप आत्मा-परमात्मा को भी यथार्थ रूप से नहीं जान सकते । विश्वावसु ने कहा—हे प्रभो ! सब देव-ताओं के आदि कारण ब्रह्म के सम्बन्ध में जो कुछ आपने कहा, वह सत्य शुभ, सुन्दर और कल्याणकारी है । आपका मन इस ज्ञान में सदा ही स्थित रहे और आप नित्य तथा अक्षय कल्याण को प्राप्त हों । याज्ञवल्क्य जी ने कहा—हे राजन् ! इस प्रकार कह कर गन्धर्वराज विश्वावसु अपने कान्तिमान दर्शन से प्रकाशमान होते हुए भी मेरी परिक्रमा और प्रशंसा करके स्वर्ग-लोक को गये और उस समय मैंने अत्यन्त संतोष के साथ उनकी ओर देखा । हे राजन् ! आकाशचारी ब्रह्मादि देवगण, पृथिवी-वासी मनुष्यगण और पृथिवी के नीचे के लोक में रहने वाले जीव, उनमें जो कोई भी कल्याणमय मोक्ष की कामना करते थे, उनको उन्हीं स्थानों में जाकर मेरे द्वारा कहे हुए इस सम्यक् ज्ञान का विश्वावसु ने उपदेश

दिया । सांख्य-धर्म में तत्पर सभी सांख्यवेत्ता और योग-धर्म में लगे हुए योगी और अन्य मोक्षकामी मनुष्यों को प्रत्यक्ष फल देने वाला है । हे पराक्रमी नरेश ! मोक्ष तो ज्ञान से ही मिलता है, अज्ञान से नहीं—विद्वानों का यही कहना है । इसलिये यथार्थ ज्ञान की खोज करे, जिससे जन्म-मरण के बन्धन से स्वयं को मुक्त किया जा सके ॥२६०-२६६॥

प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात् क्षत्रियाद् वा
वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्षणम् ।

श्रद्धातव्यं श्रद्धाधनेन नित्यं
न श्रद्धिनं जन्ममृत्यु विशेताम् ॥२६७

सर्वे वर्णा ब्राह्मणा ब्रह्मजाश्च
सर्वे नित्यं व्याहरन्ते च ब्रह्म ।
तत्त्वं शास्त्रं ब्रह्मबुद्ध्या ब्रवीमि
सर्वं विश्वं ब्रह्म चेतत् समस्तम् ॥२६८

ब्रह्मास्यतो ब्राह्मणाः सम्प्रसूता
बाहुभ्यां वै क्षत्रियाः सम्प्रसूताः ।
नाभ्यां वैश्या पादतश्चापि शूद्राः
सर्वे वर्णा नान्यथा वेदितव्याः ॥२६९

अज्ञानतः कर्मयोनिं भजन्ते
तां तां राजस्ते तथा यान्त्यभावम् ।
तथा वर्णा ज्ञानहीनाः पतन्ते
घोरादज्ञानात् प्राकृतं योनिजालम् ॥२७०

तस्माज्ज्ञानं सर्वतो मार्गितव्यं
सर्वत्रस्थं चैतदुक्तं मया ते ।
तत्स्थो ब्रह्मा तस्थिवांश्चापरो य-
स्तस्मै नित्यं मोक्षमाहुर्नरेन्द्र ॥२७१

यत् ते पृष्ठं तन्मया चोपदिष्टं
याथातथ्यं तद्विशोको भवस्व ।

राजन् गच्छस्वैतदर्थस्य पारं

सम्यक् प्रोक्तं स्वस्ति ते त्वस्तु नित्यम् ॥२७२

स एवमनुशास्तस्तु याज्ञवल्क्येन धीमता ।

प्रीतिमानभवद् राजा मिथिलाधिपतिस्तदा ॥२७३

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या नीच वर्ण में जन्म लेने वाले पुरुष से भी यदि ज्ञान की प्राप्ति होती हो तो उस ज्ञान को पाकर उसमें सदा श्रद्धा रखे । जिस मनुष्य में श्रद्धा है, उसमें जन्म-मरण का प्रवेश नहीं होता । ब्रह्मा से सभी वर्णों की उत्पत्ति हुई इसलिये सभी वर्ण ब्राह्मण हैं । सभी सदा ब्रह्मा का उच्चारण करते रहते हैं । मैं ब्रह्म-बुद्धि से यथार्थ शास्त्र का सिद्धान्त कहता हूँ—यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मा ही है । ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई है, ब्रह्मा की भुजाओं से क्षत्रियों की उत्पत्ति हुई, ब्रह्मा की नाभि से वैश्य और पाँवों से शूद्र उत्पन्न हुए । इसलिये सभी वर्ण के मनुष्य ब्रह्मा रूप ही हैं । ब्रह्म से भिन्न किसी को न समझे । अज्ञान के कारण कर्मों का अनुष्ठान करने वाले मनुष्य विभिन्न योनियों में जन्म लेते और मृत्यु को प्राप्त होते हैं । ज्ञान-रहित मनुष्य ही अपने भीषण अज्ञान के कारण विभिन्न प्रकार की प्राकृत योनियों को प्राप्त होते हैं । इसलिये, सब ओर से ज्ञान पाने का ही प्रयत्न करे । यह मैंने तुमसे कहा ही था कि सभी वर्ण वाले अपने-अपने आश्रम में रह कर ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । इसलिये ज्ञान में स्थित ब्राह्मण हो अथवा किसी अन्य वर्ण का हो, उसके लिये नित्य मोक्ष का प्राप्त होना कहा गया है । हे राजन् ! तुम्हारे प्रश्न के उत्तर में मैंने यथार्थ ज्ञान का उपदेश दिया है, इसलिये, अब तुम शोक रहित होकर तत्त्वज्ञानी बनो । मैंने तुम्हारे प्रति ज्ञान का भले प्रकार विवेचन कर दिया । तुम्हारा सदा कल्याण हो । भीष्मजी ने कहा—हे युधिष्ठिर ! मेधावी याज्ञवल्क्यजी के द्वारा उस प्रकार उपदेश करने पर महाराज जनक उस समय अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥२६७-२७३॥

गते मुनिवरे तस्मिन् कृते चापि प्रदक्षिणम् ।

दैवरातिर्नरपतिरासीनस्तत्र मोक्षवित् ॥२७४

गोकोटिं स्पर्शयामास हिरण्यं तु तथैव च ।
 रत्नाञ्जलिमथैकं च ब्राह्मणेभ्यो ददौ तदा ॥२७५
 विदेहराज्यं च तदा प्रतिष्ठाप्य सुतस्य वै ।
 यतिधर्ममुपासंश्चाप्यवसन्मथिलाधिपः ॥२७६
 सांख्यज्ञानमधीयानो योगशास्त्रं च कृत्स्नशः ।
 धर्माधर्मं च राजेन्द्र प्राकृतं परिगर्हयन् ॥२७७
 अनप्त इति कृत्वा स नित्यं केवलमेव च ।
 धर्माधर्मौ पुण्यपापे सत्यासत्ये तथैव च ॥२७८
 जन्ममृत्यू च राजेन्द्र प्राकृतं तदचिन्तयत् ।
 व्यक्ताव्यक्तस्य कर्मेदमिति नित्यं नराधिप ॥२ ६
 पश्यन्ति योगाः सांख्याश्च स्वशास्त्रकृतयक्षणाः ।
 इष्टानिष्टविमुक्तं हि तस्थौ ब्रह्म परात्परम् ॥२८०

राजा ने सत्कार पूर्वक मुनि की परिक्रमा की और उन्हें विदा किया । जब याज्ञवल्क्यजी चले गये, तब देवरात पुत्र जनक ने एक करोड़ गोएँ स्पर्श कर ब्राह्मणों को तुरन्त दान कर दीं । साथ ही एक एक अंजलि रत्न और सुवर्ण प्रत्येक ब्राह्मण को दिया । फिर उन्होंने विदेह देश का राज्य अपने पुत्र को दे दिया और स्वयं यति धर्म का पालन करते हुए रहने लगे । उन्होंने सम्पूर्ण सांख्य, ज्ञान और योग शास्त्र का अध्ययन करके प्राकृत धर्म और अधर्म को छोड़ने योग्य समझ 'मैं अनन्त हूँ'—ऐसा निश्चय किया । उन्होंने धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, सत्य-असत्य और जन्म-मरण को व्यक्त-अव्यक्त का कार्य मानते हुए उन सब को प्राकृत समझा और तब उस प्रकृति के संसर्ग से मुक्त होकर वे अपने शुद्ध और नित्य स्वरूप का चिन्तन करने लगे । योग सांख्य के विद्वान् अपने-अपने शास्त्रानुकूल लक्षणों के अनुसार ब्रह्म को इष्ट और अनिष्ट से मुक्त, अचल भाव से स्थित और परात्पर समझते तथा देखते हैं ॥२७४-२८०॥

नित्यं तदाहुर्विद्वांसः शुचि तस्माच्छुचिर्भव ।
 दीयते यच्च लभते दत्तं यच्चानुमन्यते ॥२८१

ददाति च नरश्रेष्ठ प्रतिगृह्णाति यच्च ह ।

ददात्यव्यक्त इत्येतत् प्रतिगृह्णाति तच्च वै ॥२८२

आत्मा ह्य वात्मनो ह्य कः कोऽन्यस्तस्मात्परो भवेत् ।

एवं मन्यस्व सततमन्यथा मा विचिन्तय ॥२८३

यस्याव्यक्तं न विदितं सगुणं निर्गुणं पुनः ।

तेन तीर्थानि यज्ञाश्च सेवितव्या विपश्चिता ॥२८४

न स्वाध्यायैस्तपोभिर्वा यज्ञैर्वा कुरुनन्दन ।

लभतेऽव्यक्तिकं स्थानं ज्ञात्वा व्यक्तं महीयते ॥२८४

तथैव महतः स्थानमाहङ्कारिकमेव च ।

अहङ्कारात् परं चापि स्थानानिसमवाप्नुयात् ॥२८६

ये त्वव्यक्तात् परं नित्यं जानते शास्त्रतत्पराः ।

जन्ममृत्युविमुक्तं च विमुक्तं सदसच्च यत् ॥२८७

विद्वानों ने उस ब्रह्म को नित्य और पवित्र कहा है, इसलिये तुम भी उसे जान कर पवित्र हो जाओ । हे राजन् ! जो देता है, जो दिया हुआ प्राप्त करता है, जो दिये हुए का अनुमोदन करता है, जो प्रतिगृह स्वीकार करता है, वह सब अव्यक्त ब्रह्म ही है । क्योंकि ब्रह्म ही सब कुछ देता और वही ग्रहण करता है । हे युधिष्ठिर ! केवल परमात्मा ही अम्ना है, उससे अधिक आत्मीय अन्य कौन होगा ? तुम इस प्रकार ही मानों और इसके विपरीत किसी बात में आस्था न रखो । जिसे अव्यक्त प्रकृति और सगुण-निर्गुण ब्रह्म की पहिचान न हुई हो, उस विद्वान् का कर्त्तव्य है कि वह तीर्थों का सेवन और यज्ञों का अनुष्ठान करे । स्वाध्याय, तप अथवा यज्ञों के बिना परमात्म पद प्राप्त नहीं हो सकता । इनके द्वारा तो परमात्मा का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त होता है उससे मनुष्य महान् हो सकता है । महत्तत्त्व के उपासक महत्तत्त्व को प्राप्त होते हैं और अहं-कार के उपासक अहंकार को । परन्तु, महत्तत्त्व और अहंकार से भी जो स्थान अधिक श्रेष्ठ हैं, उन्हें प्राप्त करना उचित है । जो शास्त्रों के स्वाध्याय में लगे रहते हैं, वे ही प्रकृति से परे, जन्म-मृत्यु से पृथक्, नित्य, मुक्त और सत्-असत् स्वरूप परब्रह्म का ज्ञान पा लेते हैं ॥२८१-२८७॥

दुर्गं जन्म निधनं चापि राजन्
 न भौतिकं ज्ञानविदो वदन्ति ।
 यज्ञं स्तपोभिनियमैर्व्रतैश्च
 दिवं समासाद्य पतन्ति भूमौ ॥२८८
 तस्मादुपासस्व परं महच्छुचि
 शिवं विमोक्षं विमलं पवित्रम् ।
 क्षेत्रं ज्ञात्वा पार्थिव ज्ञानयज्ञ-
 मुपास्य वै तत्त्वमृषिर्भविष्यसि ॥२८९
 यदुपनिषदमुपाकरोत् तथासौ
 जनकनृपस्य पुराहि याज्ञवल्क्यः ।
 यदुपगणितशाश्वताव्ययं त-
 च्छुभममृतत्वमशोकमच्छ्रति ॥२९०

हे राजन् ! ज्ञानियों का कहना है कि भौतिक जन्म और मरण से पार होना बहुत दुर्लभ है । यज्ञ आदि के अनुष्ठान से भी उस दुर्गम संकट से पार होना संभव नहीं है । जो लोग यज्ञ, तप, नियम और व्रतों को करके स्वर्गलोक में पहुँच जाते हैं, वे पुण्यों के क्षीण होने पर पृथिवी पर आ गिरते हैं । इसलिये तुम्हें प्रकृति से परे, महत्, पवित्र, कल्याणमय, निर्मल, शुद्ध और मोक्षरूप ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये । क्षेत्र का ज्ञान प्राप्त कर और ज्ञान यज्ञ का आश्रय लेकर अवश्य ही तुम तत्त्वज्ञानी ऋषि हो सकते हो । याज्ञवल्क्यजी ने, पूर्वकाल में राजा जनक को जिस उपनिषद् का उद्देश दिया था, उसका मनन करने वाले मनुष्य पहिले कहे गये सनातन अविनाशी, शुभ, अमृतमय और शोक-रहित ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥२८८-२९०॥

— — —

१४-वसिष्ठ गीता

किं तदक्षरमित्युक्तं यस्मान्नावर्तते पुनः ।
 किं च तत्क्षरमित्युक्तं यस्मादावर्तते पुनः ॥१
 अक्षरक्षरयोर्व्यक्तिं पृच्छाम्यरिनिषूदन ।
 उपलब्धुं महाबाहो तत्त्वे न कुरुनन्दन ॥२
 त्वं हि ज्ञाननिधिर्विप्रैरुच्यसे वेदपारगैः ।
 ऋषिभिश्च महाभागैर्यतिभिश्च महात्मभिः ॥३
 शेषमल्पं दिनानां ते दक्षिणायनभास्करे ।
 आवृते भगवत्यर्के गन्तासि परमां गतिम् ॥४
 तदेतच्छ्रोतुमिच्छामि त्वत्तः कुरुकुलोद्वह ॥५
 न तृप्यामीह राजेन्द्र शृण्वन्नमृतमोदशम् ॥६
 अत्र ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम् ।
 वसिष्ठस्य च संवादं करालजनकस्य च ॥७
 वसिष्ठं श्रेष्ठमासीनमृषीणां भास्करद्युतिम् ।
 पप्रच्छ जनको राजा ज्ञानं नैःश्रेयसं परम् ॥८

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह ! जिस अक्षर तत्व के प्राप्त होने पर जीव पुनः संसार में नहीं आता, वह अक्षर तत्व क्या है ? और वह क्षर पदार्थ क्या है जिसे जान कर या पाकर पुनः संसार में आना पड़ता है ? हे अरिसूदन ! महाबाहो ! मैंने क्षर-अक्षर के यथार्थ स्वरूप को समझने के उद्देश्य से ही आपसे यह बात पूछी है । वेद-पारंगत विज्ञ ब्राह्मण, महाभाग महर्षि और महात्मा यति भी आपको ज्ञाननिधि बताते हैं । सूर्य दक्षिणायन में रहने के कुछ दिन ही शेष बचे हैं, फिर सूर्य के उत्तरायण में पहुँचते ही आप परम लोक को गमन करेंगे । इसलिये हे कुरुकुल धुरं-

धर ! हे राजेन्द्र ! मैं आपके मुख से ही सुनने की इच्छा करता हूँ । आपके इन अमृतमय वचनों को सुनते-सुनते भी मैं अभी तृप्त नहीं हो सका हूँ । भीष्मजी ने कहा—अच्छा, इस विषय में वसिष्ठ जी और कराल नामक जनक में एक सम्वाद हुआ था, उस प्राचीन इतिहास को मैं तुम्हारे प्रति कहता हूँ । एक समय, ऋषियों में सूर्य के समान तेज वाले महर्षि वसिष्ठ अपने आश्रम पर थे, उस समय कराल नामक राजा जनक ने वहाँ जाकर उन महर्षि से परम कल्याणकारी ज्ञान के विषय में प्रश्न किया था ॥१-८॥

परमध्यात्मकुशलमध्यात्मगतिनिश्चयम् ।
 भैत्रावरुणिमासीनमभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥९
 स्वक्षरं प्रश्रितं वाक्यं मधुरं चाप्यनुल्बणम् ।
 पप्रच्छर्षिवरं राजा करालजनकः पुरा ॥१०
 भगवञ्श्रोतुमिच्छामि परं ब्रह्म सनातनम् ।
 यस्मान्न पुनरावृत्तिमाप्नुवन्ति मनीषिणः ॥११
 यच्च तत् क्षरमित्युक्तं यत्रेदं क्षरते जगत् ।
 यच्चाक्षरमिति प्रोक्तं शिवं क्षेम्यमनामयम् ॥१२
 श्रूयतां पृथिवीपाल क्षरतीदं यथा जगत् ।
 यन्न क्षरति पूर्वेण यावत्कालेन वाप्यथ ॥१३
 युगं द्वादशसाहस्रं कल्पं विद्धि चतुर्युगम् ।
 दशकल्पशतावृत्तमहस्तद् ब्राह्ममुच्यते ॥१४

मित्रावरुण के पुत्र महर्षि वसिष्ठ आत्म ज्ञान का निश्चय हो जाने के कारण, प्राध्यात्मिक प्रवचन में अत्यन्त कुशल थे । वे एक आसन पर बैठे थे । तभी कराल नामक राजा जनक ने हाथ जोड़ कर प्रणाम किया और सुन्दर अक्षरों वाली विनयपूर्ण, कुतर्कहीन मधुर वाणी में इस प्रकार प्रश्न किया । हे भगवन् ! मनीषी पुरुष जहाँ पहुँच कर इस संसार में फिर नहीं लौटते, उन सनातन परब्रह्म के स्वरूप का यथार्थ वर्णन सुनने की मेरी इच्छा है । जिसे 'क्षर' कहते हैं उसे जानने को भी उत्सुक हूँ । जिसमें विश्व का क्षरण होता है और जिसे 'अक्षर' कहते हैं, उस कल्याणमय,

विकार-रहित शिव-स्वरूप के जानने की जिज्ञासा है। वशिष्ठजी ने कहा हे राजन् ! जैसे इस संसार का क्षय होता है उसको तथा जो कभी भी क्षरित नहीं होता उस अक्षर को भी मैं तुम्हारे प्रति कहता हूँ। देवताओं के बारह हजार वर्षों की एक चतुर्युगी होती है। यही 'कल्प' है। ऐसे एक हजार कल्पों का ब्रह्माजी का एक दिन होना कहा गया है ॥६-१४॥

रात्रिश्चैतावती राजन् यस्यान्ते प्रतिबुद्धयते ।

सृजत्यनन्तकर्माणं महान्तं भूतमग्रजम् ॥१५

मूर्तिमन्तममूर्तत्मा विश्वं शम्भुः स्वयम्भुवः ।

अणिमा लघिमा प्राप्तिरीशानं ज्योतिरव्ययम् ॥१६

सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१७

हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः ।

महानिति च योगेषु विरिञ्चिरिति चाप्यजः ॥१८

सांख्ये च पठ्यते शास्त्रे नामभिर्बहुधात्मकः ।

विचित्ररूपो विश्वात्मा एकाक्षर इति स्मृतः ॥१९

वृत्तं नैकात्मकं येन कृतं त्रिलोक्यमात्मना ।

तथैव बहुरूपत्वाद् विश्वरूप इति स्मृतः ॥२०

एष वै विक्रियापन्नः सृजत्यात्मानमात्मना ।

अहङ्कारं महातेजाः प्रजापतिमहं कृतम् ॥२१

हे राजन् ! उनकी रात्रि भी इतने ही समय की होती है। उसके अन्त में वे जागते हैं। अनन्त कर्म वाले ब्रह्माजी सबसे पहिले उत्पन्न हुए महान् भूत हैं। सम्पूर्ण विश्व उन्हीं का रूप है। अणिमा, लघिमा और प्राप्ति आदि सिद्धियों पर शासन करने वाले, कल्याण रूप, आकार रहित परमात्मा ही उन ब्रह्मा जी को उत्पन्न करते हैं ! वे परमात्मा ज्योति-स्वरूप, अविनाशी एवं स्वयंभू हैं। उनके हाथ, पाँव, नेत्र, मस्तक, मुख और कान सभी ओर हैं। विश्व में सभी को व्याप्त करते हुए वे स्थित हैं। परमात्मा के द्वारा सब से पहिले भगवान् हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुए इन्हीं को बुद्धि कहते हैं। योग शास्त्र में इन्हीं को महान् कहा गया है। इन्हें

विरंचि अथवा अज भी कहते हैं। अनेक नाम-रूपों वाले इन हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी का वर्णन सांख्य शास्त्र में भी हुआ है। इन्हें विचित्र रूपधारी, विश्वात्मा और एकाक्षर कहा गया है। अनेक रूपों वाली इस त्रिलोकी को उन्होंने रचा और स्वयं ही इसे व्याप्त कर रखा है। अनेक रूप धारी होने से उन्हें विश्वरूप माना जाता है। यह अत्यन्त तेज वाले भगवान् हिरण्यगर्भ विकारमय होकर स्वयं ही अहंकार की तथा उसके अभिमानी प्रजापति विराट् की रचना करते हैं ॥१५-२१॥

अव्यक्ताद् व्यक्तमापन्नं विद्यासर्गं वदन्ति तम् ।

महान्तं चाप्यहङ्कारमविद्यासर्गमेव च ॥२२

अविधिश्च विधिश्चैव समुत्पन्नौ तथैकतः ।

विद्याविद्येति विख्याते श्रुतिशास्त्रार्थचिन्तकै ॥२३

भूतसर्गमहङ्कारात् तृतीयं विद्धि पार्थिव ।

अहङ्कारेषु सर्वेषु चतुर्थं विद्धि वैकृतम् ॥२४

वायुज्योतिरथाकाशमापोऽथ पृथिवी तथा ।

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ॥२५

एवं युगपदुत्पन्नं दशवर्गमसंशयम् ।

पञ्चमं विद्धि राजेन्द्र भौतिकं सर्गमर्थवत् ॥२६

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा घ्राणमेव च पञ्चमम् ।

वाक् च हस्तौ च पादौ च पायुर्मैद्वं तथैव च ॥२७

बुद्धीन्द्रियाणि चैतानि तथा कर्मेन्द्रियाणि च ।

सम्भूतानीह युगपन्मनसा सह पार्थिव ॥२८

इनमें निराकार से साकार रूप होने वाली मूल प्रकृति विद्यासर्ग कही जाती है तथा महत्तत्त्व और अहंकार अविद्यासर्ग कहे जाते हैं। उसी परमात्मा से ज्ञान और कर्म की उत्पत्ति हुई है। श्रुति और शास्त्र का अर्थ समझने वाले विद्वान् उन्हें विद्या और अविद्या भी कहते हैं। हे भूपते ! अहंकार से सूक्ष्मभूतों की उत्पत्ति को तीसरा सर्ग समझो। सात्त्विक, राजस और तामस के भेद से तीन प्रकार के अहंकार से चौथी सृष्टि प्रकट

होती है, उसे वैकृत सर्ग समझना चाहिये । आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी—यह पाँचों महाभूत तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध—यह पाँचों विषय उसी वैकृत सर्ग के अन्तर्गत समझो । यह दसों एक साथ उत्पन्न होते हैं—इसमें सदेह नहीं है । हे राजेन्द्र ! जो प्राणियों के लिये विशेष प्रयोजन वाला होने के कारण सार्थक है, उस पाँचवें सर्ग को समझो । इस भौतिक सर्ग में नेत्र, श्रोत्र, नासिका, त्वचा, जिह्वा यह पाँचों ज्ञानेन्द्रिय और बाणी, हाथ, पांव गुदा और उपस्थ यह पंच कर्मेन्द्रिय हैं । हे राजन् ! मन के सहित यह सभी एक साथ उत्पन्न होते हैं ॥२२-२८॥

एषा तत्त्वचतुर्विंश सर्वाकृतिषु वर्तते ।

यां ज्ञात्वा नाभिशोचन्ति ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः ॥२९॥

एतद् देहं समाख्यातं त्रिलोक्ये सर्वदेहिषु ।

वेदितव्यं नरश्रेष्ठ सदेवनरदानवे ॥३०॥

सयक्षभूतगन्धर्वे सकिन्नरमहोरगे ।

सचारणपिशाचे वै सदेवर्षिनिशाचरे ॥३१॥

सदंशकीटमशके सपूतिकृमिमूषिके ।

शुनि श्वपाके चणोये सचाण्डाले सपुल्कसे ॥३२॥

हस्त्यश्वखरशार्दूले मवृक्षे गवि चैव ह ।

यच्च मूर्तिमयं किञ्चित् सवत्रैतन्निदर्शनम् ॥३३॥

जले भुवि तथाऽऽकाशे नान्यत्रेति विनिश्चयः ।

स्थानं देहवतामासीदित्येवमनुशुश्रुम ॥३४॥

कुत्सन्मेतावतस्तात क्षरते व्यक्तसंज्ञितम् ।

अहन्यहनि भूतात्मा ततः क्षरति स्मृतः ॥३५॥

यह चौबीसों तत्व सभी देहधारियों में उपस्थित रहते हैं । तत्त्वदर्शी ब्राह्मण इनके यथार्थ स्वरूप को जानते हैं, इसलिये वे कभी इनके लिये शोक नहीं करते । हे मनुष्यों में श्रेष्ठ ! हे राजन् ! तीनों लोकों में जितने भी शरीरधारी हैं, उन सब में इन तत्वों के समूह को ही देह समझो । देवता, मनुष्य, दानव, यक्ष, भूत, गन्धर्व, किन्नर, महासर्प, चारण, पिशाच, देवर्षि, निशाचर, दंश कीट, मच्छर, दुर्गन्ध वाले कीड़े, चूहे, कुत्ते, चाण्डाल

श्वपाक, पुल्कस, हाथी, अश्व, गधे, सिंह, वृक्ष और गौ आदि के रूप में जो पदार्थ मूर्तिमान दिखाई देता है, उस सब में यही तत्व दिखाई देते हैं देहधारियों का निवास पृथिवी, जल और आकाश में ही है, अन्यत्र नहीं है—विद्वानों का यही निश्चय है और मैंने भी यही सुन रखा है। हे तात् ! यह सम्पूर्ण पंचभौतिक विश्व व्यक्त कहा गया है और यह प्रतिदिन क्षरित होता रहता है, इसलिये इस विश्व को 'क्षर' कहते हैं ॥२६-३५॥

एतदक्षरमित्युक्तं क्षरतीदं यथा जगत् ।

जगन्मोहात्मकं प्राहुरव्यक्ताद् व्यक्तसंज्ञकम् ॥३६

महांश्चैवाग्रजो नित्यमेतत् क्षरनिदर्शनम् ।

कथितं ते महाराज यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥३७

पञ्चविंशतिमो विष्णुर्निस्तत्त्वस्तत्त्वसंज्ञितः ।

तत्त्वसंश्रयष्पादेतत् तत्त्वमाहुर्मनीषिणः ॥३८

यन्मर्त्यमसृजद् व्यक्तं तत्तन्मूर्त्यधितिष्ठति ।

चतुर्विंशतिमोऽव्यक्तो ह्यमूर्तः पञ्चविंशकः ॥३९

स एव हृदि सर्वासु मूर्तिष्वातिष्ठतेऽऽत्मवान् ।

केवलश्चेतनो नित्यः सर्वमूर्तिरमूर्तिमान् ॥४०

सर्गप्रलयधर्मिण्या असर्गप्रलयात्मकः ।

गोचरे वर्तते नित्यं निर्गुणं गुणसंज्ञितम् ॥४१

एवमेष महानात्मा सर्गप्रलयकोविदः ।

विकुर्वाणः प्रकृतिमानभिमन्यत्यबुद्धिमान् ॥४२

इसस भिन्न तत्व को अक्षर कहते हैं। उस अव्यक्त अक्षर से यह जगत् उत्पन्न होता है और क्षरित होने के कारण ही यह क्षर सज्ञक होजाता है क्षर तत्वों में सर्व प्रथम महत्तत्व की उत्पत्ति हुई। क्षर का यही परिचय है। हे महाराज ! तुम्हारे प्रश्न के अनुसार क्षर-सम्बन्धी वर्णन मैंने तुम से किया है। इन चौबीस तत्वों से परे पच्चीसवें तत्व भगवान् विष्णु हैं। वे तत्वों के आश्रयदाता होने से ही मनीषीजन उन्हें तत्व कहते हैं। महत्तत्व आदि व्यक्त पदार्थों द्वारा जिन नाशवान् पदार्थों की उत्पत्ति होती है, वे किसी न किसी रूप के आश्रय में स्थित होते हैं। गिनती करने पर

चोबीसवाँ तत्व अव्यक्त प्रकृति और पच्चीसवाँ तत्व अव्यक्त ब्रह्म है। जो अद्वितीय, चेतन, नित्य, सर्वरूप, निराकार और सर्वात्मा हैं, वे परब्रह्म परमात्मा ही सब शरीरों के हृदय में निवास करते हैं। सृष्टि और प्रलय दोनों ही प्रकृति के धर्म हैं, पुरुष उससे सदा असम्बन्धित है। फिर भी प्रकृति के संसर्ग से पुरुष भी सृष्टि और प्रलय रूप धर्म से सम्बन्धित सा लगता है। इन्द्रियों का विषय न होने पर भी इन्द्रियगोचर-सा प्रतीत होता है और गुण-रहित होने पर भी गुणमय-सा दिखाई देता है। इस प्रकार सृष्टि और प्रलय का ज्ञाता यह महान् आत्मा अधिकार युक्त होकर भी प्रकृति के संसर्ग से विकार युक्त प्रतीत होता है और प्रकृत-बुद्धिवाला न होने पर भी शरीर के अपने होने का ही अभिमान कर लेता है ॥३६-४२॥

तमःसत्त्वरजोयुक्तस्तासु तास्विह योनिषु ।
 नियते प्रतिबुद्धित्वादबुद्धजनसेवनात् ॥४३
 सहवासविनाशित्वान्नान्योऽहमिति मन्यते ।
 योऽहं सोऽहमिति ह्युक्त्वा गुणानेवानुवर्तते ॥४४
 तमसा तामसान् भावान् विविधान् प्रतिपद्यते ।
 रजसा राजसांश्चैव सात्त्विकान् सत्त्वसंश्रयात् ॥४५
 शुक्ललोहितकृष्णानि रूपाण्येतानि त्रीणि तु ।
 सर्वाण्येतानि रूपाणि यानीह प्राकृतानि वै ॥४६
 तामसा निरयं यान्ति राजसा मानुषानथ ।
 सात्त्विका देवलोकाय गच्छन्ति सुखभागिनः ॥४७
 निष्कैवल्येन पापेन तिर्यग्योनिमवाप्नुयात् ।
 पुण्यपापेन मानुष्यं पुण्येनैकेन देवताः ॥४८
 एवमव्यक्तविषयं क्षरमाहुर्मनीषिणः ।
 पञ्चविंशतिमो योऽयं ज्ञानादेव प्रवर्तते ॥४९

प्रकृति के संसर्ग से ही वह सत्त्व, रज और तमोगुण वाला होता है और अज्ञानियों के संग से उनके ही समान अपने को देहमय समझने के कारण सात्त्विक, राजस या तामस योनियों में से किसी योनि में जन्म

लेता है। प्रकृति के संसर्ग से अपने स्वरूप का ज्ञान नष्ट हो जाता है और पुरुष अपने को शरीर से भिन्न नहीं समझता। 'मैं यह हूँ, अमुक का पुत्र तथा अमुक जाति का हूँ' इत्यादि कहता हुआ गुणों के अनुसार वर्तता है। वह तमोगुण के आश्रय में तामस भावान्तर्गत मोह आदि को प्राप्त होता है। रजोगुण के आश्रय में राजसी भावों में और सतोगुण के आश्रय में सात्विक भावों में स्थित होता है। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से क्रमशः श्वेत, लाल और काले रंग प्रकट होते हैं। प्रकृति के जो-जो रूप दिखाई देते हैं, वे सब इन तीन रंगों के अन्तर्गत ही हैं। तमोगुणी जीव नरक में जाते हैं, रजोगुणी जीव मृत्युलोक में और सुख के अधिकारी सतोगुणी पुरुष देवलोक को गमन करते हैं। पाप कर्मों के फल की प्राप्ति रूप प्राणी को पशु-पक्षी आदि तिर्यग्योनि प्राप्त होती है। पाप-पुण्य के मिलने से मनुष्य लोक मिलता है और पुण्य कर्म से देवयोनि मिलती है। इस प्रकार मनीषीजन प्रकृति से उत्पन्न हुए पदार्थों को क्षर कहते हैं। जो चौबीस तत्त्व कहे गये हैं, उनसे परे पञ्चीसवाँ तत्त्व अक्षर ब्रह्म है। ज्ञान के द्वारा उस ब्रह्म की प्राप्ति होती है ॥४३-४६॥

एवम्प्रतिबुद्धत्वादबुद्धमनुवर्तते ।

देहान् देहसहस्राणि तथा समभिपद्यते ॥५०

तिर्यग्योनिसहस्रेषु कदाचिद् देवतास्वपि ।

उपपद्यति संयोगाद् गुणैः सह गुणक्षयात् ॥५१

मानुषत्वाद् दिवं याति दिवो मानुष्यमेव च ।

मानुष्यान्निरयस्थानमानान्त्यं प्रतिपद्यते ॥५२

कोशकारो यथाऽऽत्मानं कीटः समवरुन्धति ।

क्षत्रतन्तुगुणैर्नित्यं तथायमगुणो गुणैः ॥५३

द्वन्द्वमेति च निर्द्वन्द्वस्तासु तास्विह योनिषु ।

शीर्षरोगेऽक्षिरोगे च दन्तशूले गलेग्रहे ॥५४

जलोदरे तृषारोगे ज्वरगण्डे विषूचके ।

श्वित्रकुष्ठेऽग्निदग्धे च सिध्मापस्मारयोरपि ॥५५

यानि चान्यानिद्वन्द्वानि प्राकृतानि शरीरिषु ।

उत्पद्यन्ते विचित्राणि तान्येषोऽप्यभिमन्यते ॥५६॥

वसिष्ठजी ने कहा—इस प्रकार ज्ञान-हीन होने के कारण प्राणी अज्ञान का व्यवहार करता है, इसलिये उसे एक शरीर को त्याग कर हजारों शरीर धारण करने होते हैं। वह गुणों से सम्बन्धित होने के कारण, उन्हीं गुणों के प्रभाव से हजारों बार तिर्यक् योनियों में तथा कभी-कभी देव-योनि में जन्म लेता है। कभी मनुष्य योनि से स्वर्ग में जाता और कभी स्वर्ग से मनुष्य योनि में लौटता है। उसे कभी-कभी मनुष्य योनि से अनन्त नरकों की प्राप्ति भी हो जाती है। रेशम का कीट जैसे अपने द्वारा उत्पन्न तन्तुओं से अपने को ही सब ओर से बाँध लेता है, वैसे ही यह निर्गुण आत्मा अपने ही द्वारा उत्पन्न किये हुए प्राकृत गुणों में स्वयं बँध जाता है। वह आत्मा द्वन्द्व रहित होते हुए भी विभिन्न योनियों में जन्म लेता हुआ सुख-दुःख प्राप्त करता है। उसे कभी सिर-दर्द, कभी नेत्र-कष्ट, कभी दंत-पीड़ा और कभी गले में पीड़ा हो जाती है। कभी जलोदर, तृषा रोग, ज्वर, गलगण्ड, विषूचका, श्वेत कुष्ठ, अग्निदाह, सिद्धम, अपस्मार, आदि रोगों में पड़ जाना होता है। इनके अतिरिक्त अन्य जितने भी प्रकार के प्रकृति से उत्पन्न विचित्र रोग आदि उत्पन्न होते हैं, उन सभी से वह अपने को ही पीड़ित मान लेता है ॥५०-५६॥

तिर्यग्योनिसहस्रेषु कदाचिद् देवतास्वपि ।

अभिमन्यत्यभीमानात् तथैव सुकृतान्यपि ॥५७॥

शुक्लवासाश्च दुर्वासाः शायी नित्यमधस्तथा ।

मण्डूकशायी च तथा वीरासनगतस्तथा ॥५८॥

चीरधारणमाकाशे शयनं स्थानमेव च ।

इष्टकाप्रस्तरे चैव कण्टकप्रस्तरे तथा ॥५९॥

भस्मप्रस्तरशायी च भूमिशय्या तलेषु च ।

वीरस्थानाम्बुपङ्के च शयनं फलकेषु च ॥६०॥

विविधासु च शय्यासु फलगृद्धचान्वितस्तथा ।

मुञ्जमेखलनग्नत्वं क्षौमकृष्णाजिनानि च ॥६१॥

शाणीवालपरीधानो व्याघ्रचर्मपरिच्छदः ।

सिंहचर्मपरीधानः पट्टवासास्तथैव च ॥६२॥

फलकपरिधानश्च तथा कण्टकवस्त्रधृक् ।

कीटकावसनश्चैव चीरवासास्तथैव च ॥६३॥

अनेक तिर्यक् योनियों को कभी वह अपनी ही समझता है और कभी देवता होने का अभिमान करता है । उसका यही अभिमान उसे उन-उन शरीरों द्वारा किये हुए कर्मों के फलों का भोग कराने वाला होता है । फल की आशा में बँधा हुआ जीव कभी नवीन, स्वच्छ वस्त्र पहनता और कभी फटे, पुराने, मैले कपड़े पहनता है । कभी पृथिवी पर शयन कहता, कभी मैढक के समान हाथ-पाँव सिकोड़ कर सोता, कभी वीर मुद्रा में बैठता और कभी खुले आकाश के नीचे रहता है । कभी चीर, वल्कल धारण करता, कभी, ईंट, पत्थर पर या काँटों पर सोता, कभी भस्म बिछा कर या पृथिवी पर लेटता या वृक्ष के नीचे पड़ा रहता है । कभी रणक्षेत्र में, कभी जल या कीच में, कभी चौकी आदि विभिन्न वस्तुओं को शय्या बना कर शयन करता है । कभी मूँज की मेखला बाँधता, कौपीन धारण करता, कभी नंगा घूमता है और कभी रेशमी वस्त्र अथवा काला मृग चर्म पहनता है । कभी सन अथवा ऊन के वस्त्र पहनता है । कभी व्याघ्र या सिंह की खाल ओढ़ता और कभी रेशम का पीताम्बर धारण करता है । कभी भोजपत्र की छाल, कभी साधारण वस्त्र और कभी कण्टक वस्त्र पहनता है । कभी कीड़ों से निकला रेशम और कभी चिथड़े ही पहन लेता है ॥५७-६३॥

वस्त्राणि चान्यानि बहून्यभिमन्यत्यबुद्धिमान् ।

भोजनानि विचित्राणि रत्नानि विविधानि च ॥६४॥

एकरात्रान्तराशित्वमेककालिकभोजनम् ।

चतुर्थाष्टमकालश्च षष्ठकालिक एव च ॥६५॥

षड्रात्रभोजनश्चैव तथवाष्टाहभोजनः ।

सप्तरात्रदशाहारो द्वादशाहिकभोजनः ॥६६

मासोपवासी मूलाशी फलाहारस्तथैव च ।

वायुभक्षोऽम्बुपिण्याकदधिगोमयभोजनः ॥६७

गोमूत्रभोजनश्चैव शाकपुष्पाद एव च ।

शैवालभोजनश्चैव तथाऽऽचामेन वतयन् ॥६८

वर्तयद् शीर्णपर्णैश्च प्रकीर्णफलभोजनः ।

विविधानि च कृच्छ्राणि सेवते सिद्धिकाक्षया ॥६९

चान्द्रायणानि विधिवल्लिङ्गानि विविधानि च ।

चातुराम्यश्रपन्थानमाश्रयत्यपथानपि ॥७०

वह अज्ञानी जीव इनसे भिन्न भी अनेक प्रकार के वस्त्र धारण करता, विभिन्न प्रकार के, विचित्र भोजनों को खाता और अनेक प्रकार के रत्नाभूषणों को धारण करता है । कभी एक रात्रि के अन्तर से भोजन करता, कभी एक बार अन्न सेवन करता और कभी दिन के चौथे, छठवें या आठवें प्रहर में भोजन ग्रहण करता है । कभी छः रात्रि बीतने पर और कभी सात, आठ, दस या बारह दिन बीतने पर भोजन करता है । कभी एक मास तक लगातार उपवास करता, कभी फल खाकर रहता, कभी कन्द मूल से जीवन-निर्वाह करता है । कभी जल या वायु पीकर ही रहता, कभी खली, दही अथवा गोबर खाकर ही रह जाता है । कभी गोमूत्र, कभी साग, पुष्प अथवा सेवार खाता और कभी जल के आचमन मात्र में सन्तोष करता है । कभी शुष्क पत्र और वृक्ष से गिरे फलों को खाता है । इस प्रकार सिद्धि प्राप्त करने की कामना में विभिन्न प्रकार के कठोर नियमों का पालन करता है । कभी विधिवत् चान्द्रायण व्रत करता और अनेकों धार्मिक चिह्नों को धारण करता है । कभी चारों आश्रमों का अनुसरण करता और कभी इसके विपरीत मार्ग का अनुयायी हो जाता है ॥६४-७०॥

उपाश्रमानप्यपरान् पाषण्डान् विविधानपि ।

विविक्ताश्च शिलाच्छायास्तथा प्रस्रवणानि च ॥७१

पुलिनानि विविक्तानि विविक्तानि वनानि च ।
 देवस्थानानि पुण्यानि विविक्तानि सरांसि च ॥७२
 विविक्ताश्चापि शैलानां गुहा गृहनिभोपमाः ।
 विविक्तानि च जप्यानि व्रतानि विविधानि च ॥७३
 नियमान् विविधांश्चापि विविधानि तपांसि च ।
 यज्ञांश्च विविधाकारान् विधींश्च विविधांस्तथा ॥७४
 वणिक्पथं द्विजं क्षत्रं वैश्यशूद्रांस्तथैव च ।
 दानं च विविधाकारं दीनान्धकृपणादिषु ॥७५
 अभिमन्यत्यसम्बोधात् तथैव त्रिविधान् गुणान् ।
 सत्त्वं रजस्तमश्चैव धर्मार्थौ काम एव च ॥७६
 प्रकृत्याऽऽत्मानमेवात्मा एवं प्रविभजत्युत ।
 स्वधाकारवषट्कारौ स्वाहाकारनमस्क्रियाः ॥७७

कभी अनेक उपाश्रमों और विविध पाखण्डों का आश्रय लेता, कभी एकान्त में शिला खण्डों की छाया में बैठता और झरनों के पास रहता है । कभी नदियों में एकान्त किनारे, कभी निर्जन वन कभी पवित्र देव-मन्दिर और कभी एकान्त स्थलों में स्थित सरोवरों के निकट निवास करता है । कभी घरों के समान पर्वत-कन्दराओं में रहता हुआ विभिन्न प्रकार के गौणीय जप, व्रत, नियम, तप, यज्ञ अथवा विभिन्न प्रकार के अन्य अनुष्ठान करता है । कभी व्यापार करता, कभी क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण के कर्त्तव्यों को पालता और कभी वैश्य अथवा शूद्र के कर्मों को करता है । कभी दीनों, दुखियों, अंधों आदि को विभिन्न प्रकार के दान देता है । अज्ञान के वश में रड़ा हुआ यह जीव अपने सतो गुण, रजोगुण या तमोगुण अथवा धर्म, अर्थ, और काम का अभिमान कर लेता है । इस प्रकार यह आत्मा प्रकृति संसर्ग से अपने ही रूप के बहुत-से विभाग करता है । कभी स्वाहा, कभी स्वधा, कभी वषट्कार और कभी नमस्कार करता है ॥७१-७७॥

याजनाध्यापनं दानं तथेवाहुः प्रतिग्रहम् ।

यजनाध्ययने चैव यच्चान्यदपि किञ्चन ॥७८

जन्ममृत्युविवादे च तथा विशसनेऽपि च ।

शुभाशुभमयं सर्वमेतदाहुः क्रियापथम् ॥७६

प्रकृतिः कुरुते देवी भवं प्रलयमेव च ।

दिवसान्ते गुणानेतानभ्येकोऽवतिष्ठते ।

रश्मिजालमिवादित्यस्तत् तत्काले नियच्छति ॥८०

एवमेषोऽसकृत्पूर्वं क्रीडार्थं मभिमन्यते ।

आत्मरूपगुणानेतान् विविधान् हृदयप्रियान् ॥८१

एवमेतां विकुर्वाणः सर्गप्रलयधमिणीम् ॥८२

क्रियां क्रियापथे रक्तस्त्रिगुणां त्रिगुणाधिपः ।

क्रियां क्रियापथोपेतस्तथा तदिति मन्यते ॥८३

प्रकृत्या सर्वमेवेदं जगदन्धीकृतं विभो ।

रजसा तमसा चैव व्याप्तं सर्वमनेकधा ॥८४

कभी यज्ञ करता और यज्ञ कराता, कभी वेद-पाठ करता और पढ़ाता, कभी दान देता, कभी लेता है। इसी प्रकार वह अन्य अनेक कर्म भी करता रहता है। कभी जन्म लेता, कभी मृत्यु को प्राप्त होता, कभी विवाद अथवा युद्ध करता है। विद्वानों का कहना है कि यह सब शुभ या अशुभ कर्मों का मार्ग ही है। प्रकृति देवी संसार की सृष्टि-प्रलय करने वाली है। जैसे प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्य अपनी किरणों को संसार पर फैला कर सायंकाल उन्हें समेट लेता है, वैसे ही आदि पुरुष ब्रह्माजी अपने दिन के आरम्भ में तीनों गुणों को बढ़ाते और अन्त में समेट कर स्वयं अकेले ही रह जाते हैं। इस प्रकार प्रकृति से मिलने पर पुरुष तत्त्वज्ञान होने से पूर्व मन को प्रिय लगने वाले क्रीडा-व्यापारों को बारम्बार करता हुआ उन्हें अपना कर्त्तव्य समझता है। सृष्टि और प्रलय धर्मा त्रिगुणात्मिका प्रकृति को विकृत करके तीनों गुणों का स्वामी आत्मा कर्ममार्ग में प्रवृत्त होता है और प्रकृति द्वारा किये जाने वाले सभी त्रिगुणात्मक कार्यों को अपने ही मान लेता है। हे विभो ! प्रकृति ने सम्पूर्ण विश्व को अन्धा कर रखा है। उसी के संसर्ग से सभी पदार्थ अनेक प्रकार से राजसी तामसी प्रवृत्ति वाले हो रहे हैं ॥७८-८४॥

एवं द्वन्द्वान्यथैतानि समावर्तन्ति नित्यशः ।
 ममैवंतानि जायन्ते धावन्ते नानि मामिति ॥८५
 निस्तर्तव्यान्यथैतानि सर्वाणीति नराधिप ।
 मन्यतेऽयं ह्यबुद्धत्वात् तथैव सुकृतान्यपि ॥८६
 भोक्तव्यानि मयैतानि देवलोकगतेन वै ।
 इहैव चैनं भोक्ष्यामि शुभाशुभफलोदयम् ॥८७
 सुखमेव तु कर्तव्यं सकृत् कृत्वा सुखं मम ।
 यावदन्तं च मे सौख्यं जात्यां जात्यां भविष्यति ॥८८
 भविष्यति च मे दुःखं कृतेनेहाप्यनन्तकम् ।
 महद् दुःखं हि मानुष्यं निरये चापि मज्जनम् ॥८९
 निरयाच्चापि मानुष्यं कालेनैष्याम्यहं पुनः ।
 मनुष्यत्वाच्च देवत्वं देवत्वात् पौरुषं पुनः ॥९०
 मनुष्यत्वाच्च निरयं पर्यायेणोपगच्छति ।
 य एवं वेत्ति नित्यं वै निरात्माऽऽत्मगुणैर्वृतः ।
 तेन देवमनुष्येषु निरये चोपपद्यते ॥९१

इस प्रकार प्रकृति की प्रेरणा से स्वभाववश ही सुख-दुःखादि द्वन्द्वों की पुनरावृत्ति होती रहती है । परन्तु अज्ञानवश जीवात्मा उन सब द्वन्द्वों को अपने पर ही आक्रमण करने वाले मान लेता है । उनसे बचने की चेष्टा का विचार करता हुआ वह दुःखी होता है । वह प्रकृति के संग से ही अज्ञान में यह भी मान लेता है कि मैं देवलोक में पहुँच कर अपने सब पुण्य-फलों को भोगूँगा और पूर्व जन्म के शुभाशुभ कर्मों के प्रकट हुए फल का यहीं उपभोग करूँगा । अब मुझे सुख प्राप्ति के साधन रूप पुण्य का ही अनुष्ठान करना उचित है । उसका एक बार अनुष्ठान करने से ही मैं आजीवन सुख पाऊँगा और भविष्य में होने वाले प्रत्येक जन्म में उससे सुख मिलता रहेगा । इस जन्म में बुरे कर्म करने पर यहाँ भी मुझे दुःख ही भोगना होगा । मनुष्य जन्म घोर दुःखों से परिपूर्ण है । इसके अतिरिक्त, पापों के फल से नरक में भी गिरना होगा । बहुत समय बाद नरक से मुक्ति मिलने पर मैं फिर मनुष्य लोक में उत्पन्न हूँगा । मनुष्य योनि

से देवयोनि मिलेगी और वहाँ से पुण्यों का क्षय होने पर फिर मनुष्य योनि मिलेगी। इसी प्रकार प्राणी मनुष्य योनि से नरक में आने जाने का चक्र बराबर लगा रहता है। आत्मा से भिन्न और आत्मा के गुण चैतन्य आदि के सहित जो जीव इन्द्रियों के समूह रूप शरीर में स्वयं के होने की भावना रखता है, वही देव-योनि, मानव योनि, नरक अथवा तिर्यक् योनि में पहुँचता है ॥८५-८१॥

ममत्वेनावृतो नित्यं तत्रैव परिवर्तते ।

सर्गकोटिसहस्राणि मरणान्तासु मूर्तिषु ॥८२

य एवं कुरुते कर्म शुभाशुभफलात्मकम् ।

स एवं फलमाप्नोति त्रिषु लोकेषु मूर्तिमान् ॥८३

प्रकृतिः कुरुते कर्म शुभाशुभफलात्मकम् ।

प्रकृतिश्च तदश्नाति त्रिषु लोकेषु कामगा ॥८४

तिर्यग्योनिमनुष्यत्वं देवलोकं तथैव च ।

त्रीणि स्थानानि चैतानि जानीयात् प्रकृतानि ह ॥८५

अलिङ्गां प्रकृतिं त्वाहुर्लिङ्गै रनुमिमीमहे ।

तथैव पौरुषं लिङ्गमनुमानाद्धि मन्यते ॥८६

स लिङ्गान्तरमासाद्य प्राकृतं लिङ्गमव्रणः ।

व्रणद्वाराण्यधिष्ठाय कर्मण्यात्मनि मन्यते ॥८७

श्रोत्रादीनि तु सर्वाणि पञ्चकर्मैन्द्रियाण्यथ ।

वागादीनि प्रवर्तन्ते गुरोर्ष्विह गुणैः सह ॥८८

स्त्री-पुरुष आदि में ममता से बँधा पुरुष उनके संसर्ग में हजार-हजार करोड़ सृष्टि तक इस नाशवान् शरीर में ही चक्कर काटता रहता है। जो जीव इस प्रकार शुभ या अशुभ फल देने वाला कर्म करता है, वह तीनों लोकों में शरीर धारण करता हुआ उपरोक्त फलों का भोग करता है। प्रकृति ही शुभ-अशुभ फल वाले कर्मों को करती है और तीनों लोकों में भ्रमण करती हुई वही प्रकृति उन कर्मों का फल भोगती है। तिर्य-ग्योनि, मनुष्ययोनि और देवयोनि-यही तीन योनियाँ कर्मफल भोग के तीन स्थान हैं। इसलिये, इन सबको प्राकृत समझना चाहिये। मुनियों ने

प्रकृति को लक्षण-रहित कहा है, किन्तु, हम विशेष हेतुओं से उसका अनुमान कर लेते हैं और अनुमान के द्वारा ही पुरुष के स्वरूप का ज्ञान होता है। पुरुष छिद्र रहित है। परन्तु, वह प्रकृति द्वारा बनाये गये लक्षण रूप विभिन्न देहों के आश्रित छिद्रों में स्थित इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता और उनके कर्मों को अपने ही कर्म मान लेता है। इस विश्व में पंच ज्ञानेन्द्रिय और पंच कर्मेन्द्रिय अपने-अपने गुणों सहित गुणमय देहों में स्थित हैं ॥६२-६८॥

अहमेतानि वै सर्वं मय्येतानोन्द्रियाणि ह ।

निरिन्द्रियो हि मन्येत व्रणवानस्मि निर्व्रणः ॥६६

अलिङ्गो लिङ्गमात्मानमकालः कालमात्मनः ।

असत्त्वं सत्त्वमात्मानमतत्त्वं तत्त्वमात्मनः ॥१००

अमृत्युर्मृत्युमात्मानमचरश्चरमात्मनः ।

अक्षेत्रः क्षेत्रमात्मानमसर्गः सर्गमात्मनः ॥१०१

अतपास्तप आत्मानमगतिर्गतिमात्मनः ।

अभवो भवमात्मनमभयो भयामात्मनः ॥१०२

अक्षरः क्षरमात्मानमबुद्धिस्त्वभिमन्यते ॥१०३

एवमप्रतिबुद्धत्वादबुद्धजनसेवनात् ।

सर्गकोटिसहस्राणि पतनान्तानि गच्छति ॥१०४

धाम्ना धामसहस्राणि मरणान्तानि गच्छति ।

तिर्यग्योनिमनुष्यत्वे देवलोके तथैव च ॥१०५

किन्तु यह प्राणी यथार्थ में इन्द्रियों से परे है। फिर भी यह मानता है कि सब कर्म मैं ही करता हूँ। मुझ में ही सब इन्द्रियाँ स्थित हैं। इस प्रकार यह छिद्र-रहित होकर भी अपने को छिद्रमय समझता है। वह लिंग शरीर से रहित होकर अपने को लिंग वाला मानता है। मृत्यु से परे होकर भी अपने को मरणधर्मा समझता है। सत्त्व से परे होकर भी अपने को सत्त्व स्वरूप समझता है और महाभूतादि तत्त्व से हीन होकर भी स्वयं को तत्त्व स्वरूप मानता है। मृत्यु से रहित होकर भी अपने को मृत्यु ग्रस्त समझता है। अचर होकर भी अपने को चलने-फिरने वाला

मानता है। क्षेत्र से भिन्न होकर भी क्षेत्र बनता है। सृष्टि से असम्बद्ध होकर भी सृष्टि को अपनी ही मानता है। वह तपस्वी न होते हुए भी अपने को तपस्वी समझता है। गमनशील न होने पर भी गमनशील बनता है। संसार-रहित होने पर भी संसारी और भय-रहित होते हुए भी अपने को भयभीत समझता है। अक्षर होने पर भी क्षर बना हुआ है तथा बुद्धि से परे होकर भी बुद्धिमन्त बनता है। वसिष्ठजी कहते हैं— इस प्रकार अज्ञान में पड़ा प्राणी अज्ञानियों के सङ्ग से ही निरन्तर पतित होता जाता है और उसे हजारों-करोड़ों बार जन्म धारण करना होता है। वह पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता आदि की योनियों में एक स्थान से हजारों स्थानों में मर कर जाता हुआ, उत्पन्न होता है ॥६६-१०५॥

चन्द्रमा इव भूतानां पुनस्तत्र सहस्रशः ।

लीयतेऽप्रतिबुद्धत्वादेवमेष ह्यबुद्धिमान् ॥१०६

कला पञ्चदशी योनिस्तद्धाम प्रतिबुध्यते ।

नित्यमेतद् विजानोहि सोमं वै षोडशीं कलाम् ॥१०७

कलायां जायतेऽजस्रं पुनः पुनरबुद्धिमान् ।

धाम तस्योपयुञ्जन्ति भूय एवोपजायते ॥१०८

षोडशी तु कला सूक्ष्मा स सोम उपधार्यताम् ।

न तूपयुज्यते देवैर्देवानुपयुनक्ति सा ॥१०९

एतामक्षपयित्वा हि जायते नृपसत्तम ।

सा ह्यस्य प्रकृतिर्दृष्टा तत्क्षयान्मोक्ष उच्यते ॥११०

तदेव षोडशकलं देहमव्यक्तसंज्ञकम् ।

ममायमिति मन्वानस्तत्रैव परिवर्तते ॥१११

पञ्चविंशो महानात्मा तस्यैवाप्रतिबोधनात् ।

विमलस्य विशुद्धस्य शुद्धाशुद्धनिषेवणात् ॥११२

अशुद्ध एव शुद्धात्मा तादृग् भवति पार्थिव ।

अबुद्धसेवनाच्चापि बुद्धोऽप्यबुद्धतां व्रजेत् ॥११३

जैसे चन्द्रमा हजारों बार क्षय और वृद्धि को प्राप्त होता रहता है, वैसे ही अज्ञानी जीव अपने अज्ञान के कारण हजारों बार विलीन होता

है। चन्द्रमा की पन्द्रह कलाओं जैसी जीवों की पन्द्रह कलाएँ ही जन्म के स्थान हैं। अज्ञानी मनुष्य उन्हीं को अपना आश्रय मानता है। अमा नामक चन्द्रमा की सोलहवीं कला के समान ही उसकी सोलहवीं कला को नित्य समझना चाहिये। अज्ञानी जीव बारम्बार उन पन्द्रह कलाओं में स्थित होकर जन्म लेता है। वह कलाएँ उसके आश्रय योग्य होने के कारण उन्हीं से बारम्बार जन्म होता रहता है। अमा नामक सोलहवीं सूक्ष्म कला ही सोम है। देवगण अर्थात् अन्तःकरण और इन्द्रियाँ उस सोलहवीं कला का उपयोग नहीं कर सकते। परन्तु, उन सबकी कारण-भूता प्रकृति ही उसका उपयोग कर सकती है। हे नृपश्रेष्ठ ! प्राणी अपने अज्ञान से ही उस सोलहवीं कला रूप प्रकृति को क्षीण नहीं कर पाता, इसलिये बारम्बार जन्म लेता है। वही कला उसकी उत्पत्ति का कारण है और उसका संयोग न रहने पर ही मोक्ष की प्राप्ति कही जाती है। सोलह कलाओं वाला जो यह सूक्ष्म देह है, उसे 'यह मेरा' है' इस प्रकार, मानने के कारण ही अज्ञानी जीव को उस में भटकना पड़ता है। पच्चीसवाँ तत्त्वरूप आत्मा निर्मल और विशुद्ध है। उसे न जानने से और पवित्र-अपवित्र वस्तुओं के सेवन से वह निर्मल और असङ्ग आत्मा भी उन्हीं के समान हो जाता है। हे राजन् ! अविवेकी मनुष्य की संगति में विवेकी पुरुष भी विवेकहीन हो जाता है ॥१०६-११३॥

तथैवाप्रतिबुद्धोऽपि विज्ञेयो नृपसत्तम ।

प्रकृतेस्त्रिगुणायास्तु सेवनात् त्रिगुणो भवेत् ॥११४

अक्षरक्षरयोरेष द्वयोः सम्बन्ध इष्यते ।

स्त्रीपुंसोर्वापि भगवन् सम्बन्धस्तद्वदुच्यते ॥११५

ऋते तु पुरुषं नेह स्त्री गर्भं धारयत्युत ।

ऋते स्त्रियं न पुरुषो रूपं निर्वर्तयेत् तथा ॥११६

अन्योन्यस्याभिसम्बन्धादन्योन्यगुणसंश्रयात् ।

रूपं निर्वर्तयत्येतदेवं सर्वासु योनिषु ॥११७

रत्यर्थमभिसम्बन्धादन्योन्यगुणसंश्रयात् ।

ऋतौ निर्वर्त्यते रूपं तद् वक्ष्यामि निदर्शनम् ॥११८

ये गुणाः पुरुषस्येह ये च मातृगुणास्तथा ।
 अस्थि स्नायुश्च मज्जा च जानीमः पितृतो गुणाः ॥११६
 त्वङ्नासं शोणितं चेति मातृजान्यपि शुश्रुम ।
 एवमेतद् द्विजश्रेष्ठ वेदे शास्त्रे च पठ्यते ॥१२०
 प्रमाणं यत् स्ववेदोक्तं शास्त्रोक्तं यच्च पठ्यते ।
 वेदशास्त्रद्वयं चैव प्रमाणं तत् सनातनम् ॥१२१
 अन्योन्यगुणसंरोधादन्योन्यगुणसंश्रयात् ।
 एवमेवाभिसम्बद्धौ नित्यं प्रकृतिपुरुषौ ।
 पश्यामि भगवंस्तस्मान्मोक्षधर्मो न विद्यते ॥१२२
 अथवानन्तरकृतं किञ्चिदेव निदर्शनम् ।
 तन्ममाचक्ष्व तत्त्वेन प्रत्यक्षो ह्यसि सर्वदा ॥१२३
 मोक्षकामा वयं चापि कांक्षामो यदनामयम् ।
 अदेहमजरं नित्यमतीन्द्रियमनीश्वरम् ॥१२४
 यदेतदुक्तं भवता वेदशास्त्रनिदर्शनम् ।
 एवमेतद् यथा चैतन्निगृह्णाति तथा भवान् ॥१२५
 धार्यते हि त्वया ग्रन्थ उभयोर्वेदशास्त्रयोः ।
 न च ग्रन्थस्य तत्त्वज्ञो यथातत्त्वं नरेश्वर ॥१२६

इसी प्रकार मूर्ख मनुष्य भी विवेकी की सङ्गति में विवेकी हो जाता है । तीनों गुण वाली प्रकृति के सम्बन्ध से निर्गुण आत्मा भी त्रिगुणात्मक-सा दिखाई देने लगता है । जनक ने कहा—हे भगवन् ! क्षर और अक्षर का सम्बन्ध स्त्री-पुरुष के दाम्पत्य-सम्बन्ध के समान ही कहा जाता है । इस संसार में पुरुष के बिना स्त्री गर्भ धारण नहीं कर सकती और स्त्री के बिना कोई पुरुष भी किसी शरीर को उत्पन्न नहीं कर सकता । दोनों के पारस्परिक संसर्ग से एक दूसरे के गुणों के आश्रय से ही किसी शरीर की रचना होती है । प्रायः सभी योनियों में यही नियम है । स्त्री के ऋतुमती होने पर रति के निमित्त पुरुष से उसका संसर्ग होने पर दोनों के गुणों का मिश्रण होता और शरीर में पुरुष के और माता के जो गुण हैं उन्हें कह रहा हूँ । अस्थि, स्नायु और मज्जा पिता से तथा

त्वचा, मांस और रक्त माता से उत्पन्न हुए गुण हैं—ऐसा सुना जाता है। हे द्विजोत्तम ! यही वेद शास्त्रों की भी सम्मति है। वेदों में जो प्रमाण है और शास्त्रों के जिस प्रमाण को पढ़ा या सुना जाता है, वह सब ठीक है। क्योंकि, वेद-शास्त्र दोनों ही सनातन प्रमाण माने जाते हैं। हे भगवन् ! इस प्रकार प्रकृति-पुरुष दोनों ही पारस्परिक गुणों को आच्छादित करते हुए सृष्टि रचते हैं। इसमें मैं इन दोनों को परस्पर में सम्बन्धित देखता हूँ। इसलिये पुरुष के लिये मोक्ष धर्म की प्राप्ति सम्भव प्रतीत नहीं होती। अथवा पुरुष को मोक्ष दिखाने वाला कोई दृष्टान्त हो तो मेरे प्रति ठीक प्रकार से कहिये। क्योंकि आपके लिये तो सदा सभी कुछ प्रत्यक्ष है। मैं भी मोक्ष-कामी हूँ उस परम पद की इच्छा करता हूँ। जो विकार-रहित, आकार-रहित, जरा-रहित, मरण-रहित, नित्य और इन्द्रियों से परे है तथा जिसे प्राप्त करने वाले पुरुष का कोई शासक नहीं होगा। वसिष्ठजी ने कहा—तुमने वेद शास्त्रों के दृष्टान्त देते हुए जो कुछ कहा है—वह यथार्थ ही है। तुमने जैसा समझा है, वही बात ठीक है। हे राजन् ! इसमें संशय नहीं कि वेद शास्त्रों की बातें तुम्हें याद हैं। परन्तु, उनके यथार्थ तत्त्व को तुम नहीं समझ सके हो ॥११४-१२६॥

योहि वेदे च शास्त्रे च ग्रन्थधारणतत्परः ।

न च ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञस्तस्य तद्धारणं वृथा ॥१२७

भारं स वहते तस्य ग्रन्थस्यार्थं न वेत्ति यः ।

यस्तु ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञो नास्य ग्रन्थागमो वृथा ॥१२८

ग्रन्थस्यार्थस्य पृष्ठः संस्तादृशो वक्तुमर्हति ।

यथा तत्त्वाभिगमनादर्थं तस्य स विन्दति ॥१२९

न यः संसत्सु कथयेद् ग्रन्थार्थं स्थूलबुद्धिमान् ।

स कथं मन्दविज्ञानो ग्रन्थं वक्ष्यति निर्णयात् ॥१३०

निर्णयं चापि छिद्रात्मा न तं वक्ष्यति तत्त्वतः ।

स्वोपहासात्मतामेति यस्माच्चैवात्मवानपि ॥१३१

तस्मात् त्वं शृणु राजेन्द्र यथैतदनुदृश्यते ।

याथातथ्येन सांख्येषु योगेषु च महात्मसु ॥१३२

यदेव योगाः पश्यन्ति सांख्यैस्तदनुगम्यते ।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स बुद्धिमान् ॥१३३

जो वेद शास्त्रों को तो याद रखता है, किन्तु उनके यथार्थ तत्त्व को नहीं समझता, उसका उन्हें याद रखना किसी काम का नहीं है। ग्रन्थों का बोझ वहन करने वाला ही है। परन्तु, ग्रन्थ के तत्त्वार्थ को समझने वाले के लिये ही ग्रन्थ का अध्ययन व्यर्थ नहीं है। ऐसा पुरुष, प्रश्न किया जाने पर तत्त्वज्ञान मय अर्थ को जैसा समझता है, वैसा ही सपझा सकता है। जो स्थूल और मन्द बुद्धि वाला मनुष्य विद्वत् सभा में शास्त्र का अर्थ नहीं कर सकता, वह उस ग्रन्थ का तात्पर्य किस प्रकार समझ सकता है ? शास्त्रज्ञान से रहित चित्त वाला मनुष्य तात्पर्य का निर्णय करने में समर्थ नहीं होता। यदि वह कुछ कहता है तो मनस्वी होने पर भी उपहास्य बन जाता है। इसलिये हे राजन् ! सांख्य और योग के जानने वाले महात्माओं के मत में मोक्ष का जो रूप देखा जाता है, उसे मैं तुम्हारे प्रति यथार्थ रूप से कहता हूँ। योगी जिस तत्त्व को देखते हैं, उसी का ज्ञान सांख्यशास्त्री प्राप्त करते हैं। सांख्य और योग को फल की दृष्टि से समान समझने वाला पुरुष ही यथार्थ में विद्वान् है ॥१२७-१३३॥

त्वङ्मांसं रुधिरं मेदः पित्तं मज्जा च स्नायु च ।

अथ चैन्द्रियक तात तद् भवानिदमाह माम् ॥१३४

द्रव्याद् द्रव्यस्य निर्वृत्तिरिन्द्रियादिन्द्रियं तथा ।

देहाद् देहमवाप्नोति बीजाद् बीजं तथैव च ॥१३५

निरिन्द्रियस्याबीजस्य निर्द्रव्यस्याप्यदेहिनः ।

कथं गुणा भविष्यन्ति निर्गुणत्वान्महात्मनः ॥१३६

गुणा गुरोषु जायन्ते तत्रैव निविशन्ति च ।

एवं गुणाः प्रकृतितो जायन्ते निविशन्ति च ॥१३७

त्वङ् नांसं रुधिरं मेदः पित्तं मज्जास्थि स्नायु च ।

अष्टौ तान्यथ शुक्रेण जानीहि प्राकृतानि वै ॥१३८

पुमांश्चैवापुमांश्चैव त्रैलिङ्ग्यं प्राकृतं स्मृतम् ।

न वापुमान् पुमांश्चैव स लिङ्गीत्यभिधीयते ॥१३९

अलिङ्गात् प्रकृतिर्लिङ्गैरुपालभ्यति सात्मजैः ।

यथा पुष्पफलैर्नित्यमृतवेऽमृतं यस्तथा ॥१४०

तुमने कहा है कि शरीर में त्वचा, मांस, रुधिर, मेदा, पित्त, मज्जा, स्नायु और इन्द्रिय-समूह हैं। जैसे बीज से बीज उत्पन्न होता है, वैसे ही द्रव्य से द्रव्य, इन्द्रिय से इन्द्रिय और देह से देह उत्पन्न होते हैं। परन्तु, परमात्मा के इन्द्रिय, बीज, द्रव्य और देह आदि कुछ भी नहीं है। तो उस निर्गुण में गुण किस प्रकार संभव है। जैसे आकाश आदि गुण सत्त्व आदि गुणों से उत्पन्न होकर उन्हीं में लीन हो जाते हैं, वैसे ही सत्त्व, रज और तम भी प्रकृति से उत्पन्न होकर उसी में लीन होते हैं। त्वचा, मांस, रुधिर, मेदा, पित्त, मज्जा, अस्थि और स्नायु इन आठों की उत्पत्ति वीर्य से ही हुई है, इसलिये तुम इन्हें प्राकृत ही जानो। पुरुष और प्रकृति—दो तत्व हैं। इनके रूप को प्रकट करने वाले सात्त्विक, राजस, तामस चिह्न प्राकृत ही माने गये हैं। परन्तु इन सबका आधार आत्मा है। न पुरुष है और न प्रकृति ही। वह इन दोनों से ही विलक्षण है। जैसे फल फूलों से आकार-रहित ऋतुओं का अनुमान हो जाता है, वैसे ही निराकार पुरुष के संयोग से अपने ही द्वारा उत्पन्न महत्त्व आदि लक्षणों के द्वारा प्रकृति का अनुमान किया जाता है ॥१३४-१४०॥

एवमप्यनुमानेन ह्यलिङ्गमुपलभ्यते ।

पञ्चविंशतिमस्तात लिङ्गेषु नियतात्मकः ॥१४१

अनादिनिधनोऽनन्तः सर्वदर्शी निरामयः ।

केवलं त्वभिमानीत्वाद् गुरोषु गुण उच्यते ॥१४२

गुणागुणवतः सन्ति निर्गुणस्य कुतो गुणाः ।

तस्मादेवं विजानन्ति ये जना गुणदर्शिनः ॥१४३

यदा त्वेष गुणानेतान् प्राकृतानभिमन्यते ।

तदा स गुणहान्यै तं परमेवानुपश्यति ॥१४४

यत् तद् बुद्धेः परं प्राहुः सांख्या योगाश्च सर्वशः ।

बुद्धयमानं महाप्राज्ञमबुद्धपरिवर्जनात् ॥१४५

अप्रबुद्धमथाव्यक्तं सगुणं प्राहुरीश्वरम् ।

निर्गुणं चेश्वरं नित्यमधिष्ठातारमेव च ॥१४६

प्रकृतेश्च गुणानांच पञ्चविंशतिकं बुधाः ।

सांख्ययोगे च कुशला बुध्यन्ते परमैषिणः ॥१४७

इसी प्रकार लिङ्ग से परे, शुद्ध चेतन स्वरूप आत्मा का बोध भी अनुमान से ही होता है। हे तात ! वह आत्मा ही पच्चीसवाँ तत्त्व है, जो सभी लिङ्गों में नियत रूप से रहता है। आत्मा जन्म-मरण से रहित, अनन्त, सबका द्रष्टा और विकार-रहित है। यह गुणों में अभिमान करने के कारण ही गुण स्वरूप कहा गया है। परन्तु, गुण तो गुणवान् में ही रह सकते हैं। निर्गुण आत्मा में वे किस प्रकार रह सकते हैं ? इसलिये गुणों के स्वरूप के ज्ञाता विद्वानों का यही सिद्धान्त है कि जब जीव इन गुणों को प्रकृति का कार्य मान कर इनके अपने होने का अभिमान छोड़ देता है, तब वह देह आदि में अपने मन की बुद्धि को छोड़ कर अपने विशुद्ध परमात्मरूप को देखता है। जिसे सांख्य और योग के सभी विद्वान् बुद्धि से परे समझते हैं, जो परम ज्ञानवान् है, अहंकार आदि के त्यागने पर शेष चिन्मय तत्त्व के रूप में जिसका बोध होता है, जो अज्ञात, अव्यक्त, सगुण, निर्गुण, नित्य और अधिष्ठाता कहा जाता है, वही परब्रह्म प्रकृति और उसके तत्त्वों से परे पच्चीसवाँ तत्त्व है—सांख्य और योग में कुशल और परम तत्त्व को खोजने वाले विद्वान् ऐसा ही मानते हैं ॥१४१-१४७॥

यदा प्रबुद्धा ह्यव्यक्तमवस्थाजन्मभीरवः ।

बुध्यमानं प्रबुध्यन्ति गमयन्ति समं तदा ॥१४८

एतन्निदर्शनं सम्यगसम्यगनिदर्शनम् ।

बुध्यमानाप्रबुद्धानां पृथक्पृथग्विदम ॥१४९

परस्परेणैतदुक्तं क्षराक्षरनिदर्शनम् ।

एकत्वमक्षरं प्राहुर्नानात्वं क्षरमुच्यते ॥१५०

पञ्चविंशतिनिष्ठोऽयं यदा सम्यक् प्रवर्तते ।

एकत्वं दर्शनं चास्य नानात्वं चाप्यदर्शनम् ॥१५१

तत्त्वनिस्तत्त्वयोरेतत् पृथगेव निदर्शनम् ।

पञ्चविंशतिसर्गं तु तत्त्वमाहुर्मनीषिणः ॥१५२

निस्तत्त्वं पञ्चविंशस्य परमाहुर्निदर्शनम् ।

सर्गस्य वर्गमाधारं तत्त्वं तत्त्वात् सनातनम् ॥१५३

जब बाल्य, यौवन, वृद्धावस्था और जन्म-मरण से डरे हुए विवेकी जन चेतन पुरुष ब्रह्म के तत्त्व को ठीक प्रकार जान लेते हैं, तब उन्हें पर ब्रह्म परमात्मा का स्वरूप प्राप्त होता है। हे राजन् ! ज्ञानियों का यह ज्ञान युक्तिसंगत, श्रेष्ठ और पृथक् है। इसके विपरीत अज्ञानियों का ज्ञान प्रामाणिक अथवा युक्ति संगत न होने से ठीक नहीं है और वह ज्ञान पूर्वोक्त ज्ञान से भिन्न भी है। क्षर और अक्षर तत्त्व का प्रतिपादक यह दर्शन मैंने तुम्हारे प्रति कहा है। क्षर और अक्षर में परस्पर जो अन्तर है उसे इस प्रकार समझना चाहिये कि सदा एक रूप में स्थित परमात्म तत्त्व को 'अक्षर' कहा गया है और विभिन्न रूपों में दिखाई देने वाला यह प्रकृति रूप प्रपञ्च 'क्षर' कहा गया है। जब यह पुरुष पञ्चीसवें तत्त्व अर्थात् ब्रह्म में स्थित हो जाता है, तब उसकी स्थिति को श्रेष्ठ कहा जाता है। एकत्व दर्शन ही ज्ञान और अनेकत्व दर्शन ही अज्ञान समझना चाहिये। क्षर और अक्षर का यह अलग-अलग लक्षण है। कुछ ज्ञानीजन पञ्चीस तत्त्वों को ही तत्त्व मानते हैं। परन्तु, कुछ अन्य विद्वानों ने चौबीस तत्त्व कहे हैं और पञ्चीसवें चेतन ब्रह्म को तत्त्व से परे कहा है। परमात्मा का लक्षण चैतन्य ही है। महत्तत्त्व आदि विकार क्षर तत्त्व हैं और ब्रह्म उन क्षर तत्त्वों से भिन्न तथा उन तत्त्वों का सनातन आधार रूप है ॥१४८-१५३॥

नानात्वेकत्वमित्युक्तं त्वयैतदृषिसत्तम ।

पश्याम्येतद्धि संदिग्धमेतयोर्वै निदर्शनम् ॥१५४

तथा बुद्धप्रबुद्धाभ्यां बुद्धचमानस्य चानघ ।

स्थूलबुद्ध्या न पश्यामि तत्त्वमेतन्न संशयः ॥१५५

अक्षरक्षरयोरुक्तं त्वया यदपि कारणम् ।

तदप्यस्थिरबुद्धित्वात् प्रणष्टमिव मेऽनघ ॥१५६

तदेतच्छ्रोतुमिच्छामि नानात्वैकत्वदर्शनम् ।

बुद्धं चाप्रतिबुद्धं च बुध्यमानं च तत्त्वतः ॥१५७

विद्याविद्ये च भगवान्नक्षरं क्षरमेव च ।

साङ्ख्यं योगं च कास्तर्क्येन पृथक् चैवापृथक् चह ॥१५८

हन्त ते सम्प्रवक्ष्यामि यदेतदनुपृच्छसि ।

योगकृत्यं महाराज पृथगेव शृणुष्व मे ॥१५९

योगकृत्यं तु योगानां ध्यानमेव परं बलम् ।

तच्चापि द्विविधं ध्यानमाहुर्विद्याविदो जनाः ॥१६०

एकाग्रता च मनसः प्राणायामस्तथैव च ।

प्राणायामस्तु सगुणो निर्गुणो मनसस्तथा ॥१६१

राजा जनक ने कहा—आपने क्षर को अनेक रूप और अक्षर को एक रूप कहा है । परन्तु, इनके तत्वों का जो निर्णय आपने किया है वह मेरी दृष्टि में संदेहात्मक है । जिसे अज्ञानीजन अनेक और ज्ञानीजन एक रूप समझते हैं, उस परमात्म तत्व को मैं अपनी स्थूल बुद्धि के कारण नहीं समझ सका । मेरा यह कथन संदेह-रहित है । हे अनघ ! यद्यपि आपने क्षर-अक्षर का भेद अनेक युक्तियों से समझाया है, फिर भी मेरी बुद्धि स्थिर न होने के कारण मैं उन युक्तियों को ध्यान में नहीं रख सका । इसलिये, इस अनेक तथा एकरूप दर्शन को मैं फिर सुनना चाहता हूँ । ज्ञानी, अज्ञानी अथवा ज्ञेय क्या है, यह आप मुझे ठीक प्रकार बतावें । हे भगवन् ! मैं विद्या, अविद्या, अक्षर, क्षर, सांख्य और योग इन सभी का पृथक्-पृथक् वर्णन सुनने को उत्सुक हूँ । वसिष्ठजी ने कहा—हे राजन् ! तुम जो-जो प्रश्न कर रहे हो, उन सबका भले प्रकार समाधान करूँगा । इस समय मैं योगिक कृत्य का पृथक् वर्णन करता हूँ । योगियों का प्रधान कर्तव्य ध्यान है, वही उनका परम बल है । योगीजन ध्यान के दो भेद

बतलाते हैं—एक तो मन की एकाग्रता और दूसरा प्राणायाम । प्राणायाम भी सगुण, निर्गुण के भेद से दो प्रकार का है । जिसमें मन सगुण के साथ सम्बन्धित रहता है वह सगुण और जिसमें मन निर्गुण के साथ सम्बन्ध रखता है वह निर्गुण प्राणायाम है ॥१५४-१६१॥

मूत्रोत्सर्गपुरीषे च भोजने च नराधिप ।

त्रिकालं नाभियुञ्जीत शेषं युञ्जीत तत्परः ॥१६१॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थभ्यो निवर्त्य मनसा शुचिः ।

दशद्वादशभिर्वपि चतुर्विंशत् परं ततः ॥१६३॥

संचोदनाभिर्मतिमानात्मानं चोदयेदथ ।

तिष्ठन्तमजरं तं तु यत् तदुक्तं मनीषिभिः ॥१६४॥

तैश्चात्मा सततं ज्ञेय इत्येवमनुशुश्रुम ।

व्रतं ह्यहीनमनसो नान्यथेति विनिश्चयः ॥१६५॥

विमुक्तः सर्वसङ्गभ्यो लब्ध्वाहारो जितेन्द्रियः ।

पूर्वरात्रेऽपररात्रे धारणीत मनोऽऽत्मनि ॥१६६॥

स्थिरीकृत्येन्द्रियग्रामं मनसा मिथिलेश्वर ।

मनो बुद्ध्या स्थिरं कृत्वा पाषाण इव निश्चलः ॥१६७॥

स्थारुवच्चाप्यकम्पः स्याद् गिरिवच्चापि निश्चलः ।

बुद्ध्या विधिविधानज्ञास्तदा युक्तं प्रचक्षते ॥१६८॥

हे नराधिप ! मल-मूत्र का त्याग और भोजन इन तीन कार्यों के समय योग का अभ्यास नहीं करना चाहिये । शेष समय में सावधानी से योगाभ्यास करे । बुद्धिमान योगी पवित्र होकर मन के द्वारा इन्द्रियों को विषयों से हटावे और बाईस प्रकार की प्रेरणाओं द्वारा उस अजर जीव को, जिसे मनीषियों ने आत्मस्वरूप कहा है, चौबीस तत्वों वाली प्रकृति से परे अर्थात् परब्रह्म की ओर प्रेरित करे । सुना है कि इस प्रकार प्राणायाम करने वाले योगी परब्रह्म को जानने के अधिकारी होते हैं । जिसका मन सदा ध्यान में लगा रहता है, यह व्रत ऐसे योगी के योग्य ही है, बहिर्मुख चित्र वाले के लिये नहीं है—यह निश्चय समझना चाहिये । योगी

सब प्रकार की कामनाओं से परे होकर स्वल्पाहारी और संयमी बने तथा रात्रि के प्रथम और अंतिम भाग में मन को आत्मा में लगावे। जब योगी मन के द्वारा सभी इन्द्रियों को और बुद्धि के द्वारा मन को स्थिर कर पाषाण के समान अविचल हो, सूखे काठ के समान न हिलने वाला और पहाड़ के समान स्थिर रहता है तब शास्त्र ज्ञाता पुरुष अपने अनुभव से ही उसे योग-सम्पन्न कहते हैं ॥१६२-१६८॥

न शृणोति न च घ्राति रंस्यति न पश्यति ।

न च स्पर्शं विजानाति न संकल्पयते मनः ॥१६९

न चाभिमन्यते किञ्चिन्न च बुध्यति काष्ठवत् ।

तदा प्रकृतिमापन्नं युक्तमाहुर्मनीषिणः ॥१७०

निर्वति हि यथा दीप्यन् दीपस्तद्वत् प्रकाशते ।

निर्लिङ्गोऽविचलश्चोर्ध्वं न तिर्यग् गतिमाप्नुयात् ॥१७१

तदा मनुषसंश्लेषे यस्मिन् दृष्टे न कथ्यते ।

हृदयस्थोऽन्तरात्मेति ज्ञेयो ज्ञस्तात मद्विधैः ॥१७२

विधूम इव सप्ताचिरादित्य इव रश्मिमान् ।

वैद्युतोऽग्निरिवाकाशे दृश्यतेऽऽत्मा तथाऽऽत्मनि ॥१७३

ये पश्यन्ति महात्मानो धृतिमन्तो मनीषिणः ।

ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ह्ययोनिममृतात्मकम् ॥१७४

तदेवाहुरणुभ्योऽणु तन्महद्भ्यो महत्तरम् ।

तत् तत्त्वं सर्वभूतेषु ध्रुवं तिष्ठन् न दृश्यते ॥१७५

जब वह न सुनता है, न सूँघता है, न स्वाद लेता है, न देखता है और न स्पर्श अनुभव करता है अथवा जब वह संकल्प-रहित, काठ की भाँति स्थिर और सुध-बुध-विहीन रहता है, उसकी उस स्थिति को मनीषीजन अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त तथा योग-सम्पन्न कहते हैं। उस समय वह वायु-रहित स्थान प्रदीप के समान प्रकाशित होता है, लिंग शरीर से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता और वह ऐसा अविचल है कि ऊपर, नीचे या मध्य में कहीं भी उसकी गति नहीं होती। जिस परमात्मा का साक्षात्कार होने पर मनुष्य कुछ कह नहीं पाता, उसी को योगी

योग-काल में देखे । मेरे जैसों को तो अपने हृदय में स्थित अन्तर् आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना ही ठीक है । ध्यान में स्थित योगी को अपने हृदय में वैसे ही परमात्मा का दर्शन होता है, जैसे निर्धूम अग्नि का, रश्मियों से युक्त सूर्य का और आकाश में विद्युत का प्रकाश देखा जाता है । धीरज-वान्, विद्वान् ब्रह्म का बोध कराने वाले शास्त्रों में निष्ठावान् तथा महात्मा ब्राह्मण ही उस जन्म रहित और अमृत स्वरूप ब्रह्म का दर्शन कर सकते हैं । वह ब्रह्म अणु से भी अणु और महान् से भी महान् है । सभी प्राणियों के अन्तर में निवास करता हुआ भी वह किसी को दिखाई नहीं देता ॥१६६-१७५॥

बुद्धिद्रव्येण दृश्येन मनोदीपेन लोककृत् ।

महतस्तमसस्तात पारे तिष्ठन्नतामसः ॥१७६

स तमोनुद इत्युक्तः सर्वज्ञैर्वेदपारगैः ।

'विमलो वितमस्कश्च निर्लिङ्गोऽलिङ्गसंज्ञितः ॥१७७

योग एष हि योगानां किमन्यद् योगलक्षणम् ।

एवं पश्यं प्रपश्यन्ति आत्मानमजरं परम् ॥१७८

योगदर्शनमेतावदुक्तं ते तत्त्वतो मया ।

सांख्यज्ञानं प्रवक्ष्यामि परिसंख्यानदर्शनम् ॥१७९

अव्यक्तमाहुः प्रकृतिं परां प्रकृतिवादिनः ।

तस्मान्महत् समुत्पन्नं द्वितीयं राजसत्तम ॥१८०

अहङ्कारस्तु महत्स्त्वृतीयमिति नः श्रुतम् ।

पञ्चभूतान्यहङ्कारादाहुः सांख्यात्मदर्शिनः ॥१८१

एताः प्रकृतयश्चाष्टौ विकाराश्चापि षोडश ।

पञ्च चैव विशेषा वै तथा पञ्चेन्द्रियाणि च ॥१८२

सूक्ष्म बुद्धि रूप धन वाले पुरुष ही मनोमय दीपक के द्वारा लोक स्रष्टा ब्रह्म को देख सकते हैं । वह ब्रह्म घोर अन्धकार से और तमोगुण से परे है । इसीलिये वेदों के पारगामी सर्वज्ञ पुरुष उसे अज्ञान नाशक कहते हैं । वह निर्मल, अज्ञान-रहित, लिंग-रहित और अलिङ्ग कहा जाता

है। यही योगियों का योग है। इसके अतिरिक्त योग का अन्य लक्षण क्या हो सकता है? इस प्रकार साधना करने वाले योगी सब के द्रष्टा जरा-मरण रहित ब्रह्म को प्रत्यक्ष देखते हैं। अब तक मैंने योग-दर्शन की यथार्थ बात कही है, अब मैं सांख्य दर्शन का वर्णन करता हूँ जो कि विचार-प्रधान समझा जाता है। हे राजन्! प्रकृति के मानने वाले विद्वान् मूल प्रकृति को अव्यक्त मानते हैं। उससे दूसरा तत्त्व महत्तत्त्व के नाम से प्रकट हुआ करते हैं। महत्तत्त्व से अहंकार नामक तीसरा तत्त्व हुआ-ऐसा हमने सुना है। अहंकार से पंच तन्मात्राएँ उत्पन्न हुईं यह सांख्यदर्शी विद्वान् कहते हैं। इन आठ प्रकृतियों से सोलह तत्त्व उत्पन्न हुए, इन्हें विकार कहा गया है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, एक मन और पाँच स्थूल भूत यह सोलह विकार हैं। इनमें पंचतत्त्व और पंच ज्ञानेन्द्रिय विशेष कहे जाते हैं ॥१७६-१८२॥

एतावदेव तत्त्वानां सांख्यमाहुर्मनीषिणः ।

सांख्येविविधिविधानज्ञा नित्यं सांख्यपथे रताः ॥१८३

यस्माद् यदभिजायेत तत् तत्रैव प्रलीयते ।

लीयन्ते प्रतिलोमानि सृज्यन्ते चान्तरात्मना ॥१८४

अनुलोमेन जायन्ते लीयन्ते प्रतिलोमतः ।

गुणा गुणेषु सततं सागरस्योर्मयो यथा ॥१८५

सर्गप्रलय एतावान् प्रकृतेर्नृपसत्तम ।

एकत्वं प्रलये चास्य बहुत्वं च यदासृजत् ॥१८६

एवमेव च राजेन्द्र विज्ञेयं ज्ञानकोविदैः ।

अधिष्ठातारमव्यक्तमस्याप्येतन्निदर्शनम् ॥१८७

एकत्वं च बहुत्वं च प्रकृतेरर्थतत्त्ववान् ।

एकत्वं प्रलये चास्य बहुत्वं च प्रवर्तनात् ॥१८८

बहुधाऽऽत्मा प्रकुर्वीत प्रकृतिं प्रसवात्मिकाम् ।

तच्च क्षेत्रं महानात्मा पञ्चविशोऽधितिष्ठति ॥१८९

सांख्य के विधि विधान को जानने वाले और सदा सांख्य में अनुरक्त रहने वाले विद्वान् सांख्य सम्मत तत्त्वों की इतनी ही संख्या बतलाते हैं।

जिस तत्त्व की जिससे उत्पत्ति होती है, वह उसी में लीन हो जाता है । अनुलोम क्रम से वे तत्त्व उत्पन्न होते और विलोम क्रम से लीन होते हैं । इन सभी तत्त्वों की रचना अन्तरात्मा द्वारा ही होती है । जैसे समुद्र में उठी हुई लहरें उसी में शान्त हो जाती हैं, वैसे ही सभी गुण सदा अनुलोम क्रम से उत्पन्न होकर विलोम क्रम से अपने कारण भूत गुणों में विलीन होते हैं । हे राजन् ! प्रकृति के सर्ग और प्रलय का विषय इतना ही है । प्रलय काल में एकत्व और सर्ग काल में अनेकत्व होता है । ज्ञानियों को इसी प्रकार प्रकृति का एकत्व अनेकत्व जानना चाहिये । अव्यक्त प्रकृति ही अधिष्ठाता आत्मा को अनेकत्व की ओर ले जाती है । पुरुष अर्थात् आत्मा के एकत्व का निदर्शन यही है । अर्थ तत्त्व को जानने वाला पुरुष प्रलय काल में प्रकृति का एकत्व और सर्ग काल में अनेकत्व रहना समझे । पुरुष भी प्रलय काल में एक ही होता है, परन्तु, सर्गकाल में प्रकृति का प्रेरक होने से उसमें अनेकत्व का आरोप हो जाता है । ब्रह्म ही प्रसवात्मिका प्रकृति को विभिन्न रूपों वाली करता है । प्रकृति और उसके विकार क्षेत्र कहे जाते हैं । चौबीस तत्त्वों से परे, पच्चीसवाँ तत्त्व जो महान् आता है, वही अधिष्ठाता होकर उस क्षेत्र में निवास करता है ॥१८३-१८६॥

अधिष्ठातेति राजेन्द्र प्रोच्य । यतिसत्तमैः ।

अधिष्ठानादधिष्ठाता क्षेत्राणामिति नः श्रुतम् ॥१८०॥

क्षेत्रं जानाति चाव्यक्तं क्षेत्रज्ञ इति चोच्यते ।

आव्यक्तिके पुरे शेते पुरुषश्चेति कथ्यते ॥१८१॥

अन्यदेव च क्षेत्रं स्यादन्यः क्षेत्रज्ञ उच्यते ।

क्षेत्रमव्यक्तमित्युक्तं ज्ञाता वै पञ्चविंशकः ॥१८२॥

अन्यदेव च ज्ञानं स्यादन्यज्ज्ञेयं तदुच्यते ।

ज्ञानमव्यक्तमित्युक्तं ज्ञेयो वै पञ्चविंशकः ॥१८३॥

अव्यक्तं क्षेत्रमित्युक्तं तथा सत्त्वं तथेश्वरः ।

अनीश्वरमतत्त्वं च तत्त्वं तत्पञ्चविंशकम् ॥१८४॥

सांख्यदर्शनमेतवत् परिसंख्यानुदर्शनम् ।

सांख्याः प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ॥१६५

तत्त्वानि च चतुर्विंशत् परिसंख्याय तत्त्वतः ।

सांख्याः सह प्रकृत्यातुनिस्तत्त्वपञ्चविंशकः ॥१६६

हे राजेन्द्र ! यतियों में श्रेष्ठ पुरुष इसीलिये उसे अधिष्ठाता कहते हैं । हमने सुना है कि क्षेत्रों का अधिष्ठान करने के कारण ही वह अधिष्ठाता है । वह अव्यक्त संज्ञक क्षेत्र का ज्ञाता होने से क्षेत्रज्ञ कहा जाता है और प्राकृत देह रूपी पुरों में शयन करने के कारण उसे पुरुष कहा गया है । यथार्थ में क्षेत्रज्ञ भिन्न है । क्षेत्र अव्यक्त कहा जाता है और क्षेत्रज्ञ उसका ज्ञाता तथा पञ्चीसवाँ तत्त्व आत्मा है । ज्ञान से ज्ञेय भी भिन्न वस्तु है । ज्ञान अव्यक्त कहा गया है और ज्ञेय पञ्चीसवाँ तत्त्व आत्मा है । अव्यक्त को क्षेत्र कहते हैं । वही सत्व और शासक संज्ञक है । परन्तु पञ्चीसवाँ तत्त्व ब्रह्म जड़ तत्व और अनीश्वरत्व से भिन्न है । सांख्य ज्ञानी तत्त्वों की गणना करते हुए प्रकृति को ही जगत का कारण कहते हैं । सांख्य गणना वाला होने से ही इस दर्शन का नाम सांख्य रखा है । सांख्य के जानने वाले पुरुष प्रकृति सहित चौबीस तत्त्वों को गिनते हुए, परब्रह्म को जड़ तत्वों से परे पञ्चीसवाँ तत्त्व कहते हैं ॥१६०-१६६

पञ्चविंशोऽप्रकृत्यात्मा बुध्यमान इति स्मृतः ।

यदा तु बुध्यतेऽऽत्मानं तदा भवति केवलः ॥१६७

सम्यग्दर्शनमेतावद् भाषितं तव तत्त्वतः ।

एवमेतद् विजानन्तः साम्यतां प्रति यान्त्युत ॥१६८

सम्यङ्निदर्शनं नाम प्रत्यक्षं प्रकृतेस्तथा ।

गुणतत्त्वान्यथेतानि निर्गुणोऽन्यथा भवेत् ॥१६९

न त्वेवं वर्तमानानामावृत्तिर्विद्यते पुनः ।

विद्यतेऽक्षरभावत्वादपरं परमव्ययम् ॥२००

पश्येरन्न कमतयो न सम्यक् तेषु दर्शनम् ।

ते व्यक्तं प्रतिपद्यन्ते पुनः पुनररिदम् ॥२०१

सर्वमेतद् विजानन्तो नासर्वस्य प्रबोधनात् ।

व्यक्तीभूता भविष्यन्ति व्यक्तस्य वशवर्तिनः ॥२०२

सर्वमव्यक्तमिष्युक्तमसर्वः पञ्चविंशकः ।

य एनमभिजानन्ति न भयं तेषु विद्यते ॥२०३

पञ्चीसवाँ तत्त्व प्राकृत नहीं है । प्रकृति से भिन्न ज्ञान रूप माना है । जब वह स्वयं को प्रकृति से भिन्न नित्य चिन्मय जान लेता है तभी अपने ब्रह्मरूप में स्थित हो जाता है । इस प्रकार सांख्य दर्शन का मैंने यथावत् वर्णन किया । इसे इस प्रकार जानने वाले मनुष्य शान्त स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं । प्रकृति और पुरुष का प्रत्यक्ष दर्शन ही सम्यग् दर्शन समझना चाहिये । इन गुणमय तत्वों से परब्रह्म निर्गुण एवं भिन्न है इस दर्शन का मत है कि ज्ञान प्राप्त करने वाले मनुष्य संसार में पुनः लौट कर नहीं आते । क्योंकि उन्हें अविनाशी ब्रह्मभाव की प्राप्ति हो जाती है । इसलिये परापर स्वरूप ब्रह्म से ही उनकी स्थिति होती है । हे रिपुदमन, जनक ! अनेकत्व ज्ञान-दर्शन वाली बुद्धि वाले पुरुषों को सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं होता और उन्हें बारम्बार शरीर धारण करना होता है इस सम्पूर्ण प्रपञ्च के ज्ञाता पुरुष इससे भिन्न परमात्म तत्व के न जानने से अवश्य ही देहधारी होंगे और देह तथा काम-क्रोधादि के वश में पड़े रहेंगे अव्यक्त प्रकृति को 'सर्व' कहा गया है, उससे भिन्न पञ्चीसवाँ तत्व परमात्मा 'असर्व' है । इन्हें इस प्रकार जानने वालों को संसार में आत्रा-गमन का भय नहीं रहता ॥१६७-२०३॥

सांख्यदर्शनमेतावदुक्तं ते नृपसत्तम ।

विद्याविद्योत्विदानीं मे त्वं निबोधानुपूर्वशः ॥२०४

अविद्यामाहुरव्यक्तं सर्गप्रलयधर्मि वै ।

सर्गप्रलयनिर्मुक्तां विद्यां वै पञ्चविंशकः ॥२०५

परस्परस्य विद्यां वै त्वं निबोधानुपूर्वशः ।

यथोक्तमृषिभिस्तात सांख्यस्याभिनिर्दर्शनम् ॥२०६

कर्मेन्द्रियाणां सर्वेषां विद्या बुद्धीन्द्रियं स्मृतम् ।

बुद्धीन्द्रियाणां च तथा विशेषा इति नः श्रुतम् ॥२०७

विशेषाणां मनस्तेषां विद्यामाहुर्मनीषिणः ।

मनसः पञ्च भूतानि विद्या इत्यभिवक्षते ॥२०८

अहङ्कारस्तु भूतानां पञ्चानां नात्र संशयः ।

अहङ्कारस्य च तथा बुद्धिविद्या नरेश्वर ॥२०९

विद्या प्रकृतिरव्यक्तं तत्त्वानां परमेश्वरी ।

विद्या ज्ञेया नरश्रेष्ठ विधिश्च परमः स्मृतः ॥२१०

वसिष्ठजी ने कहा — हे राजन् ! यहाँ तक सांख्य दर्शन के विषय में तुम्हें बताया है । अब विद्या और अविद्या का क्रम पूर्वक वर्णन सुनो । मुनिजन सृष्टि और प्रलय धर्म वाले अव्यक्त को ही अविद्या कहते हैं और चौबीस तत्वों से परे पञ्चीसवें तत्व परब्रह्म को विद्या कहा गया है । यह ब्रह्म सृष्टि और प्रलय से रहित से है हे तात ! ऋषियों ने जैसे सांख्य दर्शन की बात कही है, वैसे ही अव्यक्त का भेद और उनमें जो श्रेष्ठ है, उसका वर्णन मेरे द्वारा सुनो । यह सुना है कि सब कर्मेन्द्रियों की विद्या ज्ञानेन्द्रियां हैं और ज्ञानेन्द्रियों की विद्या पंच महाभूत हैं मनीषी पुरुषों का कहना है कि स्थूल पंचभूतों की विद्या मन और मन की विद्या सूक्ष्म पंचभूत हैं । हे राजन् ! उन सूक्ष्म पंचभूतों की विद्या अहंकार है इसमें कोई संदेह नहीं । अहंकार की विद्या बुद्धि कही गयी है । अव्यक्त नाम की परमेश्वरी प्रकृति सभी तत्वों की विद्या है । इसी को ज्ञान की परम विधि कहा है । यह जानने योग्य है ॥२०४-२१०॥

अव्यक्तस्य परं प्राहुर्विद्यां वै पञ्चविंशकम् ।

सर्वस्य सर्वमित्युक्तं ज्ञेयं ज्ञानस्य पार्थिव ॥२११

ज्ञानमव्यक्तमित्युक्तं ज्ञेयो वै पञ्चविंशकः ।

तथैव ज्ञानमव्यक्तं विज्ञाता पञ्चविंशकः ॥२१२

विद्याविद्यार्थतत्त्वेन मयोक्ता ते विशेषतः ।

अक्षरं च क्षरं चैव यदुक्तं तन्निबोध मे ॥२१३

उभावेवाक्षरावुक्तावुभावेतावनक्षरौ ।

कारणं तु प्रवक्ष्यामि याथातथ्यं तु ज्ञानतः ॥२१४

अनादिनिधनावेतावुभावेवेश्वरौ मतौ ।

तत्त्वसंज्ञाभावेतौ प्रोच्येते ज्ञानचिन्तकः ॥२१५

सर्गप्रलधर्मत्वादव्यक्तं प्राहुरक्षरम् ।

तदेतद् गुणासर्गाय विकुर्वाणं पुनः पुनः ॥२१६

गुणानां महदादीनामुत्पत्तिश्च परस्परम् ।

अधिष्ठानात् क्षेत्रमाहुरेतत्तमु पञ्चविंशकम् ॥२१७

पञ्चीसवें तत्त्व रूप से जिस परमात्मा को कहा है, वही अव्यक्त प्रकृति की परम विद्या है। वही ज्ञान का सर्वरूप ज्ञेय माना गया है। ज्ञान अव्यक्त और परम पुरुष ज्ञेय कहा गया है। इसी प्रकार ज्ञान अव्यक्त है और उसका ज्ञाता परमपुरुष ही है। मैंने विद्या और अविद्या को यथार्थ तथा विशेष रूप से कहा है। अक्षर-अक्षर तत्त्वों के विषय में ध्यान पूर्वक श्रवण करो। सांख्य मत में प्रकृति-पुरुष दोनों ही अक्षर कहे गये हैं और यह दोनों क्षर भी हैं। अपने ज्ञान के अनुसार इस का यथार्थ कारण कहता हूँ। यह दोनों ही अनादि, अनन्त हैं, इसलिये परस्पर मिल कर ईश्वर माने गये हैं। सांख्य ज्ञानी विचारक इन दोनों को तत्त्व कहते हैं। प्रलय का धर्म सृष्टि और प्रलय है, इसलिये उसे 'अक्षर' कहा है। वही प्रकृति महत्तत्त्व आदि की रचना के लिये बारम्बार विकार-मयी हो जाने से 'क्षर' भी कही जाती है। महत्तत्त्व आदि गुण प्रकृति और पुरुष के पारस्परिक संयोग से उत्पन्न होते हैं, इसलिये एक दूसरे के अधिष्ठान रूप होने से पुरुष भी क्षेत्र कहा गया है ॥२११-२१७॥

यदा तु गुणजालं तदव्यक्तात्मनि संक्षिपेत् ।

तदा सह गुणैस्तैस्तु पञ्चविंशो विलीयते ॥२१८

गुणा गुणेषु लीयन्ते तदैका प्रकृतिर्भवेत् ।

क्षेत्रज्ञोऽपि यदा तात तत्क्षेत्रे सम्प्रलीयते ॥२१९

तदा क्षरत्वं प्रकृतिर्गच्छते गुणसञ्चिता ।

निर्गुणत्वं च वैदेह गुणेष्वप्रतिवर्तनात् ॥२२०

एवमेव च क्षेत्रज्ञः क्षेत्रज्ञानपरिक्षये ।

प्रकृत्या निर्गुणस्त्वेष इत्येवमनुशुश्रुम् ॥२२१

क्षरो भवत्पये यदा तदा गुणवतीमथ ।

प्रकृतिं त्वभिजानति निर्गुणत्वं तथाऽऽत्मनः ॥२२२

तदा विशुद्धो भवति प्रकृतेः परिवर्जनात् ।

अन्योऽहमन्येयमिति यदा बुध्यति बुद्धिमान् ॥२२३

तदैष तत्त्वतामेति न चापि मिश्रतां व्रजेत् ।

प्रकृत्या चैव राजेन्द्र मिश्रो ह्यन्यश्च दृश्यते ॥२२४

योगी अपने योगबल से जब प्रकृति के गुणों को अव्यक्त मूल प्रकृति में लीन कर देता है, तब उन गुणों के लीन होने के साथ ही पञ्चीसवां तत्त्व पुरुष भी ब्रह्म में मिल जाता है। इस प्रकार उसे भी क्षर कहा गया है। कार्यभूत गुणों के कारण भूत गुणों में लय हो जाने पर सब कुछ प्रकृतिरूप होजाता है और क्षेत्रज्ञ के ब्रह्म में लय होने पर उसका अस्तित्व भी पृथक् नहीं रहता। उस समय त्रिगुणात्मिका प्रकृति क्षरत्व को प्राप्त होती है और गुणों में प्रवृत्त न होने से पुरुष भी गुणातीत हो जाता है। इस प्रकार क्षेत्र का ज्ञान न रहने पर वह स्वभाव से ही निर्गुण है— हमने ऐसा सुन रखा है। जब यह पुरुष परमात्मा में लीन हो जाता है, तब वह प्रकृति के सगुण होने को और अपने निर्गुण होने को ठीक प्रकार समझ लेता है। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष जब प्रकृति का अपने से भिन्नत्व जान लेता है, तब वह प्रकृति से रहित होकर अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है। प्रकृति-संयोग के समय उससे अलग दिखाई पड़ने के कारण यह पुरुष उसी रूप को प्राप्त हुआ-सा लगता है। परन्तु उस अवस्था में भी वह प्रकृति के साथ मिलता नहीं। इस प्रकार पुरुष प्रकृति के साथ मिला हुआ और अलग भी दिखाई देता है॥२१५-२२४॥

यदा तु गुणजालं तत् प्राकृतं वै जुगुप्सते ।

पश्यते च परं पश्यं तदा पश्यन्न सत्यजेत् ॥२२५

किं मया कृतमेतावद् योऽहं कालमिमं जनम् ।

मत्स्यो जालं ह्यविज्ञानादनुवर्तितवानिह ॥२२६

अहमेव हि सम्मोहादन्यमन्य जनाज्जनम् ।

मत्स्यो यथोदकज्ञानादनुवर्तितवानहम् ॥२२७

मत्स्योऽन्यत्वं यथाज्ञानादुदकान्नाभिमन्यते ।

आत्मानं तद्वदज्ञानादन्यत्वं नैव वेद्म्यहम् ॥२२८

ममास्तु धिगबुद्धस्य योऽहं मग्नमिमं पुनः ।

अनुवर्तितवान् मोहादन्यमन्यं जनाज्जनम् ॥२२९ ।

अयमत्र भवेद् बन्धुरनेन सह मे क्षमम् ।

साम्यमेकत्वमायातो यादृशस्तादृशस्त्वहम् ॥२३०

तुल्यतामिह पश्यामि सदृशोऽहमनेन वै ।

अयं हि विमलो व्यक्तमहमीदृशकस्तथा ॥२३१

जब वह प्रकृति के गुणों से विरक्त हो जाता है, तब परम दर्शनीय ब्रह्म को देखता और फिर उसका त्याग नहीं करता (विवेक होने पर जीव कहता है कि) ओह ! मेरे द्वारा यह क्या हुआ ? मछली के अज्ञानवश स्वयं ही जाल में फँसने के समान मैं भी इस प्रकृति-निर्मित शरीर का अनुसरण करता रहा हूँ । जैसे मत्स्य जल को ही अपने जीवन का आधार मानकर एक जलाशय से दूसरे ललाशय में जाता है, उसी प्रकार मैं मोह के वशीभूत होकर एक देह से दूसरे देह में चक्कर काटता रहा हूँ । जैसे मत्स्य अज्ञानवश अपने को जल से पृथक् नहीं समझता, वैसे ही मैं भी अज्ञानवश इस प्राकृत देह से अपने को पृथक् नहीं जानता था । मुझ अबुद्धि वाले को धिक्कार है, जो संसार समुद्र में डूबे हुए इस देह के आश्रय में एक देह से दूसरे देह में जाता रहा । इस संसार में यथार्थ रूप से परमात्मा ही मेरा बन्धु है इसी के साथ मेरी मित्रता संभव है । पहिले मैं कैसा भी रहा, अब तो उसकी समानता और एकता प्राप्त कर चुका हूँ । इसी में मैं अपनी समानता देखता हूँ । मैं अवश्य इसी के समान हूँ । यह परमात्मा प्रत्यक्ष रूप से अत्यन्त निर्मल है और अब मैं भी इसी के समान हूँ ॥२२५-२३१॥

योऽहमज्ञानसम्मोहादज्ञया सम्प्रवृत्तवान् ।

ससङ्गयाहं निःसङ्गःस्थितःकालमिमं त्वहम् ॥२३२

अनयाहं वशीभूतः कालमेतं न बुद्धवान् ।

उच्चमध्यमनीचानां तामह कथमावसे ॥२३३

समानयानया चेह सह वासमहं कथम् ।

गच्छाम्यबुद्धभावत्वादिषेदानीं स्थिरो भवे ॥२३४

सहवासं न यास्यामि कालमेतद्धि वञ्चनात् ।

वञ्चितोऽस्म्यनया यद्धि निर्विकारो विकारया ॥२३५

न चायमपराधोऽस्या ह्यपराधो ह्ययं मम ।

योऽहमत्राभवं सक्तः पराङ्मुखमुपस्थितः ॥२३६

ततोऽस्मि बहुरूपासु स्थितो मूर्तिष्वमूर्तिमान् ।

अमूर्तश्चापि मूर्तिमा ममत्वेन प्रधर्षितः ॥२३७

प्राक् कृतेन ममत्वेन तासु तास्विह योनिषु ।

निर्ममस्य ममेत्वेन किं कृतं तासु तासु च ॥२३८

मैं आसक्ति से बिल्कुल दूर होते हुए भी अज्ञान और मोह के वश में पड़कर अब तक इस आसक्ति वाली प्रकृति के साथ रमण करता रहा । इसने मुझे इतना वश में कर लिया था कि मैं आज तक के समय को ही न जान सका । यह प्रकृति तो उच्च, मध्यम और निम्न सभी श्रेणी के व्यक्तियों के साथ रहने वाली है । इसके साथ मैं किस प्रकार रह सकता हूँ ? जो मेरे साथ मिल कर मेरी समानता करने लगी, ऐसी इस प्रकृति के साथ मूर्खतावश मैं कैसे रह सकता हूँ । अतः अब मैं स्थिर हो गया हूँ । मैं विकार-रहित होकर भी इस विकारमयी प्रकृति के द्वारा ठगा जाता रहा । इतने समय तक यह मुझे ठगती रही है । अब इसके साथ कदापि नहीं रहूंगा । किंतु, इसका इसमें कुछ भी दोष नहीं है, सब अपराध मेरा ही है । क्योंकि मैं ही तो परमात्मा से विमुख होकर इसमें आसक्त हो गया था । मैं सर्वथा निराकार होकर भी प्रकृति के अनेक रूप वाले आकारों में स्थित होगया तथा देह-रहित होकर भी ममता के वशीभूत हुआ मैं शरीरधारी बन गया । मैंने इसके साथ जो ममता की, उससे मुझे विभिन्न योनियों में भटकना पड़ा था । मेरे ममता-रहित होने पर भी प्रकृति से उत्पन्न हुई ममता ने मुझे विभिन्न योनियों में भटका कर मेरी अत्यन्त दुर्दशा कर दी ॥२३२-२३८॥

योनीषु वर्तमानेन नद्वसंज्ञेन चेतसा ।

न ममात्रानया कार्यमहंकारकृतात्मया ॥२३६

आत्मानं बहुधा कृत्वा येयं भूयो युनक्ति माम् ।

इदानीमेष बुद्धोऽस्मि निर्ममा निरहंकृतः ॥२४०

ममत्वमनया नित्यमहंकारकृतात्मकम् ।

अपेत्याहमिमां हित्वा संश्रयिष्ये निरामयम् ॥२४१

अनेन साम्यं यास्यामि नामयाहतचेतया ।

क्षेमं मम सहानेन नैकत्वमनया सह ॥२४२

एवं परमसम्बोधात् पञ्चविंशोऽनुबुद्धवान् ।

अक्षरत्वं नियच्छेत् त्यक्त्वा क्षरमनामायम् ॥२४३

ममत्वमनया नित्यमहंकारकृतात्मकम् ।

अव्यक्तं व्यक्तधर्माणं सगुणं निर्गुणं तथा ।

निर्गुणं प्रथमं दृष्ट्वा तादृग् भवति मैथिल ॥२४४

, अक्षरक्षरयोरेतदुक्तं तव निदर्शनम् ।

मयेह ज्ञानसम्पन्नं यथाश्रुतिनिदर्शनात् ॥२४५

इसके साथ मुझे विभिन्न योनियों में भटकना पड़ा, इसलिये मेरी चेतना नष्ट हो गई। अब इस अहंकारमयी प्रकृति से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। अब भी यह अनेक रूप धारण करके मेरे साथ मिलने का प्रयत्न कर रही है। परन्तु, अब मैं सावधानी पूर्वक ममता और अहंकार को छोड़ चुका हूँ। अब मैं इसे और इसकी अहंकारमयी ममता को छोड़ कर इससे बिल्कुल पृथक् होकर निरामय परब्रह्म की ही शरण में रहूँगा। मैं उन परब्रह्म की समानता प्राप्त करूँगा, इस जड़ प्रकृति की समानता स्वीकार नहीं करूँगा। इस प्रकृति को छोड़ कर परब्रह्म से संयोग स्थापित करने में मेरा कल्याण निहित है। इस प्रकार श्रेष्ठ विवेक के द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान पाकर जीवात्मा चौबीस तत्वों से पच्चीसवें आत्मा में क्षर भाव को त्याग कर उस निरामय अक्षर भाव को प्राप्त हो जाता है। हे राजन् ! अव्यक्त प्रकृति, व्यक्त महत्तत्त्व आदि, सगुण, निर्गुण और सब के आदि भूत परब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर

मनुष्य स्वयं भी उसी के समान होजाता है । वेद में कहे अनुसार ही क्षर-अक्षर का विवेक कराने वाला यह ज्ञान मैंने तुम्हारे प्रति कहा है ।

॥२३६-२४५॥

निःसंदिग्धं च सूक्ष्मं च विबुद्धं विमलं यथा ।

प्रवक्ष्यामि तु ते भूयस्तन्निबोध यथाश्रुतम् ॥२४६

सांख्ययोगौ मया प्रोक्तौ शास्त्रद्वयनिदर्शनात् ।

यदेव शास्त्रं सांख्योक्तं योगदर्शनमेव तत् ॥२४७

प्रबोधनकरं ज्ञानं सांख्यानामवनीपते ।

विस्पष्टं प्रोच्यते तत्र शिष्याणां हितकाम्यया ॥२४८

बृहच्चैवमिदं शास्त्रमित्याहुर्विदुषो जनाः ।

अस्मिंश्च शास्त्रे योगानां पुनर्वेदे पुरः सरः ॥२४९

पञ्चविंशत् परं तत्त्वं पठ्यते न नराधिप ।

सांख्यानां तु परं तत्त्वं यथावदनुवर्णितम् ॥२५०

बुद्धमप्रतिबुद्धत्वाद् बुध्यमानं च तत्त्वतः ।

बुध्यमानं च बुद्धं च प्राहुर्योगनिदर्शनम् ॥२५१

अब फिर सन्देह रहित, सूक्ष्म, और अत्यन्त निर्मल विशिष्ट ज्ञान का विषय श्रुति के अनुसार तुम्हारे प्रति कहता हूँ, उसे ध्यान से सुनो । मैंने सांख्य और योग के वर्णन में इन दोनों को पृथक् पृथक् कहा है, परन्तु यथार्थ में तो जो सांख्य शास्त्र है, वही योगशास्त्र समझना चाहिये । शिष्यों का हित करने की इच्छा से उनके लिये ज्ञान उत्पन्न करने वाले सांख्य दर्शन का तुम्हारे प्रति मैंने स्पष्ट रूप से वर्णन किया है । विद्वानों का कथन है कि सांख्यशास्त्र महान् है । इसमें, योगशास्त्र में और वेद में अधिक प्रमाणिकता मान कर इनके अध्ययन के लिये अग्रसर होना चाहिये । हे राजन् ! सांख्य ज्ञानियों ने पञ्चीसवें तत्त्व से परे किसी अन्य तत्त्व का वर्णन नहीं किया है । सांख्यों के परम तत्त्व का मैंने यथार्थ वर्णन ज्ञानमय ब्रह्म ही 'बुद्ध' है और परमात्मा तत्त्व के न जानने वाला जिज्ञासु जीव 'बुध्यमान' है । इस प्रकार योग मतानुसार बुद्ध और बुध्यमान यह दो चेतन तत्त्व कहे कये हैं ॥२४६-२५१॥

११-मार्कण्डेय गीता

मार्कण्डेयं महात्मानमूचुः पाण्डुसुतास्तदा ।
 माहात्म्यं द्विजमुख्यानां श्रोतुमिच्छाम कथ्यताम् ॥१
 एवमुक्तः स भगवान् मार्कण्डेयो महातपाः ।
 उवाच सुमहातेजाः सर्वशास्त्रविशारदः ॥२
 हैहयानां कुलकरो राजा परपुरंजयः ।
 कुमारो रूपसम्पन्नो मृगयां व्यचरद् बली ॥३
 चरमाणस्तु सोऽरण्ये तृणवीरुत्समावृते ।
 कृष्णाजिनोत्तरासङ्गं ददर्श मुनिमन्तिके ॥४
 स तेन निहतोऽरण्ये मन्यमानेन वै मृगम् ।
 व्यथितः कर्म तत् कृत्वा शोकोपहतचेतनः ॥५
 जगाम हैहयानां वै सकाशं प्रथितात्मनाम् ।
 राज्ञां राजीवनेत्रोऽसौ कुमारः पृथिवीपतिः ।
 तेषां च तद् यथावृत्तं कथयामास वै तदा ॥६
 तं चापि हिसितं तात मुनिं मूलफलाशिनम् ।
 श्रुत्वा दृष्ट्वा च ते तत्र बभूवुर्दीनमानसाः ॥७

वैशम्पायन जी ने कहा—हे जनमेजय ! पाण्डुपुत्रों ने मार्कण्डेयजी से कहा—हे मुने ! हम ब्राह्मणों का महात्म्य सुनने के इच्छुक हैं, उसे कहने की कृपा करिये । उनके इस प्रकार निवेदन करने पर महातपी, तेजस्वी और सर्वशास्त्र विशारद भगवान् मार्कण्डेयजी बोले । मार्कण्डेय जी ने कहा—हैहयवंशी क्षत्रियों की वंश परम्परा की वृद्धि करने वाला राजा परपुरंजय अपनी किशोरावस्था में भी अत्यन्त बलवान और सुन्दर था । वह एक दिन हिसक पशुओं का शिकार करने के लिये वन में गया । तृण और लताओं से पूर्ण उस जङ्गल में विचरण करते हुए

उस राजकुमार ने एक मुनि को देखा, जो कि एक काले हिंसक पशु की खाल ओढ़े हुए कुछ ही दूर बैठे थे। राजकुमार ने उन्हें हिंसक पशु समझ कर अपने बाण से मार दिया। अनजान में इस पाप-कर्म को करके वह राजकुमार शोक-विह्वल और मूर्छित होगया। फिर होश आने पर वह प्रसिद्ध हैहयवंशी राजाओं के पास पहुँचा और वहाँ उस पृथिवी पालक, कमल के से नेत्र वाले राजकुमार ने सबके समक्ष उस दुर्घटना को कहा। फल मूल को खाकर रहने वाले एक मुनि की हिंसा हुई सुनकर उन सब क्षत्रियों को मन ही मन बड़ा दुःख हुआ ॥१-७॥

कस्यायमिति ते सर्वे मार्गमाणास्ततस्ततः ।

जग्मुश्चारिष्टनेम्नोऽथ तार्क्ष्यस्याश्रममञ्जसा ॥५

तेऽभिबाद्य महात्मां तं मुनिं नियतव्रतम् ।

तस्थुः सर्वे स तु मुनिस्तेषां पूजामथाहरत् ॥६

ते तमूर्चुर्मात्मानं न वयं सत्क्रियां मुने ।

त्वत्तोऽर्हाः कर्मदोषेण ब्राह्मणो हिंसितो हि नः ॥१०

तानब्रवीत् स विप्रर्षिः कथं वो ब्राह्मणो हतः ।

क चासौ ब्रूत सहिताः पश्यध्वं मे तपोबलम् ॥११

ते तु तत् सर्वमखिलमाख्यायास्मै यथातथम् ।

नापश्यंस्तमृषिं तत्र गतासुं ते समागताः ॥१२

अन्वेषमाणाः सग्रीडाः स्वप्नवद्गतचेतनाः ।

तानब्रवीत् तत्र मुनिस्तार्क्ष्यः परपुरंजय ॥१३

स्यादयं ब्राह्मणः सोऽथ युष्माभिर्यो विनाशितः ।

पुत्रो ह्ययं मम नृपास्तपोबलसमन्वितः ॥१४

फिर वे सभी क्षत्रिय, वे मुनि किसके पुत्र थे, इस बात का पता लगाते हुए कश्यप-नन्दन अरिष्टनेमि के आश्रम पर पहुँचे। नियम पूर्वक श्रेष्ठ व्रत को पालने वाले उन मुनि को प्रणाम करके वे सभी क्षत्रिय वहाँ खड़े होगये। तब मुनि ने उनके लिये अर्घ्य आदि पूजन-सामग्री दी। इस पर उन क्षत्रियों ने उन महात्मा से कहा—हे मुने ! हम अपने दोष-पूर्ण के कर्म कारण आपसे सत्कार प्राप्त करने के योग्य नहीं रहे हैं। हमारे

द्वारा एक ब्राह्मण का वध हो गया है। यह सुनकर वे विप्रर्षि बोले—आपके द्वारा ब्रह्महत्या कैसे हुई ? उस ब्राह्मण का मृत शरीर कहाँ है ? यह मुझे बताइये । तब मेरा तपोबल देखना । यह बात सुन कर उन क्षत्रियों ने सभी समाचार ठीक-ठीक कहा और उन्हें साथ लेकर उस स्थान पर गये, जहाँ मुनि की हत्या हुई थी । परन्तु, उनकी लाश दिखाई नहीं दी । तब वे क्षत्रिय लज्जित होकर इधर-उधर खोज करने लगे । स्वप्न के समान उनकी चेतना मिट गयी । तब मुनिवर अरिष्टनेमि बोले—हे परपुरंजय ! तुमने जिसे मार दिया था, वह यही ब्राह्मण तो नहीं है ? यह मेरा तपोबली पुत्र है ॥८-१४॥

ते च दृष्ट्वैव तमृषिं विस्मयं परमं गताः ।

महदाश्चर्यमिति वै ते ब्रुवाणा महीपते ॥१५

मृतो ह्ययमुपानीतः कथं जीवितमाप्तवान् ।

किमेतत् तपसो वीर्यं येनायं जीवितः पुनः ॥१६

श्रोतुमिच्छामहे विप्र यदि श्रोतव्यमित्युत ।

स तानुवाच नास्माकं मृत्युः प्रभवते नृपाः ॥१७

कारणं वः प्रवक्ष्यामि हेतुयोगसमासतः ।

(मृत्युः प्रभवने येन नास्माकं नृपसत्तमाः ।

शुद्धाचारा अनलसाः संध्योपासनतत्पराः ।

शुद्धान्नाः शुद्धसुधना ब्रह्मचर्यव्रतान्विताः ।

सत्यमेवाभिजानीमो नानृते कुर्महे मनः ।

स्वधर्ममनुतिष्ठामस्तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥१८

यद् ब्राह्मणानां कुशलं तदेषां कथयामहे ।

नैषां दुश्चरितं ब्रूमस्तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥१९

अतिथीनन्नपानेन भृता न त्यजनेन च ।

सम्भोज्य शेषमश्नीमस्तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥२०

शान्ता दान्ताः क्षमाशीलास्तीर्थदानपरायणाः ।

पुण्यदेशनिवासाच्च तस्मान्मृत्युभयं न नः ।

तेजस्विदेशवासाच्च तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥२१

हे राजन् ! उन महर्षि को जीवित देखकर वे सभी अत्यन्त आश्चर्य से कहने लगे—बड़े विस्मय की बात है। यह मृतक मुनि यहाँ किस प्रकार आये और किस प्रकार जीवित हुए? क्या यह तपोबल से ही जीवित हो गये? हे ब्रह्मन् ! यह सब रहस्य सुनने की हमारी इच्छा है। यदि कहने योग्य हो तो कहें। इस पर उन महर्षि ने कहा—हे राजाओ ! हम पर मृत्यु का कोई वश नहीं चलता। मैं तर्क और युक्ति के द्वारा इसका कारण कहता हूँ। हम पर मृत्यु का वश क्यों नहीं चलता- यह कह रहा हूँ। हम शुद्ध आचरण वाले, आलस्य से रहित, संध्योपासन-परायण, शुद्ध अन्न भोजी, न्याय पूर्वक धनोपार्जन करने वाले और ब्रह्मचर्य व्रत के पालन करने वाले हैं। हम सत्य को ही जानते हैं, झूठ कभी नहीं बोलते और धर्म-पालन में तत्पर रहते हैं, इसलिये मृत्यु से हमें भय नहीं है। ब्राह्मणों के शुभ कर्मों की चर्चा हम करते हैं, उनके दोषों को नहीं कहते। इसलिये मृत्यु से नहीं डरते। हम अतिथियों को अन्न-जल देकर तृप्त करते हैं। हम पर जिनके भरण-पोषण का भार है, उन्हें भूखा नहीं रहने देते। उनको खिलाने पर जो बचता है, उसी को खाकर सन्तोष करते हैं। इसलिये हमें मृत्यु से भय नहीं है। शम, दम, क्षमा, तीर्थ-सेवन और दान में तत्पर रहते हुए हम पवित्र स्थान में निवास करते हैं। इसलिये भी हम मृत्यु से नहीं डरते तथा तेजस्वी पुरुषों के समीप रहते हैं, इसलिये भी हमें मृत्यु से डर नहीं लगता ॥१५-२१॥

एतद् वै लेशमात्रं वः समाख्यातं विमत्सराः ।

गच्छध्वं सहिताः सर्वे न पापाद् भयमस्ति वः ॥२२

एवमस्तिवति ते सर्वं प्रतिपूज्य महामुनिम् ।

स्वदेशमगमन् हृष्टा राजानो भरतर्षभ ॥२३

भूय एव महाभाग्यं ब्राह्मणानां निबोध मे ।

वैन्यो नामेह राजर्षिरश्वमेधाय दीक्षितः ॥२४

तमत्रिगन्तुमारेभे वित्तार्थमिति नः श्रुतम् ।

भूयोऽर्थं नानुरुध्यन् स धर्मव्यक्तिनिदर्शनात् ॥२५

स विचिन्त्य महातेजा वनमेवान्वरोचयत् ।

धर्मपत्नीं समाहूय पुत्रांश्चेदमुवाच ह ॥२६

प्राप्स्यामः फलमत्यन्तं बहुलं निरुपद्रवम् ।

अरण्यगमनं क्षिप्रं रोचतां वो गुणाधिकम् ॥२७

तं भार्या प्रत्युवाचाथ धर्ममेवानुतन्वती ।

वैन्यं गत्वा महात्मानमर्थयस्व धनं बहु ॥२८

हे राजागण ! यह सब रहस्य संक्षिप्त रूप से मैंने कहा है । अब तुम सब यहाँ से निर्भय होकर जाओ, तुम ब्रह्महत्या के पाप से सर्वथा मुक्त हो गये । यह सुनकर उन हैहयवंशी क्षत्रियों ने महामुनि अरिष्टनेमि का सम्मान सहित पूजन किया और प्रसन्न होते हुए अपने स्थान को लौट गये । मार्कण्डेयजी बोले—ब्राह्मणों का और महात्म्य भी कहता हूँ । पूर्वकाल में वेन के पुत्र वैन्य ने, जिन्हें राजर्षि पृथु कहते थे, एक समय अश्वमेध यज्ञ की दीक्षा ली । उसी बीच, महात्मा अत्रि ने धन की इच्छा से वहाँ जाने का विचार किया, परन्तु ऐसा करने के लिये उन्हें अपना धर्मात्मा होना सिद्ध करना पड़ता । इसलिये उन्होंने धन के लिये कुछ नहीं कहा । महर्षि अत्रि ने मन में कुछ निश्चय कर वन में जाने की तैयारी की और अपने स्त्री-पुत्रों को बुलाकर कहा । हम वन में रहकर धर्म का निरुपद्रव फल प्राप्त कर सकते हैं, इसलिये वन में शीघ्र चलने का विचार उचित मानना चाहिये । गाँव में रहने की अपेक्षा वन में रहना अधिक लाभदायक सिद्ध होगा । महर्षि अत्रि की पत्नी भी धर्म पर चलने वाली थी । उसने यज्ञादि के रूप में धर्म की वृद्धि होने की बात देखकर कहा—हे स्वामिन् ! आप धर्मात्मा राजा वैन्य के पास जाकर धन माँगिये ॥२२-२८॥

स ते दास्यति राजर्षिर्यजमानोऽर्थितो धनम् ।

तत आदाय विप्रर्षे प्रतिगृह्य धनं बहु ॥२९

भृत्यान्सुतान्संविभज्य ततो ब्रज यथेप्सितम् । -

एष वै परमो धर्मो धर्मविद्भिर्रुदाहृतः ॥३०

कथितो मे महाभागे गौतमेन महात्मना ।

वैन्यो धर्मार्थसंयुक्तः सत्यव्रतसमन्वितः ॥३१

द्वेष्टारः किंतु नः सन्ति वसन्तस्तत्र वै द्विजा ।

यथा मे गौतमः प्राह ततो न व्यवसाम्यहम् ॥३२

तत्र स्म वाचं कल्याणीं धर्मकामार्थसंहिताम् ।

मयोक्तामन्यथा ब्रूयुस्ततस्ते वै निरर्थिकाम् ॥३३

गमिष्यामि महाप्राज्ञे रोचते मे वचस्तव ।

गाश्च मे दास्यते वैन्यः प्रभूतं चार्थसंचयम् ॥३४

एवमुक्त्वा जगामाशु वैन्ययज्ञं महातपाः ।

गत्वा च यज्ञायतनमत्रिस्तुष्ठाव तं नृपम् ।

वाक्यैर्मङ्गलसंयुक्तैः पूजयानोऽब्रवीद् वचः ॥३५

इन दिनों वे राजर्षि यज्ञ कर रहे हैं, यदि आप उनसे माँगें तो इस समय वे अधिक धन दे सकते हैं। आप वहाँ से धन दे सकते हैं। आप वहाँ से धन लाकर इन पुत्रों में बाँट दीजिये, तब वन को प्रस्थान करिये। धर्मज्ञ महात्माजन इसी को परम धर्म कहते हैं। महर्षि अत्रि ने कहा—हे महाभागे ! महात्मा गौतम ने कहा है कि वेन पुत्र पृथु धर्म और अर्थ के साधन में लगे रहने वाले सत्यव्रती हैं। परन्तु, यह विचारणीय है कि वहाँ जितने ब्राह्मण हैं, मुझसे सभी द्वेष रखते हैं। यह बात गौतम ने भी कही थी। इसीलिये वहाँ जाने का विचार नहीं किया है। यदि वहाँ जाकर मैं धर्म, अर्थ और काम युक्त कल्याणमयी बात कहूँगा भी तो वे ब्राह्मण उसे धर्म, अर्थ आदि के विपरीत तथा निरर्थक बतावेंगे। हे महाप्राज्ञे ! फिर भी मैं वहाँ अवश्य जाऊँगा, मुझे तुम्हारी बात ठीक प्रतीत होती है। क्योंकि राजा पृथु मुझे बहुत सी गौएँ और पर्याप्त धन देंगे। यह कहकर महातपी अत्रि राजा पृथु के यज्ञ में चले गये। यज्ञ मण्डप में जाकर उन्होंने मांगलिक स्तवन कर राजा से इस प्रकार कहा ॥२६-३५॥

राजन् धन्यस्त्वमीशश्च भुवि त्वं प्रथमो नृपः ॥३६

स्तुवन्तित्वांमुनिगणास्त्वदन्यो नास्ति धर्मवित् ।

तमब्रवीदृषिः क्रुद्धो वचनं व महातपाः ॥३७

मैवमत्रे पुनर्ब्रूया न ते प्रज्ञा समाहिता ।

अत्र नः प्रथमं स्थाता महेन्द्रो वै प्रजापतिः ॥३८

अथात्रिरपि राजेन्द्र गौतमं प्रत्यभाषत ।

अयमेव विधाता हि यथैवेन्द्रः प्रजापतिः ।

त्वमेव मुह्यसे मोहान्न प्रज्ञानं तवास्ति ह ॥३९

जानामि नाहं मुह्यामि त्वमेवात्र विमुह्यते ।

स्तौषि त्वं दर्शनप्रेप्सू राजानं जनसंसदि ॥४०

न वेत्थ परमं धर्मं न चावैषि प्रयोजनम् ।

बालस्त्वमसि मूढश्च वृद्धः केनापि हेतुना ॥४१

विवदन्तौ तथा तौ तु मनोनां दर्शने स्थितौ ।

ये तस्य यज्ञे संवृत्तास्तेऽपृच्छन्त कथं त्विमौ ॥४२

अत्रि ने कहा—हे राजन् ! तुम पृथिवी के सबसे पहिले राजा हो और ऐश्वर्य से सम्पन्न हो, इसलिये धन्य हो । तुम्हारी स्तुति महर्षिगण करते हैं । अन्य कोई राजा धर्म का इतना जानने वाला नहीं है । उनकी इस बात पर महातपी गौतम ने क्रोधित होकर कहा । गौतमजी बोले—तुम्हारी बुद्धि चञ्चल है, फिर कभी इस प्रकार न कहना । हमारे प्रथम प्रजापति के रूप में यहाँ साक्षात् इन्द्र मौजूद हैं । इस पर अत्रि ने कहा—यह पृथु ही प्रजापति हैं, यही इन्द्र के समान हैं, यही विधाता हैं । तुम में ही उत्तम बुद्धि नहीं है । क्योंकि तुम मोह से मोहित हो । गौतम ने कहा—मैं मोहित नहीं हूँ, तुम ही मोहित हो रहे हो । मैं जानता हूँ कि तुम स्वार्थ के वशीभूत होकर राजा को प्रसन्न करने के लिये उनकी इस प्रकार प्रशंसा कर रहे हो श्रेष्ठ धर्म को नहीं जानते, तुम्हें धर्म के प्रयोजन का भी ज्ञान नहीं है । मैं तो तुम्हें मूर्ख अथवा बालक के समान देखता हूँ, किसी कारण विशेष से ही बुढ़ापा आ गया जान पड़ता है । जिनका उस यज्ञ में पहिले से वरण हो चुका था, उन्होंने उन दोनों को इस प्रकार विवाद करते देख कर कहा—यह दोनों क्यों लड़ते हैं ? ॥३६-४२॥

प्रवेशः केन दत्तोऽयमुभयोर्वैन्यसंसदि ।

उच्चैः समभिभाषन्तौ केन कार्येण धिष्ठितौ ॥४३

तत परमधर्मात्मा काश्यपः सर्वधर्मवित् ।

विवादिनावनुप्राप्तौ तावुभौ प्रत्यवेदयत् ॥४४

अथाब्रवीत् सदस्यांस्तु गौतमो मुनिसत्तमाः ।

आवयोर्व्याहृतं प्रश्नं शृणुत द्विजसत्तमाः ॥४५

वैन्यविधातेत्याहात्रिरत्र नौ संशयो महान् ।

श्रुत्वैव तु महात्मानो मुनयोऽभ्यद्रवन् द्रुतम् ॥४६

सनत्कुमारं धर्मज्ञं संशयच्छेदनाय वै ।

स च तेषां वचः श्रुत्वा यथातत्त्वं महातपाः ।

प्रत्युवाचाथ तानेवं धर्मार्थसहितं वचः ॥४७

ब्रह्म क्षेत्रेण सहितं क्षेत्रं च ब्रह्मणा सह ।

संयुक्तौ दहतः शत्रून् वनानीवाग्निमास्तौ ॥४८

राजा वै प्रथितो धर्मः प्रजानां पतिरेव च ।

स एव शक्रः शुक्रश्च स धाता च बृहस्पतिः ॥४९

इन दोनों को महाराज पृथु के यज्ञमण्डप में किसने आने दिया ? यह दोनों जोर-जोर से विवाद करते और झगड़ते हुए यहाँ क्यों खड़े हैं ? उस समय परम धर्मात्मा कणाद ने कहा कि यह किसी विषय को लेकर विवाद कर रहे हैं और उसका निर्णय कराने को ही यहाँ आये हैं । तब सदस्य रूप से वहाँ बैठे हुए श्रेष्ठ मुनियों से गौतम ने कहा—हे श्रेष्ठद्विजो ! हमारे प्रश्नों पर आप ध्यान दें । अत्रि ने राजा पृथु को विधाता बताया है । इसी बात पर हम दोनों में यह महान् विवाद हो रहा है । उनकी इस बात को सुनकर उस पर निर्णय लेने के लिये सभी मुनिगण सनत्कुमारजी के पास शीघ्रता से पहुँचे, जिन्होंने इन दोनों की बातें सुन कर धर्ममय और अर्थमय वाणी में कहा । सनत्कुमार ने कहा—ब्राह्मण क्षत्रिय से और क्षत्रिय ब्राह्मण से मिल जाँय तो शत्रु को वैसे ही जला डालते हैं, जैसे अग्नि और वायु मिल कर कितने ही जङ्गलों को भस्म कर डालते

हैं। राजा की प्रसिद्धि धर्म रूप से है और वही प्रजापति, इन्द्र, शुक्राचार्य, धाता एवं बृहस्पति भी है ॥४२-४६॥

प्रजापतिविराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिनृपः ।

य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नाचितुमर्हति ॥४०

पुरायोनिर्युधाजिच्च अभिया मुदितो भयः ।

स्वर्णेता सहजिद् बभ्रुरिति राजाभिधीयते ॥४१

सत्ययोनिः पुराविच्च सत्वधर्मप्रवर्तकः ।

अधर्मादृषयो भीता बलं क्षत्रे समादधन् ॥४२

आदित्यो दिवि देवेषु तमो नुदति तेजसा ।

तथैव नृपतिर्भूमावधर्मान्नुदते भृशम् ॥४३

ततो राज्ञः प्रधानत्वं शास्त्रप्रामाण्यदशनात् ।

उत्तरः सिद्धयते पक्षो येन राजेति भाषितम् ॥४४

ततः स राजा संहृष्टः सिद्धे पत्रे महामनाः ।

तमत्रिमब्रवीत् प्रीतः पूर्वं येनाभिसंस्तुतः ॥४५

यस्मात् पूर्वं मनुष्येषु ज्यायांसं मामिहाब्रवीः ।

सर्वदेवैश्च विप्रैश्च सम्मितं श्रेष्ठमेव च ॥४६

जिस राजा को प्रजापति, विराट्, सम्राट्, क्षत्रिय, भूपति, नृपति आदि स्तुति-शब्द कहे जाते हैं, उस राजा का पूजन कौन नहीं करेगा ? पुरायोनि, युधाजित्, अभिया, मुदित, भव, स्वर्णेता, सहजित् और बभ्रु इन नामों से राजा का वर्णन होता है। सत्ययोनि, पुराविद् और सत्य धर्म का प्रवर्तक राजा ही है। अधर्म से डरने वाले ऋषियों ने क्षत्रियों में अपना ब्राह्मबल भी स्थापित कर दिया था। जैसे देवलोक में आदित्य अपने तेज से सम्पूर्ण अन्धकारों को दूर करता है, वैसे ही पृथिवी पर राजा सभी अधर्मों को सर्वथा नष्ट करता है। इस प्रकार शास्त्र के प्रमाण को देखने से राजा की प्रधानता ज्ञात होती है, अतः जिसने राजा को प्रजापति कहा है, उसी का पक्ष प्रबल सिद्ध होता है। मार्कण्डेयजी ने कहा—फिर एक पक्ष की प्रबलता सिद्ध होने पर महाराज पृथु अत्यन्त प्रसन्न हुए और जिन अत्रि ऋषि ने उनकी प्रथम स्तुति की थी उनसे

इस हकार कहने लगे । हे ब्रह्मर्षे ! आपने मुझे मनुष्यों में प्रथम, श्रेष्ठ, ज्येष्ठ और सभी देवताओं के समान कहा है ॥५०-५६॥

तस्मात् तेऽहं प्रदास्यामि विविधं वसु भूरि च ।

दासीसहस्रं श्यामानां सुवस्त्राणामलंकृतम् ॥५७

दशकोटीहिरण्यस्व रुक्मभारांस्तथा दश ।

एतद् ददामि विप्रर्षे सर्वज्ञस्त्वं मतो हि मे ॥५८

तदत्रिन्यायतः सर्वं प्रतिगृह्याभिसत्कृतः ।

प्रत्युज्जगाम तेजस्वी गृहानेव महातपाः ॥५९

प्रदाय च धनं प्रीतः पुत्रेभ्यः प्रयतात्मवान् ।

तपः समभिसधाय वनमेवान्वपद्यत ॥६०

अत्रैव च सरस्वत्या गीतं परपुरंजय ।

पृष्ठ्या मुनिना वीर शृणु ताक्ष्येण धीमता ॥६१

किं नु श्रेयः पुरुषस्येह भद्रे

कथं कुं वन् न च्यवते स्वधर्मात् ।

आचक्ष्व मे चारुसर्वाङ्गि कुर्यां

त्वया शिष्टो न च्यवेयं स्वधर्मात् ॥६२

कथं वाग्निं जुहुयां पूजये वा

कस्मिन् काले केन धर्मो न नश्येत् ।

एतत् सर्वं सुभगे प्रब्रवीहि

यथा लोकान् विरजाः संचरेयम् ॥६३

अतः मैं आपको प्रचुर मात्रा में विभिन्न प्रकार के रत्नादि रूप धन प्रदान करूँगा और साथ ही सहस्रों युवती दासियाँ भी भेंट करूँगा । तथा दस करोड़ सोने की मुद्राएँ और दस भार सोना भी प्रदान करूँगा । ब्रह्मर्षे ! यह सब वस्तुएँ आपको सर्वज्ञ समझता हुआ मैं इसी समय दे रहा हूँ । तब महातपी और तेजस्वी महर्षि अत्रि ने राजा से सत्कार सहित और न्यायपूर्वक प्राप्त हुए उस धन को ग्रहण किया और अपने गृह को चले गये । फिर मन को वश में रखने वाले महर्षि अत्रि उस सम्पूर्ण धन को अपने पुत्रों में बाँट कर तपस्या के सुन्दर संकल्प के साथ वन में

गये । मार्कण्डेयजी ने कहा—हे राजन् ! इसी सम्बन्ध में परम बुद्धिमन्त ताक्ष्य मुनि ने देवी सरस्वतीजी से कुछ पूछा था और उन देवी ने उन्हें जो उत्तर दिया था, वह सब तुम्हारे प्रति कहता हूँ, तुम ध्यान से श्रवण करो । ताक्ष्य ने प्रश्न किया—हे भद्रे ! इस लोक में मनुष्य का कल्याण करने वाली वस्तु क्या है ? कैसा आचरण करने पर मनुष्य अपने धर्म से पतित नहीं होता ? हे देवि ! मैं तुम्हारी आज्ञा पालन करूँगा । क्योंकि तुम्हारे उपदेश को ग्रहण कर लेने पर मैं अपने धर्म से पतित नहीं हो सकता । मैं अग्नि में हवन और पूजन कैसे और किस समय करूँ ? क्या करने से धर्म नष्ट नहीं होता ? यह सभी बातें मेरे प्रति कहो, जिससे रजोगुण-रहित होकर मैं सम्पूर्ण लोको में विचरण कर सकूँ ॥५७-६३॥

एवं पृष्ठा प्रीतियुक्तेन तेन

शुश्रूषुमीक्ष्योत्तमबुद्धियुक्तम् ।

ताक्ष्यं विप्रं धर्मयुक्तं हितं च

सरस्वती वाक्यमिदं बभाषे ॥६४॥

यो ब्रह्म जानाति यथाप्रदेशं

स्वाध्यायनित्यः शुचिरप्रमत्तः ।

स वै पारं देवलोकस्य गन्ता

सहामरैः प्राप्नुयात् प्रीतियोगम् ॥६५॥

तत्र स्म रम्या विपुला विशोकाः

सुपुष्पिताः पुष्करिण्यः सुपुण्याः ।

अकर्दमा मीनवत्यः सुतीर्था

हिरण्यैरावृताः पुण्डरीकैः ॥६६॥

तासां तीरेष्वासते पुण्यभाजो

महीयमानाः पृथगप्सरोग्भिः ।

सुपुण्यगन्धाभिरलंकृताभिः

हिरण्यवर्णाभिरतीव हृष्टाः ॥६७॥

परं लोकं गोप्रदास्त्वाप्नुवन्ति

दत्त्वानङ्वाहं सूर्यलोकं व्रजन्ति ।

वासो दत्त्वा चान्द्रमसं तु लोकं

दत्त्वा हिरण्यममरत्वमेति ॥६८

धेनुं दत्त्वा सुप्रभां सुप्रदोहां

कल्याणवत्सामपलायिनीं च ।

यावन्ति रोमाणि भवन्ति तस्याः

स्तावद् वर्षाण्यासते देवलोक ॥६९

अनङ्वाहं सुव्रतं यो ददाति

हलस्य वोढारमनन्तवीर्यम् ।

धुरन्धरं बलवन्तं युवानं

प्राप्नोति लोकान् दश धेनुदस्य ॥७०

मार्कण्डेयजी ने कहा—हे राजन् ! उनके इस प्रकार प्रेम पूर्वक प्रश्न करने पर देवी सरस्वती ने तार्क्ष्य को धर्मात्मा, श्रेष्ठ बुद्धिवाला और सुनने के लिये उत्सुक देखकर यह हितकारी वचन कहे । सरस्वती ने कहा—जो प्रमाद को त्याग कर पवित्र भाव से सदा स्वाध्याय में लगा रहता है और अर्चि आदि मागों से प्राप्त होने योग्य सगुण ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह देवलोक से उठता हुआ ब्रह्मलोक में पहुँचता है और देवताओं से भी प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करता है। वहाँ सुरम्य, विशाल, पवित्र और सुन्दर पुष्पों से सुशोभित, शोक-रहित सरोवर हैं । उनमें कीचड़ नाम को भी नहीं है । उनमें मछलियाँ रहती हैं तथा सुवर्णमय कमल के फूलों से युक्त उन सरोवरों में उतरने के लिये सुन्दर सीढ़ियाँ बनी हुई हैं । उनके तीरों पर पूज्य पुण्यात्मा पुरुष अप्सराओं के साथ पृथक्-पृथक् आनन्द सहित बैठते हैं । वे अप्सरायें अत्यन्त पवित्र सुगन्ध से सुवासित रहती तथा अनेक अलंकारों को धारण करती हुई सुवर्ण की सी कान्ति वाली प्रतीत होती हैं । जो व्यक्ति गो-दान करते हैं, उन्हें उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है । जो लोग गाढ़ा ढोने वाले बैलों का दान करते हैं, वे सूर्य लोक में जाते हैं । वस्त्र दान करने वालों को चन्द्र लोक और सुवर्ण दान करने वालों को अमरत्व मिलता है । जो लोग श्रेष्ठ रंग की, चुपचाप दूध दुहाने वाली, श्रेष्ठ बछड़े देने वाली और बन्धन तुड़ा

कर न भागने वाली गौ का दान करते हैं, वे उस गौ के शरीर के रोओं की संख्या के अनुसार उतने ही वर्षों तक देवलोक में रहते हैं। जो व्यक्ति सरल स्वभाव वाले, शक्ति शाली, हल खींचने वाले, गाढ़ा ढोने में समर्थ, बलवान और युवावस्था वाले बैल का दान करता है, वह गोदान करने वाले मनुष्य को प्राप्त होने वाले फल रूप पुण्य लोक से दस गुने फल वाले पुण्य लोक को प्राप्त करता है ॥६४-७०॥

ददाति यो वै कपिलां सचैलां

कांस्योपदोहां द्रविणैरुत्तरीयैः ।

तैस्तैर्गुणैः कामदुहाथ भूत्वा

नरं प्रदायारमुपैति सा गौः ॥७१॥

यावन्ति रोमाणि भवन्ति धेन्वा-

स्तावत् फलं भवति गोप्रदाने

पुत्रांश्च पौत्रांश्च कुलं च सर्व-

मासप्तमं तारयते परत्र ॥७२॥

सदक्षिणां काञ्चनचारुशृङ्गी

कांस्योपदोहां द्रविणैरुत्तरीयैः ।

धेनुं तिलानां ददतो द्विजाय

लोका वसूनां सुलभा भवन्ति ॥७३॥

स्वकर्मभिर्दानवसंनिरुद्धे

तीव्रान्धकारे नरके सम्पतन्तम् ।

महार्णवे नोरिव वातयुक्ता

दानं गवां तारयते परत्र ॥७४॥

यो ब्राह्मदेयां तु ददाति कन्यां

भूमिप्रदानं च करोति विप्रे ।

ददाति दानं विधिना च यश्च

स लोकमाप्नोति पुरंदरस्य ॥७५॥

यः सप्त वर्षाणि जुहोति ताक्षर्यं

हव्यं त्वग्नौ नियतः साधुशीलः ।

सप्तावरान् सप्त पूर्यान् पुनाति

पितामहानात्मना कर्मभिः स्वैः ॥७६

किमग्निहोत्रस्य व्रतं पुराण-

माचक्ष्व मे पृच्छतश्चानुरूपे ।

त्वयानुशिष्टोऽहमिहाद्य विद्यां

यदग्निहोत्रस्य व्रतं पुराणम् ॥७७

जो कांसे की बनी हुई दोहनी, वस्त्र, उत्तर कालिक दक्षिणा द्रव्य सहित कपिला गौ को देता है, उसकी वह गौ उन गुणों के सहित काम-धेनु बन कर परलोक में दान देने वाले के पास ही पहुँच जाती है। उस गौ के शरीर में जितने रोएँ हों, उतने वर्षों तक दाता गोदान का फल भोगता है। इसके साथ ही वह गौ दाता के पुत्र, पौत्र आदि सभी का सात पीढ़ी तक परलोक में उद्धार करती है। जो स्वर्ण निमित्त सुन्दर सींग, कांसे के बने दुग्ध पात्र, द्रव्य, ओढ़ने के वस्त्र और दक्षिणा के सहित तिल की धेनु का दान करता है, उसे वसुओं के लोक सुलभ होते हैं। जैसे महासागर में डूबता हुआ मनुष्य अनुकूल वायु के सहयोग से चलने वाली नौका के द्वारा बच जाता है, वैसे ही अपने कर्मों के द्वारा काम, क्रोध आदि दानवों से घिर कर घोर अज्ञान रूपी अंधकार से युक्त नरक में गिरने वाले पुरुष को गोदान से उत्पन्न पुण्य परलोक में तार देता है। ब्राह्म विवाह की विधि से दान करने योग्य कन्या का श्रेष्ठ वर को दान करने वाला, ब्राह्मण को भूमि देने वाला तथा अन्यान्य वस्तुओं का विधिवत् दान देने वाले मनुष्य इन्द्रलोक को प्राप्त होता है। हे तार्क्ष्य ! जो संयम-नियम का पालन करने वाला सदाचारी पुरुष सात वर्षों तक अग्नि में आहुति देता है वह अपने श्रेष्ठ कर्मों के द्वारा अपने पूर्व की सात पीढ़ी और बाद की सात पीढ़ी तक को पवित्र बना देता है। तार्क्ष्य ने कहा—हे देवि ! अग्निहोत्र के प्राचीन नियम को मैं जानना चाहता हूँ, उसे मेरे प्रति कहो। जिससे कि मैं उसका यथार्थ रूप से ज्ञान प्राप्त कर सकूँ ॥७१-७७॥

न चाशुचिर्नाप्यनिर्णिक्तपाणि-

नर्ब्रह्माविज्जुहुयान्नाविपश्चित् ।

बुभुत्सवः शुचिकामा हि देवा

नाश्रद्धानाद्धि हविर्जुषन्ति ॥७८

नाश्रोत्रियं देवहव्ये नियुञ्ज्या-

न्मोघं पुरा सिञ्चति तादृशो हि ।

अपूर्वमश्रोत्रियमाह ताक्ष्यं

न वै तादृग् जुहुयादग्निहोत्रम् ॥७९

कृशाश्च ये जुह्वति श्रद्धानाः

सत्यव्रता हुतशिष्टाशिनश्च ।

गवां लोकं प्राप्य ते पुण्यगन्धं

पश्यन्ति देवं परमं चापि सत्यम् ॥८०

क्षेत्रज्ञभूतां परलोकभावे

कर्मोदये बुद्धिमतिप्रविष्टाम् ।

प्रज्ञां च देवीं सुभगे विमृश्य

पृच्छामि त्वां का ह्यसि चारुरूपे ॥८१

अग्निहोत्रादहमभ्यागतास्मि

विप्रर्षभाणां संशयच्छेदनाय ।

त्वत्संयोगादहमेतमब्रुवं

भावे स्थिता तथ्यमर्थं यथावत् ॥८२

न हि त्वया सदृशी काचिदस्ति

विभ्राजसे ह्यतिमात्रं यथा श्रीः ।

रूपं च ते दिव्यमनन्तकान्ति

प्रज्ञां च देवीं सुभगे विभर्षि ॥८३

श्रेष्ठानि यानि द्विपदां वरिष्ठ

यज्ञेषु विद्वन्नुपपादयन्ति ।

तैरेव चाहं सम्प्रवृद्धा भवामि

चाप्यायिता रूपवती च विप्र ॥८४

सरस्वतीजी ने कहा—जो पुरुष अपवित्र है, जिसने अपने हाथ-पाँव भी नहीं धोये, जो वेद-ज्ञान से हीन है और वेदार्थ को नहीं जानता, ऐसा पुरुष अग्नि में आहुति न दे। देवगण पवित्रता चाहते हैं और अनुष्ठाता के मनोभाग को जानने की इच्छा रखते हैं, इसलिये अज्ञानी और श्रद्धा-रहित मनुष्य के द्वारा दिये हविष्य को स्वीकार नहीं करते। वेद-मन्त्रों के अर्थ को न जानने वाले देवताओं के निमित्त हविष्य देने के कार्य में नियुक्त नहीं करना चाहिये। क्योंकि उसके द्वारा किया हुआ हवन व्यर्थ हो जाता है। हे ताक्ष्य ! अश्रोत्रिय को वेद में अपूर्व कहा है, इसलिये वह अग्निहोत्र करने का अधिकार नहीं रखता। जो तप से दुबले हो रहे हैं और सत्य व्रत परायण रहते हुए नित्य प्रति श्रद्धा सहित हवन करते हैं और हवन से बचे हुए अन्न का भोजन करते हैं, वे पवित्र सुगंध से सुवासित गोलोक में जाकर परम सत्य स्वरूप परब्रह्म परमात्मा का दर्शन प्राप्त करते हैं। ताक्ष्य ने कहा—हे देवि ! तुम आत्म स्वरूपा हो तथा परलोक के विषय में और कर्म-फल के विचार में लगी हुई अत्यन्त श्रेष्ठ बुद्धि हो। तुम्हीं प्रज्ञा हो। ऐसा जानकर ही मैं तुमसे पूछता हूँ कि तुम यथार्थ रूप में क्या हो ? सरस्वतीजी ने कहा—हे मुने ! तुम्हारा संशय दूर करने के लिये मैं श्रेष्ठ ब्राह्मणों के अग्निहोत्र से तुम्हारे पास चली आ रही हूँ। तुम्हारी निकटता पाकर मैंने उक्त यथार्थ बातें कही हैं, क्योंकि मैं आन्तरिक श्रद्धा भाव में ही स्थित हूँ। ताक्ष्य ने पूछा—हे सुभगे ! तुम्हारी जैसी कोई अन्य स्त्री नहीं है। तुम साक्षात् लक्ष्मीजी के समान तेजमयी दिखाई देती हो। तुम्हारा अत्यन्त तेजोमय शरीर दिव्य है और तुम दिव्य प्रज्ञा से ही सम्पन्न हो। सरस्वतीजी ने कहा—हे विप्र ! याज्ञिक यज्ञों में जो उत्तम कर्म करते हैं, उन्हीं श्रेष्ठ कर्मों के द्वारा मेरी तृप्ति होती है और उसी के कारण से रूपवती होती हूँ ॥७८-८४॥

यच्चापि द्रव्यमुपयुज्यते ह

वानस्पत्यमायसं पार्थिवं वा ।

दिव्येन रूपेण च प्रज्ञया च

तेनैव सिद्धिरिति विद्धि विद्वन् ॥८५॥

इदं श्रेयः परमं मन्यमाना

व्यायच्छन्ते मुनयः सम्प्रतीताः ।

आचक्ष्व मे तं परमं विशोकं

मोक्षं परं यं प्रविशन्ति धीराः ॥

सांख्या योगा परमं यं विदन्ति

परं पुराणं तमहं न वेद्मि ॥८६॥

तं वै परं वेदविदः प्रपन्नाः

परं परेभ्यः प्रथितं पुराणम् ।

स्वाध्यायवन्तो व्रतपुण्ययोगै-

स्तपोधना वीतशोका विमुक्ताः ॥८७॥

तस्याथ मध्ये वेतसः पुण्यगन्धः

सहस्रशाखो विपुलो विभाति ।

तस्य मूलात् सरितः प्रस्रवन्ति

मधूदकप्रस्रवणाः सुपुण्याः ॥८८॥

शाखां शाखां महानद्यः संयान्ति सिकताशयाः ॥

धानापूपा मांसशाकाः सदा पायसकर्दमाः ॥८९॥

यस्मिन्नग्निमुखा देवाः सेन्द्राः सहमरुद्गणाः ।

ईजिरे क्रतुभिः श्रेष्ठैस्तत् पदं परमं मम ॥९०॥

हे विद्वन् ! उन यज्ञों में वृक्ष से उत्पन्न होने वाली समिधा-स्रुक् आदि वस्तुएँ, सुवर्ण आदि तैजस् पदार्थ तथा ब्रीहि आदि पार्थिव द्रव्य उपभोग में लाये जाते हैं, उनसे ही मेरे दिव्य रूप और प्रज्ञा की पुष्टि होती है । ताक्ष्य ने पूछा — जिसे अत्यन्त कल्याण स्वरूप समझते हुए मुनि-जन अत्यन्त विश्वास से इन्द्रिय-संयम आदि में लगते हैं और जिस पर मोक्ष रूप में धीर पुरुष प्रविष्ट होते हैं, उसे शोक रहित परम मोक्ष पद को मुझे बताओ । क्योंकि, जिस मोक्ष पद को सांख्य और कर्म योग के विद्वान् जानते हैं, उसका ज्ञान मुझे नहीं है । सरस्वतीजी ने कहा — स्वाध्याय

रूपी योग में परायण तथा तपोधन योगी व्रत के पुण्य और योग के साधनों से जिस प्रसिद्ध, परात्पर और पुरातन पद को पाकर शोक-रहित तथा मुक्त होते हैं, वही सनातन ब्रह्म पद है। वेदों के जानने वाले ज्ञानी-जन उसी पद के आश्रय में जाते हैं। उस परब्रह्म में ब्रह्माण्ड रूपी एक विशाल वेंट-वृक्ष है जिसमें भोग-स्थान रूपी अनन्त शाखें और शब्द आदि विषयों के रूप में पवित्र सुगन्ध स्थित है। उस अविद्या रूपी मूल के द्वारा उत्पन्न भोग और वासना से सम्पन्न हुई अनन्त नदियाँ निरन्तर बहती हैं। वे नदियाँ देखने में तो रमणीय और पवित्र सुगंध वाली हैं और मधु के समान मधुर और जल के समान तृप्त करने वाले विषयों से परिपूर्ण हैं। परन्तु, यथार्थ में वे नदियाँ भुने हुए जौ के समान फल न देने वाली, पूरों के समान छेद वाली, हिंसा से उपलब्ध होने वाली, शुष्क शाक के समान सार हीन और खीर के समान रुचिकर होते हुए भी कीच के समान मलीन है। वे बालू के कण के समान पृथक्-पृथक् होते हुए भी ब्रह्माण्ड रूपी वेंट-वृक्ष की शाखाओं में प्रवाहित होती हैं। इन्द्र, अग्नि और पवन आदि मरुद्गणों के साथ देवगण जिस ब्रह्म की प्राप्ति के लिये श्रेष्ठ यज्ञों द्वारा उसकी पूजा करते हैं, वही मेरा परम पद समझो ॥८५-९०॥

ततः स पाण्डवो विप्रं मार्कण्डेयमुवाच ह ।

कथयस्वेति चरितं मनोर्वैवस्वतस्य च ॥९१

विवस्वतः सुतो राजन् महर्षिः सुप्रतापवान् ।

बभूव नरशार्दूल प्रजापतिसमद्युतिः ॥९२

ओजसा तेजसा लक्ष्म्या तपसा च विशेषतः ।

अतिचक्राम पितरं मनुः स्वं च पितामहम् ॥९३

ऊर्ध्वबाहुर्विशालायां बदर्या स नराधिप ।

एकपादस्थितस्तीव्रं चकार सुमहत् तपः ॥९४

अवाक्शिरास्तथा चापि नेत्रैरनिमिषैर्दृढम् ।

सोऽतप्यत तपो घोरं वर्षाणामयुतं तदा ॥९५

तं कदाचित् तपस्यन्तमाद्रं चीरजटाधरम् ।

चीरिणीतीरमागम्य मत्स्यो वचनमब्रवीत् ॥६६

भगवन् क्षुद्रमत्स्योऽस्मि बलवद्भूयो भयं मम ।

मत्स्येभ्यो हि ततो मां त्वं त्रातुमर्हसि सुव्रत ॥६७

दुर्बलं बलवन्तो हि मत्स्या मत्स्यं विशेषतः ।

आस्वदन्ति सदा वृत्तिर्विहिता कः सनातनो ॥६८

वैशम्पायनजी ने कहा—हे जनमेजय ! फिर पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ने मार्कण्डेयजी से कहा कि 'अब आप वैवस्वत का चरित्र हमारे प्रति कहिये मार्कण्डेयजी ने कहा—राजन् ! विवस्वान् के एक प्रतापी पुत्र हुआ जो कान्ति में प्रजापति के समान एवं महान् ऋषि था । वह बालक अपने पिता भगवान् भास्कर और महर्षि कश्यप से भी ओज, तेज, कान्ति तथा तपस्या के द्वारा बढ़ गया था । उसने बदरिकाश्रम में जाकर दोनों भुजाएँ उठाये और एक पांव से खड़ा होकर दस हजार वर्ष तक घोर तप किया । उस समय उसका सिर निरन्तर नीचे की ओर झुका था और वह एक टक देखता रहता था, उस बालक ने दृढ़ता पूर्वक घोर तप किया । एक दिन यही बालक मन भीगे वस्त्र और जटा धारण किये चारिणी नदी के तट पर तप कर रहे थे, उस समय एक मत्स्य ने आकर कहा । भगवान् ! मैं एक क्षुद्र मत्स्य हूँ । मैं बलवान् मत्स्यों से सदा भयभीत रहता हूँ । अतः हे श्रेष्ठव्रती महर्षे उससे मेरी रक्षा कीजिये । बलवान् मत्स्य दुर्बल मत्स्य को अपना आहार बनाते हैं यह मत्स्य जाति की नियत वृत्ति है ॥६९-७०॥

तस्माद् भयौघान्महतो मज्जन्तं मां विशेषतः ।

त्रातुमर्हसि कर्तास्मि कृते प्रतिकृतं तव ॥६९

स मत्स्यवचन श्रुत्वा कृपयाभिपरिप्लुतः ।

मनुर्वैवस्वतोऽगृह्णात् तं मत्स्यं पाणिनास्वयम् ॥७०॥

उदकान्तमुपानीय मत्स्यं वैवस्वतो मनुः ।

अलिञ्जरे प्राक्षिपत् तं चन्द्रांशुसदृशप्रभम् ॥७१॥

स तत्र ववृधे राजन् मत्स्यः परमसत्कृतः ।

पुत्रवत् स्वीकरोत् तस्मै मनुर्भावं विशेषतः ॥१०२

अथ कालेन महता स मत्स्यः सुमहानभूत् ।

अलिञ्जरे यथा चव नासौ समभवत् किल ॥१०३

अथ मत्स्यो मनुं दृष्ट्वा पुनरेवाभ्यभाषत ।

भगवन् साधुमेऽद्यान्यत् स्थानं सम्प्रतिपादय ॥१०४

उद्धृत्यालिञ्जरात् तस्मात् ततः स भगवान् मनुः ।

तं मत्स्यमनयद् वापीं महतीं स मनुस्तदा ॥१०५

इसलिये मैं भय के गहन सागर में डूब रहा हूँ । आप मुझे विशेष प्रयत्न द्वारा बचावें । मैं भी आपके उपकार का बदला चुकाने का प्रयत्न करूँगा । मत्स्य की बात सुन कर वैवस्वत मनुको दया आ गई । उन्होंने चन्द्रमा की किरणों के समान उस श्वेत मत्स्य को उठाया और पानी से बाहर लाकर एक मटके में डाल दिया । वहाँ उन्होंने मत्स्य का आदर सहित पालन किया और वह दिन पर दिन बढ़ता गया । मनु ने उसके प्रति पुत्रवत् भाव प्रकट किया । फिर दीर्घकाल के पश्चात् वह मत्स्य इतना बड़ा हो गया कि उसका मटके में रहना सम्भव नहीं था । तब एक दिन मत्स्य मनु से बोला—‘भगवन् ! अब मेरे लिये कोई अन्य श्रेष्ठ स्थान दीजिये । तब वैवस्वत मनु उस मत्स्य को मटके से निकाल कर एक बहुत बड़ी बावली पर ले गये ॥१०६-१०५॥

तत्र तं प्राक्षिपच्चापि मनुः परपुरंजय ।

अथावर्धत मत्स्यः स पुनर्वर्षगणान् बहून् ॥१०६

द्वियोजनायता वापी विस्तृता चापि योजनम् ।

तस्यां नासौ समभवन्मत्स्यो राजीवलोचन ॥१०७

विचेष्टितुं च कौन्तेय मत्स्यो वाप्यां विशाम्पते ।

मनुं मत्स्यस्ततो दृष्ट्वा पुनरेवाभ्यभाषत ॥१०८

नय मां भगवन् साधो समुद्रमहिषीं प्रियाम् ।

गङ्गां तत्र निवत्स्यामि यथा वा तात मन्यसे ॥१०९

निदेशे हि मया तुभ्यं स्थातव्यमनसूयता ।

वृद्धिर्हि परमा प्राप्ता त्वत्कृते हि मयानघ ॥११०॥

एवमुक्तो मनुर्मत्स्यमनयद् भगवान् वशी ।

नदीं गङ्गां तत्र चैनं स्वयं प्राक्षिपदच्युतः ॥१११॥

हे शत्रुजेता युधिष्ठिर ! मनु ने उसे बावली में डाल दिया और वह मत्स्य उसी में बढ़ने लगा । हे राजीवलोचन ! वह बावली दो योजन लम्बी और एक योजन चौड़ी थी, परन्तु, उसमें भी उस मत्स्य का रहना अब कठिन था । हे राजन् ! अब वह उस बावली में हिल डुल भी न सकता था, इसलिए मनुजी को देख कर उसने पुनः कहा । हे साधो, हे प्रभो ! अब आप मुझे समुद्र की प्रिय पटरानी गङ्गाजी में ले चले, मैं वही रहूँगा । अथवा आप जहाँ उचित समझें, वही ले चलें । हे निष्पाप मुझे दोष दृष्टि छोड़ कर सदा आपकी आज्ञा के पालन में स्थिर रहना है, क्योंकि आपके कारण ही मैं इतना पुष्ट और बड़ा हुआ हूँ । उसके ऐसा कहने पर जितेन्द्रिय एवं अपनी मर्यादा से कभी न गिरने वाले भगवान् मनु ने उसे ले जाकर गङ्गा में डाल दिया ॥१०६-१११॥

स तत्र ववृधे मत्स्यः किञ्चित्कालमरिदम ।

ततःपुनर्मनुं दृष्ट्वा मत्स्यो वचनमब्रवीत् ॥११२॥

गङ्गायां हि न शक्नोमि बृहत्वाच्चेष्टितुं प्रभो ।

समुद्रं नय मामाशु प्रसीद भगवन्निति ॥११३॥

उद्धृत्य गङ्गासलिलात् ततो मत्स्यं मनुः स्वयम् ।

समद्रमनयत् पार्थ तत्र चैनमवासृजत् ॥११४॥

सुमहानपि मत्स्यस्तु स मनोर्नयतस्तदा ।

आसीद् यथेष्टहार्यश्च स्पर्शगन्धसुखस्य वै ॥११५॥

यदा समुद्रे प्राक्षिप्तः स मत्स्यो मनुनो तदा ।

तत एनमिदं वाक्यं स्मयमान इवाब्रवीत् ॥११६॥

भगवन् हि कृता रक्षा त्वया सर्वा विशेषतः ।

प्राप्तकालं तु यत् कार्यं त्वया तच्छ्रूयतां मम ॥११७॥

अचिराद् भगवन् भौममिदं स्थावरजङ्गमम् ।

सर्वमेव महाभाग प्रलयं वै गमिष्यति ॥११८

सम्प्रक्षालनकालोऽयं लोकानां समुपस्थितः ।

तस्मात् त्वां बोधयाम्यद्य यत् ते हितमनुत्तमम् ॥११९

हे अरि दमन ! वह वहां कुछ समय तक बढ़ता रहा और फिर एक दिन मनु को देख कर वह बोला । हे प्रभो ! मेरा शरीर इतना बढ़ गया है कि मैं गंगाजी में भी हिलडुल नहीं सकता अतः आप प्रसन्न होकर मुझे शीघ्र ही समुद्र में ले चलने की कृपा कीजिये । तब भगवान् मनु ने स्वयं उस मत्स्य को गंगा में से निकाला और समुद्र में ले जाकर छोड़ दिया । वह मत्स्य अत्यन्त विशाल था, तो भी उठा कर ले जाते समय सरलता से ले जाने योग्य बन गया । मनु के लिए उसकी गंध और स्पर्श दोनों ही अत्यन्त सुख उत्पन्न करने वाले थे । जब मनु ने उस मत्स्य को समुद्र में डाल दिया, तब मत्स्य ने मुसकराते हुए उनसे कहा । भगवन् ! आपने विशेष मनोयोग पूर्वक सब प्रकार मेरी रक्षा की है, अब आप को जो कार्य करने का अवसर है वह सुनिये । भगवन् ! यह सम्पूर्ण चराचर विश्व शीघ्र ही नष्ट होने को है । हे महाभाग ! संसार का प्रलय हो जायगा । अब सब लोकों सम्प्रक्षालन का समय है । अतः आपको सचेत करता हुआ मैं आपके परमहित की बात कहता हूँ ॥११२-११६॥

त्रसानां स्थावराणां च यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति ।

तस्य सर्वस्य सम्प्राप्तः कालः परमदारुणः ॥१२०

नौश्च कारयितव्या ते दृढा युक्तवटारका ।

तत्र सप्तर्षिभिः सार्धमारुहेथा महामुने ॥१२१

बीजानि चैव सर्वाणि यथोक्तानि द्विजैः पुरा ।

तस्यामारोहयेन्नावि मुसंगुप्तानि भागशः ॥१२२

नौस्थश्च मां प्रतीक्षेथास्ततो मुनिजनप्रिय ।

आगमिष्याम्यहं शृङ्गी विज्ञेयस्तेन तापस ॥१२३

एवमेतत् त्वया कार्यमापृष्टोऽसि ब्रजाम्यहम् ।

ता न शक्या महत्यो वै आपस्ततुं मया बिना ॥१२४

नाभिः शङ्क्यमिदं चापि वचनं मे त्वया विभो ।

एवं करिष्य इति तं स मत्स्यं प्रत्यभाषत ॥१२५

स्थावर जंगम पदार्थों में, हिलने-डुलने वाले या न हिल सकने वाले जो भी हैं, उन सब के लिये अत्यन्त दारुण समय आ गया है। आपको एक सुहृद् नाव बनवानी चाहिये, जिसमें रस्सी बँधी हो। उस नाव पर आप सप्तर्षियों सहित बैठ जाँय। प्राचीन काल में विप्रों ने जो सब प्रकार के बीज बताये हैं, उन सबको पृथक्-पृथक् एकत्र कर सुरक्षित रूपसे नाव पर रखें। हे मुनिजनों के प्रिय ! उस नाव में बैठे रह कर आप मेरी प्रतीक्षा करना। मैं अपने मस्तक पर सींग धारण करके आपके पास आऊँगा, उसी से आप मुझे पहिचान लेंगे। यह कार्य आपको करना है। अब मैं आपसे आज्ञा लेकर यहाँ से जाता हूँ। उस महान् जलराशि मेरी सहायता के बिना आप पार नहीं कर सकते। हे प्रभो ! मेरी इस बात में आप किञ्चित् संदेह न करे। तब महाराज मनु ने कहा—‘अच्छा, ऐसा ही करूँगा ॥१२०-१२५॥

जग्मतुश्च यथाकाममनुज्ञाप्य परस्परम् ।

ततो मनुर्महाराज यथोक्तं मत्स्यकेन ह ॥१२६

बीजान्यादाय सर्वाणि सागरं पुप्लुवे तदा ।

नौकया शुभया वीर महोर्मिणमरिदम ॥१२७

चिन्तयामास च मनुस्तं मत्स्यं पृथिवीपते ।

स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा मत्स्यः परपुरं जय ॥१२८

शृङ्गो तत्रजगामाशु तदा भरतसत्तम ।

तं दृष्ट्वा मनुजव्याघ्र तनुमत्स्यं जलार्णवे ॥१२९

शृङ्गिणं तं यथोक्तेन रूपेणाद्रिमिवोच्छ्रितम् ।

वटारकमयं पाशमथ मत्स्यस्य मूर्धनि ॥१३०

मनुर्मनुजशार्दूलं तस्मिन् शृङ्गे न्यवेशयत् ।

संयतस्तेन पागेन मत्स्यः परपुरं जय ॥१३१

वेगेन महता नावं प्राकर्षल्लवणाम्भसि ।

स च तांस्तारयन् नावां समुद्रं मनुजेश्वर ॥१३२

नृत्यमानमिवोमीभिर्गर्जमानमिवाम्भसा ।

क्षोभ्यमाणामहावातैः सानौस्तस्मिन् महोदधौ ॥१३३

घूर्णते चपलेव स्त्री मत्ता परपुरंजय ।

नैव भूमिर्न च दिशः प्रदिशो वा चकाशिरे ॥१३४

वे दोनों परस्पर विदा लेकर इच्छानुसार स्थानों को चले गये । फिर मनु ने मत्स्य के कथनानुसार कार्य किया । सभी बीजों को एकत्र कर मनु एक सुन्दर नौका में बैठ गये और घोर तरंगों वाले महासागर में तैरने लगे । हे राजन् ! फिर मनु ने भगवान् मत्स्य का चिन्तन किया, यह जान कर भगवान् मत्स्य वहाँ आ गये । वे भगवान् सींगधारी थे, उन्हें अपने पूर्व कथित रूप में वैवस्वत मनु ने उस महान् समुद्र में आते हुए देखा । ऊँचे पर्वत के समान सींगधारी उन मत्स्य भगवान् को देख कर मनु ने उनके सींग में रस्सी बाँध दी । हे शत्रु जित नरश्रेष्ठ राजन् ! मनु ने वह नाव मत्स्य के उस सींग में अटका दी । तब मत्स्य भगवान् उन सब को पार उतारने के लिए उस खारे पानी के समुद्र में नाव को वेग से खींचने लगे । उस समय समुद्र अपनी लहरों से नृत्य करता और हिलोरो से घोर गर्जन करता हुआ लगता था । वह नाव उस महासागर में प्रचण्ड वायु के झोके से हिलडुल रही थी । उस समय वह नाव चंचल चित्त मतवाली नारी के समान झोके ले रही थी, उस समय भूमि, दिशा-विदिशा किसी का भी पता न लगता था ॥१२६-१३४॥

सर्वमाम्भसमेवावासीत् खं द्यौश्च नरपुङ्गव ।

एवंभूते तदा लोके संकुले भरतर्षभ ॥१३५

अदृश्यन्तर्षयः सप्त मनुर्मत्स्यस्तथैव च ।

एवं बहून् वर्षगणांस्तां नावं सोऽथ मत्स्यकः ॥१३६

चकर्षातन्द्रितो राजंस्तस्मिन् सलिलसंचये ।

ततो हिमवतः शृङ्गं यत् परं भरतर्षभ ॥१३७

तत्राकर्षत् ततो नावं स मत्स्यः कुरुनन्दन ।

अथाब्रवीत् तदा मत्स्यनृषीन् प्रहसन् शनैः ॥१३८

अस्मिन् हिमवतः शृङ्गे नावं बध्नीत मा चिरम् ।

सा बद्धा तत्र तैस्तूर्णमृषिभिर्भरतर्षभ ॥१३६

नौर्मत्स्यस्य वचः श्रुत्वा शृङ्गे हिमवतस्तदा ।

तच्च नौबन्धनं नाम शृङ्गं हिमवतः परम् ॥१४०

उस समय आकाश और द्युलोक सभी जलमय लगता था । इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व एकार्णव के जल में निमग्न था । केवल सप्तर्षि, मनु और मत्स्य भगवान् यह नौ व्यक्ति ही दिखाई देते थे । इस प्रकार बहुत वर्ष हो गए । भगवान् मत्स्य आलस्य रहित हुए उस अगाध जलराशि में नौका को खींचे जा रहे थे । फिर हिमालय का जो सर्वोच्च शिखर था । उस नाव को खींच कर वहाँ ले गये और मन्द-मन्द मुसकाते हुए उन सभी ऋषियों से कहने लगे । 'हिमालय के इस शिखर पर नाव को बाँधने में विलम्ब न करें, यह सुन कर महर्षियोंने वह नाव उस शिखर में बाँध दी । तभी से हिमालय का वह श्रेष्ठ शिखर 'नौका बन्धन' के नाम से प्रसिद्ध हो गया ॥१३५-१४०॥

ख्यातमद्यापि कौन्तेय तद् विद्धि भरतर्षभ ।

अथाब्रवीदनिमिषस्तानृषान् सहितस्तदा ॥१४१

अहं प्रजापतिर्ब्रह्मा मत्परं नाधिगम्यते ।

मत्स्यरूपेण यूयं च मयास्मान्मोक्षिता भयात् ॥१४२

मनुना च प्रजाः सर्वाः सदेवासुरमानुषाः ।

स्रष्टव्याः सर्वलोकाश्च यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गिति ॥१४३

तमसा चापि तीव्रेण प्रतिभास्य भविष्यति ।

मत्प्रसादात् प्रजासर्गे न च मोहं गमिष्यति ॥१४४

इत्युक्त्वा वचनं मत्स्यः क्षणेनादर्शनं गतः ।

स्रष्टुकामः प्रजाश्चापि मनुर्वैवस्वतः स्वयम् ॥१४५

प्रमूढोऽभूत् प्रजासर्गं तपस्तेपे महत् ततः ।

तपसा महता युक्तः सोऽथ स्रष्टुं प्रचक्रमे ॥१४६

सर्वाः प्रजा मनुः साक्षाद् यथावद् भरतर्षभ ।

इत्येतन्मात्स्यकं नाम पुराणं परिकीर्तितम् ॥१४७

आख्यानमिदमाख्यातं सर्वपापहरं मया ।

य इदं शृणुयान्नित्यं मनोश्चरितमादितः ।

स सुखी सर्वपूणार्थः सर्वलोकमियान्नरः ॥१४८॥

हे कौन्तेय ! वह शिखर आज भी उसी नाम प्रसिद्ध है । फिर एकटक दृष्टि वाले भगवान् मत्स्य ने उन ऋषियों से कहा । 'मैं प्रजापति ब्रह्मा हूं । मुझ से भिन्न कुछ नहीं है । मैंने ही मत्स्य रूप धारण कर इस महान् भय से तुम्हें बचाया है । अब मनु को देवता, असुर और मनुष्य आदि सब प्रजा की तथा सम्पूर्ण लोकों और चराचर विश्व की सृष्टि करनी चाहिये । इन्हें घोर तप के द्वारा जगत की सृष्टि करने की क्षमता प्राप्त होगी और मेरी कृपा से प्रजाकी सृष्टि करते समय इन्हें मोह उत्पन्न नहीं होगा । यह कह कर मत्स्य भगवान् अन्तर्धान हो गए और फिर वैवस्वत मनु को प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा हुई । परन्तु, सृष्टि करने में उनकी बुद्धि मोहाच्छन्न हो गई तो उन्होंने घोर तप किया, जिससे वे महान् तपोबल से सम्पन्न हो गए । फिर उन्होंने सृष्टि का कार्य प्रारम्भ किया । हे भरतर्षभ ! वे पूर्व कल्प के अनुसार सम्पूर्ण प्रजा की सृष्टि करने लगे । इस प्रकार मत्स्य पुराण का वृत्तान्त संक्षेप में कहा गया है । मेरे द्वारा कहा गया यह उपाख्यान सम्पूर्ण पापों का नाशक है । प्रारम्भ से ही मनु के इस चरित्र को सुनने वाला मनुष्य सुखी हो कर सब मनोरथों को प्राप्त कर लेता तथा सभी लोकों में विचरण कर सकता है ॥१४१-१४८॥

ततःस पुनरेवाथ मार्कण्डेयं यशस्विनम् ।

पप्रच्छ विनयोपेतो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥१४९॥

नंके युगसहस्रान्तास्त्वयादृष्टा महामुने ।

न चापीह समः कश्चिदायुष्मान् दृश्यते तव ॥१५०॥

वर्जयित्वा महात्मानं ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ।

न तेऽस्ति सदृशः कश्चिदायुषा ब्रह्मावित्तम ॥१५१॥

अनन्तरिक्षे लोकेऽस्मिन् देवदानववर्जिते ।

त्वमेव प्रलये विप्र ब्रह्माणमुपतिष्ठसे ॥१५२॥

प्रलये चापि निवृत्ते प्रबुद्धे च पितामहे ।

त्वमेकः सृज्यमानानि भूतानाह प्रपश्यसि ॥१५३

चतुर्विधानि विप्रर्षे यथावत् परमेष्ठिना ।

वायुभूता दिशः कृत्वा विक्षिप्यापस्ततस्ततः ॥१५४

वैशम्पायन जी ने कहा—विनयशील युधिष्ठिर ने यशस्वी मार्कण्डेयजी फिर इस प्रकार पूछा । 'महामुने ! आपके सहस्र-सहस्र युगों के अन्त में होने वाले, महाप्रलय के अनेक दृश्य देखे हैं । आपके समान बड़ी आयु वाला कोई अन्य पुरुष इस विश्व में दिखाई नहीं देता । 'ब्रह्मज्ञानियों में उत्तम महर्षे ! परमेश्वी ब्रह्मा के सिवाय अन्य कोई व्यक्ति आपके समान बड़ी आयु वाला नहीं है । जब यह विश्व देव, दानव अथवा अन्तरिक्ष आदि लोकों से रहित हो जाता है, तब आप ही ब्रह्माजी के पास रहकर उनकी उपासना करते हैं । ब्रह्मर्षे ! प्रलयकाल समाप्त होने पर जब ब्रह्मा जागते हैं, तब सभी दिशाओं में वायु को फैला कर और जल को वितरित करके ब्रह्मा द्वारा जिन चार प्रकार के प्राणियों की रचना की जाती हैं, उन्हें आप ही पहिले देख पाते हैं ॥१४६-१५४॥

'त्वया लोकगुरुः साक्षात् सर्वलोकपितामहः ।

आराधितो द्विजश्रेष्ठ तत्परेण समाधिना ॥१५५

स्वप्रमाणमथो विप्र त्वया कृतमनेकशः ।

घोरेणाविश्य तपसा वेधसो निर्जितास्त्वया ॥१५६

नारायणाङ्कप्रख्यस्त्वं साम्परायेऽतिपठ्यसे ।

भगवाननेकशःकृत्वात्वयाविष्णोश्चविश्वकृत् ॥१५७

कर्णिकोद्भूरणं दिव्यं ब्रह्मणः कामरूपिणः ।

रत्नालंकारयोगाभ्यां दृग्भ्यां दृष्टस्त्वया पुरा ॥१५८

तस्मात् तवान्तको मृत्युर्जरा वा देहनाशिनी ।

न त्वां विशति विप्रर्षे प्रसादात् परमेष्ठिनः ॥१५९

यदा नेव रविर्नाग्निर्न वायुर्न च चन्द्रमाः ।

नैवान्तरिक्षं नैवोर्वी शेषं भवति किञ्चन ॥१६०

तस्मिन्नेकार्णवे लोके नष्टे स्थावरजङ्गमे ।

नष्टे देवासुरगणे समुत्सन्नमहोरगे ॥१६१

शयानममितात्मानं पद्मोत्पलनिकेतनम् ।

त्वमेकः सर्वभूतेश ब्रह्माणमुपतिष्ठसि ॥१६२

विप्रश्रेष्ठ ! आपने तत्परतापूर्वक समाधि लगा कर सब लोकों के पितामह साक्षात् लोकगुरु ब्रह्माजी की आराधना की है। आपने बहुत बार इस विश्व की प्रारम्भिक सृष्टि को प्रत्यक्ष किया तथा धीरे तप के द्वारा प्रजापतियों पर भी विजय प्राप्त की है। भगवान् नारायण के निकट रहने वाले भक्तों में आप सर्वश्रेष्ठ हैं। परलोक में आपकी महिमा सर्वत्र गायी जाती है। आपने प्रथम सर्व व्यापक ब्रह्म की कर्णिका का उद्घाटन कर वैराग्य और अभ्यास द्वारा उपलब्ध दिव्य दृष्टि से विश्व-सृष्टा भगवान् का अनेक बार साक्षात् किया है। अतः सब की मारक मृत्यु और देह को जर्जर करने वाली जरा आपका स्पर्श नहीं करती। इसमें भगवान् परमेश्वरी की कृपा का प्रसाद ही कारण है। प्रयत्नकाल में जब सूर्य, अग्नि, वायु, चन्द्रमा, अन्तरिक्ष और पृथिवी आदि में से कोई नहीं बचता और सम्पूर्ण चराचर जलमग्न हो जाता है, देवता, असुर तथा विशालकाय नागों का नाश हो जाता है, उस समय ब्रह्माजी के समीप रह कर केवल आप ही उनकी उपासना करते हैं ॥१५५-१६२॥

एतत् प्रत्यक्षतः सर्वं पूर्वं वृत्तं द्विजोत्तम ।

तस्मादिच्छाम्यहं श्रोतुं सवहेत्वात्मिकां कथाम् ॥१६३

अनुभूतं हि बहुशस्त्वयकेन द्विजोत्तम ।

न तेऽस्त्यविदितं किञ्चित् सर्वलोकेषु नित्यदा ॥१६४

हन्त ते वर्णयिष्यामि नमस्कृत्वा स्वयम्भुवे ।

पुरुषाय पुराणाय शाश्वतायाव्ययाय च ॥१६५

अव्यक्ताय सुसूक्ष्माय निर्गुणाय गुणात्मने ।

स एष पुरुषव्याघ्र पीतवासा जनार्दनः ॥१६६

एष कर्ता विकर्ता च भूतः प्रभुः ।

अचिन्त्यं महदाश्चर्यं पवित्रमिति चोच्यते ॥१६७

अनादिनिघनं भूतं विश्वमव्ययमक्षयम् ।

एष कर्ता न क्रियते कारणं चापि पौरुषे ॥१६८

द्विज श्रेष्ठ ! यह सभी इतिहास आपका प्रत्यक्ष देखा हुआ है । इस लिये मैं सब के हेतुभूत काल का निरूपण करने वाली कथा आपके ही मुख से सुनना चाहता हूँ । द्विजोत्तम ! केवल आपने ही अनेक कल्पों की रचना का अनुभव किया है । सम्पूर्ण लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे आप न जानते हों । मार्कण्डेयजी ने कहा—स्वयं आविर्भूत, सनातन, अविनाशी, अव्यक्त, सूक्ष्म, निर्गुण एवं सगुण रूप पुराण पुरुष को नमस्कार करके वह कथा तुम्हारे प्रति अभी कहता हूँ । यह हमारे पास बँडे हुए पीताम्बरधारी भगवान् जनार्दन सम्पूर्ण विश्व के रचयिता और संहारक है । सभी प्राणियों के अन्तर्यामी आत्मा और उन्हें उत्पन्न करने वाले यही हैं । पवित्र, अचिन्त्य और महान् आश्चर्य-मय तत्त्व भी इन्हीं को कहते हैं । इनका आदि, अन्त नहीं है । यह सर्व-भूत रूप, अव्यय, अक्षय, और सभी के कर्ता हैं । इनका कर्ता कोई नहीं है । पुरुषार्थ प्राप्ति में कारणरूप भी यही हैं ॥१६३-१६८॥

यद्येष पुरुषो वेद वेदा अपि न तं विदुः ।

सर्वमाश्रयमेवैतन्निवृत्तं राजसत्तम ।

आदितो मनुजव्याघ्र कृत्स्नस्य जगतः क्षये ॥१६९

चत्वार्याहुःसहस्राणि वर्षाणांतत्कृतं युगम् ॥१७०

तस्यः तावच्छती संध्या सध्यांशश्च तथाविधः ।

त्रीणि वर्षसहस्राणि त्रेतायुगमिहोच्यते ॥१७१

तस्त तावच्छती सख्या सध्यांशश्च ततः परम् ।

तथा वर्षसहस्रे द्वे द्वापरं परिमाणतः ॥१७२

तस्यापि द्विशता संध्या सध्यांशश्च तथाविधः ।

सहस्रमेकं वर्षाणां ततः कलियुगं स्मृतम् ॥१७३

तस्य वर्षशतं संधिः सध्यांशश्च ततः परम् ।

सधिसंध्यांशयोस्तुल्यं प्रमाणमुपधारय ॥१७४

क्षीरो कलियुगे चैव प्रवर्तेत कृतं युगम् ।

एषा द्वादशः साहस्री युगाख्या परिकीर्त्तिता ॥१७५॥

यह अन्तर्यामी आत्मा है, इसलिए सबके ज्ञाता है, परन्तु इन्हें वेद भी नहीं जानते । सम्पूर्ण विश्व का प्रलय होने पर इन आदिभूत परमेश्वर से ही यह संसार पुनः उत्पन्न हो जाता है । सत्ययुग चार हजार दिव्य वर्षों का कहा है, उन्ने ही सौ (४००) वर्ष उसकी संध्या के होते हैं । संध्यश भी चार सौ वर्ष का होता है । तीन हजार दिव्य वर्षों का त्रेता कहा गया है । उसकी सन्ध्या तथा संध्यांश के भी उतने-उतने ही दिव्य वर्ष होते हैं । दो हजार दिव्य वर्षों का द्वापर तथा सन्धि और संध्यश के भी उतने-उतने ही सौ दिव्य वर्ष कहे गये हैं । एक हजार दिव्य वर्षों का कलियुग तथा उसकी सन्धि और संध्यांश भी उतने ही सौ वर्ष के बताये गये हैं । सन्धि और संध्यांश के वर्ष बराबर ही होने हैं । कलियुग के क्षीण होने पर सत्युग का पुनः आरम्भ होता है । इस प्रकार बारह हजार दिव्य वर्षों की एक चतुर्युगी कही जाती है ॥१६६-१७५॥

एतत् सहस्रपर्यन्तमहो ब्राह्ममुदाहृतम् ।

विश्वं हि ब्रह्म भवने सर्वतः परिवर्त्तते ॥१७६॥

लोकानां मनुजव्याघ्र प्रलयं तं विदुर्बुधाः ।

अल्पावशिष्टे तु तदा युगान्ते भरतषष्ठे ॥१७७॥

सहस्रान्ते नराः सर्वे प्रायशोऽमृतवादिनः ।

यज्ञप्रतिनिधिः पार्थ दानप्रतिनिधिस्तथा ॥१७८॥

व्रतप्रतिनिधिश्चैव तस्मिन् काले प्रवर्त्तते ।

ब्राह्मणाः शूद्रकर्मणिस्तथा शूद्रा धनार्जकाः ॥१७९॥

क्षत्रधर्मेण वाप्यत्र वर्त्तयन्ति गते युगे ।

निवृत्तयज्ञस्वाध्याया दण्डाजिनविवर्जिताः ॥१८०॥

ब्राह्मणाः सर्वभक्षाश्च भविष्यन्ति कलौ युगे ।

अपजा ब्राह्मणास्तात शूद्रा जपवराग्रणाः ॥१८१॥

विपरीते तदा लोके पूर्वज्ञं क्षयस्य तत् ।

बहवो म्लेच्छराजानः पृथिव्यां मनुजाधिप ॥१८२॥

एक हजार चतुर्युगियों के व्यतीत होने पर ब्रह्मजी का एक दिन होता है। यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मा के दिन में ही स्थित रहता है। (दिन समाप्त होने पर नष्ट हो जाता है) उसी को विद्वानों ने प्रलय कहा है। हजार युगों के समाप्त होने में थोड़ा ही समय रहता है, तब कलियुग के अन्तिम भाग में प्रायः सभी मनुष्य भूँठ बोनने वाले हो जाते हैं। उस समय यज्ञ, दान और व्रत के प्रतिनिधि कर्म होने लगते हैं अर्थात् यह कर्म गौण हो जाते हैं। युग समाप्त होने के समय ब्राह्मण शूद्र-कर्म करते हैं, शूद्र वैश्यों के समान धनोपार्जन में लगते अथवा त्रिविध-कर्म से जीविकोपार्जन करते हैं। उस कलियुग के अन्त-काल में ब्राह्मण यज्ञ, स्वाध्याय, ढण्ड और मृगचर्म छोड़ कर सर्वभक्षी हो जायेंगे। ब्राह्मण जप से बचेंगे और शूद्र जा-परायण हो जायेंगे। इस प्रकार लोगों के विचारों और व्यवहारों के विपरीत होने पर प्रलय का पूर्व रूप प्रारम्भ होता है और पृथिवी पर अनेक म्लेच्छ राजाओं का राज्य हो जाता है ॥१७६-१८२॥

। मृषानुशासिनः पापा मृषावादपरायणाः ।

आन्ध्राःशकाःपुलिन्दाश्च यवनाश्च नराधिपाः ॥१८३

काम्बोजाबाल्लिकाःशूरास्तथाऽऽभीरा नरोत्तम ।

न तदा ब्राह्मणः कश्चित् स्वधर्ममुपजोवति ॥१८४

क्षत्रियाश्चापि वैश्याश्च विकर्मस्था नराधिप ।

अल्पापुषः स्वल्पबलाः स्वल्पवीर्यपराक्रमाः ॥१८५

अल्पसाराल्पदेहाश्च तया सत्याल्पभाषिणः ।

बहुशून्या जनपदा मृगव्यालावृता दिशः ॥१८६

युगान्ते समनुप्राप्ते वृथा च ब्रह्मवादिनः ।

भोवादिनस्तथा शूद्रा ब्राह्मणाश्चार्यवादिनः ॥१८७

युगान्ते मनुजव्याघ्र भवन्ते बहुजन्तवः ।

न तथा घ्राणयुक्ताश्च सर्वगन्धा विशाम्पते ॥१८८

रसाश्च मनुजव्याघ्र न तथा स्वाद्युयोगिनः ।

बहुप्रजा ह्रस्वदेहाः शीलाचारविवर्जिताः ।

मुखे भगाः स्त्रियोराजन् भविष्यन्ति युगक्षये ॥१८९

अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः ।

केशशूलाः स्त्रियो राजन् भविष्यन्ति युगक्षये ॥१६०

कपटपूर्वक शासन करने वाले, पापी और मिथ्यावादी आन्ध्र, शक, पुलिन्द, यवन, काम्बोज, बाल्लीक तथा शौर्ययुक्त अमीर राजा होंगे । उस समय कोई भी ब्राह्मण अपने कर्म के अनुकूल जीविका चलाने वाला न रहेगा । राजन् ! क्षत्रिय और वैश्य भी अपने अपने धर्म को त्याग कर अन्य वर्णों के कर्म करेंगे । सब की आयु, बल, वीर्य और पराक्रम का ह्रास हो जायगा । मनुष्यों का कद छोटा होगा, शारीरिक शक्ति न्यून होगी, सत्य कम बोलेंगे, प्रायः जनपद जनशून्य होंगे, सभी दिशाएँ पशुओं और सर्पों से भर जाँयगी । युग का अन्त-काल आने पर अधिकांश मनुष्य वृथा ब्रह्मज्ञानी बनेंगे । शूद्र लोग द्विजातियों को 'ए' कह कर पुकारेंगे और ब्राह्मण शूद्रों को आर्यजन कहेंगे । युग के अन्तिम काल में बहुत से जीव-जन्तु उत्पन्न होंगे । सुगन्धित पदार्थों में उतनी सुगन्ध प्रतीत नहीं होगी । रसीले पदार्थों में वह स्वाद नहीं रहेगा, स्त्रियाँ छोटे कद की और अधिक सन्तान उत्पन्न करने वाली होंगी, उनमें शील या सदाचार नहीं रहेगा, मुख से यौन-सम्बन्धी बातें करेंगी, प्रत्येक देश के लोग अन्न बेचने वाले होंगे और स्त्रियाँ प्रायः रेश्यावृत्ति को अपनायेंगी ॥१६३-१६०॥

अल्पक्षीरास्तथा गावो भविष्यन्ति जनाधिप ।

अल्पपुष्पफलाश्चापि पादपा बहुवायसाः ॥१६१

ब्रह्मबध्यानुलिप्तानां तथा मिथ्याभिर्शसिनाम् ।

नृपाणां पृथिवीपाल प्रतिगृह्णन्ति वै द्विजाः ॥१६२

लोभमोहपरीताश्च मिथ्याधर्मव्ज्वावृताः ।

भिक्षार्थं पृथिवीपाल चञ्चूर्यन्ते द्विजैर्दिशः ॥१६३

करभारभयाद् भीता गृहस्थाः परिमोषकाः ।

मुनिच्छद्माकृतिच्छन्ना वाणिज्यमुपजीविनः ॥१६४

मिथ्या च नखरोमाणि धारयन्ति तदा द्विजाः ।

अर्थलोभान्नरव्याघ्र तथा च ब्रह्मचारिणः ॥१६५

आश्रमेषु वृथाचाराः पावपा गुरुतल्पगाः ।

इह लौकिकमीहन्ते मांसशोणितवर्धनम् ॥१६६

गायों के थनों में दूध अत्यन्त न्यून होगा, वृक्षों पर फूल-फल कम होंगे और उन पर कौओं का ही अधिक वास होगा । ब्राह्मण ब्रह्महत्या जैसे पापों से लिप्त और झूठ बोलने वाले राजाओं से ही दान-दक्षिणा लेंगे । वे ब्राह्मण लोभ-मोह के कारण धर्म का मिथ्या ढोंगे करेंगे और भिक्षा के लिये सब दिशाओं के लोगों को पीड़ित करेंगे । गृहस्थ कर-भार से बचने के लिए लुटेरे हो जायेंगे । ब्राह्मण मुनियों जैसी कपट मुद्रा धारण कर वैश्यवृत्ति से जीविकोपार्जन करेंगे और ढोंग पूर्वक नख तथा दाढ़ी मूँछ धारण करेंगे । ब्रह्मचारी भी घन के लोभ से दम्भपूर्ण आचरण करेंगे और मद्यपान करने वाले तथा गुरु पत्नी-गमन करने वाले होंगे । सभी अपने मांस-रक्त की वृत्ति वाले उपायों तथा इहलौकिक कर्मों में ही लगे रहेंगे ॥१६१-१६६॥

बहुपाषण्डसंकीर्णाः परान्नगुणवादिनः ।

आश्रमा मनुजव्याघ्र भविष्यन्ति युगक्षये ॥१६७

यथर्तुवर्षा भगवान् न तथा पाकशासनः ।

न चापि सर्वबीजानि सम्यग् रोहन्ति भारत ॥१६८

हिंसाभिरामश्च जनस्तथा सम्पद्यतेऽशुचिः ।

अधर्मफलमत्यर्थं तदा भवति चानघ ॥१६९

तदा च पृथिवीपाल यो भवेद् धर्मसंयुतः ।

अल्पायुः स हि मन्तव्यो न हि धर्मोऽस्तिकश्चन ॥२००

भूयिष्ठं कूटमानैश्च पण्यं विक्रीणते जनाः ।

वणिजश्च नरव्याघ्र बहुमाया भवन्त्युत ॥२०१

धर्मिष्ठाः परिहीयन्ते पापीयान् वर्धते जनः ।

धर्मस्य बलहानिः स्यादधर्मश्च बली तथा ॥२०२

अल्पायुषो दरिद्राश्च धर्मिष्ठा मानवास्तथा ।

दीर्घायुषः समृद्धाश्च विधर्माणो युगक्षये ॥२०३

सभी आश्रम अनेक प्रकार के पाखण्डों से युक्त होंगे तथा दूसरों से प्राप्त हुए भोजन का ही गुण गाया करेंगे । इन्द्र भी उपयुक्त और नियत समय पर वर्षा नहीं करेंगे । पृथिवी में बोये हुए बीज ठीक प्रकार नहीं जपेंगे । कलियुग में सभी लोग हिंसा-कर्म में सुख मानेंगे, अपवित्र रहेंगे तथा अधर्म का फल भी उस समय अधिक मिलेगा । राजन् ! धर्म में तत्पर व्यक्ति आयु बहुत कम दिखाई देगी, क्योंकि किसी भी धर्म का टिक सकना संभव न होगा । बाजारों में लोग झूठे बॉट बना कर माल बेचेंगे और बनिये भी उस समय अधिक मायावी हो जायेंगे । धर्मात्मा जन हानि उठाते दिखाई देंगे, पापीजन उन्नतिशील होंगे । धर्म का बल घट कर अधर्म का बल बढ़ जायगा । धर्मरत मनुष्य अल्पायु तथा निर्धन होंगे और अधर्मी मनुष्य दीर्घायु तथा समृद्धिशाली दिखाई देंगे ॥१६७-२०३॥

नगराणां विहारेषु विधर्माणो युगक्षये ।

अधर्मिष्ठैरुपायैश्च प्रजा व्यवहरन्त्युत ॥२०४

संचयेन तथाल्पेन भवन्त्याढ्यमदान्विताः ।

धनं विश्वासतो न्यस्तं मिथो भूयिष्ठशो नराः ॥२०५

हर्तुं व्यवसिता राजन् पापाचार समन्विताः ।

नतदस्तीति मनुजा वर्तन्ते निरपत्रपाः ॥२०६

पुरुषादानि सत्त्वानि पक्षिणोऽथ मृगास्तथा ।

नगराणां विहारेषु चैत्येष्वपि च शेरते ॥२०७

सप्तवर्षाष्टवर्षाश्च स्त्रियो गर्भधरा नृप ।

दशद्वादशवर्षाणां पुंसां पुत्रः प्रजायते ॥२०८

भवन्ति षोडशे वर्षे नराः पलितिनस्तथा ।

आयुःक्षयो मनुष्याणां क्षिप्रमेव प्रपद्यते ॥२०९

क्षीणायुषो महाराज तरुणा वृद्धशीलिनः ।

तरुणानां च यच्छीलं तद् वृद्धेषु प्रजायते ॥२१०

नगरों के उद्यानों में पापी पुरुषों का जमाव रहेगा । वे अपने पाप-पूर्ण व्यवहारों द्वारा प्रजा को सताते रहेंगे । थोड़ा सा धन इकट्ठा होने

पर ही लोग अपने को धनाढ्य समझ कर उन्मत्त हो जाँयगे । विश्वास पूर्वक रखी हुई धरोहर को हड़पने की चेष्टा करेंगे और जिसका धन रखा होगा उससे स्पष्ट कह देंगे कि हमारे पास तुम्हारा कुछ भी नहीं है । मनुष्य का मांस भक्षण करने वाले हिंसक जीव तथा पशु-पक्षी, मनुष्यों के उद्यानों और देवालयों में शयन करेंगे । सात-आठ वर्ष की स्त्रियाँ गर्भवती हो जाँयगी तथा दस-बारह वर्ष की अवस्था वाले पुरुष भी पुत्र उत्पन्न करने लगेंगे । सोलह वर्ष की आयु में ही बाल पकने लगेंगे और उनकी आयु भी शीघ्र ही समाप्त हो जायगी । राजन् ! उस समय के तरुण क्षीण आयु वाले होंगे, उनके स्वभाव में बूढ़ापन आ जायगा और बूढ़ों में तरुणों का-सा स्वभाव दिखाई देगा ॥२०४-२१०॥

विपरीतास्तदा नार्यो वञ्चयित्वाहृतः पतीन् ।

व्युच्चरन्त्यपि दुःशीला दासैः पशुभिरेव च ॥२११

वीरपत्न्यस्तथा नार्यः संश्रयन्ति नरान् नृप ।

भर्तारमपि जीवन्तमन्यान् व्यभिचरन्त्युत ॥२१२

तस्मिन् युगसहस्रान्ते सम्प्राप्त चायुषः क्षये ।

अनावृष्टिर्महाराज जायते बहुवार्षिकी ॥२१३

ततस्तान्यल्पसाराणि सत्त्वानि क्षुधितानि वै ।

ब्रलयं यान्ति भूयिष्ठं पृथिव्यां पृथिवीपते ॥२१४

ततो दिनकरैर्दीप्तैः सप्तभिर्मनुजाधिप ।

पीयते सलिलं सर्वं समुद्रेषु सरित्सु च ॥२१५

यच्च काष्ठं तृणं चापि शुष्कं चाद्रं च भारत ।

सर्वं तद् भस्मसाद् भूतं दृश्यते भरतर्षभ ॥२१६

ततः संवर्तको वह्निर्वायुना सह भारत ।

लोकमाविशते पूर्वमादित्यैरुपशोषितम् ॥२१७

स्त्रियाँ विपरीत स्वभाव वाली होकर पतियों से विश्वासघात करेंगी और सेवकों तथा पशुओं से रमण करने वाली होंगी । वीर पुरुषों की स्त्रियाँ भी अन्य पुरुषों का आश्रय लेंगी और पति के जीवित रहते हुए भी आचरण-हीन हो जायँगी । राजन् ! इस प्रकार आयु को क्षीण करने

वाले हजार युगों के अन्त-काल की समाप्ति पर बहुत वर्षों तक वृष्टि नहीं होती । इसके कारण पृथिवी के न्यून शक्ति वाले बहुत से प्राणी भूख से व्याकुल होकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं । फिर प्रचण्ड तेज वाले सात सूर्य उदय होते हैं, वे सभी सरिताओं और समुद्रों के जल को सोख लेते हैं । राजन् ! उस समय सभी तृण, काष्ठ या सूखे-गीले पदार्थ भस्म होते हुए दिखाई पड़ते हैं । फिर 'संवर्तक' नामक प्रलय कालीन अग्नि वायु के साथ उन सभी लोकों में फैल जाता है, जहाँ पहिले सात सूर्यों द्वारा जल सोख लिया गया है ॥२११-२१७॥

ततः स पृथिवीभित्वाप्रविश्य च रसातलम् ।

देवदानवयक्षाणां भयं जनयते महत् ॥२१८

निर्दहन् नागलोकं च यच्च किञ्चित् क्षिताविह ।

अधस्तात् पृथिवीपाल सर्वं नाशयते क्षणात् ॥२१९

ततो योजनविशानां सहस्राणि शतानि च ।

निर्दहत्यशिवो वायुः स च संवर्तकोऽनलः ॥२२०

सदेवासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम् ।

ततो दहति दीप्तः स सर्वमेव जगद् विभुः ॥२२१

ततो गजकुलप्रख्यास्तडिन्मालाविभूषिताः ।

उत्तिष्ठन्ति महामेघा नभस्यद्भुतदर्शनाः ॥२२२

केचिन्नीलोत्पलश्यामाः केचित्कुमुदसंनिभाः ।

केचित्किञ्जल्कसंकाशाः केचित् पीताः पयोधराः ॥२२३

केचिद्धारिद्रसंकाशाः कारण्डवनिभास्तथा ।

केचित् कमलपत्राभाः केचिद्विङ्गुलसप्रभाः ॥२२४

वह अग्नि पृथिवी को भेद कर रसातल में पहुँच कर देव, दानव और लक्ष सभी के लिए महान् भय उत्पन्न कर देता है । वह अग्नि नाग-लोक को भस्म करता हुआ, इस पृथिवी के नीचे जो कुछ है, उसका क्षण भर में नाश कर डालता है । फिर अमङ्गल करने वाला वह वायु और संवर्तक अग्नि बाईस हजार योजन तक के जीवों को भस्म कर देता है ।

इस प्रकार सर्वत्र फैला हुआ वह अग्नि देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, नाग और राक्षसों सहित सम्पूर्ण ससार को भस्म कर देता है। फिर आकाश अद्भुत एवं घोर घटाओं से व्याप्त होता है। उनमें प्रत्येक मेघ-समूह हाथियों के झुण्ड के समान विशालकाय तथा श्याम वर्ण और विद्युत्-मालाओं से शोभायमान होता है। कुछ बादल नीले कमल के समान श्याम तथा कुछ कुमुद के पुष्प के समान श्वेत होते हैं। कुछ की कान्ति केसर के समान तथा कुछ हल्दी से पीले और कुछ कारण्डव पक्षी के समान दिखाई देते हैं। कोई-कोई कमल-पत्र जैसा और कोई-कोई हिंगुल जैसा प्रतीत होता है ॥२१८-२२४॥

केचित् पुरवराकाराः केचिद् गजकुलोपमाः ।

केचिदञ्जनसंकाशाः केचिन्मकरसनिभाः ॥२२५

विद्युन्मालापिनद्धाङ्गाः समुत्तिष्ठन्ति व धनाः ।

घोररूपा महाराज घोरस्वननिनादिताः ।

ततो जलधराः सर्वे व्याप्नुवन्ति नभस्तलम् ॥२२६

तैरियं पृथिवी सर्वा सपर्वतवनाकरा ।

आपूर्यन्ते महाराज सलिलौघपरिप्लुता ॥२२७

ततस्ते जलदा घोरा राविणः पुरुषर्षभ ।

सर्वतः प्लावयन्त्याशु चोदिताः परमेष्ठिना ॥२२८

वर्षमाणा महत् तोयं पूरयन्तो वसुंधराम् ।

सुघोरमशिवं रौद्रं नाशयन्ति च पावकम् ॥२२९

ततो द्वादशवर्षाणि पयोदास्त उपप्लवे ।

धाराभिः पूरयन्तो वै चोद्यमाना महात्मना ॥२३०

ततः समुद्रः स्वां बेलामतिक्रामति भारत ।

पर्वताश्च विदीर्यन्ते मही चाप्सु निमज्जति ॥२३१

कुछ श्रेष्ठ नगरों जैसे, कुछ हाथियों के झुण्ड जैसे, कुछ काजल से काले और कुछ मगर जैसी आकृति वाले होते हैं। वे सम्पूर्ण बादल विद्युत् की मालाओं से अलंकृत होकर घिर आते हैं। भयङ्कर गर्जन करते हुए वे कभी अत्यन्त भयानक प्रतीत होते हैं। धीरे धीरे वे सब मेघ आकाश

मण्डल को ढक लेते हैं राजन् ! उनके द्वारा वर्षा करने पर पर्वत, वन और खानों सहित यह सम्पूर्ण पृथिवी जलमयी होकर सब ओर से डूब जाती है । फिर विधाता से प्रेरित हुए वे गर्जन करने वाले भीषण मेघ सब ओर वर्षा करके, सबको जलमग्न कर देते हैं । घोर जल समूह की वर्षा करके पृथिवी को जल में डुबाने वाले वे सभी मेघ उस भयङ्कर, अमङ्गलकारी और अत्यन्त घोर अग्नि को बुझा देते हैं । फिर वे बादल ब्रह्माजी की प्रेरणा से पृथिवी को परिपूर्ण करने के लिये बारह वर्षों तक निरन्तर वृष्टि करते हैं । फिर समुद्र अपनी सीमा का उलंघन करता, पर्वत फट जाते और पृथिवी पानी में डूब जाती है ॥२२५-२३१॥

सर्वतः सहसा भ्रान्तास्ते पयोदा नभस्तलम् ।

सवेष्टयित्वा नश्यन्ति वायुवेगपराहताः ॥२३२

ततस्तं मासुतं घोरं स्वयम्भूर्मनुजाधिप ।

आदिः पद्मालयो देवः पीत्वा स्वपिति भारत ॥२३३

तस्मिन्नेकार्णवे घोरे नष्टे स्थावरजङ्गमे ।

नष्टे देवासुरगणे यक्षराक्षसवर्जिते ॥२३४

निर्मनुष्ये महीपाल निःश्वापदमहीरुहे ।

अनन्तरिक्षलोकेस्मिन् भ्राम्येकोऽहमाहतः ॥२२५

एकार्णवे जले घोरे विचरन् पार्थिवोत्तम ।

अपश्यन् सर्वभूतानि वैक्लव्यमगमं ततः ॥२३६

ततः सुदीर्घं गत्वाहं प्यवमाना नराधिप ।

श्रान्तः कचित्र शरणं लभाम्यहमतन्द्रितः ॥२३७

ततः कदाचित्पश्यामि तस्मिन् सलिलसंचये ।

न्यग्रोधं सुमहान्तं वै विशालं पृथिवीपते ॥२३८

फिर सम्पूर्ण आकाश को घेर कर सर्वत्र फैले हुए वे बादल प्रचण्ड वायु के वेग से छिन्न-भिन्न होकर अदृश्य हो जाते हैं । फिर कमल में निवास करने वाले आदि देव ब्रह्माजी उस वायु का स्वयं पान करते और शयन करते हैं । इस प्रकार चराचर जीवों, देव-असुरों आदि के नष्ट हो जाने पर यक्ष, राक्षस, हिंसक प्राणी, वृक्ष तथा अन्तरिक्ष रहित उस घोर

एकाण्वमय विश्व में, मैं एकाकी ही इधर-उधर भ्रमता रहता हूँ । जब एकाण्व के उस भयंकर जल में भ्रमते हुए मैंने किसी भी जीव को न देखा तो मैं अत्यन्त व्याकुल हो गया । उस समय सुदीर्घकाल तक निरालस्य तैरता हुआ मैं बहुत थक गया, परन्तु कहीं भी कोई आश्रय दिखाई न दिया । फिर एक दिन एकाण्व की उस अगाध जल राशि में मुझे एक अत्यन्त विशाल वट-वृक्ष दिखाई पड़ा ॥२३२-२३८॥

शाखायां तस्य वृक्षस्य विस्तीर्णयां नराधिप ।

पर्यङ्क्ते पृथिवीपाल दिव्यास्तरणसंस्तृते ॥२३६

उपविष्टं महाराज पद्मेन्दुसदृशाननम् ।

फुल्लपद्मविशालाक्षं बालं पश्यामि भारत ॥२४०]

ततो मे पृथिवीपाल विस्मयः सुमहानभूत् ।

कथं त्वयं शिशुः शेते लोके नाशमुपागते ॥२४१

तपसा चिन्तयंश्चापि तं शिशुं नोपलक्षये ।

भूतं भव्यं भविष्यं च जानन्नपि नराधिप ॥२४२

अतसीपुष्पवर्णाभः श्रीवत्सकृतभूषणः ।

साक्षाल्लक्ष्म्या इवावासः स तदाप्रतिभाति मे ॥२४३

ततो मामब्रवाद् बालः स पद्मनिभलोचनः ।

श्रीवत्सधारीद्युतिमान्वाक्यं श्रुतिसुखावहम् ॥२४४

जानामि त्वां परिश्रान्तं ततो विश्रामकाङ्क्षिणम् ।

मार्कण्डेय इहास्स्व त्वं यावदिच्छसि भार्गव ॥२४५

उस वृक्ष की विस्तृत शाखा पर एक पलंग पर दिव्य बिछौने बिछे थे और उस पर एक सुन्दर बालक बैठा था । उस बालक का मुख कतल के समान कमनीय और चन्द्रमा के समान दर्शनीय तथा आनन्ददायी था । उसके नेत्र खिले हुए कमल-पत्र के समान विशाल दिखाई दे रहे थे । उसे देखकर मैं अत्यन्त विस्मित हुआ । मैंने सोचा—‘सम्पूर्ण विश्व के नष्ट हो जाने पर भी यह बालक यहाँ कैसे सो रहा है ? मैं भूत, भविष्य, वर्तमान का ज्ञाता होते हुए भी तथा तपस्या पूर्वक भले प्रकार चिन्तन करने पर

भी, उस बालक के विषय में मैं कुछ भी न जान सका । उसके अंग की कान्ति अलसी-पुष्प के समान श्याम थी । उसका वक्षस्थल श्रीवत्सांकित था और मुझे वह साक्षात् लक्ष्मी का निवास स्थान जैसा प्रतीत हुआ । मुझे आश्चर्य चकित देख कर कमल जैसे नेत्र वाले एवं श्रीवत्सधारी उस कान्तिमय बालक ने कानों को सुख देने वाला वचन कहा । 'हे मार्कण्डेय ! मैं तुम्हें जानता हूँ । तुन अधिक थके हो और विश्राम करना चाहते हो अतः जब तक चाहो यहाँ विश्राम करो ॥२३६-२४५॥

अभ्यन्तरं शरीरे मे प्रविश्य मुनिसत्तम ।

आस्वभोविहतोवासःप्रसादस्तेकृतोमया ॥२४६

ततो बालेन तेनैवमुक्तस्यासीत् तदा मम ।

निर्वेदो जीविते दीर्घे मनुष्यत्वे च भारत ॥२४७

ततो बालेन तेनास्य सहसा विवृतं कृतम् ।

तम्याहमवशो वक्त्रे दैवयोगात् प्रवेशितः ॥२४८

ततः प्रविष्टस्तत्कुक्षि सहसा मनुजाधिप ।

सराष्ट्रनगराकीर्णां कृत्स्नां पश्यामि मेदिनीम् ॥२४९

गङ्गां शतद्रुं सीतां च यमुनामथ कोशिकीम् ।

चमण्वतीं वेत्रवतीं चन्द्रभागां सरस्वतीम् ॥२५०

सिन्धुं चैव विपाशां च नदीं गोदावरीमपि ।

वस्वोकसारां नलिनीं नर्मदां चैव भारत ॥२५१

नदीं तामां च वेणां च पुण्यतोयां शुभावहाम् ।

सुवेणां कृष्णवेणां च इरामां च महानदीम् ॥२५२

वितस्तां च महाराज कावेरीं च महानदीम् ।

शोणं च पुरुषव्याघ्र विशल्यां किम्पुनामपि ॥२५३

एताश्चान्याश्च नद्योऽहं पृथिव्यां या नरोत्तम ।

परिक्रामन् प्रपश्यामि तस्य कुक्षौ महात्मनः ॥२५४

'मुनिश्रेष्ठ ! मैंने तुम पर कृपा की है । अतः मेरे शरीर में प्रविष्ट होकर विश्राम करो । तुम्हारे निवास के लिये वही उचित व्ययस्था है ।

उस बालक की बात सुन कर मुझे अपने दीर्घ जीवन और मनुष्य देह पर अत्यन्त खेद और विरक्ति हुई। फिर उस बालक ने अपना मुख खोल दिया और मैं दैवयोग से विवश के समान उसमें घुस गया। उसमें प्रविष्ट होते ही मैं उस बालक के उदर में पहुँच गया, जहाँ मुझे सभी राष्ट्रों और नगरों से सम्पन्न यह समस्त पृथिवी दिखाई पड़ी। मैं उसके उदर में घूमने लगा। वहाँ मैंने गंगा, सतलज सीता, यमुना, कौशिकी (कोसी), चम्बल, वेतवली, चिनाव, सरस्वती, सिन्धु, व्यास, गोदावरी, वस्वोक-सारा, नलिनी, नमंदा, ताम्रपर्णी, वेणा, शुभदायिनी, पुण्यतोया, सुवेणा, कृष्णवेणा, महानदी इरामा, वितस्ता, महानदी, कावेरी शोणभद्र, विशल्या तथा किम्पुना नदियाँ तथा पृथिवी की अन्य नदियों को भी देखा ॥२४६-२५४॥

ततः समुद्रं पश्यामि यादोगणनिषेवितम् ।
 रत्नाकररुमित्रघ्न पयसो निधिमुत्तमम् ॥२५५
 तत्र पश्यामि गगनं चन्द्रसूर्यविराजितम् ।
 जाज्वल्यमानं तेजोभिः पावकार्कसमप्रभम् ॥२५६
 पश्यामि च महीं राजन् काननैरुपशोभिताम् ।
 सपर्वतवनद्वीपां निमग्नाशतसङ्कुलाम् ॥२५७
 यजन्ते हि तदा राजन् ब्राह्मणा बहुभिर्मखैः ।
 क्षत्रियाश्च प्रवर्तन्ते सर्ववर्गानुरञ्जनैः ।
 वेश्याः कृषि यथान्याय कारयन्ति नराधिन ॥२५८
 शुश्रूषायां च निरता द्विजानां वृषलास्तदा ।
 ततः परिपतन् राजस्तस्य कुक्षौ महात्मनः ॥२५९
 हिमवन्तं च पश्यामि हेमकूटं च पर्वतम् ।
 निषधं चापि पश्यामि श्वेतं च रजतान्वितम् ॥२६०

फिर जल-जन्तुओं से परिपूर्ण अगाध जलराशि वाले परम श्रेष्ठ रत्नाकर समुद्र को भी मैंने देखा। वहाँ चन्द्रमा और सूर्य से सुशोभित आकाश मंडल भी मैंने देखा, जो अनन्त तेज से तेजस्वी तथा अग्नि और

सूर्य के समान प्रभा युक्त था । वहाँ की पृथिवी अनेक काननों से सुशो-
भित थी । पर्वत, वन, द्वीप तथा सैकड़ों सरिताओं वाली थी और वहाँ
विप्रगण विविध प्रकार के यज्ञों द्वारा भगवान् की आराधना कर रहे थे ।
क्षत्रिय नरेश सब वर्णों की प्रजा का पालन कर रहे थे । वैश्य न्याय पूर्वक
कृषि-कर्म और क्रय-विक्रय करते थे । राजन् ! शूद्र द्विजातियों की सेवा
सुश्रूषा में रत थे, यह सब देखता हुआ मैं उस महात्मा बालक के उदर
में भ्रमण करता ब्रह्म रहा था । उस समय मैंने वहाँ हिमवान्, हेमकूट,
निषध और रजत (चाँदी) के युक्त श्वेतगिरि पर्वतों को देखा
॥२५५-२६०॥

पश्यामि च महीपाल पर्वतं गन्धमादनम् ।
मन्दर मनुजव्याघ्र नोडं चापि महागिरिम् ॥२६१॥
पश्यामि च महाराज मेरुं कनकपर्वतम् ।
महेन्द्र चैव पश्यामि विन्ध्यं च गिरिमुत्तमम् ॥२६२॥
मलयं चापि पश्यामि पारियात्रं च पर्वतम् ।
एते चान्ये च बहवो यावन्तः पृथिवोधरः ॥२६३॥
तस्योदरे मया दृष्टा सर्वे रत्नविभूषिताः ।
सिहान् व्याघ्रान् वराहांश्च पश्यामि मनुजाधिप ॥२६४॥
पृथिव्यां यानि चान्यानि सत्त्वानि जगतीपते ।
तानि सर्वाण्यहं तत्र पश्यन् पर्यचरं तदा ॥२६५॥
कुक्षौ तस्य नरव्याघ्र प्रविष्टः संचरन् दिशः ।
शक्रादींश्चापि पश्यामि कृत्स्नान् देवगणानहम् ॥२६६॥

और गन्धमादन, मन्दराचल, महागिरि नील, सुवर्णमय, सुमेरु,
महेन्द्र, श्रेष्ठ विन्ध्याचल, मलय तथा पारियात्र पर्वत भी देखे । इनके
अतिरिक्त अन्य बहुत से पर्वत भी उस बालक के उदर में दिखाई पड़े ।
वे सभी विभिन्न प्रकार के रत्नों से विभूषित थे । वहाँ विचरण करते हुए
मैंने सिंह, व्याघ्र तथा वाराह आदि पशुओं को भी देखा । पृथिवी में
जितने भी प्राणी हैं, उन सब को देखता हुआ मैं उस बालक के उदर में

ही घूमता रहा। उस बालक के उदर में ही सभी दिशाओं में विचरण करते हुए मैंने इन्द्र आदि सभी देवगणों के दर्शन किये ॥२६१-२६६॥

साध्यान् रुद्रांस्तथाऽऽदित्यान् गुह्यकान् पितरस्तदा ।

सर्पान् नागान् सुपर्णाश्च वसूनप्यश्विनावपि ॥२६७

गन्धर्वाप्सरसो यक्षानृषींश्चैव महीपते ।

दैत्यदानवसङ्घांश्च नागांश्च मनुजाधिप ॥२६८

सिंहिकातनयांश्चापि ये चान्ये सुरशत्रवः ।

यच्च किञ्चिन्मया लोके दृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥२६९

सर्वं पश्याम्यहं राजंस्तस्य कुक्षौ महात्मनः ।

चरमाणः फलाहारः कृत्स्नं जगदिदं विभो ॥२७०

अन्तःशरीरे तस्माहं वर्षाणामधिकं शतम् ।

न च पश्यामि तस्याहं देहस्यान्तं कदाचन ॥२७१

सततं धावमानश्च चिन्तयानो विशाम्पते ।

भ्रमंस्तत्र महीपाल यदा वर्षगणान् बहून् ।

आसादयामि नैवान्तं तस्य राजन् महात्मनः ॥२७२

ततस्तमेव शरणं गतोऽस्मि विधिवत् तदा ।

वरेण्यं वरदं देवं मनसा कर्मणैव च ॥२७३

वहाँ साध्य, रुद्र, आदित्य गुह्यक, पितर, सर्प, नाग, सुपर्ण, वसु, अश्विनीकुमार, गंधर्व, अप्सरा, यक्ष तथा ऋषियों के भी दर्शन किये। दैत्यों, दानवों, नागों, सिंहिका-पुत्रों तथा देवताओं के अन्य शत्रुओं को भी मैंने वहाँ देखा। इस लोक में जो कुछ भी स्थावर-जंगम पदार्थ मैंने देखे थे, वे सभी मुझे उस महात्मा बालक के उदर में दिखाई दिये। राजन् ! उस समय मैं फलों का आहार करता हुआ इस सम्पूर्ण विश्व में भ्रमण करता रहा। मैं उस बालक के शरीर में सौ वर्ष से अधिक समय तक विचरता रहा, फिर भी उसके शरीर का अन्त नहीं मिला। मैं निरन्तर दौड़ता हुआ चिन्ताग्रस्त था। जब बहुत वर्षों तक भ्रमण करने पर भी उस महात्मा के शरीर का अन्त नहीं मिला, तब मैं मन, वचन, कर्म द्वारा

उस वरदायक एवं वरेण्य देव की ही विधिबत् शरण से गया ॥२६७-
२७३॥

ततोऽहं सहसा राजन् वायुवेगेन निःसृतः ।

महात्मनो मुखात् तस्य विवृतात् पुरुषोत्तम ॥२७४

ततस्तस्यैव शाखायां त्यगोधस्य विशाम्पते ।

आस्ते मनुजशार्दूल कृत्स्नमादाय वै जगत् ॥२७५

तेनैव बालवेषेण श्रीवत्सकृतलक्षणम् ।

आसीनं तं नरव्याघ्र परयाम्यमिततेजसम् ॥२७६

ततो मामब्रवीद् बालः स प्रीतः प्रहसन्निव ।

श्रीवत्सधारी द्युतिमान् पीतवासा महाद्युतिः ॥२७७

अपीदानीं शरीरेऽस्मिन् मामके मुनिसत्तम ।

उषितस्त्वं सुविश्रान्तो मार्कण्डेय ब्रवीहि मे ॥२७८

मुहूर्तदित्य मे दृष्टिः प्रादुर्भूता पुनर्नवा ।

यया निर्मुक्तात्मानमपश्यं लब्धचेतसम् ॥२७९

तस्य ताम्रतलौ तात चरणौ सुप्रतिष्ठितौ ।

सुजातौ मृदुरक्ताभिरङ्गुलीभिविराजितौ ।

प्रयत्नेन मया मूर्ध्ना गृहीत्वा ह्यभिवन्दितौ ॥२८०

पुरुषोत्तम युधिष्ठिर ! उसकी शरण में जाते ही मैं वायु वेग से उस महात्मा बालक के खुले हुए मुख से बाहर निकला । बाहर आकर देखा तो उसी वट वृक्ष की शाला पर उसी बाल वेश में सम्पूर्ण विश्व को अपने उदर में रखे हुए श्रीवत्सचिह्न से सुशोभित वह अत्यन्त तेजस्वी बालक उसी प्रकार बैठा हुआ है । उस महा तेजस्वी पीताम्बर श्रीवत्स विभूषित कान्तिमय बालक ने प्रसन्न मुद्रा में मुझे से कहा । 'मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेय ! मुझे बताओ कि क्या तुम मेरे देह में रह कर विश्राम कर चुके ? फिर दो घड़ी में ही मुझे एक नवीन दृष्टि प्राप्त हो गई और तब मैंने अपने को माया से मुक्त तथा सावधान हुआ पाया । तब मैंने उस लाल रंग वाली अङ्गुलियों से युक्त ताम्रवर्ण के तलुए बालक के सुन्दर चरणों को प्रयत्नपूर्वक पकड़ कर प्रणाम किया ॥२७४-२८०॥

दृष्ट्वा परिमितं तस्य प्रभावममितौजसः ॥२८१

विनयेनाञ्जलिं कृत्वा प्रयत्नेनोपगम्य ह ।

दृष्टो मया स भूतात्मा देवः कमललोचनाः ॥२८२

तमहं प्राञ्जलिभूत्वा नमस्कृत्येदमब्रूवम् ।

ज्ञातुमिच्छामि देवत्वांमायांचंतां तवोत्तमाम् ॥२८३

आस्येनानुप्रविष्टोऽहं शरीरे भगवंस्तव ।

दृष्टवानखिलान् सर्वान् समस्तान् जठरे हि ते ॥२८४

तव देव शरीरस्था देवदानवराक्षसाः ।

यक्षगन्धर्वनागाश्च जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥२८५

त्वत्प्रसादाच्च मे देव स्मृतिर्न परिहीयते ।

द्रुतमन्तःशरीरे ते सततं परिवर्तिनः ॥२८६

निर्गतोऽहमकामस्तु इच्छया ते महाप्रभो ।

इच्छामि पुण्डरीकाक्ष ज्ञातुं त्वाहमनिन्दितम् ॥२८७

उस अत्यन्त तेजस्वी बालक के अनन्त प्रभाव को देख कर मैं उसके पास गया और विनय पूर्वक हाथ जोड़ कर सभी जीवों के आत्मा उस राजीवनयन देव का दर्शन करने लगा । फिर हाथ जोड़ कर नमस्कार पूर्वक मैंने उससे कहा — 'देव ! मैं आपको और आपकी श्रेष्ठ माया को जानने के लिये उत्सुक हूँ । भगवन् ! आपके मुख-मार्ग से शरीर में प्रविष्ट होकर आपके उदर में मैंने समस्त सांसारिक पदार्थ देखे हैं । देव ! आपके देह में देव, दानव, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, नाग तथा समस्त स्थावर-जंगम विश्व विद्यमान है । देव ! आपके प्रसाद से आपके देह में निरन्तर विचरण करते रहने पर भी मेरी स्मरण शक्ति का ह्रास नहीं हुआ है । महाप्रभो ! मैं अपनी इच्छा के विपरीत, आपकी इच्छा से ही बाहर निकला हूँ । पुण्डरीकाक्ष ! आप सर्व श्रेष्ठ देव को मैं जानना चाहता हूँ ॥२८१-२८७॥

इह भूत्वा शिशुः साक्षात् किं भवानवतिष्ठते ।

पीत्वा जगदिदं सर्वमेतदाख्यातुमर्हसि ॥२८८

किमर्थं च जगत् सर्वं शरीरस्थं तवानघ ।

कियन्तं च त्वया कालमिह स्थेयमरिंदम ॥२८६

एतदिच्छामि देवेश श्रोतुं ब्राह्मणकाम्यया ।

त्वत्तः कमलपत्राक्ष विस्तरेण यथातथम् ॥२८७

महद्वचोतदचिन्त्यं च यदहं दृष्टवान् प्रभो ।

इत्युक्तः स मया श्रीमान् देवदेवो महाद्युतिः ।

सान्त्वयन् मामिदं वाक्यमुवाच वदतां वरः ॥२८८

कामं देवा अपि न मां विप्र जानन्ति तत्त्वतः ।

त्वत्प्रीत्या तु प्रवक्ष्यामि यथेदं विसृजाम्यहम् ॥२८९

पितृभक्तोऽसि विप्रर्षे मां चैव शरणं गतः ।

ततोदृष्टोस्मि ते साक्षाद् ब्रह्मचय च ते महत् ॥२९०

अपां नारा इति पुरा संज्ञाकर्म कृतं मयाः ।

तेन नारायणोऽप्युक्तो मम तत् त्वयनं सदा ॥२९१

आप इस सम्पूर्ण विश्व को पाकर साक्षात् बालक वेश में यहाँ क्यों बैठे हैं ? मुझे यह सब बताइये । यह सम्पूर्ण विश्व आपके देह में क्यों स्थित है ? आप यहाँ कितने समय तक इस रूप में स्थित रहेंगे ? देवेश ! ब्राह्मण स्वभाव की जिज्ञासा से प्रेरित हुआ मैं यह सभी विवरण विस्तार सहित आपके मुख से सुनने के लिए इच्छुक हूँ । प्रभो ! जो कुछ मैंने देखा, वह सब महान् और अचिन्त्य है । मेरे द्वारा इस प्रकार प्रश्न करने पर वक्ताओं में श्रेष्ठ देवाधिदेव भगवान् मुझे सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहने लगे । भगवान् ने कहा—विप्र ! मेरे स्वरूप को देवगण भी यथार्थ रूप से नहीं जानते । जिस प्रकार मैं इस विश्व को उत्पन्न करता हूँ, वह सब मैं तुम्हारे प्रेम के कारण ही तुमसे कहूँगा । ब्रह्मर्षे ! तुम पितृ-भक्त हो, तुमने ब्रह्मचर्य का पालन किया है और मेरी शरण में आये हो । इस कारण तुम्हें मेरे साक्षात् स्वरूप का दर्शन प्राप्त हुआ है । प्राचीन काल में मैंने ही जल का नाम 'नारा' रखा था । वही 'नारा' मेरा निवास स्थान है, इसीलिये मैं 'नारायण' कहा जाता हूँ ॥२८८-२९१॥

अहं नारायणो नाम प्रभवः शाश्वतोऽव्ययः ।

विधाता सर्वभूतानां संहर्ता च द्विजोत्तम ॥२६५

अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रश्चाहं सुराधिपः ।

अहं वैश्रवणो राजा यमः प्रेताधिपस्तथा ॥२६६

अहं शिवश्च सोमश्च कश्यपोऽथ प्रजापतिः ।

अहं धाता विधाता च यज्ञश्चाहं द्विजोत्तम ॥२६७

अग्निरास्य क्षितिः पादौ चन्द्रादित्यौ च लोचने ।

द्यौर्मूर्धाखदिशःश्रोत्रेतथाऽपःस्वेदसम्भवाः ॥२६८

सदिशं च नभः कायो वायुमनसि मे स्थितः ।

मया क्रतुशतैरिष्टं बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ॥२६९

यजन्ते वेदविदुषो मां देवयजने स्थितम् ।

पृथिव्यां क्षत्रियेन्द्राश्च पार्थिवाः स्वर्गकाङ्क्षिणः ॥३००

यजन्ते मां तथा वश्याः स्वर्गलोकजिगीषया ।

१ चतुः समुद्रपर्यन्तां मेरुमन्दरभूषणाम् ।

शेषा भूत्वाहमेवैतां धारयामि वसुंधराम् ॥३०१

मैं नारायण ही सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति का कारण, सनातन और अविनाशी हूँ। सभी भूतों की रचना और संहार मैं ही करता हूँ। मैं ही ब्रह्मा, विष्णु तथा देवराज इन्द्र हूँ और कुबेर तथा प्रेतराज यम भी मैं ही हूँ। द्विजोत्तम ! शिव, चन्द्रमा और प्रजापति मैं ही हूँ। कश्यप, धाता और विधाता भी मैं हूँ तथा यज्ञ भी मैं ही हूँ। अग्नि मेरा मुख, पृथिवी मेरा चरण तथा चन्द्रमा और सूर्य मेरे नेत्र हैं। द्युलोक मेरा मस्तक, आकाश और दिशाएँ कान हैं। जल मेरे स्वेद से उत्पन्न हुआ है। दिशाओं सहित आकाश ही मेरा शरीर है। वायु मेरे मन में स्थित है। मैं पर्याप्त दक्षिणा वाले अनेक शत यज्ञों के द्वारा यजन कर चुका हूँ। वेद के ज्ञाता देवयज्ञ स्थित मुझ यज्ञ पुरुष का ही यजन करते हैं। पृथिवी के पालक क्षत्रिय राजागण स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा से यज्ञों द्वारा मेरा यजन करते हैं। वैश्य भी स्वर्ग पर विजय पाने की इच्छा से मेरा यजन करते हैं। शेष नाग के रूप में मैंने ही मेरुमन्दर से विभूषित और चारों समुद्रों से

घिरी हुई इस पृथिवी को अपने सिर पर धारण कर रखा है ॥२६५-३०१॥

बाराहं रूपमास्थाय मयेयं जगती पुरा ॥३०२
मज्जमाना जले विप्र वीर्येणासीत् समुद्धता ।
अग्निश्च वडवाववत्रो भूत्वाह द्विजसत्तम ॥३०३
पिबाम्यपः सदा विद्वंस्ताश्चैवं विमृजाम्यहम् ।
ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रमूरु मे संस्थिता विशः ॥३०४
पादौ शूद्रा भवन्तीमे विक्रमेण क्रमेण च ।
ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदोऽप्यथर्वणः ।
मत्तः प्रादुर्भवन्त्येते मामेव प्रविशन्ति च ॥३०५
यतयः शान्तिपरमा यतात्मानो बुभुत्सवः ॥३०६
कामक्रोधद्वेषमुक्ता निःसङ्गा वीतकल्मषाः ।
सत्त्वस्था निरहङ्कारा नित्यमध्यात्मकोविदाः ।
मामेव सततं विप्राश्चिन्तयन्त उपासते ॥३०७

प्राचीन काल में जब यह पृथिवी जल मग्न हो गयी थी तब मैंनेही चाराह रूप धारण कर इसे बलपूर्वक जल से बाहर किया था । बड़वानल के रूप में मैं ही समुद्र के जल को पीता हूँ और उसी की वर्षा कर देता हूँ । ब्राह्मण मेरा मुख, क्षत्रिय भुजाएँ और वैश्य मेरी जाँघ स्वरूप हैं । शूद्र मेरे चरण हैं । मेरी ही शक्ति से क्रमशः यह प्रकट हुए हैं । ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद मुझसे ही प्रकट होते और मुझमें ही लीन हो जाते हैं । शान्ति परायण, संयमी, जिज्ञासु, काम-क्रोध-द्वेष तथा आसक्ति से रहित, पप रहित, सात्त्विक, नित्य अहंकार शून्य और आध्यात्मिक ज्ञान युक्त यति तथा ब्राह्मण सदा मेरे ही चिंतन में रत रहते हुए, मेरी ही उपासना करते रहते हैं ॥३०२-३०७॥

अहं संवर्तको वह्निरहं संवर्तकोऽनलः ॥३०८
अहं संवर्तकः सूर्यस्त्वहं संवर्तकोऽनिलः ।
तारारूपाणि दृश्यन्ते यान्येतानि नभस्तले ॥३०९

मम वै रोमकृपाणि विद्धि त्वं द्विजसत्तम ।
 रत्नाकराः समुद्राश्च सर्व एव चतुर्दिशम् ॥३१०॥
 वसनं शयनं चैव विलप्रं चैव विद्धि मे ।
 मयैव सुविभक्तास्ते देवकार्यार्थसिद्धये ॥३११॥
 कामं क्रोधं च हर्षं च भयं मोहं तथैव च ।
 ममैव विद्धि रोमाणि सर्वाण्येतानि सत्तम ॥३१२॥
 प्राप्नुवन्ति नरा विप्र यत् कृत्वा कर्म शोभनम् ।
 सत्यं दानं तपश्चोग्रमहिंसा चैव जन्तुषु ॥३१३॥
 यद्विधानेन विहिता मम देहविहारिणः ।
 मयाऽऽविर्भूतविज्ञाना विचेष्टन्ते न कामतः ॥३१४॥
 सम्यग् वेदमधीयाना यजन्ते विविधैर्मखैः ।
 शान्तात्मानो जितक्रोधाः प्राप्नुवन्ति द्विजातयः ॥३१५॥

मैं ही प्रलय का कारण संवर्तक हूँ । मैं ही संवर्तक अग्नि तथा संवर्तक सूर्य और संवर्तक वायु हूँ और जो आकाश में दिव्य तारे दिखाई देते हैं, वे सब मेरे रोमकूप हैं । रत्नाकर समुद्र और चारों दिशाएँ मेरे वस्त्र शय्या और निवास स्थान हैं । देवताओं के कार्य हेतु मैंने ही इनकी पृथक् पृथक् रचना की है । विप्रश्रेष्ठ ! काम, क्रोध, हर्ष, भय तथा मोह—इन सब विकारों को मेरी ही रोमावली समझो । जिन शुभ कर्मों द्वारा मनुष्य को मोक्ष-प्राप्ति होती है, वे सत्य, दान, तप और किसी भी प्राणी की हिंसा न करने का स्वभाव मेरे ही विधान का फल है और यह मेरे ही देह में विहार करते हैं । जब मैं प्राणियों के ज्ञान को प्रकट करता हूँ तभी वे चेष्टाशील होते हैं, स्वेच्छा से वे कुछ भी नहीं कर सकते । जो द्विजाति मनुष्य भले प्रकार वेदाध्ययन कर, शान्त नित्त और क्रोध-रहित होकर विविध प्रकार के यज्ञों द्वारा मेरा यजन करते हैं, वे ही मुझे प्राप्त करते हैं ॥३०८-३१५॥

प्राप्तुं न शक्यो यो विद्वन् नरेर्दुष्कृतकर्मभिः ।
 लोभाभिभूतैः कृपणैरनार्यैरकृतात्मभिः ॥३१६॥

तं मां महाफलं विद्धि नराणां भावितात्मनाम् ।

सृष्टुप्रापं विमूढानां मार्गं योगैर्निषेवितम् ॥३१७

यदा यदा च धर्मस्य ग्लानिर्भवति सत्तम ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥३१८

दैत्या हिंसानुरक्ताश्च अवध्याः सुरसत्तमैः ।

राक्षसाश्चापि लोकेऽस्मिन् यदौत्पत्स्यन्ति दारुणा ॥३१९

तदाहं सम्प्रसूयामि गृहेषु शुभकर्मणाम् ।

प्रविष्टो मानुषं देहं सर्वं प्रशमयाम्यहम् ॥३२०

सृष्ट्वा देवमनुष्यांस्तु गन्धर्वोरगराक्षसान् ।

स्थावराणि च भूतानि संहाराम्यात्ममायया ॥३२१

कर्मकाले पुनर्देहमविचिन्त्यं सृजाम्यहम् ।

आविश्य मानुषं देहं मर्यादाबन्धकारणात् ॥३२२

पापी, लोभी, कृपण, अनार्य, अजितात्मा मनुष्य जिसे कभी प्राप्त नहीं कर सकते, वह महान् फल मुझे जानो । शुद्ध अन्तःकरण वाले मनुष्यों के लिए सुलभ योग सेवित मार्ग मैं ही हूँ । मूढ़ पुरुषों के लिए मैं अत्यन्त दुष्प्राप्य हूँ । जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं प्रकट होता हूँ । जब हिंसाप्रेमी दैत्य श्रेष्ठ देवताओं को द्वारा मारे नहीं जा सकते और भयंकर राक्षस उत्पन्न होकर अत्याचार करने लगते हैं, तब मैं पुण्यात्माओं के गृहों में, मनुष्य देह धारण कर प्रकट होता हूँ और उन दैत्यों-राक्षसों के सभी उपद्रवों का शमन कर देता हूँ । मैं ही अपनी माया से देव, मनुष्य, गन्धर्व, नाग, राक्षस तथा स्थावर प्राणियों को उत्पन्न करता और समय आने पर संहार कर देता हूँ । फिर मैं ही सृष्टि-रचना के समय अचिन्त्य स्वरूप धारण करता हूँ और मर्यादा रखने के लिये मनुष्य देह में प्रकट होता हूँ ॥३१६-३२२॥

श्वेतः कृतयुगे वर्णः पीतस्त्रेतायुगे मम ।

रक्तो द्वापरमासाद्य कृष्णः कलियुगे तथा ॥३२३

त्रयो भागा ह्यधर्मस्य तस्मिन् काले भवन्ति च ।

अन्तकाले च सम्प्राप्ते कालो भूत्वातिदारुणः ॥३२४

त्रलोक्यं नाशयाम्येकः कृत्स्नं स्थावरजङ्गमम् ।

अहं त्रिवर्त्मा विश्वात्मा सर्वलोकसुखावहः ॥३२५॥

आविर्भूः सर्वगोऽनन्तो हृषीकेश उहक्रमः ।

कालचक्र नयाम्येको ब्रह्मन्नहमरूपकम् ॥३२६॥

शमनं सर्वभूतानां सर्वलोककृतोद्यमम् ।

एव प्रणिहितः सम्यङ् ममात्मा मुनिसत्तम ।

सर्वभूतेषु विप्रेन्द्र न च मां वेत्ति कश्चन ॥३२७॥

सर्वलोके च मां भक्ताः पूज्यन्ति च सर्वशः ।

यच्च किञ्चित् त्वया प्राप्तं मयि क्लेशात्मकं द्विज ॥३२८॥

सुखोदयाय तत् सर्वं श्रेयसे च तवानघ ।

यच्च किञ्चित् त्वया लोके हृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥३२९॥

विहितः सर्वथंवासौ ममात्मा भूतभावनः ।

अर्धं मम शरीरस्य सर्वलोकपितामहः ॥३३०॥

सत्युग में मेरे शरीर का वर्ण श्वेत होता है । त्रेता में पीला, द्वापर में लाल और कलियुग में काला होता है । उस कलियुग में धर्म का एक ही भाग रहता है, तीन भाग में अधर्म रहता है । प्रलय काल उपस्थित होने पर अत्यन्त दारुण कालरूप हुआ मैं एकाकी ही तीनों लोकों को नष्ट कर डालता हूँ । मैं तीनों लोकों में व्याप्त, सम्पूर्ण विश्व का आत्मा, सब को सुखप्रद, सबको उत्पन्न करने वाला, सर्व व्यापी, अनन्त, इन्द्रियों का नियन्ता और अत्यन्त विक्रम वाला हूँ । सब भूतों का संहारक और सबको उद्योगशील बनाने वाले अव्यक्त कालचक्र का संचालक मैं ही हूँ । इस प्रकार हे मुनिवर ! मेरा स्वरूपभूत आत्मा ही सब प्राणियों में भले प्रकार स्थित है, फिर भी मुझे कोई नहीं जानता । सम्पूर्ण विश्व में भक्त-जन सब प्रकार से मेरा ही पूजन करते हैं । मेरे पास आकर तुमने जो कुछ क्लेश पाया है, वह सब तुम्हारे भावी कल्याण और सुख को ही साध्य करने वाला है । हे निष्पाप ! संसार में तुमने जो कुछ भी स्थावर जंगम पदार्थ देखा है, उसके रूप में मेरा भूत-भावन आत्मा ही प्रत्यक्ष है । सब लोकों के पितामह ब्रह्मा मेरा आधा शरीर है ॥३३०॥

अहं नारायणो नाम शङ्खचक्रगदाधरः ।

यावद्युगानां विप्रर्षे सहस्रपरिवर्तनात् ॥३३१

तावत् स्वपिमि विश्वात्मा सर्वभूतानि मोहयन् ।

एवं सर्वमहं कालमिहास्से मुनिसत्तम ॥३३२

अशिशुः शिशुरूपेण यावद्ब्रह्मा न बुध्यते ।

मया च दत्तो विप्राग्रच वरस्ते ब्रह्मरूपिणा ॥३३३

असकृत् परितुष्टेन विप्रर्षिगणपूजित ।

सर्वमेकार्णवं दृष्ट्वा नष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥३३४

विक्रवोऽसि मया ज्ञातस्ततस्ते दर्शितं जगत् ।

अभ्यन्तरं शरीरस्य प्रविष्टोऽसि यदा मम ॥३३५

दृष्ट्वा लोकं समस्तं च विस्मितो नावबुध्यसे ।

ततोऽसि वक्त्राद् विप्रर्षे द्रुतं निःसारितो मया ॥३३६

विप्रवर ! शंख, चक्र और गदाधारी विश्वात्मा नारायण मैं ही हूँ । सहस्रयुगों के अन्त में जो प्रलय काल होता है, उसमें सब प्राणियों को मोहित करके जल में शयन कराता हूँ । यद्यपि मैं बालक नहीं हूँ, परन्तु ब्रह्माजी के जाग उठने तक सदा इसी प्रकार बाल रूप में यहाँ रहता हूँ । ब्रह्मन् ! तुम महर्षियों द्वारा पूजित हो । ब्रह्मा के रूप में तुम्हारे ऊपर बार-बार सन्तुष्ट होकर मैंने ही इच्छित वर दिया है । मैंने यह समझ कर कि तुम सम्पूर्ण चराचर विश्व को एकार्णव में निमग्न देख कर व्याकुल हो रहे हो, तुम्हें विश्व का दर्शन कराया है । जब तुम मेरे देह में प्रविष्ट हुए और विश्व को देख कर आश्चर्य-चकित हो अचेत होगये थे, तभी मैंने तुम्हें तुरन्त अपने मुख से बाहर निकाल दिया ॥३३१-३३६॥

आख्यातस्ते मया चात्मा दुर्ज्ञेयो हि सुरासुरैः ॥३३७

यावत् स भगवान् ब्रह्मा न बुध्येत महातपाः ।

तावत् त्वमिह विप्रर्षे विश्वब्धश्चर वै सुखम् ॥३३८

ततो विबुद्धे तस्मिन्स्तु सर्वलोकपितामहे ।

एकीभूतो हि स्रक्ष्यामि शरीराणि द्विजोत्तम ॥ ३३९

आकाशं पृथवीं ज्योतिर्वायुं सलिलमेव च ।
 लोके यच्च भवेच्छेषमिह स्थावरजङ्गमम् ॥३४०॥
 इत्युक्त्वान्तर्हितस्तात स देवः परमाद्भुतः ।
 प्रजाश्चेमाः प्रपश्यामि विचित्रा विविधाः कृताः ॥३४१॥
 एवं दृष्टं मया राजस्तस्मिन् प्राप्ते युगक्षये ।
 आश्चर्यं भरतश्रेष्ठ सर्वधर्मभृतां वर ॥३४२॥
 यः स देवो मया दृष्टः पुरा पद्मायतेक्षणः ।
 स एष पुरुषव्याघ्र सम्बन्धी ते जनार्दनः ॥३४३॥

इस प्रकार मैंने तुम्हें अपना स्वरूप बताया है, जिसका ज्ञान देवताओं और असुरों के लिए भी दुर्लभ है। जब तक महा तपस्वी ब्रह्माजी न जागें, तब तक तुम विश्वास पूर्वक सुख से विचरते रहो। विप्रवर ! सर्व लोकों के पितामह ब्रह्माजी के जागने पर मैं उनसे एकीभूत होकर समस्त शरीरों की रचना करूँगा। आकाश, पृथिवी, अग्नि, वायु, जल और इस जगत् में जो अन्य चराचर पदार्थ अवशिष्ट हैं, उन सभी की रचना करूँगा। मार्कण्डेयजी बोले—युधिष्ठिर ! ऐसा कह कर वे परम अद्भुत देवता अन्तर्धान हो गए। उनके अदृश्य होने पर मैंने देखा कि यह विभिन्न प्रकार की अद्भुत प्रजा उत्पन्न हो रही है। सब धर्मात्माओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! उस प्रलय काल के उपस्थित होने पर इस प्रकार यह विस्मयकारक अनुभव मुझे हुआ। प्राचीन प्रलयकाल में मुझे जिन पद्माक्ष भगवान् का बाल रूप में दर्शन हुआ था, ये तुम्हारे सम्बन्धी भगवान् श्रीकृष्ण वही हैं ॥३३७-३४३॥

अस्यैव वरदानाद्धि स्मृतिर्न प्रजहाति माम् ।
 दीर्घमायुश्च कौन्तेय स्वच्छन्दमरणं मम ॥३४४॥
 स एष कृष्णो वाष्पेयः पुराणपुरुषो विभुः ।
 आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा क्रीडन्निव महाभुजः ॥३४५॥
 एष धाता विधाता च संहर्ता चैव शाश्वतः ।
 श्रीवत्सवक्षा गोविन्दः प्रजापति पतिः प्रभुः ॥३४६॥

दृष्ट्वेमं वृष्णिप्रवरं स्मृतिर्मामियमागता ।

आदिदेवमयं जिष्णुं पुरुषं पीतवाससम् ॥३४७

सर्वेषामेव भूतानां पिता माता च माधवः ।

गच्छध्वमेनं शरणं शरण्यं कौरवर्षभाः ॥३४८

इतके ही वरदान से मुझे पूर्व जन्म की याद भूल नहीं पाती । मेरी दीर्घायु और स्वच्छन्द मृत्यु के कारण भी यही हैं । वृष्णिकुल भूषण सर्व-व्यापी, अचिन्त्य स्वरूप, पुराण-पुरुष श्रीहरि श्रीकृष्ण ही हैं, जिन्हें मैंने पूर्वकाल में बाल रूप में देखा था । वे ही आविर्भूत होकर यहाँ अनेक प्रकार की लीलाएँ करते दिखाई देते हैं । श्रीवत्स चित्त जिनके वक्षस्थल में सुशोभित है, वही भगवान् गोविन्द इस जगत् की रचना, पालन और संहार करने वाले सनातन पुरुष तथा प्रजापतियों के भी स्वामी हैं । इन आदि देवरूप, विजयशील, पीताम्बरधारी पुरुष, वृष्णिकुल में श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन कर मुझे यह पुरातन घटना याद हो आई । पाण्डवो ! यह माधव ही सब भूतों के माता-पिता हैं । सब के शरणदाता भी यही हैं । इसलिये तुम सब इन्हीं की शरण में जाओ ॥३४४-३४८॥



१६-भृगु गीता

कुतः सृष्टमिदं विश्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।

प्रलये च कमभ्येति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१

ससागरः सगगनः सशैलः सबलाहकः ।

सभूमिः साग्निपवनो लोकोऽयं केन निर्मितः ॥२

कथं सृष्टानि भूतानि कथं वर्णविभक्तयः ।

शौचाशौचं कथं तेषां धर्माधर्मविधिः कथम् ॥३

कीदृशो जीवतां जीवः क्व वा गच्छन्ति ये मृताः ।

अस्मात्लोकादमुं लोकं सर्वं शंसतु नो भवान् ॥४

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।

भृगुणाभिहितं शास्त्रं भरद्वाजाय पृच्छते ॥५

कंलासशिखरे दृष्ट्वा दीप्यमानं महौजसम् ।

भृगुं महर्षिमासीनं भरद्वाजोऽन्वपृच्छत ॥६

ससागरः सगगनः सशैलः सबलाहकः ।

सभूमिः साग्निपवनो लोकोऽयं केन निर्मितः ॥७

युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह ! इस स्थावर जंगममय विश्व की उत्पत्ति किस से हुई ? प्रलयकाल आने पर यह किस में लय हो जाता है ? यह मेरे प्रति कहें । सागर, आकाश, पर्वत, मेघ, पृथिवी, अग्नि और पवन सहित इस लोक का निर्माण किसने किया है ? प्राणियों की सृष्टि कैसे हुई ? वर्णों का किस प्रकार विभाजन हुआ ? शौच-अशौच की व्यवस्था उनमें किस प्रकार बनी ? धर्म-अधर्म का विधान किस प्रकार हुआ ? जीवित प्राणियों का जीवात्मा किस प्रकार का है ? मृत्यु को प्राप्त हुए मनुष्य कहाँ चले जाते हैं। इस लोक से उस लोक में किस प्रकार

जाते हैं । यह सभी बात कहने की कृपा करिये । भोष्मजी ने कहा—इस विषय में विद्वद्जन एक पुरातन इतिहास कहा करते हैं, जिसमें भरद्वाज ऋषि ने भृगुजी से प्रश्न कर उपदेश प्राप्त किया है । कैलाश-पर्वत के शिखर पर महातेजस्वी महर्षि भृगु अपने तेज से देदीप्यमान हुए बैठे थे, उस समय भरद्वाज ऋषि ने उनसे प्रश्न किया । समुद्र, आकाश, पर्वत, मेघ, पृथिवी, अग्नि और पवन सहित इस लोक को किप्रने बनाया है ? ॥१-७॥

कथं सृष्टानि भूतानि कथं वर्णविभक्तयः ।
 शौचाशौचं कथं तेषां धर्माधर्मविधिः कथम् ॥८॥
 कादृशो जीवतांजोवः कवागच्छन्ति ये मृताः ।
 परलोकमिमं चापि सर्वं शसितुमर्हसि ॥९॥
 नारायणो जगन्मूर्तिरन्तरात्मा सनातनः ।
 कूटस्थोऽक्षर अव्यक्तो निर्लेपो व्यापकः प्रभुः ॥१०॥
 प्रकृतेः परतो नित्यमिन्द्रियैरप्यगोचरः ।
 स सिसृक्षुः सहस्रांशादसृजत् पुरुषं प्रभुः ।
 मानसो नाम विख्यातः श्रुतपूर्वो महर्षिभिः ।
 अनादिनिधनो देवस्तथाभेद्याऽजरामरः ॥११॥
 अव्यक्त इति विख्यातः शाश्वतोऽथाक्षयोऽव्ययः ।
 यतः सृष्टानि भूतानि जायन्ते च म्रियन्ति च ॥१२॥
 सोऽसृजत् प्रथमं देवो महान्तं नाम नामतः ।
 महान् ससर्जहंकारं स चापि भगवानथ ॥१३॥
 आकाशमिति विख्यातं सबभूतधरः प्रभुः ।
 आकाशादभवद् वारि सलिलादग्निमारुतौ ।
 आग्निमारुतसंयोगात् ततः समभवन्मही ॥१४॥

प्राणियोंकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई ? वर्ण किस प्रकार बँटे ? उनमें शौच-अशौच की व्यवस्था किस प्रकार हुई ? धर्म अधर्म का विधान किस प्रकार किया गया ? जीवित प्राणियों के जीवात्मा का स्वरूप कैसा है ? मृत्यु को प्राप्त हुए मनुष्य कहाँ जाते हैं ? यह लोक और परलोक किस

प्रकार का है ? यह सभी मेरे प्रति कहने की कृपा करें। भरद्वाज जी ने जब इस प्रकार का संशय प्रश्न रूप में रखा, तब ब्रह्माजी के समान तेजस्वी ब्रह्मर्षि भगवान् भृगुजी ने उन सब प्रश्नों का उत्तर दिया। भृगुजी ने कहा—हे मुने ! भगवान् सम्पूर्ण विश्व रूप, सभी के अन्तरात्मा और सनातन पुरुष हैं। वे ही कूटस्थ, अक्षर, अव्यक्त, निर्लिप्त, व्यापक और प्रभु हैं। वही प्रकृति से परे, नित्य तथा इन्द्रियों द्वारा अप्राप्य हैं। जब उन भगवान् नारायण के मन में सृष्टि रचने का संकल्प हुआ, तब उन्होंने अपने हजारवें अंश से एक पुरुष की उत्पत्ति की। महर्षियों ने उसे सर्व प्रथम मानस पुरुष के नाम से सुना था। वह प्राचीन काल में प्रकट हुए मानसदेव अनादि, अनन्त, अभेद्य, अजर और अमर हैं। वही अव्यक्त नाम से प्रसिद्ध है। वही शाश्वत, अक्षय और अव्यय है। उससे उत्पन्न होने वाले सभी देहधारी जन्म लेते और मरते रहते हैं। उस स्वयंभू देवता ने सर्व प्रथम महत्तत्त्व को रचा और उस महत्तत्त्व रूप भगवान् ने अहंकार को उत्पन्न किया। सभी भूतों को धारण करने वाले अहंकार ने शब्दतन्मात्रा रूप आकाश की रचना की। आकाश ने जल को और जल ने अग्नि तथा वायु को प्रकट किया। शग्नि और वायु के संयोग से इस पृथिवी की उत्पत्ति हुई ॥८-१४॥

ततस्तेजोमयं दिव्यं पद्मं सृष्टं स्वयम्भुवा ।

तस्मात् पद्मात्समभवद्ब्रह्मावेदमयो निधिः ॥१५

अहंकार इति ख्यातः सर्वभूतात्मभूतकृत् ।

ब्रह्मा वै स महातेजा य एते पञ्च धातवः ॥१६

शैलास्तस्यास्थिसंज्ञास्तु मेदो मांसं च मेदिनी ।

समुद्रास्तस्य रुधिरमाकाशमुदरं तथा ॥१७

पवनश्चैव निःश्वासस्तेजोऽग्निर्निम्नगाःशिराः ।

अग्नीषोमौ तु चन्द्राकौ नयने तस्य विश्रुते ॥१८

नभश्चोर्ध्वं शिरस्तस्यक्षितिः पादौ भुजौ दिशः ।

दुर्विज्ञेयो ह्यचिन्त्यात्मा सिद्धैरपि न संशयः ॥१९

स एष भगवान् विष्णुरनन्त इति विश्रुतः ।

सर्वभूतात्मभूतस्थो दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिः ॥२०

अहंकारस्य यः स्रष्टा सर्वभूतभवाय वै ।

यतः समभवद् विश्वं पृष्ठोऽहं यदिह त्वया ॥२१

फिर उस स्वयंभू मानस देवता ने प्रथम एक तेजोमय तथा दिव्य कमल की सृष्टि की। उसी कमल के द्वारा वेदमय निधि स्वरूप ब्रह्माजी का उद्भव हुआ। उनकी अहंकार नाम से भी ख्याति है। वे सभी भूतों के आत्मा और उन भूतों के उत्पन्न करने वाले हैं। इन पंचमहाभूतों के रूप में ब्रह्माजी ही प्रकट हुए हैं। पर्वत उनकी अस्थियाँ हैं, पृथिवी उनका भेद तथा मांस है, समुद्र उनका रक्त और आकाश उनका पेट है। पवन उनका निःश्वास है, अग्नि तेज है, नदियाँ नाड़ियाँ हैं, तथा सूर्य और चन्द्रमा, जो कि अग्नि और सोम भी कहे हैं, ब्रह्माजी के नेत्र कहे जाते हैं। आकाश का ऊपरी भाग उनका सिर, पृथिवी पाँव और दिशाएँ हैं। वे ब्रह्माजी अचिन्त्य स्वरूप तथा सिद्ध पुरुषों के भी जानने में नहीं आते। इस बात में संशय नहीं है। वे स्वयंभू ब्रह्मा ही भगवान् विष्णु हैं, वही अनन्त कहे जाते हैं। वही सब भूतों के अन्तःकरणों में अन्तर्यामी आत्मा रूप से स्थित हैं। मलिन हृदय वाले व्यक्तियों के लिये इनका स्वरूप-ज्ञान अत्यंत कठिन है। वे सभी भूतों की उत्पत्ति हेतु प्राकृत अहंकार को उत्पन्न करते हैं। विश्व की उत्पत्ति किस प्रकार हुई है तुम्हारे उस प्रश्न का उत्तर भी समुचित रूप से दे चुका हूँ ॥१५-२१॥

गगनस्य दिशां चैव भूतलस्यानिलस्य वा ।

कान्यत्र परिमाणानि संशयं छिन्धि तत्त्वत ॥२२

अनन्तमेतदाकाशं सिद्धदैवतसेवितम् ।

रम्यं नानाश्रयाकीर्णं यस्यान्तो नाधिगम्यते ॥२३

ऊर्ध्वं गतेरधस्तात्तु चन्द्रादित्यौ न दृश्यतः ।

तत्र देवाः स्वयं दीप्ता भास्वराभाग्निवर्चसः ॥२४

ते चाप्यन्तं न पश्यन्ति नभसः प्रथितौजसः ।

दुर्गमत्वादनन्तत्वादिति मे विद्धि मानद ॥२५

उपरिष्ठोपरिष्ठात्तु प्रज्वलद्भिः स्वयंप्रभैः ।

निरुद्धमेतदाकाशमप्रमेयं सुरैरपि ॥२६

पृथिव्यन्ते समुद्रास्तु समुद्रान्ते तमः स्मृतम् ।

तमसोऽन्ते जलं प्राहुर्जलस्यान्तेऽग्निरेव च ॥२७

रसातलान्ते सलिलं जलान्ते पन्नगाधिपाः ।

तदन्ते पुनराकाशमाकाशान्ते पुनर्जलम् ॥२८

भरद्वाज ने कहा—आकाश, दिशा, भूमि और पवन का कितना-कितना परिमाण है ? अब यह ठीक प्रकार कह कर मेरा संशय दूर करिये । भृगुजी बोले—यह आकाश अनन्त है, इसमें अनेकों सिद्ध देवता रहते हैं । इसमें उनके लोक भी सम्मिलित हैं । यह अत्यन्त रमणीय तथा अन्त-रहित है । उपर और नीचे गमन करने से जहाँ सूर्य-चन्द्रमा दिखाई नहीं देते, वहाँ सूर्य और अग्नि के समान तेज वाले देवता अपने प्रकाश से स्वयं प्रकाशित होते हैं । परन्तु, उन तेजस्वी नक्षत्र रूपधारी देवताओं को भी आकाश का अन्त दिखाई नहीं देता, क्योंकि यह अनन्त और दुर्गम है, यह बात ठीक प्रकार समझलो ऊपर तथा उससे भी ऊपर प्रकाशित होने वाले तथा अपने ही प्रकाश से पूर्ण देवताओं से यह अप्रमेय आकाश भी परिपूर्ण जान पड़ता है । पृथिवी के अन्त में समुद्र तथा समुद्र के अन्त में घोर अन्धकार कहा जाता है । अन्धकार के अन्त में जल है और जल के अन्त में अग्नि का विद्यमान होना सुनागया है । रसातल के अन्त में जल है, जल के अन्त में नागराज शेष भगवान् हैं, शेषजी के अन्त में फिर आकाश है और आकाश के अन्तिम भाग में फिर जल का होना कहा है ॥२२-२८॥

एवमन्तं भगवतः प्रमाणं सलिलस्य च ।

अग्निमास्ततोयेभ्यो दुर्ज्ञेयं देवतरपि ॥२९

अग्निमास्ततोयानां वर्णाः क्षितितलस्य च ।

आकाशादवगृह्यन्ते भिद्यन्तेऽतत्त्वदर्शनात् ॥३०

पठन्ति च व मुनयः शास्त्रेषु विविधेषु च ।

त्रैलोक्ये सागरे चैव प्रमाणं विहितं यथा ॥३१

अदृश्याय त्वगम्याय कः प्रमाणमुदाहरेत् ।
 सिद्धानां देवतानां च यदा परिमिता गतिः ॥३२
 तदा गौणमनन्तस्य नामानन्तेति विश्रुतम् ।
 नामधेयानुरूपस्य मानसस्य महात्मनः ॥३३
 यदा तु दिव्यं तद् रूपं ह्रसते वर्धते पुनः ।
 कोऽन्यस्तद्वेदितुं शक्तोऽपि स्यात्तद्विधोऽपरः ॥३४
 ततः पुष्करतः सृष्टः सर्वज्ञो मूर्तिमान् प्रभुः ।
 ब्रह्मा धर्ममयः पूर्वं प्रजापतिरनुत्तमः ॥३५

इस प्रकार भगवान् का, आकाश का, जल का, अग्नि का और पवन का परिणाम अथवा अन्त जानना देवताओं के लिये भी दुर्ज्ञेय समझना चाहिये । अग्नि, वायु, जल और पृथिवी के रंग रूप आकाश से ही ग्रहण किये जाते हैं, इसलिये आकाश से भिन्न कुछ भी नहीं है, तत्त्वज्ञान के न होने से ही उनमें भेद का होना मालुम होता है । विविध शास्त्रों में ऋषियों ने तीनों लोकों तथा समुद्रों का तो कुछ निश्चित परिणाम कहा भी है, परन्तु जो परमात्मा इन्द्रियातीत है, उसका परिणाम कोई किस प्रकार कहेगा ? क्योंकि इन सिद्ध और देवताओं का ज्ञान भी तो किसी प्रकार सीमित ही है । इसलिये महात्मा मानसदेव को अपने नाम के अनुसार अनन्त ही समझना चाहिये । उनके गुणानुसार ही उनकी अनन्त नाम से प्रसिद्धि है । जब वे परमात्मा अपने दिव्य रूप को अपनी ही माया से कभी छोटा और कभी बड़ा कर लेते हैं, तब उनके समान ही ऐसा प्रतिभाशाली कौन है, जो उनके स्वरूप का यथार्थ परिणाम को जान सकता हो । फिर पूर्वोक्त कमल से सर्वज्ञ, मूर्तिमान्, प्रभुत्व सम्पन्न और परम श्रेष्ठ प्रथम प्रजापति धर्ममय ब्रह्माजी प्रकट हुए ॥३६-३५॥

पुष्काराद् यदि सम्भूतो ज्येष्ठः भवति पुष्करम् ।
 ब्रह्माणं पूर्वजं चाह भवान् संदेह एव मे ॥३६
 मानसस्येह या मूर्तिर्ब्रह्मत्वं समुपागता ।
 तस्यासनविधानार्थं पृथिवी पद्ममुच्यते ॥३७

कर्णिका तस्य पद्मस्य मेरुगंगनमुच्छ्रितः ।

तस्य मध्ये स्थितो लोकान् सृजते जगतः प्रभुः ॥३८

प्रजाविसर्गं विविधं कथं स सृजते प्रभुः ।

मेरुमध्ये स्थितो ब्रह्मा तद् ब्रूहि द्विजसत्तम ॥३९

प्रजाविसर्गं विविधं मानसो मनसासृजत् ।

संरक्षणार्थं भूतानां सृष्टं प्रथमतो जलम् ॥४०

यत् प्राणः सर्वभूतानां वर्धन्ते येन च प्रजाः ।

परित्यक्ताश्च नश्यन्ति तेनेदं सर्वमावृतम् ॥४१

पृथिवी पर्वता मेघा मूर्तिमन्तश्च ये परे ।

सर्वं तद् वारुणं ज्ञेयमापस्तस्तम्भिरे यतः ॥४२

भरद्वाज ने कहा—यदि ब्रह्माजी की उत्पत्ति कमल से हुई है, तब तो कमल ही बड़ा हुआ । परन्तु, आपने ब्रह्माजी को सबसे पहिले उत्पन्न हुए कहा है, इसलिये मेरे मन में यह सन्देह बना हुआ है । भृगुजी ने कहा—मानसदेव का जो रूप कहा है, वही ब्रह्मा के रूप में प्रकट माना जाता है । उन ब्रह्माजी के आसन के निमित्त इस पृथिवी को ही कमल कहा गया है । मेरु पर्वत इस कमल की कर्णिका है, जो कि आकाश तक ऊँचा है । उसी पर्वत के मध्य में स्थित हुए ब्रह्माजी सब लोकों की रचना करते हैं । भरद्वाज ने प्रश्न किया—हे द्विजोत्तम ! मेरु पर्वत के मध्य में स्थित हुए ब्रह्माजी विविध प्रकार की प्रजाओं को किस प्रकार रचते हैं, यह मेरे प्रति कहिये । भृगुजी ने कहा—उन मानस देवता ने अपने मानसिक संकल्प से ही विविध प्रकार की सृष्टि रची है । उन्होंने प्राणियों की रक्षा हेतु सर्व प्रथम जल को उत्पन्न किया । वह जल ही सब प्राणियों का जीवन है, उसी के द्वारा प्रजा वृद्धि को प्राप्त होती है । जल के अभाव में प्राणी नाश को प्राप्त होते हैं । जल ने ही सम्पूर्ण विश्व का व्याप्त कर रखा है । पृथिवी, पर्वत, मेघ तथा अन्य सभी मूर्तिमान वस्तुएँ जलमय ही समझनी चाहिये । क्योंकि वे सभी जल के द्वारा ही स्थिर हैं ॥३९-४२॥

कथं सलिलमुत्पन्नं कथं चैवाग्निमारुतो ।
 कथं वा मेदिनी सृष्टेत्यत्र मे संशयो महान् ॥४३॥
 ब्रह्मकल्पे पुरा ब्रह्मन् ब्रह्मर्षीणां समागमे ।
 लोकसम्भवसंदेहः समुत्पन्नो महत्तमनाम् ॥४४॥
 तेऽतिष्ठन् ध्यानमालम्ब्य मौनमास्थाय निश्चलाः ।
 त्यक्ताहाराः पवनपा दिव्यं वर्षशतं द्विजाः ॥४५॥
 तेषां ब्रह्ममयी वाणी सर्वेषां श्रोत्रमागमत् ।
 दिव्या सरस्वती तत्र सम्बभूव नभस्तलात् ॥४६॥
 पुरा स्तिमितकाशमनन्तमचलोपमम् ।
 नष्टचन्द्रार्कपवनं प्रसुप्तमिव सम्प्रभौ ॥४७॥
 ततः सलिलमुत्पन्नं तमसीवापरं तमः ।
 तस्माच्च सलिलोत्पीडादुदतिष्ठत मारुतः ॥४८॥
 यथा भाजनमच्छिद्रं निःशब्दमिव लक्ष्यते ।
 तच्चाग्नेया पूर्णमाणां सशब्दं कुरुतेऽनिलः ॥४९॥

भरद्वाज ने प्रश्न किया—हे भगवन् ! जल किस प्रकार उत्पन्न हुआ ? अग्नि, वायु और पृथिवी किस प्रकार रचे गये ? भृगुजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! प्राचीन काल में जब ब्रह्म-कल्प चल रहा था, तब ब्रह्मर्षियों का परस्पर समागम हुआ था । उस सभा में लोक-सृष्टि के विषय में संदेह किया गया था । उन ब्रह्मर्षियों ने भोजन छोड़ दिया, वायु का पान करते हुए सौ दिव्य वर्षों तक मौन रह कर निश्चल भाव से ध्यान-मग्न रहे आये । उस ध्यानावस्था में उन सबने ब्रह्ममयी वाणी सुनी, उस समय आकाश से दिव्य दर्शन सरस्वती का आविर्भाव हुआ था । उस ब्रह्मवाणी ने कहा—प्राचीन काल में अनन्त आकाश पर्वत के समान अटल था । उसमें सूर्य, चन्द्रमा और वायु दिखाई नहीं देते थे । वह सोता हुआ सा प्रतीत होता है । फिर उस आकाश से जल उत्पन्न हुआ, जैसे अन्धकार में ही दूसरा अन्धकार उत्पन्न हुआ हो । उस जल-प्रवाह से ही वायु का उत्पान हो गया । जैसे छिद्र-रहित कोई पात्र निःशब्द-सा दिखाई देता है,

परन्तु जब उसमें छेद करके जल भरते हैं, तब वायु उसमें शब्द प्रकट कर देता है ॥४३-४६॥

तथा सलिलसंरुद्धे नभसोऽन्ते निरन्तरे ।

भित्त्वार्षवतलं वायुः समुत्पतति घोषवान् ॥५०॥

स एष चरते वायुरर्णवोत्पीडसम्भवः ।

आकाशस्थानमासाद्य प्रशान्तिं नाधिगच्छति ॥५१॥

तस्मिन् वाय्वम्बुसंघर्षे दीप्ततेजा महाबलः ।

प्रादुरभूद्धर्ध्वशिखः कृत्वा निस्तिमिरं नभः ॥५२॥

अग्निः पवनसंयुक्तः खं समाक्षिपते जलम् ।

सोऽग्निमारुतसंयोगाद् घनत्वमुपपद्यते ॥५३॥

तस्याकाशे निपतितः स्नेहस्तिष्ठति योऽपरः ।

स संघातत्वमापन्नो भूमित्वमनुगच्छति ॥५४॥

रसानां सर्वगन्धानां स्नेहानां प्राणिनां तथा ।

भूमिर्द्योनिरिह ज्ञेया यस्यां सर्वं प्रसूयते ॥५५॥

इसी प्रकार आकाश प्रान्त सम्पूर्ण रूप से जल के द्वारा रुक गया, उसमें कहीं किंचित भी अवकाश नहीं रहा । तब उस एकार्णव तल प्रदेश को भेद कर भीषण घोष करता हुआ वायु उत्पन्न हो गया । इस प्रकार समुद्र के जलों से उत्पन्न हुआ यह वायु सर्वत्र विचरण करने लगा और वह आकाश के किसी भी भाग में जाकर शान्त न हो सका । वायु और जल के संघर्ष से अत्यन्त तेज वाले अग्नि देवता प्रकट हुए, इनकी ज्वालाएँ ऊपर की ओर उठती हुई आकाश के सम्पूर्ण अन्धकार को दूर कर रही थीं । वायु के संयोग से अग्नि जल को ऊपर उछालने में समर्थ हुआ और फिर वही जल अग्नि और वायु का संयोग पाकर घनीभूत हो गया । उसका जो गीलापन आकाश से पतित हुआ वह घनीभूत होकर पृथिवी के रूप में बदल गया । इस पृथिवी को सभी रसों, गन्धों, स्नेहों और प्राणियों का कारण समझो । क्योंकि इसी के द्वारा सब प्राणी उत्पन्न होते हैं ॥५०-५५॥

त एते धातवः पञ्च ब्रह्मा यानसृजत् पुरा ।
 आवृता यैरिमे लोका महाभूताभिसंज्ञिता ॥५६॥
 यदासृजत् सहस्राणि भूतानां स महामतिः ।
 पञ्चानामेव भूतत्व कथं समुपपद्यते ॥५७॥
 अमितानां महाशब्दो यान्ति भूतानि सम्भवम् ।
 ततस्तेषां महाभूतशब्दोऽयमुपपद्यते ॥५८॥
 चेष्टा वायुः खमाकाशमूष्माग्निः सलिल द्रवः ।
 पृथिवी चात्र संघातः शरीरं पाञ्चभौतिकम् ॥५९॥
 इत्येतैः पञ्चभिर्भूतैर्युक्तं स्थावरजङ्गमम् ।
 श्रोत्रं घ्राणं रसः स्पर्शो दृष्टिश्चेन्द्रियसंज्ञिताः ॥६०॥
 पञ्चभिर्यदि भूतैस्तु युक्ताः स्थावरजङ्गमाः ।
 स्थावराणां न दृश्यन्ते शरीरे पञ्च धातवः ॥६१॥
 अनूष्मणामचेष्टानां घनानां चैव तत्त्वतः ।
 वृक्षाणां नोपलभ्यन्ते शरीरे पञ्च धातव ॥६२॥
 न च स्पर्शं विजानन्ति ते कथं पाञ्चभौतिकाः ॥६३॥

भरद्वाज ने कहा—यह पाँच धातुएँ ही लोक में महाभूत कही जाती हैं, जिन्हें ब्रह्माजी ने सृष्टि के आरम्भ में रचा था और यही पंच महाभूत इन सब लोकों में व्याप्त हैं। परन्तु, जब उन महामति ब्रह्माजी ने अन्य सहस्रों भूतों को रचा है, तब इन पाँच को ही भूत कहना कहाँ तक ठीक है? भृगुजी ने कहा—यह पंच भूत ही अमित कहे गये हैं और इसीलिये इनके साथ 'महा' शब्द का योग हुआ है। इनके द्वारा ही भूत उत्पन्न होते हैं, इसलिये इनका 'महाभूत' कहा जाना युक्ति-संगत ही है। देहधारियों का देह इन पंच महाभूतों का संघात रूप ही है। इसमें जो चेष्टा है, वह वायु का अंश है। इसमें जहाँ खोखलापन है, वह आकाश का अंश है। गर्मी अग्नि का अंश, रक्त-आदि तरल पदार्थ जल का अंश तथा अस्थि मांस आदि पृथिवी के अंश हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण स्थावर-जंगम विश्व इन पंच भूतों से युक्त ही है। इन्हीं के सूक्ष्म अंश रूप में श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वाचा और नेत्र पाँच इन्द्रियाँ कही जाती हैं।

भरद्वाज ने कहा—आपके कहने के अनुसार यदि यह सभी स्थावर जंगम पदार्थ इन पंच महाभूतों से युक्त मान लें तो भी स्थावरों के देहों में पंच महाभूत दिखाई नहीं देते हैं। वृक्षों में उष्णता नहीं है, वे कोई चेष्टा भी नहीं करते और वे घन स्वरूप हैं इसलिये उनमें पंच महाभूत नहीं मिलते। वृक्ष सुनते नहीं, देखते नहीं, सूँघते नहीं, तथा स्पर्श का भी अनुभव नहीं करते, तो उन्हें पंच महाभूतों से युक्त किस प्रकार कहा जाता है ॥५६-६३॥

अद्रवत्वादनग्नित्वादभृमिवाद्वायुतः ।

आकाशस्याप्रमेयत्वाद् वृक्षाणां नास्ति भौतिकम् ॥६४

घनानामपि वृक्षाणामाकाशोऽस्ति न संशयः ।

तेषां पुष्पफलव्यक्तिनित्यं समुपपद्यते ॥६५

ऊष्मतो म्लायते पणं त्वक् फलं पुष्पमेव च ।

म्लायते शीर्यते चापि स्पर्शस्तेनात्र विद्यते ॥६६

वाप्वग्न्यशनिनिर्घोषैः फलं पुष्पं विशीर्यते ।

श्रोत्रेण गृह्यते शब्दस्तस्मापृच्छन्वन्ति पादपाः ॥६७

बल्ली वेष्टयते वृक्षं सर्वतश्चैव गच्छति ।

न ह्यदृष्टेऽथ मार्गोऽस्ति तस्मात् पश्यन्ति पादपाः ॥६८

पुण्यापुण्यैस्तथा गन्धैर्धूपैश्च विविधैरपि ।

अरोगाः पुष्पिताः सन्ति तस्माज्जघ्रन्ति पादपाः ॥६९

पादैः सलिलपानाच्च व्याधीनां चापि दर्शनात् ।

व्याधिप्रतिक्रियत्वाच्च विद्यते रसनं द्रुमे ॥७०

उनमें न तो पतलापन दिखाई देता है, न अग्नि का अंश अथवा पार्थिवता ही पायी जाती है और वायु का अंश ही प्रतीत होता है। आकाश तो अप्रमेय है ही, वह वृक्षों में हो ही नहीं सकता। इस प्रकार वृक्षों का पंच भौतिक होना सिद्ध नहीं होता। भृगुजी ने कहा—यद्यपि वृक्ष ठोस प्रतीत होते हैं, परन्तु उनमें आकाश होने में संशय नहीं है। इसी के कारण उनमें प्रतिदिन पुष्प फल आदि उत्पन्न होते हैं। वृक्षों की गर्मी के कारण ही उनके पत्ते, छाल, फल, पुष्प मुरझा कर गिर जाते

हैं। इसी से उनमें स्पर्श का होना भी प्रतीत होता है। वायु, अग्नि, विद्युत् की तड़तड़ाहट आदि शब्दों के होने पर भी वृक्षों से फल-पुष्पों को गिरते हुए देखते हैं। शब्द का ग्रहण श्रोत्र से ही होता है, इससे वृक्षों के श्रोत्र का होना और शब्द का सुनाई देना भी सिद्ध होता है। वृक्ष को चारों ओर से लपेटती हुई लता उसके ऊपर तक चढ़ जाती है। बिना देखे कोई भी मार्ग पर नहीं चल सकता, इससे वृक्षों का देखना भी सिद्ध होता है। पवित्र अथवा अपवित्र गन्ध से या विभिन्न प्रकार की धूपों की गन्ध से वृक्ष रोग-रहित रह कर फलते-फूलते हैं। इससे भी वृक्षों के द्वारा शब्द का सुनना सिद्ध होता है। वृक्ष अपने मूल के द्वारा जल पीते हैं। जब उन्हें कोई रोग हो जाता है, तब उसकी जड़ में औषधि डाल कर चिकित्सा भी की जाती है, इससे उनमें रस ग्रहण करने की शक्ति भी जानी जाती है ॥६४-७०॥

वक्त्रेणोत्पलनालेन यथोर्ध्वं जलमाददेत् ।

तथा पवनसंयुक्तः पादैः पिबति पादपः ॥७१॥

सुखदुःखयोश्च ग्रहणाच्छिन्नस्य च विरोहणात् ।

जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यां न विद्यते ॥७२॥

तेन तज्जलमादत्तं जरयत्यग्निमारुतौ ।

आहारपरिणामाच्च स्नेहो वृद्धिश्च जायते ॥७३॥

जङ्गमानां च सर्वेषां शरीरे पञ्च धातवः ।

प्रत्येकशः प्रभिद्यन्ते यैः शरीरं विचेष्टते ॥७४॥

त्वक् च मांसं तथास्थीनि मज्जा स्नायुश्च पञ्चमम् ।

इत्येतदिह संघातं शरीरे पृथिवीमयम् ॥७५॥

तेजो ह्यग्निस्तथा क्रोधश्चक्षुरुष्मा तथैव च ।

अग्निर्जरयते यश्च पञ्चाग्नेयाः शरीरिणः ॥७६॥

श्रोत्रं घ्राणं तथाऽऽस्यं च हृदयं कोष्ठमेव च ।

आकाशात् प्राणिनामेते शरीरे पञ्च धातवः ॥७७॥

जैसे मनुष्य कमल नाल को मुख में लगा कर उसके द्वारा जल पीता है, वैसे ही वायु की सहायता से सम्पन्न वृक्ष अपनी जड़ के द्वारा

जल को खींच लेता है। वृक्ष के कटने पर भी उसमें नवीन अंकुर उत्पन्न होते हैं इससे उनका सुख-दुख सहना और जीव का होना सिद्ध होता है। वृक्ष अचेतन नहीं है, यह इससे प्रतीत होता है। वृक्ष अपनी जड़ के द्वारा जल पीता है, उसे उसकी आन्तरिक अग्नि पचाती है। आहार का परिपाक हो जाने पर वृक्ष स्निग्ध होते हुए बढ़ते हैं। सब जंगमों के देहों में भी पंचभूत विद्यमान रहते हैं, परन्तु उनके रूपों में विभिन्नता दिखाई देती है। पंचभूतों के संयोग से ही शरीर चेष्टावान् दिखाई देते हैं। शरीर में त्वाचा, मांस, अस्थि, मज्जा और स्नायु इन पाँच द्रव्यों का समुदाय पार्थिव है। तेज, क्रोध, नेत्र, उष्मा और जठराग्नि—यह पाँचों वस्तुएँ अग्निमय होती हैं। कान, नाक, मुख, हृदय और उदर यह पाँचों खोखलेपन आकाश से उत्पन्न कहे गये हैं ॥७१-७७॥

श्लेष्मा पित्तमथ स्वेदो वसा शोणितमेव च ।

इत्यापः पञ्चधा देहे भवन्ति प्राणिनां सदा ॥७८॥

प्राणात् प्रणीयते प्राणी व्यानाद् व्यायच्छते तथा ।

गच्छत्यपानोऽधश्चैव समानो हृद्यवस्थितः ॥७९॥

उदानादुच्छ्रावसिति च प्रतिभेदाच्च भाषते ।

इत्येते वायवः पञ्च चेष्टयन्तीह देहिनम् ॥८०॥

भूमेर्गन्धगुणान् वेत्ति रसं चाद्भ्यः शरीरवान् ।

ज्योतिषा चक्षुषा रूपं स्पर्शं वेत्ति च बाहिना ॥८१॥

गन्धः स्पर्शो रसो रूपं शब्दश्चात्र गुणाः स्मृताः ।

तस्य गन्धस्य वक्ष्यामि विस्तराभिहितान् गुणान् ॥८२॥

इष्टश्चानिष्टगन्धश्च मधुरः कटुरेव च ।

निर्हारी संहतः स्निग्धो रूक्षो विशद एव च ।

एवं नवविधो ज्ञेयः पार्थिवो गन्धविस्तरः ॥८३॥

ज्योतिः पश्यति चक्षुर्भ्यां स्पर्शं वेत्ति च वायुना ॥८४॥

शब्दः स्पर्शश्चरूपं च रसश्चापि गुणाः स्मृताः ।

रसज्ञानं तु वक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु ॥८५॥

कफ, पित्त, स्वेद, चर्बी और रुधिर—यह गीले पदार्थ जल से उत्पन्न होते हैं। प्राण के द्वारा जीव चलता-फिरता है, व्यायाम करता है, अपान वायु ऊपर से नीचे की ओर जाती है, समान वायु हृदय में स्थित रहती है, उदान वायु से उच्छ्वास लिया जाता है तथा काष्ठ, तालु आदि के भेद से शब्दों का उच्चारण होता है। यह पाँचों कार्य वायु के हैं। इन्हीं से प्राणी चेष्टावान् होता है। जीव पृथिवी के द्वारा गन्ध गुण का अनुभव करता है। जलविषयक इन्द्रिय रसना है, इसके द्वारा रसास्वादन किया जाता है, तेजोमय तेत्र के द्वारा रूप देखा जाता है और वायु विषयक इन्द्रिय त्वचा के द्वारा स्पर्श गुण का अनुभव होता है। गन्ध, स्पर्श, रस, रूप और शब्द—यह पृथिवी के गुण हैं। इनमें से जो प्रधान गन्ध गुण हैं—उनको कहता हूँ। अनुकूल, प्रतिकूल, मधुर, कटु, निर्हारी, तीक्ष्ण गन्ध युक्त, स्निग्ध, रुक्ष और विशद यह नौ भेद गन्ध के कहे जाते हैं। इस प्रकार पृथिवी से उत्पन्न गन्ध का विस्तार समझना चाहिये। देह-धारी अपने नेत्रों से रूप को देखता है और त्वचा से स्पर्श का अनुभव करता है। शब्द, स्पर्श, रूप और रस यह जल के गुण माने जाते हैं, उनमें प्रधान गुण रस है, उसी के भेदों को मेरे द्वारा श्रवण करो ॥७८-८५॥

रसो बहुविधः प्रोक्त ऋषिभिः प्रथितात्मभिः ।

मधुरो लवणस्तित्तः कषायोऽम्लः कटुस्तथा ॥८६॥

एष षड्निधिविस्तारो रसो वारिमयः स्मृतः ।

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च त्रिगुणं ज्योतिरुच्यते ।

ज्योतिः पश्यति रूपाणि रूपं च बहुधास्मृतम् ॥८७॥

ह्रस्वो दीर्घस्तथा स्थूलश्चतुरस्रोऽनुवृत्तवान् ॥८८॥

शुक्लः कृष्णस्तथा रक्तः पीतो नीलारुणस्तथा ।

कठिनश्चिक्कणः श्लक्ष्णः पिच्छलोमृदुदारुणः ।

एवं षोडशविस्तारो ज्योतीरूपगुणः स्मृतः ॥८९॥

शब्दस्पर्शौ च विज्ञेयो द्विगुणो वायुरित्युत ।

वायव्यस्तु गुणःस्पर्शःस्पर्शश्च बहुधा स्मृतः ॥९०॥

उष्णःशीतःसुखो दुःखः स्निग्धो विशद एव च ॥६१

तथा खरो मृदू रूक्षो लघुर्गुह्यतरोऽपि च ।

एवं द्वादशधा स्पर्शो वायव्यो गुण उच्यते ॥६२

उदार चित्त वाले महर्षियों ने रस के अनेक भेद कहे हैं । मधुर, लवण, तिक्त, कषात, अम्ल और कटु । इन छः रूपों में विस्तृत हुआ रस जलमय समझना चाहिये । शब्द, स्पर्श और रूप—अग्नि के यह तीन गुण कहे जाते हैं । ज्योतिर्मय नेत्र रूप का दर्शन करते हैं । अग्नि का प्रधान गुण रूप भी अनेक प्रकार का माना जाता है । ह्रस्व, दीर्घ, स्थूल, चौकोर, गोल, श्वेत, काला, लाल, पीत, आस्मानी, कठिन, चिकना, अल्प, पिच्छल, मृदु और दारुण—इन सोलह भेद में ज्योति का गुण रूप विस्तृत हुआ है । वायु के दो गुण हैं—शब्द और स्पर्श । इनमें से प्रमुख गुण स्पर्श ही है, जो कि अनेक भेद वाला है । उष्ण, शीत, सुख, दुःख, स्निग्ध, विशद, खर, मृदु, रूखा, हल्का, भारी अति भारी—यह बारह भेद वायु विषयक स्पर्श गुण के कहे जाते हैं ॥६६-६२॥

तत्रैकगुणमाकाशं शब्द इत्येव तत्स्मृतम् ।

तस्य शब्दस्य वक्ष्यामि विस्तरं विविधात्मकम् ॥६३

षड्ज ऋषभगान्धारौ मध्यमो धैवतस्तथा ।

पञ्चमश्चापि विज्ञेयस्तथा चापि निषादवान् ।

एष सप्तविधः प्रोक्तो गुण आकाशसम्भवः ॥६४

ऐश्वर्येण तु सर्वत्र स्थितोऽपि पटहादिषु ॥६५

मृदङ्गभेरीशङ्खानां स्तनयित्तो रथस्य च ।

यः कश्चिच्छ्रयतेशब्दः प्राणिनोऽप्राणिनोऽपि वा ।

एतेषामेव सर्वेषां विषये सम्प्रकीर्तितः ॥६६

एवं बहुविधाकारः शब्द आकाशसम्भवः ।

आकाशजं शब्दमाहुरेभिर्वायुगुणैः सह ॥६७

अव्याहतैश्चेत्यते न वेत्ति विषमस्थितैः ।

आप्याय्यन्ते च ते नित्यं भातवस्तेस्तु धातुभिः ॥६८

आपोऽग्निर्मरुतश्चैव नित्यं जाग्रति देहिषु ।

मूलमेते शरीरस्य व्याप्य प्राणानिह स्थिताः ॥६६

आकाश का एक गुण शब्द ही है । वह शब्द अनेक भेदों में विस्तार को प्राप्त हुआ है, उसे कहता है । षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद यह सात भेद आकाश से उत्पन्न शब्द गुण के कहे जाते हैं । अपने व्यापक रूप से शब्द सब जगह स्थित है, परन्तु नगाड़े आदि में विशेष रूप से अभिव्यक्त होता है । मृदङ्ग, भेरी, शंख, मेघ और रथ के घराटे में जो शब्द सुनते हैं, वह श्रवण गोचर अर्थात् श्रोत्र से सुनाई देने वाला है । वह सब उक्त सात भेदों में ही समझना चाहिये । इस प्रकार आकाश से उत्पन्न शब्द के अनेक भेद हैं । वायु विषयक गुणों के मिलने से ही आकाशजनिक शब्द की उपलब्धि है, ऐसा विद्वज्जनों का कहना है । जब वायु विषयक गुण बाधा को न प्राप्त होकर शब्द के साथ रखता है, तब शब्द सुनने और समझने में आता है । परन्तु, जब वह वायु विषयक गुण दीवार आदि से बाधित होकर विषम अवस्था वाला होता है, तब सुनाई नहीं देता । वे शब्द आदि के उत्पन्न करने वाले इन्द्रिय गोलक पंचभूतों के द्वारा ही पोषण को प्राप्त होते हैं । जल, अग्नि और वायु यह तीनों तत्व शरीरों में सदा जाग्रत रहते हैं । शरीर के मूल यही हैं तथा यही प्राणों में स्थित रह कर शरीर में विद्यमान रहते हैं ॥६३-६६॥

पार्थिवं धातुमासाद्य शारीरोऽग्निः कथं प्रभो ।

अवकाशविशेषेण कथं वर्तयतेऽनिलः ॥१००

वायोर्गतिमहं ब्रह्मन् कथयिष्यामि तेऽनघ ।

प्राणिनामनिलो देहान् यथा चेष्टयते बलो ॥१०१

श्रितो मूर्धनिमात्मा तु शरीरं परिपालयन् ।

प्राणो मूर्धनि चाग्नौ च वर्तमानो विचेष्टते ॥१०२

स जन्तुः सर्वभूतात्मा पुरुषः स सनातनः ।

मनो बुद्धिरहङ्कारो भूतानि विषयश्च सः ॥१०३

एवं त्विह स सर्वत्र प्राणेन परिचाल्यते ।

पृष्ठतस्तु समानेन स्वां स्वां गतिमुपाश्रितः ॥१०४

वस्तिमूलं गुदं चैव पावकं समुपाश्रितः ।

वहन् मूत्रं पुरीषं चाप्यपानः परिवर्तते ॥१०५

भरद्वाज ने कहा—हे प्रभो ! शरीर में स्थित अग्नि पार्थिव धातु के आश्रय में किस प्रकार रहती है और वायु भी उस पार्थिव धातु के आश्रय में अवकाश विशेष द्वारा शरीर को चेष्टामय किस प्रकार बनाते हैं । भृगुजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! मैं तुमसे वायु की गति को कहता हूँ । प्रबल वायु प्राणियों के देहों को किस प्रकार सचेष्ट करता है, यह बता रहा हूँ । मस्तक के रंध्र स्थान में स्थित हुआ आत्मा सम्पूर्ण देह की रक्षा करता है तथा मस्तक और अग्नि में स्थित हुआ प्राण शरीर को सचेष्ट बनाता है । प्राण से संयुक्त आत्मा ही जीव है, वही सब पुरुषों का आत्मा रूप सनातन पुरुष है । वही मन, बुद्धि, अहंकार, पंचभूत और विषय रूप है । इस प्रकार जीवात्मा से युक्त प्राण के द्वारा ही शरीर के भीतरी और बाहरी सभी अंग परिचालित होते हैं । फिर समान वायु के रूप में होकर प्राण ही अपनी गति के आश्रय में रहने वाले शरीर का संचालन करता है । 'अपान' वायु जठराग्नि, मूत्राशय और गुदा के आश्रय में मल मूत्र को निकालता हुआ ऊपर से नीचे की ओर विचरण करता रहता है ॥१००-१०५॥

प्रयत्ने कर्मणि बले य एकस्त्रिषु वर्तते ।

उदान इति तं प्राहुरध्यात्मविदुषो जनाः ॥१०६

संधिष्वपि च सर्वेषु संनिविष्टस्तथानिलः ।

शरीरेषु मनुष्याणां व्यान इत्युपदिश्यते ॥१०७

धातुष्वग्निस्तु विततः समानेन समीरितः ।

रसान् धातूँश्च दोषांश्च वर्तयन्नवतिष्ठते ॥१०८

अपानप्राणयोर्मध्ये प्राणापानसमाहितः ।

समन्वितस्त्वधिष्ठानं सम्यक्पचति पावकः ॥१०९

आस्यं हि पायुपर्यन्तमन्ते स्याद् गुदसंज्ञितम् ।

स्रोतस्तस्मात् प्रजायन्ते सर्वस्रोतांसि देहिनाम् ॥११०॥

प्राणानां संनिपाताच्च संनिपातः प्रजायते ।

ऊष्मा चाग्निरितिज्ञेयो योऽन्नं पचति देहिनाम् ॥१११॥

अग्निवेगवहः प्राणो गुदान्ते प्रतिहन्यते ।

स ऊर्ध्वमागम्य पुनः समुत्क्षिपति पावकम् ॥११२॥

जो एक ही वायु प्रयत्न, कर्म और बल तीनों में प्रवृत्त होता है, उसे अध्यात्म तत्त्व के ज्ञाता पुरुष 'उदान' कहते हैं। जो मनुष्यों के देहों और उनके सभी जोड़ों में व्याप्त है, वह वायु 'व्यान' कहा जाता है। शरीर की सब धातुओं में व्याप्त अग्नि समान वायु के द्वारा संचालित होती है। वही शरीर के रसों, धातुओं और दोषों का संचालन करती हुई शरीर भर में व्याप्त रहती है। अपान और प्राण के मध्य भाग में अपान और प्राण के आश्रय में ही स्थित जठराग्नि भोजन किये हुए अन्न का भले प्रकार पाक करता है। मुख से पायु तक जो महान् स्रोत है, उसी के अन्तिम छोर को गुदा कहा गया है। उस महान् स्रोत से ही अन्य सभी छोटे-छोटे स्रोतों का प्राकट्य कहा जाता है। उन स्रोतों के द्वारा ही प्राणों का सम्पूर्ण शरीर से सम्बन्ध होता है, इसीलिये जठराग्नि से भी सम्बन्ध हो जाता है। प्राणियों के देह में जिस ऊष्मा का अनुभव होता है, वह जठराग्नि की गर्मी ही है। सभी देहधारियों के अन्न का पाचन उसी अग्नि के द्वारा होता है। अग्नि के वेग से प्रवाहित हुआ प्राण गुदा के पास जाकर प्रतिहित होता है और ऊपर की ओर लौटकर निकट स्थित अग्नि को भी ऊपर उठाता है ॥१०६-११२॥

पक्वाशयस्त्वधो नाभ्यामुर्ध्वमामाशयः स्थितः ।

नाभिमध्ये शरीरस्य सर्वे प्राणाश्च संस्थिताः ॥११३॥

प्रस्थिता हृदयात् सर्वे तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।

वहन्त्यन्नरसान् नाड्यो दश प्राणप्रचोदिताः ॥११४॥

एष मार्गोऽथ योगानां येन गच्छन्ति तत्पदम् ।

जितक्लमाः समा धीरा मूर्धन्यात्मानमादधन् ॥११५॥

एवं सर्वेषु बिहितः प्राणापानेषु देहिनाम् ।

तस्मिन् समिध्यते नित्यमग्निः स्थाल्यामिवाहितः ॥११६॥

यदि प्राणयते वायुर्वायुरेव विचेष्टते ।

श्वसित्याभाषते चैव तस्माज्जीवो निरर्थकः ॥११७॥

यद्य् ष्मभाव आग्नेयो वह्निना पच्यते यदि ।

अग्निर्जरयते चैतत् तस्माज्जीवो निरर्थकः ॥११८॥

जन्तोः प्रमीयमाणस्य जीवो नैवोपलभ्यते ।

वायुरेव जहात्येनमूष्मभावश्च नश्यति ॥११९॥

नाभि से नीचे पचवाशय और ऊपर आमाशय है तथा नाभि के बीच में सभी शारीरिक प्राण स्थित हैं। वे सभी प्राणी हृदय के इधर-उधर, ऊपर-नीचे जाते हैं, इसलिये दस प्राणों से परिचालन की जाने वाली सभी नाड़ियाँ अन्न के रस को वहन करती हैं। यह मुख से पायु तक जो महान् स्रोत है, वही योगियों का मार्ग है। उसी के द्वारा उन्हें परम पद प्राप्त होता है। जो सब क्लेशों पर विजय प्राप्त कर चुके हैं, जो सभी को संमान देखने वाले धीर पुरुष हैं और जो सुषुम्णा नाड़ी द्वारा मस्तक में पहुँच कर वहीं स्थित हो गये हैं। प्राणियों के प्राण, अपान आदि वायुओं में स्थापित जठराग्नि देह में स्थित रहती हुई, अग्नि कुण्ड में स्थापित अग्नि के समान प्रज्वलित रहती है। भरद्वाज ने कहा—यदि प्राणी को जीवित रखने वाली वायु ही है, वही शरीर को चेष्टा प्रदान करने वाली है, और वही श्वास लेती और बोलती है, तब तो देह में आत्मा की सत्ता स्वीकार करना ही निरर्थक है। यदि देह में उष्मा अग्नि का अंश है और भोजन किये हुए अन्न का परिपाक अग्नि से ही होता है तथा अग्नि ही सब को जीर्ण करती है, तब जीवात्मा का अस्तित्व मानना ही निरर्थक है। जब कोई प्राणी मृत्यु को प्राप्त होता है, तब वहाँ जीव की प्राप्ति नहीं होती। प्राण ही इस प्राणी को छोड़ती और देह की ऊष्मा समाप्त हो जाती है ॥११३-११९॥

यदि वायुमयो जीवः संश्लेषो यदि वायुना ।

वायुमण्डलवद् दृश्यो गच्छेत् सह मरुद्गणः ॥१२॥

संश्लेषो यदि वातेन यदि तस्मात् प्रणश्यति ।

महार्णवविमुक्तत्वादन्यत् सलिलभाजनम् ॥१२१॥

कूपे वा सलिलं दद्यात् प्रदीपं वा हुताशने ।

क्षिप्रं प्रविश्य नश्येत यथा नश्यत्यसौ तथा ॥१२२॥

पञ्चधारणके ह्यस्मिन् शरीरे जीवितं कुतः ।

तेषामन्यतराभावाच्चतुर्णां नास्ति संशयः ॥१२३॥

नश्यन्त्यापो ह्यनाहाराद् वायुरुच्छ्वासनिग्रहात् ।

नश्यते कोष्ठभेदात् खमग्निर्नश्यत्यभोजनात् ॥१२४॥

व्याधिव्रणपरिक्लेशैर्मोदिनी चैव शीर्यते ।

पीडितेऽन्यतरे ह्येषां संघातो याति पञ्चधा ॥१२५॥

तस्मिन् पञ्चत्वमापन्ने जीवः किमनुधावति ।

किं वेदयति वा जीवः शृणोति ब्रवीति च ॥१२६॥

यदि जीव वायुमय है अथवा वायु से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है, तब उसे वायुमंडल के समान दिखाई देना चाहिये । तथा मरने के बाद भी वायु के साथ जाता हुआ प्रत्यक्ष मालुम होना चाहिये । यदि वायु से जीव का घनिष्ठ सम्बन्ध है और उसी के कारण वह वायु के साथ समाप्त हो जाता है, तो जैसे बर्तन में पत्थर भर कर समुद्र में डालने पर डूब जाय, वैसे ही वायु के सम्बन्ध से जीव का नष्ट होना स्वीकार करना होगा । तब पत्थर से पृथक् होने पर बर्तन मिल सकता है, वैसे ही प्राण से पृथक् होने पर जीव भी उपलब्ध होना चाहिये । जैसे कुँए में जल डालें या प्रज्वलित अग्नि में दीपक को डाल दें तो उनका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रहता, वैसे ही शरीर के नष्ट होने पर जीव को भी पंच तत्त्व में मिल कर अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रखना चाहिये । ऐसा मानने पर तो पंचभूतों युक्त इस देह में जीव ही कहाँ रहेगा ? इससे सिद्ध होता है कि जीव पंचभूतों से भिन्न नहीं है और उनमें से एक तत्व के न रहने पर शेष चारों भी नहीं रहते—इसमें कोई संशय नहीं है । जल के त्याग से जलीय अंश नष्ट होता, श्वास रुकने से वायु नष्ट हो जाता, उदर

का भेदन होने पर आकाश तत्व और भोजन का त्याग करने से अग्नि तत्व नष्ट हो जाता है। ज्वरादि रोग, व्रण अथवा अन्य क्लेशों से शरीर का पृथिवी तत्व नष्ट होता है। इस प्रकार इन पाँचों तत्वों में से एक तत्व के नष्ट होने पर सम्पूर्ण संघात ही नष्ट हो जाता है। पंच भौतिक संघात का नाश होने पर यदि जीव का अस्तित्व है तो, वह किसके पीछे भागता है ? क्या अनुभव करता है ? अथवा क्या सुनता और क्या कहता है ?

॥१२०-१२६॥

एषा गौः परलोकस्थं तारयिष्यति मामिति ।

यो दत्त्वा म्रियते जन्तुः सा गौः कन्तारयिष्यति ॥१२७

गौश्च प्रतिग्रहीता च दाता चैव समं यदा ।

इहैव विलयं यान्ति कुतस्तेषां समागमः ॥१२८

विहगरूपभुक्तस्य शैलाग्रात् पतितस्य च ।

अग्निना चोपयुक्तस्य कुतः संजीवनं पुनः ॥१२९

छिन्नस्य यदि वृक्षस्य न मूलं प्रतिरोहति ।

बीजान्यस्य प्रवर्तन्ते मृतः क पुनरेष्यति ॥१३०

बीजमात्रं पुरा सृष्टं यदेतत् परिवर्तते ।

मृतामृताः प्रणश्यन्ति बीजाद् बीजं प्रवर्तते ॥१३१

न प्रणाशोऽस्ति जीवस्य दत्तस्य च कृतस्य च ।

याति देहान्तरं प्राणी शरीरं तु विशीर्यते ॥१३२

न शरीराश्रितो जीवस्तस्मिन् नष्टे प्रणश्यति ।

समिधामिव दग्धानां यथाग्निर्दृश्यते तथा ॥१३३

मरते समय गोदान इस आशा से किया जाता है कि यह गौ मुझे परलोक में पार लगावेगी। परन्तु, जीव तो गोदान करके मर कर चला जाता है, फिर वह गौ किसको पार लगावेगी ? गौ, गोदान करने वाला और गौ का दान लेने वाला—इन तीनों की मृत्यु जब यहीं हो जाती है तो परलोक में वे परस्पर किस प्रकार मिलेंगे ? मरने वालों में किसी को पक्षी खा लेते हैं, कोई पर्वत से गिर कर खण्ड-खण्ड हो जाता है अथवा कोई अग्नि में जल जाता है, तब वे दुबारा जीवित किस प्रकार हो सकते

हैं। जब जड़ से कटे हुए वृक्ष की जड़ में फिर अंकुर नहीं लगते, केवल बीज ही जम सकते हैं, तो मृत्यु को प्राप्त हुआ मनुष्य ही कहाँ से लौट आवेगा ? प्राचीन काल में बीज मात्र उत्पन्न हुआ था, उसी से यह विश्व चलता चला आ रहा है। मरने वाले तो नष्ट होकर चले जाते हैं और बीज से बीज की उत्पत्ति होती रहती है। भृगुजी बोले—जब, उसके द्वारा दिये हुए दान और किये हुए कर्म कभी नष्ट नहीं होते। जीव तो दूसरे देह को धारण कर लेता है, उसके द्वारा त्यागा हुआ देह ही यहाँ नष्ट होता है। देहाश्रित जीव, देह के नष्ट होने पर भी नाश को प्राप्त नहीं होता। जैसे समिधाओं के आश्रय से जलने वाली अग्नि, समिधाओं के नष्ट हो जाने पर भी जलती रहती है, वैसे ही जीव का अस्तित्व प्रत्यक्ष देखा जाता है ॥१२७-१३३॥

अग्नेर्यथा तथा तस्य यदि नाशो न विद्यते ।

इन्धनस्योपयोगान्ते स चाग्निर्नोपलभ्यते ॥१३४

नश्यतीत्येव जानामि शान्तमग्निमनिन्धनम् ।

गतिर्यस्य प्रमाणं वा संस्थानं वा न विद्यते ॥१३५

समिधामुपयोगान्ते यथाग्निर्नोपलभ्यते ।

आकाशानुगतत्वाद्धि दुर्ग्राह्यो हि निराश्रयः ॥१३६

तथा शरीरसंत्यागे जीवो ह्याकाशवत् स्थितः ।

न गृह्यते तु सूक्ष्मत्वाद् यथाज्योतिर्न संशयः ॥१३७

प्राणान् धारयतेह्यग्निः स जीव उपधार्यताम् ।

वायुसंधारणोह्यग्निर्नश्यत्युच्छ्रवासनिग्रहात् ॥१३८

तस्मिन् नष्टे शरीराग्नौ ततो देहमचेतनम् ।

पतितं याति भूमित्वमयनं तस्य हि क्षितिः ॥१३९

जङ्गमानां हि सर्वेषां स्थावराणां तथैव च ।

आकाशं पवनोज्ज्वेति ज्योतिस्तमनुगच्छति ।

तेषां त्रयाणामेकत्वाद् द्वयं भूमौ प्रतिष्ठितम् ॥१४०

भरद्वाज ने कहा—यदि अग्नि के समान जीव नष्ट नहीं होता तो ईंधन के समाप्त होने पर आग भी बुझती ही है, फिर वह भी उपलब्ध

नहीं होती । इसलिये ईंधन के बिना बुझी हुई आग का नष्ट होना ही समझता हूँ । क्योंकि गति, प्रमाण और स्थिति के अभाव में उसका नष्ट होना ही मानना होगा । इसी प्रकार जीव की स्थिति होगी । भृगुजी बोले—समिधाओं के जल जाने पर भी अग्नि नष्ट होती है, वह अव्यक्त रूप से आकाश में स्थित होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं रहती । क्योंकि बिना आश्रय के अग्नि का ग्रहण होना दुर्लभ ही है । वैसे ही शरीर को छोड़ कर जीव आकाश के समान स्थित होता है । वह अत्यन्त सूक्ष्म होने से शान्त हुई अग्नि के समान अनुभव में न आते हुए भी रहता है— इसमें संशय नहीं है । अग्नि प्राणों को धारण करने वाली है । जीव को भी उस अग्नि के समान ही तेजवान् समझो । वायु उस अग्नि को देह में धारण किये रहती है और श्वास रुक जाती है तब अग्नि भी वायु के साथ ही नष्ट हो जाती है । देह में स्थित उस अग्नि के नष्ट होने पर चेतना-रहित देह पृथिवी पर गिर कर भूमित्व को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि, देह का आधार पृथिवी ही है । सभी स्थावर-जङ्गम प्राणियों की प्राणवायु आकाश में जाती है, तब अग्नि भी वायु का अनुसरण करती है । इस प्रकार आकाश, वायु और अग्नि तत्त्व मिलते हैं तथा जल और पृथिवी में ही मिल जाते हैं ॥१३४-१४०॥

यत्र खं तत्र पवनस्तत्त्वाग्निर्यत्र मारुतः ।

अमूर्तयस्ते विज्ञेया मूर्तिमन्तः शरीरिणाम् ॥१४१

यद्यग्निमारुतौ भूमिः खमापश्च शरीरिषु ।

जीवः किलक्षणस्तत्रेत्येतदाचक्ष्व मेऽनघ ॥१४२

पञ्चात्मके पञ्चरतौ पञ्चविज्ञानचेतने ।

शरीरे प्राणिनां जीवं वेत्तुमिच्छामि यादृशम् ॥१४३

मांसशोणितसंघाते मेदःस्नाय्वस्थिसंचये ।

भिद्यमाने शरीरे तु जीवो नैवोपलभ्यते ॥१४४

यद्यजीवं शरीरं तु पञ्चभूतसमन्वितम् ।

शरीरे मानसे दुःखे कस्तां वेदयते रुजम् ॥१४५

शृणोतिकथितंजीवःकणभ्यां न शृणोतितत् ।

महर्षे मनसि व्यग्रे तस्माज्जीवो निरर्थकः ॥१४६

सर्वं पश्यति यद् दृश्यं मनोयुक्तेन चक्षुषा ।

मनसि व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति ॥१४७

जहाँ आकाश होता है, वहीं वायु स्थित होती है, वायु के साथ ही अग्नि रहती है । यह तीनों तत्त्व निराकार होते हुए भी शरीर में स्थित होने पर मूर्तिमान समझे जाते हैं । भरद्वाज ने कहा—हे निष्पाप महर्षे ! जीवों के शरीरों में यदि अग्नि, वायु, पृथिवी, आकाश और जल यह पञ्चतत्त्व ही स्थित हैं तो उनमें रहने वाले जीव के क्या लक्षण हैं ? यह मुझे समझाने की कृपा करिये । प्राणियों के देह पञ्चभौतिक हैं और पाँच विषयों में ही इनकी रति है । इनमें पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और चित्त रहते हैं । इसमें निवास करने वाले जीव का कैसा स्वरूप है, इसे जानने की मेरी इच्छा है । रक्त और मांस के संघात रूप, मेद, स्नायु और अस्थियों के संग्रह रूप इस देह को चीरने पर कोई जीवात्मा नहीं मिल पाती । यदि इस पञ्चभूतों से युक्त देह को जीव-रहित मान लें तो शरीर या मन में दुःख होने पर उसके कष्ट का अनुभव करने वाला कौन है ? हे महर्षे ! किसी के द्वारा कही हुई बात को जीव अपने कानों से सुनता है, परन्तु मन के व्यग्र रहने पर सुनता हुआ भी नहीं सुन पाता, अतः मन के सिवाय किसी जीव का अस्तित्व मानना ही निरर्थक है । दिखाई पड़ने वाले पदार्थों को भी प्राणी तभी देख सकता है, जब मन का संयोग दृष्टि से हो । यदि मन में व्याकुलता हो तो देखते हुए भी सामने का दृश्य दिखाई नहीं देता ॥१४१-१४७॥

न पश्यति न चाघ्राति न शृणोति न भाषते ।

न च स्पर्शरसौ वेत्ति निद्रावशगतः पुनः ॥१४८

हृष्यति क्रुद्धयते कोऽत्र शोचत्युद्विजते च कः ।

इच्छाति ध्यायति द्वेष्टि वाचमीरयते च कः ॥१४९

न पञ्चसाधारणमत्र किञ्चिच्छरीरमेको वहतेऽन्तरात्मा ।

स वेत्तिगन्धांश्चरसाञ्छ्रुतीश्चस्पर्शचरूपंचगुणाश्चयेऽन्ये ॥१५०

पञ्चात्मके पञ्चगुणप्रदर्शी

स सर्वगात्रानुगतोऽन्तरात्मा ।

स वेत्ति दुःखानि सुखानि चात्र

तद्विप्रयोगात् तु न वेत्ति देहः ॥१५१॥

यदा न रूपं व स्पर्शो नोष्मभावश्च पञ्चके ।

तदा शान्ते शरीराग्नौ देहत्यागे न नश्यति ॥१५२॥

आपोमयमिदं सर्वमापो मूर्तिः शरीरिणाम् ।

तत्रात्मा मानसो ब्रह्मा सर्वभूतेषु लोककृत् ॥१५३॥

आत्मा क्षेवज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः ।

तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः ॥१५४॥

www.vicharkrantibooks.org

सोता हुआ जीव न देखता है, न सूँघता है । सुनता या बोलता भी नहीं । उसे स्पर्श अथवा रस का भी अनुभव नहीं होता । इस देह में कौन हर्ष अथवा क्रोध करता है ? कौन शोक-संतप्त तथा उद्विग्न होता है ? कौन इच्छा करता है ? कौन ध्यान करता अथवा कौन द्वेष या बात करता है ? यह मैं जानना चाहता हूँ । भृगुजी ने कहा—मन भी पञ्च-भौतिक होने के कारण पञ्चभूतों से पृथक् कोई तत्त्व नहीं है । केवल अन्तरात्मा ही इस देह का भार वहन करता हुआ रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द तथा अन्यान्य गुणों का अनुभव करता है । वह अन्तरात्मा ही पञ्च-न्द्रियों के गुणों को धारण करने वाले मन को देखने वाला है । वही इस शरीर के सब अङ्गों में व्याप्त होकर सुख-दुःख का अनुभव करता है । जब वह शरीर से सम्बन्ध छोड़ देता है, तब इस शरीर को सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती । जब पञ्चभौतिक देह में रूप, स्पर्श और ऊष्मा का अनुभव नहीं होता, तब देह में स्थित अग्नि के शान्त होने पर जीव इस देह को त्याग कर भी स्वयं नष्ट नहीं होता । यह सम्पूर्ण प्रपञ्च जल-मय है । प्राणियों के इस शरीर को प्रायः जलमय ही समझना चाहिये । मन में रहने वाला आत्मा उसमें स्थित है । वही सब भूतों में लोक-सृष्टा ब्रह्मा के नाम से प्रसिद्ध है । क्योंकि सब जीवों के संघात को ब्रह्मा कहते

हैं। प्रकृति के गुणों से युक्त होने पर आत्मा क्षेत्रज्ञ कहा जाता है और उन गुणों के छूट जाने पर उसे परमात्मा कहते हैं ॥१४८-१५४॥

आत्मानं तं विजानीहि सर्वलोकहितात्मकम् ।

तस्मिन् यः संश्रितो देहे ह्यब्बिन्दुरिव पुष्करे ॥१५५॥

क्षेत्रज्ञं तं विजानीहि नित्यं लोकहितात्मकम् ।

तमो रजश्च सत्त्वं च विद्धि जीवगुणानिमान् ॥१५६॥

सचेतनं जीवगुणं वदन्ति

स चेष्टते चेष्टयते च सर्वम् ।

अतः परं क्षेत्रविदो वदन्ति

प्रावर्तयद् यो भुवनानि सप्त ॥१५७॥

न जीवनाशोऽस्ति हि देहभेदे

मिथ्यैतदाहुर्मृत इत्यबुद्धाः ।

जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति

दशार्धतैवास्य शरीरभेदः ॥१५८॥

एवं सर्वेषु भूतेषु गूढश्चरति सवृतः ।

दृश्यते त्वग्रथया बुद्ध्या भूक्ष्मया तत्त्वदर्शभिः ॥१५९॥

तं पूर्वापररात्रेषु युञ्जानः सततं बुधः ।

लब्धाहारो विबुद्धात्मा पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥१६०॥

चित्तस्य हि प्रसादेन हित्वा कर्मशुभाशुभम् ।

प्रसान्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमानन्त्यमश्नुते ॥१६१॥

मानसोऽग्निः शरीरेषु जीव इत्यभिधीयते ।

सृष्टिः प्रजापतेरेषा भूताद्यात्मविनिश्चये ॥१६२॥

तुम उस क्षेत्रज्ञ को आत्मा ही जानो। वह सब लोकों का हित करने वाला है। इस शरीर में रहता हुआ भी वह उसी प्रकार शरीर से पृथक् है, जैसे कमल के पत्ते पर पड़ी हुई जल की बूँद उसे लिप्त नहीं करती। उस क्षेत्रज्ञ को आत्मा ही समझो। वह सदा सब लोकों का हित करने वाला है। तम, रज और सत्त्व इन तीनों गुणों को प्रकृति में स्थित होने के कारण जीव के ही गुण जानो। चेतन जीव से सम्बन्धित होने पर

उन तीनों गुणों को चेतनामय कहते हैं। वह जीव स्वयं चेष्टा करता हुआ, सभी को सचेष्ट रखता है। तत्त्वज्ञानी पुरुष क्षेत्रज्ञ आत्मा से परमात्मा को श्रेष्ठ कहते हैं, जिसने भूः भुवः आदि समलोकों की रचना की है। शरीर के नष्ट होने पर भी जीव नष्ट नहीं होता। जीव की मृत्यु बताने वालों का कहना झूठ है और वे अज्ञानी हैं। जीव मृतदेह को छोड़ कर दूसरे शरीर को प्राप्त हो जाता है। शरीर के पञ्चतत्त्वों का पृथक्-पृथक् हो जाना ही उसका नष्ट होना समझना चाहिये। इस प्रकार सभी भूतों के हृदय-गुहा में जीवात्मा स्थित है। उसका साक्षात्कार केवल तत्त्वदर्शी पुरुष ही अपनी तीक्ष्ण एवं सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा कर सकते हैं। जो ज्ञानी पुरुष सीमित आहार करके, रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में ध्यानयोग का सदा अभ्यास करता है, वह अन्तःकरण के शुद्ध होने पर उस आत्मा का अपने ही हृदय में दर्शन कर लेता है। चित्त के शुद्ध होने पर शुभ या अशुभ कर्मों से अपने को हटा कर प्रसन्नचित्त रहता हुआ योगी आत्मस्वरूप में स्थित होकर अनन्त सुख का अनुभव करता है। सभी देहों में, मन के भीतर अग्नि के समान तेजोमय चैतन्य ही समष्टि जीवरूप प्रजापति कहा जाता है। यह सृष्टि उसी के द्वारा उत्पन्न हुई है—यह अध्यात्म तत्त्व के निश्चय के अनुसार समझना चाहिये ॥१५५-१६२॥

असृजद् ब्राह्मणानेव पूर्वं ब्रह्मा प्रजापतीन् ।

आत्मतेजोभिनिवृत्तान् भास्कराग्निसमप्रभान् ॥१६३

ततः सत्यं च धर्मं च तपो ब्रह्म च शाश्वतम् ।

आचारं चैव शौचं च स्वर्गाय विदधे प्रभुः ॥१६४

देवदानवगन्धर्वा दैत्यासुरमहोरगाः ।

यक्षराक्षसनागाश्च पिशाचा मनुजास्तथा ॥१६५

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वंश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम ।

ये चान्ये भूतसङ्घानां सङ्घास्तांश्चापि निमंमे ॥१६६

ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः ।

वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्राणामसितस्तथा ॥१६७

चातुर्वर्ण्यस्य वर्णेन यदि वर्णो विभिद्यते ।

सर्वेषां खलु वर्णानां दृश्यते वर्णसंकरः ॥१६८

भृगुजी ने कहा—सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजापति ब्रह्माजी ने अपने तेज से सूर्य और अग्नि के समान तेज वाले ब्राह्मणों तथा मरीचि आदि प्रजापतियों की ही उत्पत्ति की । उसके पश्चात् भगवान् ब्रह्माजी ने स्वर्ग प्राप्ति के साधन स्वरूप सत्य, धर्म, तप, सनातन वेद, आचार तथा शौच आदि के नियमों की आवृत्ति की । फिर देवता, दानव, गंधर्व, दैत्य, असुर, महान् सर्प, यक्ष, राक्षस, नाग, पिशाच और मनुष्यों की रचना की । हे द्विजोत्तम ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों को बना कर प्राणियों में अन्य समुदायों को उत्पन्न किया । ब्राह्मणों को उज्ज्वल वर्ण का बनाया, क्षत्रियों को लोहित वर्ण और वैश्यों को पीत रङ्ग का किया तथा शूद्रों का वर्ण काला रखा । भरद्वाज ने कहा—यदि चारों वर्णों में नियत रङ्ग का प्रत्येक वर्ण में भेद है तब तो सभी वर्ण के मनुष्यों में नियत रङ्ग से भिन्न रङ्ग होने पर वर्णमङ्कुरता दिखाई देती है ? ॥१६३-१६८॥

कामः क्रोधो भयं लोभः शोकश्चिन्ता क्षुधा श्रमः ।

सर्वेषां नः प्रभवति कस्माद् वर्णो विभिद्यते ॥१६९

स्वेदमूत्रपुरीषाणि श्लेष्मा पित्तं सशोणितम् ।

तनुः क्षरति सर्वेषां कस्माद् वर्णो विभज्यते ॥१७०॥

जङ्गमानामसंख्येयाः स्थावराणां च जातयः ।

तेषां विविधवर्णानां कुतो वर्णविनिश्चयः ॥१७१

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।

ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥१७२

कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः ।

त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गस्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः ॥१७३

गोम्यो वृत्ति समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः ।

स्वधर्मान् नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः ॥१७४

हिसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः ।

कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः ॥१७५॥

काम, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता, क्षुधा, और श्रम का हम सभी वर्ण वालों पर समान रूप से प्रभाव पड़ता है, तब वर्णों का भेद किस प्रकार सिद्ध होगा ? पमोना, मल-मूत्र, कफ, पित्त और रक्त आदि हम सभी के शरीरों से निकलते हैं। तब रङ्गों के द्वारा वर्ण-विभाग किस प्रकार हो सकता है ? पशु, पक्षी आदि जंगम प्राणियों और वृक्ष आदि स्थावरों की जातियाँ भी असंख्य हैं, उनके रङ्ग भी अनेक प्रकार के होते हैं, इसलिये उनके वर्णों का निश्चय किस प्रकार होगा ? भृगुजी ने कहा—प्रारम्भ में, वर्ण में कोई भेद नहीं था, ब्रह्माजी से उत्पन्न होने से यह सम्पूर्ण विश्व ब्राह्मण ही कहा जाता था। परन्तु विभिन्न कर्मों के कारण उनमें वर्ण का भेद तो बाद में हुआ है। जो अपने ब्राह्मणोचित धर्म को छोड़ कर विषय भोगों से प्रेम करने वाले, तीक्ष्ण स्वभाव वाले, क्रोधी और साहसी होगये, वे ब्राह्मण क्षत्रिय-भाव प्राप्त हो गये और क्रोधादि के कारण उनके शरीर का रङ्ग लाल पड़ गया जिन्होंने ब्राह्मणोचित कर्म छोड़ कर गौओं के द्वारा अथवा कृषि-कर्म के द्वारा जीविका चलाई, उनके रङ्ग पीले पड़ गये और वे वैश्य भाव को प्राप्त हुए। जो ब्राह्मण शौच और सदाचार से भ्रष्ट होकर हिंसा और असत्य के द्वारा व्याधों के समान निन्दनीय कर्म करके, लोभ के वशीभूत हो गये। उन ऐसे कर्मों द्वारा जीविका चलाने वालों का रङ्ग काला हो गया और वे शूद्र बन गये ॥१६६-१७५॥

इत्येतेः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः ।

धर्मो यज्ञक्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते ॥१७६॥

इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मो सरस्वती ।

विहिता ब्रह्मणा पूर्व लोभात् त्वज्ञानतां गताः ॥१७७॥

ब्राह्मणा ब्रह्मतन्त्रस्थास्तपस्तेषां न नश्यति ।

ब्रह्म धारयतां नित्यं व्रतानि नियमांस्तथा ॥१७८॥

ब्रह्म चैव परं सृष्टं ये न जानन्ति तेऽद्विजाः ।

तेषां बहुविधास्त्वन्यास्तत्र तत्र हि जातयः ॥१७६

पिशाचा राक्षसाः प्रेता विविधा म्लेच्छजातयः ।

प्रणष्टज्ञानविज्ञानाः स्वच्छन्दाचारचेष्टिताः ॥१८०

प्रजा ब्राह्मणसंस्काराः स्वकर्मकृतनिश्चयाः ।

ऋषिभिः स्वेन तपसा सृज्यन्ते चापरे परैः ॥१८१

आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्मभूत्राक्षयाव्यया ।

सा सृष्टिर्मानसी नाम धर्मतन्त्रपरायणा ॥१८२

इन कर्मों से ही वे सब ब्राह्मण अपने ब्राह्मत्व से पृथक् होकर अन्यान्य वर्ण के हो गये, परन्तु उनके लिये भी धर्मानुष्ठान और यज्ञादि कर्मों का कभी प्रतिषेध नहीं किया गया। इस प्रकार यह चार वर्ण बने। ब्रह्माजी ने जिन ब्राह्मणों के लिये प्रथम ब्राह्मी सरस्वती प्रकट की, वे लोभ के वशीभूत होकर शूद्रत्व और अज्ञानता को प्राप्त हो गये। जो ब्राह्मण वेद-आज्ञा को मानते हुए ही सम्पूर्ण कार्यों को करते हैं तथा वेद-मन्त्रों को याद रखते हुए सभी व्रत-नियमों का पालन करते हैं, उनकी तपस्या का नाश कभी नहीं होता। जो इस सम्पूर्ण सृष्टि को ब्रह्मरूप नहीं जानते, वे द्विज कहाने के अधिकारी नहीं हैं। ऐसे मनुष्यों को विभिन्न प्रकार की अन्यान्य योनियों में उत्पन्न होना पड़ता है। वे ज्ञान-विज्ञान से हीन हुए स्वेच्छाचारी पुरुष पिशाच, राक्षस, प्रेत अथवा विभिन्न प्रकार की म्लेच्छ जातियों में जन्म धारण करते हैं। बाद में ऋषियों ने वैदिक संस्कारों से युक्त और अपने धर्म-कर्म में दृढ़ रहने वाली प्रजा की अपनी तपस्या के प्रभाव से उत्पत्ति की। इस प्रकार प्राचीन ऋषि अर्वाचीन ऋषियों को उत्पन्न करने लगे। परन्तु, आदिदेव ब्रह्माजी के मन से उत्पन्न हुई सृष्टि के मूल ब्रह्माजी ही हैं। अक्षय, विकार-रहित और धर्म परायण वह सृष्टि मानसी कही जाती है ॥१७६-१८२॥

ब्राह्मणः केन भवति क्षत्रियो वा द्विजोत्तम ।

वैश्यः शूद्रश्च विप्रर्षे तद् ब्रूहि वदतां वर ॥१८३

जातकर्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः ।

वेदाध्ययनसम्पन्नः षट्सु कर्मस्ववस्थितः ॥१८४

शौचाचारस्थितः सम्यग्विघसाशी गुरुप्रियः ।

नित्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते ॥१८५

सत्यं दानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा ।

तपश्च श्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥१८६

क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययनसंगतः ।

दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्यते ॥१८७

वणिज्या पशुरक्षा च कृष्यादानरतिः शुचिः ।

वेदाध्ययनसम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः ॥१८८

सर्वभक्षरतिनित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः ।

त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः ॥१८९

भरद्वाज ने पूछा—हे द्विजोत्तम ! मनुष्य किस कर्म को करके ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र होता है, यह मेरे प्रति कहने का कष्ट करें । भृगुजी ने कहा—जो पुरुष जाति, कर्म आदि संस्कारों से युक्त, पवित्र तथा वेदाध्ययन-परायण और छः कर्मों में स्थित रहता है । शौच और सदाचार का पालन करता, यज्ञ के अवशिष्ट उत्कृष्ट अन्न को खाता, गुरु से भक्ति रखता, नित्य व्रत और सत्य में लगा रहता है, उसी को ब्राह्मण कहते हैं । जिसमें सत्य, दान, अद्रोह, अनृशंसता, लज्जा, दया और तप यह श्रेष्ठ गुण दिखाई देते हैं, वही ब्राह्मण कहा जाता है । जो क्षत्रियोचित धर्म का सेवन करता, वेदाध्ययन में तत्पर रहता, दान, देता और प्रजा से कर लेता हुआ उसकी रक्षा करने में लगा रहता है, वह क्षत्रिय कहलाता है । जो पुरुष व्यापार, पशु-पालन और कृषि कर्म करता हुआ अन्न-संग्रह की प्रवृत्ति रखता तथा वेदाध्ययन आदि भी करता है, वह वैश्य कहा जाता है । परन्तु, जो व्यक्ति वेद और सदाचार को छोड़ कर सर्वभक्षण में आसक्ति रखे और सब प्रकार के कार्य करे और बाह्य-आन्तरिक रूप से अपवित्र रहे उसे शूद्र कहा गया है ॥१८३-१८९॥

शूद्रे चैतद्भवेत्क्षयं द्विजे तच्च न विद्यते ।

न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥१९०

सर्वोपायैस्तु लोभस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः ।

एतत् पवित्रं ज्ञानानां तथा चैवात्मसंयमः ॥१९१॥

बाधौ सर्वात्मना तौ हि श्रेयोघातार्थमुच्छ्रितौ ।

नित्यं क्रोधाच्छ्रयं रक्षेत् तपो रक्षेच्च मत्तरात् ।

विद्यां मानापमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः ॥१९२॥

यस्य सर्वे समारम्भा निराशीर्बन्धना द्विज ।

त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी च स बुद्धिमान् ॥१९३॥

अहिंसः सर्वभूतानां मैत्रायणगतश्चरेत् ॥१९४॥

परिग्रहान् परित्यज्य भवेद् बुद्ध्या जितेन्द्रियः ।

अशोकं स्थानमातिष्ठेदिह चामुत्र चाभयम् ॥१९५॥

तपोनित्येन दान्तेन मुनिना संयतात्मना ।

अजितं जेतुकामेन भाव्यं सङ्गेष्वसङ्गिना ॥१९६॥

उपरोक्त सत्य आदि गुण सूत्र में दिखाई दें तो वह सूत्र-सूत्र नहीं है और ब्राह्मण में वे गुण न हों तो वह ब्राह्मण कभी ब्राह्मण नहीं होता है। सभी उपायों से लोभ और क्रोध को अपने वश में करे। इसी को सब ज्ञानों में पवित्र ज्ञान समझे और यही आत्म संयम है। मनुष्य के कल्याण में बाधा डालने के लिये क्रोध और लोभ सदा उद्यत रहते हैं, इसलिये पूर्ण शक्ति से इन दोषों को दूर करे। धन-सम्पत्ति को क्रोध के आघात से बचावे, तप को मात्सर्य से और विद्या का मान-अपमान से बचावे तथा प्रमाद के आघात से अपनी रक्षा करे। हे ब्रह्मन् ! जिसके सभी कार्य कामनाओं के बन्धन से मुक्त होते हैं अर्थात् निष्काम हैं और जिन्होंने त्याग की अग्नि में सर्वस्व होम दिया है, वही पुरुष त्यागी और बुद्धिमान है। किसी प्राणी की हिंसा न करे और सभी के साथ मित्रता का व्यवहार करे। स्त्री-पुत्र आदि की ममता को छोड़ कर बुद्धि से इन्द्रियों को जीते तथा इहलोक और परलोक में भी भय और शोक से रहित स्थिति को प्राप्त करे। प्रतिदिन तपस्या करे, मननशील होकर इन्द्रिय और मन का संयम करे, आसक्ति के आश्रय स्थान शरीर आदि में मन को न लगा कर अजित परब्रह्म को जीतने का प्रयत्न करे ॥१९०-१९६॥

इन्द्रियैर्गृह्यते यद् यत् तत्तद् व्यक्तमिति स्थितिः ।
 अव्यक्तमिति विज्ञेयं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥१६७
 अविस्त्रम्भे न गन्तव्यं विस्त्रम्भे धारयेन्मनः ।
 मनः प्राणो निगृह्णीयात् प्राणं ब्रह्मणि धारयेत् ॥१६८
 निर्वेदादेव निर्वाणं न च किञ्चिद् विचिन्तयेत् ।
 सुखं वै ब्राह्मणो ब्रह्म निर्वेदेनाधिगच्छति ॥१६९
 शौचेन सततं युक्तः सदाचारसमन्वितः ।
 सानुक्रोशश्च भूतेषु तद् द्विजानिषु लक्षणम् ॥२००
 सत्यं ब्रह्म तपः सत्यं सत्यं विसृजते प्रजाः ।
 सत्येन धार्यते लोकः स्वर्गं सत्येन गच्छति ॥२०१
 अनृतं तमसो रूपं तमसा नीगते ह्यधः ।
 तमोग्रस्ता न पश्यन्ति प्रकाशं तमसाऽऽवृताः ॥२०२
 स्वर्गः प्रकाशः इत्याहुर्नरकं तम एव च ।
 सत्यानृतं तदुभयं प्राप्यते जगतीचरैः ॥२०३

इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य को व्यक्त कहते हैं । परन्तु जो इन्द्रिय से परे होने के कारण अनुमान से जाना जा सकता है, वह अव्यक्त समझना चाहिये । अविश्वसनीय मार्ग पर न चले, जो विश्वास के योग्य है उसमें मन लगाना चाहिये । मन को प्राण में लगा कर प्राण को ब्रह्म में धारण करे । वैराग्य से ही मोक्ष मिलती है । उसे प्राप्त कर लेने वाला जीव किसी अनात्म उदार्थ का विन्तन नहीं करता । संसार से वैराग्य होने पर ब्राह्मण उस सुख स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है । सदा शौच और सदाचार के पालन में लगा रहे और सब प्राणिगों पर दया करे, ब्राह्मण का यह प्रमुख लक्षण है । भृगुजी ने कहा—सत्य ही ब्रह्म है, सत्य ही तपस्या है, सत्य ही प्रजापति को उत्पन्न करता है, सत्य के आश्रय में ही लोक टिका है और सत्य के प्रभाव से ही स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है । असत्य अन्धकार स्वरूप है, असत्य के द्वारा ही मनुष्य का पतन होता है । अज्ञान-रूप अन्धकार से आवृत्त मनुष्य तमोगुण से ग्रसे जाते हुए ज्ञान की ज्योति को नहीं देख सकते । स्वर्ग को ज्योतिर्मय और नरक को अन्धकार

मय बताते हैं । सत्य और असत्य से युक्त मनुष्य-योनि ज्ञान और अज्ञान दोनों के मिलने से संसार के जीवों को प्राप्त होती है ॥१६७-२०३॥

तत्राप्येवं विधा लोके वृत्तिः सत्यानृते भवेत् ।

धर्माधर्मौ प्रकाशश्च तमो दुःखं सुखं तथा ॥२०४

तत्र यत् सत्यं स धर्मो यो धर्मः स प्रकाशो यः प्रकाशस्तत् सुखमिति । तत्र यदनृतं सोऽधर्मो योऽधमस्तत् तमो यत् तमस्तद् दुःखमिति ॥२०५

शारीरं मानसैर्दुःखैः सुखैश्चाप्यसुखोदयैः ।

लोकसृष्टिं प्रपश्यन्तो न मुह्यन्ति विचक्षणाः ॥२०६

तत्र दुःखविमोक्षार्थं प्रयतेत विचक्षणः ।

सुखं ह्यनित्यं भूतानामिहलोके परत्र च ॥२०७

राहुग्रस्तस्य सोमस्ययथा ज्योत्स्ना न भासते ।

तथा तमोऽभिभूतानां भूतानां नश्यते सुखम् ॥२०८

तत् खलु द्विविधं सुखमुच्यते शारीरं मानसं च । इह खल्व-
मुष्मिंश्च लोके वस्तुप्रवृत्तयः सुखार्थमभिधीयन्ते । न ह्यतः परं
त्रिवर्गफलं विशिष्टतरमस्ति स एव काम्यो गुणविशेषो धर्मार्थ-
गुणारम्भस्तद्धेतुरस्योत्पत्तिः सुखप्रयोजनार्थं आरम्भः ॥२०९

उसमें भी यह समझना चाहिये कि लोक में जो वृत्ति है, उसके अनु-
सार सत्य और असत्य ही धर्म और अधर्म हैं तथा प्रकाश और अन्धकार
ही दुःख और सुख हैं, वहाँ सत्य ही धर्म है, धर्म ही प्रकाश है और
प्रकाश ही सुख है । इसी प्रकार वहाँ असत्य ही अधर्म है, अधर्म ही अन्ध-
कार है और अन्धकार को ही दुःख समझना चाहिये । इस विषय में कहा
जाता है कि लोक रचना शारीरिक और मानसिक क्लेशों से युक्त है ।
इस लोक के सुख भी अन्त में दुःख को ही उत्पन्न करते हैं । जो विद्वान्
ऐसा देखते हैं, वे कभी मोह को प्राप्त नहीं होते । इसलिये ज्ञानी
पुरुष को सदा दुःख से छुटकारा पाने का प्रयत्न करना चाहिये ।
इहलोक और परलोक में भी भूतों को जो सुख मिलता है, वह नित्य नहीं
है । जैसे राहु द्वारा ग्रसे जाने पर चन्द्रमा की चाँदनी दिखाई नहीं देती,

वैसे ही अज्ञान और दुःख से संतप्त हुए भूतों का सुख भी नाश को प्राप्त होता है। सुख के दो भेद कहे गये हैं—एक शारीरिक और दूसरा मानसिक। इहलोक और परलोक में भी जो वस्तुओं की प्राप्ति के लिये प्रवृत्तियाँ होती हैं, वे सुख के निमित्त ही कही जाती हैं। धर्म, अर्थ और काम का भी इस सुख से बढ़ कर कोई फल नहीं हो सकता। वही सुख जीव का वाञ्छनीय गुण विशेष समझना चाहिये। जिस सुख के अङ्ग धर्म और अर्थ माने गये हैं, उसी का निमित्त कर्म आरंभ किये जाते हैं। क्योंकि सुख के लिये उद्यम आवश्यक है। इसीलिये कर्मानुष्ठान का आरम्भ होता है ॥२०४-२०६॥

यदेतद् भवताभिहितं सुखानां परमा स्थितिरिति न तदुप-
गृह्णीमो न ह्येषामृषीणां महति स्थितानामप्राप्य एष काम्यो
गुणविशेषो न चैनमभिलषन्ति च तपसि श्रूयते त्रिलोककृद् ब्रह्मा
प्रभुरेकाकी तिष्ठति । ब्रह्मचारी न कामसुखेष्वात्मानमवदधाति ।
आप च भगवान् विश्वेश्वर उमापतिः काममभिवर्तमानमनङ्ग
त्वेन शममनयत् । तस्माद् ब्रूमी न तु महात्मभिरयं प्रतिगृहीतो
न त्वेषां तावद्विशिष्टो गुणविशेष इति । नतद् भगवतः प्रत्येमि
भगवता तूक्तं सुखान्न परमस्तीति लोकप्रवादो हि द्विविधः फलो-
दयः सुकृतात् सुखमवाप्यते दुष्कृताद् दुःखमिति ॥२१०

अत्रोच्यते—अनृतात् खलु तमः प्रादुर्भूतं ततस्तमो यस्ता
अधर्ममेवानुवर्तन्ते न धर्मं क्रोधलोभहिंसानृता दिभिरवच्छन्ना न
खल्वस्मिँल्लोके नामुत्र सुखमाप्नुवन्ति । विविधव्याधिरुजोपतापं-
रवकीर्यन्ते । वधबन्धनपरिक्लेशादिभिश्च क्षुत्पिपासाश्रमकृतैरुप-
तापैरुपतप्यन्ते । वर्षवातात्युष्णातिशीतकृतैश्च प्रतिभयैः शारीरै-
र्दुःखैरुपतप्यन्ते । बन्धुधनविनाशविप्रयोगकृतैश्च मानसैः शोकैर-
भिभूयन्ते जरामृत्युकृतंश्चान्यैरिति ॥२११

भरद्वाज ने कहा—अपने सुखों का स्थान ही सब से ऊँचा कहा है,
उससे बढ़ कर धर्म, अर्थ, काम का भी फल नहीं है। यह बात ठीक
प्रकार समझ में नहीं आती। क्योंकि महान् तप करने वाले ऋषिगण

यदि चाहें तो उस सुख को प्राप्त कर सकते हैं, फिर भी वे इस सुख की इच्छा नहीं करते । सुनते हैं कि त्रिलोकी को रचने वाले ब्रह्माजी अकेले रहते हुए ब्रह्मचर्य-पालन करते हैं, वे काम-सुख में मन नहीं लगाते । उमापात भगवान् शंकर ने भी अपने सामने आये हुए काम को भस्म कर दिया और उसे अंग-रहित बना दिया । इस प्रकार महापुरुषों ने भी इसे कभी नहीं चाहा । उनके लिये भोगों के सुख में कोई विशेषता नहीं है लोक में फलोत्पत्ति के दो भेद माने जाते हैं—(१) पुण्य कर्म से सुख की प्राप्ति और पाप कर्म से दुःख की प्राप्ति । भृगुजी ने कहा—असत्य के द्वारा ही अज्ञान उत्पन्न हुआ है इसलिये अज्ञान में पड़े हुए मनुष्य अधर्म का ही आचरण करते हैं, धर्म के पीछे नहीं चलते । क्रोध, लोभ, हिंसा और असत्य आदि में लगे हुए मनुष्य इहलोक या परलोक में सुख नहीं पाते । वे विभिन्न प्रकार के रोग, व्याधि और ताप से पीड़ित रहते हैं । उन्हें आँधी, भूख, प्यास, थकावट आदि के कष्ट भी सहने होते हैं । उन्हें आँधी, वर्षा, गर्मी, सर्दी आदि की भीषणता का भी सामना करना होता है । बन्धु-बांधवों की मृत्यु, धन का नष्ट होना अथवा अपने प्रिय-जनों के वियोग तथा वृद्धावस्था और मृत्यु आदि के कारण भी विभिन्न संकटों को प्राप्त होते रहते हैं ॥२१०-२११॥

यस्त्वेतैः शारीरमानसैर्दुःखैर्न संपृश्यते स सुखं वेद । न चैते दोषाः स्वर्गे प्रादुर्भवन्ति । तत्र खलु भवन्ति ॥२१२

सुसुखः पवनः स्वर्गे गन्धश्च सुरभिस्तथा ।

क्षुत्पिपासा श्रमो नास्ति न जरा न च पापकम् ॥२१३

नित्यमेव सुखं स्वर्गे सुखं दुःखमिहोभयम् ।

नरके दुःखमेवाहुः सुखं तत्परमं पदम् २१४

पृथिवी सर्वभूतानां जनित्री तद्विधाः स्त्रियः ।

पुमान् प्रजापतिस्तत्र शुक्रं तेजोमयं विदुः ॥२१५

इत्येतल्लोकनिर्माणं ब्रह्मणा विहितं पुरा ।

प्रजाः समनुवर्तन्ते स्वैःस्वैः कर्मभिरावृताः ॥२१६

उक्त शारीरिक या मानसिक दुःखों से जो अलग है अर्थात् दुःख प्राप्त कराने वाले कर्मों को त्याग चुका है वही सुख का अनुभव करता है। यह दोष स्वर्गलोक में नहीं होते, वहाँ नीचे कहे जाने के अनुसार होता है। स्वर्ग में अत्यन्त सुखमय वायु चलती है, श्रेष्ठ सुगन्ध फैली रहती है। क्षुधा, पिपासा, श्रम, वृद्धावस्था और पाप के फल का कष्ट वहाँ नहीं मिलता। स्वर्ग में सदा सुख ही प्राप्त होता है। इस लोक में सुख-दुःख दोनों ही हैं। नरक में केवल दुःख ही है। परन्तु, यथार्थ सुख रूप तो वह परब्रह्म परमात्मा ही है। पृथिवी सब भूतों को उत्पन्न करने वाली माता है। संसार की सभी स्त्रियाँ पृथिवी के समान ही संतान को उत्पन्न करने वाली माता होती हैं। पुरुष ही प्रजापति के समान है और वीर्य को तेजोमय माना गया है। प्राचीन काल में इस स्त्री-पुरुष रूपी विश्व की रचना ब्रह्माजी ने की थी। यहाँ सम्पूर्ण प्रजा अपने-अपने कर्मों में लगी रह कर ही सुख और दुःख को प्राप्त होती रहती है ॥२१२-२१६॥

दानस्य किं फलं प्राहुर्धर्मस्य चरितस्य च ।
 तपसश्च सुतप्तस्य स्वाध्यायस्य हुतस्य वा ॥२१७
 हुतेन शाम्यते पापं स्वाध्यायैः शान्तिरुत्तमा ।
 दानेन भोगानित्याहुस्तपसा स्वर्गमाप्नुयात् ॥२१८
 दानं तु द्विविधं प्राहुः परत्रार्यामिहैव च ।
 सद्भूयो यद् दीयते किञ्चित् तत्परत्रोपतिष्ठते ॥२१९
 असद्भूयो दीयते यत्तु तद् दानमिह भुज्यते ।
 यादृशं दीयते दानं तादृशं फलमश्नुते ॥२२०
 किं कस्य धर्माचरणं किं वा धर्मस्य लक्षणम् ।
 धर्मः कतिविधो वापि तद् भवान् वक्तुमर्हति २२१
 स्वधर्माचरणो युक्ता ये भवन्ति मनीषिणः ।
 तेषां स्वर्गफलावाप्तिर्योन्यथा स विमुह्यते ॥२२२
 यदेतच्चातुराश्रम्यं ब्रह्मर्षिविहितं पुरा ।
 तेषां स्वे स्वे समाचारास्तान् मे वक्तुमिहाहंसि ॥२२३

भरद्वाज ने कहा—दान रूप में अपरचित धर्म का, भले प्रकार की हुई तपस्या का तथा स्वाध्याय और अग्निहोत्र का क्या फल कहा जाता है ? भृगुजी ने कहा—अग्निहोत्र के द्वारा पाप दूर होता है, स्वाध्याय के द्वारा मन को शान्ति प्राप्त होती है, दान से भोगों की उपलब्धि होती है और तप से स्वर्गलोक मिलता है—ऐसा कहते हैं । दान दो प्रकार का कह है—पारलौकिक और इहलौकिक सत्पुरुषों को दिया जाने वाला दान अपना फल देने के लिए परलोक में जाता है और असत्पुरुषों को दिया जाने वाला दान यहीं फलित हो जाता है । जैसा दान होता है उसका वैसा ही फल मिलता है । भरद्वाज ने कहा—किसका धर्मान्तरण किस प्रकार का होता है ? धर्म के क्या लक्षण हैं ? धर्म कितने प्रकार का है ? यह सब बात यथार्थ रूप से मुझे बताइये । भृगुजी बोले—अपने धर्म के आचरण में लगे हुए मनीषियों को स्वर्ग रूपी फल उपलब्ध होता है और उसके विपरीत, अधर्माचरण करने वाला मनुष्य मोह में पड़ जाता है । भरद्वाज ने प्रश्न किया—प्राचीन काल में ब्रह्मर्षियों द्वारा जो चार आश्रम बनाये गये, उनके अपने-अपने क्या धर्म हैं यह मुझे बताइये ॥२१७-२२३॥

पूर्वमेव भगवता ब्रह्मणा लोकहितमनुतिष्ठता धर्मसंरक्षणार्थं माश्रमाश्चत्वारोऽभिनिदिष्टाः । तत्र गुरुकुलवासमेव प्रथममाश्रममुदाहरन्ति । सम्यग् यत्र शौचसंस्कारनियमव्रतविनियतात्मा उभे संध्ये भास्कराग्निदैवतान्युपस्थाय विहाय तन्द्रचालस्ये गुरोरभिवादनवेदाभ्यासश्रवणपवित्रीकृतान्तरात्मा त्रिषवणमुपस्पृश्य ब्रह्मचर्याग्निपरिचरणगुरुशुश्रूषानि त्यागभिक्षाभैक्ष्यादिसर्वनिवेदितान्तरात्मा गुरुवचननिर्देशानुष्ठानाप्रतिकूलो गुरुप्रसादलब्धस्वाध्यायतत्परः स्यात् ॥२२४

गुरुं यस्तु समाराध्य द्विजो वेदमवाप्नुयात् ।

तस्य स्वर्गफलावाप्तिः सिध्यते चास्य मान समिति ॥२२५

गार्हस्थ्यं खलु द्वितीयमाश्रमं वदन्ति । तस्य समुदाचारलक्षणं सर्वमनुव्याख्यास्यामः । समावृत्तानां सदाचारानां सहधर्मचर्य-

फलार्थिनां गृहाश्रमो विधीयते । धर्मार्थिकामावाप्तिर्ह्यत्र त्रिवर्गसाधनमपेक्ष्यागहितेन कर्मणा धनान्यादाय स्वाध्यायोपलब्धप्रकर्षेण वा ब्रह्मर्षिनिमित्तेन वा अद्रिसारगतेन वा । हव्यकव्य नियमाभ्या सदैवतप्रसादोपलब्धेन वा धनेन गृहस्थो गार्हस्थ्यं वर्तयेत् । तद्धि सर्वाश्रमाणां मूलमुदाहरन्ति । गुरुकुलनिवासिनः परिव्राजका ये चान्ये संकल्पितव्रतनियमधर्मानुष्ठायिनस्तेषामप्यत एव भिक्षा-बलिसंविभागाः प्रवर्तन्ते ॥२२६

भृगुजी ने कहा — विश्व का कल्याण करने वाले ब्रह्माजी ने धर्म-रक्षा के लिये पहिले चार आश्रमोंकी व्यवस्था दी थी । उनमें से ब्रह्मचर्याश्रम ही प्रथम आश्रम है । इसमें गुरुकुल में रहने वाले ब्रह्मचारी को बाह्याभ्यांतरिक शुद्धि, वैदिक संस्कार और व्रतादि के पालन करते हुए अपने मन पर नियन्त्रण रखना चाहिये । प्रातः सायं संध्योपासन, सूर्योपस्थान और अग्निहोत्र से अग्नि की आराधना करे । तन्द्रा और आलस्य का त्याग, गुरु का दैनिक अभिवादन, वेदाभ्यास और वेद-श्रवण से अन्तरात्मा की शुद्धि, प्रातः मध्याह्न और सायंकाल स्थान, ब्रह्मचर्य-पालन, अग्नि की उपासना और गुरु की परिचर्या करे । प्रतिदिन भिक्षा मांग कर गुरु को अर्पण करना, अपने अन्तरात्मा को भी गुरु-चरणों में समर्पित करना और गुरु के कथन, संकेत अथवा स्पष्ट आज्ञा के अनुसार कार्य करे और गुरु की कृपा के प्रसाद से प्राप्त स्वाध्याय में लगा रहे । इस विषय में कहा है कि गुरु की आराधना करके वेदाध्ययन करने वाले द्विज को स्वर्गलोक मिलता है तथा उसके मानसिक संकल्प पूर्ण होते हैं । गृहस्थाश्रम दूसरा आश्रम कहा जाता है । अब उसमें पालन करने योग्य श्रेष्ठ आचरणों को कहते हैं । सदाचारी गुरुकुल से लौट कर यदि सहधर्मिणी के साथ रह कर उसका फल प्राप्त करना चाहे तो उन्हें गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होना चाहिये । इस आश्रम में धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, इसलिये गृहस्थ को श्रेष्ठ कर्म से धनोपार्जन करना चाहिये । वह स्वाध्याय से प्राप्त योग के द्वारा और शास्त्र में निश्चित उपायों से अथवा पर्वत से प्राप्त मणिरत्न, दिव्यौषधि और सुवर्ण आदि धन को

एकत्र करे । अथवा यज्ञ, श्राद्ध, नियम, वेदाभ्यास और देवताओं की प्रसन्नता से जो धन प्राप्त हो, उससे गृहस्थी का पालन करे । क्योंकि, यही आश्रम अन्य तीनों आश्रमों का मूल है । गुरुकुल में रहने वाले ब्रह्मचारी, वन में निवास करते हुए व्रत, नियम और धर्मों के पालने वाले वानप्रस्थी तथा सर्वस्व त्याग कर सर्वत्र विचरण करने वाले सन्यासी भी इसी गृहस्थाश्रम से भिक्षा, भेंट, उपहार, दान आदि को प्राप्त कर स्वधर्म पालन में लगे रहते हैं ॥२२३-२२६॥

वानप्रस्थानां च द्रव्योपस्कार इति प्रायशः खल्वेते साधवः
साधुपथ्यौदनाः स्वाध्यायप्रसङ्गिनस्तीर्थाभिगमनदेशदर्शनार्थं
पृथिवीं पर्यटन्ति, तेषां प्रत्युत्थानाभिगमनाभिवादनानसूयवाकप्रदान-
सुखशक्त्यासनसुखशयनाभ्यवहारसत्क्रिया चेति ॥२२७

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते ।

स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ॥२२८

अपि चात्र यज्ञक्रियाभिर्देवताः प्रीयन्ते ।

निवापेन पितरो विद्याभ्यासश्रवणधारणेन ।

ऋषयः । अपत्योत्पादनेन प्रजापतिरिति ॥२२९

वात्सल्यात्सर्वभूतेभ्यो वाच्याः श्रोत्रमुखागिरः ।

परितापोपघातश्च पारुष्यं चात्र गृहितम् ॥२३०

वानप्रस्थों को धन का संग्रह नहीं करना चाहिये । यह शुद्ध और हितकर अन्न मात्र की इच्छा करते हैं तथा स्वाध्याय, तीर्थ यात्रा और देव-दर्शन की इच्छा से ही पृथिवी पर विचरण करते रहते हैं । यदि ये घर पर आवें तो उठ कर और आये बढ़ कर इनका स्वागत करता हुआ चरणों में मस्तक झका कर, दोषदृष्टि का त्याग करता हुआ श्रेष्ठ वचन कहे । सुखदायक आसन, शय्या आदि दे और श्रेष्ठ भोजन । इस प्रकार पूर्ण सत्कार करना ही गृहस्थ का कर्तव्य कहा गया है । इस विषय में, निम्न श्लोक में कहा है कि जिस गृहस्थ के द्वारा से यदि कोई अतिथि भिक्षा नहीं पाता और निराश होकर लौट जाता है तो वह जाता हुआ

अतिथि उस गृहस्थ को अपना पाप देकर उसका पुण्य स्वयं ले जाता है । इसके अतिरिक्त गृहस्थाश्रम में रहते हुए जो यज्ञ करे उससे देवता, श्राद्ध तर्पण करे उससे पितर, वेद-शास्त्र सुनने, अभ्यास करने और धारण करने से ऋषि तथा सन्तानोत्पत्ति करने से प्रजापति प्रसन्न होते हैं । इस विषय में दो श्लोक कहे जाते हैं—वाणी ऐसी बोले जिसमें सब भूतों के प्रति स्नेह हो और जो सुनते समय कानों को सुखदायी जान पड़े । किसी को पीडित करना, मारना या कटु वचन कहना—यह सभी कार्य निन्दित हैं ॥२२७-२३०॥

अवज्ञानमहंकारो दम्भश्चैव विगर्हितः ।

अहिंसा सत्यमक्रोधः सर्वाश्रमगतं तपः ॥२३१

अपि चात्र माल्याभरणवस्त्राभ्यङ्गनित्योपभोगनृत्यगीतवादि-
त्रश्रुतिसुखनयनाभिरामदर्शनानां प्राप्तिर्भक्ष्यभोज्यलेह्यपयचोष्या-
णामभ्यवहार्याणां विविधानामुपभोगः । स्वविहारसंतोषः काम
सुखावाप्तिरिति ॥२३२

त्रिवर्गगुणनिर्वृत्तिर्यस्य नित्यं गृहाश्रमे ।

स सुखान्यनुभूयेह शिष्टानां गतिमाप्नुयात् ॥२३३

उच्छ्वृत्तिर्गृहस्थो यः स्वधर्माचरणे रतः ।

त्यक्तकामसुखारम्भः स्वर्गस्तस्य न दुर्लभः ॥२३४

वानप्रस्थाः खल्वपि धर्ममनुसरन्तः पुण्यानि तीर्थानि नदीप्रस्र-
वाणानि सुविविक्तेष्वरण्येषु मृगमहिषवराहशार्दूलवनगजाकीर्णेषु
तपस्यन्तोऽनु संचरन्ति त्यक्तग्राम्यवस्त्राभ्यवहारोपभोगा वन्यौषधि-
फलमूलपर्णपरिमितविचित्रनियताहाराः स्थानासनानि भूमिपाषा-
णसिकताशर्करावालुकाभस्मशायिनः काशकुशचर्मवल्कलसंवृता-
ङ्गाः केशश्मश्रुनखरोमधारिणो नियतकालोपस्पर्शना अस्कन्दित
कालवलिहोमानुष्ठायिनः समित्कुशकुसुमापहारसम्मार्जनलब्धवि-
श्रामाः शीतोष्णवर्षपवनविष्टम्भविभिन्नसर्वत्वचो विविधनियमो-
पयोगचर्यानुष्ठानविहितपरिशुष्कमांसशोणितत्वगस्थिभूताधृतिपराः
सत्त्वयोगाच्छरीराण्युद्बहन्ते ॥२३५

किसी का निरादर करना, अहंकार दिखाना, ढोंग करना—यह दुर्गुण निन्दनीय हैं तथा अहिंसा, सत्य भाषण और क्रोधित न होना—यह सभी आश्रम वालों के लिये तपस्या के समान हैं। इसके अतिरिक्त, इस गृह-स्थाश्रम में पुष्पमाल, आभूषण, वस्त्र, अंगराग, नित्य उपभोग की सामग्री नृत्य, गीत, वाद्य, कानों को सुख देने वाले शब्द और नयनाभिराम रूप को देखना—यह सभी सुख हैं। भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, पेय और चोष्य रूप में विभिन्न प्रकार के पदार्थ खाने-पीने को उपलब्ध होते हैं। अपने उद्यान का आनन्द और काम-सुख की भी प्राप्ति होती है। जो गृहस्थ धर्म, अर्थ और काम के गुणों को सदा प्राप्त करता रहता है, वह इहलौकिक सुख को पाता ही है, अन्त में शिष्ट पुरुषों की गति को भी प्राप्त होता है। जो गृहस्थ अपने धर्माचरण में तत्पर हुआ उच्छ्वृत्ति से (अनाज के दानों को बीन कर) अपनी जीविका चलाता हुआ काम-सुख का भी त्याग कर देता है, उसके लिये स्वर्ग कभी दुर्लभ नहीं है। भृगुजी ने कहा—तीसरा आश्रम वानप्रस्थ है। उसका पालन करने वाले पुरुष धर्म-परायण रहते हुए पवित्र तीर्थों में, नदियों के तीर पर, झरनों के सहारे तथा मृग, भैंसा, शूकर, सिंह और जंगली हाथियों से युक्त एकान्त वनों में तप करते हुए घूमते हैं। गृहस्थों के उपयोग में आने वाले सुन्दर वस्त्र, स्वादिष्ट भोजन और विषय भोगों को छोड़ कर वन में स्वयं उत्पन्न होने वाले अन्न, फल, मूल, पत्ते आदि का नियत आहार करते, भूमि पर बैठते, पृथिवी, पत्थर, रेत, कंकरीली मिट्टी, बालू या राख पर शयन करते और काश, कुश, मृगचर्म, वृक्षों की छाल के वस्त्र आदि का उपयोग करते हैं। सिर के बाल, दाढ़ी, मूँछ, नख, रोम आदि नहीं कटवाते। नियत समय पर स्नान करते, निश्चित काल पर बलि वैश्वदेव और अग्निहोत्र आदि करते हैं। प्रातःकाल हवन-पूजन के लिये समिधा, कुश, पुष्प आदि एकत्र कर आश्रम को झाड़ते-बुहारते हैं। शीत, ऊष्ण, वर्षा आदि का वेग सहन करते हुए उनकी त्वचाएँ फट जाती हैं। अनेक नियमों का पालन और सत्कर्मों का अनुष्ठान करते रहने से रक्त मांस शुष्क होकर शरीर अस्थियों का ढाँचा मात्र रह जाता है, तो भी धैर्य और साहस पूर्वक

शरीर का भार वहन करते रहते हैं ॥२३१-२३५॥

यस्त्वेतां नितश्चर्या ब्रह्मर्षिविहितां चरेत् स दहेदग्निवद्दोषान्
जयेल्लोकांश्च दुजयान् ॥२३६

परिव्राजकानां पुनराचारः-तद् यथा विमुच्याग्निं धनकलत्रप-
रिबर्हणं संगेष्वात्मनः स्नेहपाशानवधूय परिव्रजन्ति । समलोष्टा-
श्मकाञ्चनास्त्रिवर्गप्रवृत्तेष्वसक्तबुद्धयोऽरिमित्रोदासीनानां तुल्यदर्श-
नाः स्थावरजरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्ज्ञानां भूतानां वाङ्मनःकर्म-
भिरनभिद्रोहिणोऽनिकेताः पर्वतपुलिनवृक्षमूलदेवतायतनान्यनु-
चरन्तो वसार्थमुपेयुर्नगरं ग्रामं वा नगरे पञ्चरात्रिकाः ग्रामे चैकरा-
त्रिका प्रविश्य च प्राणधारणार्थं द्विजातीनां भवनान्यसंकीर्णकर्म-
णामुपतिष्ठेयुः पात्र पतिताय चित्तभैक्ष्याः कामक्रोधदर्पलोभमोह-
कार्पण्यदम्भपरिवादाभिमानहिंसानिवृत्ता इति ॥२३७

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः ।

न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥२३८

कृत्वाग्निहोत्रं स्वशरीरसंस्थं

शारीरमग्निं स्वमुखे जुहोति ।

विप्रस्तु भैक्ष्यौपगतैर्हविर्भि-

श्चिताग्निनां स व्रजते हि लोकम् ॥२३९

मोक्षाश्रतं यश्चरते यथोक्तं

शुचिः सुसंकल्पितमुक्तबुद्धिः ।

अनिन्धनं ज्योतिरिव प्रशान्तं

स ब्रह्मलोकं श्रयते मनुष्यः ॥२४०

जो मनुष्य ब्रह्मर्षियों द्वारा प्रयोग में लायी हुई इस वानप्रस्थ धर्म की विधि का विधिवत अनुष्ठान करता है, वह अग्नि के समान अपने दोषों को दग्ध करता हुआ दुर्लभ लोकों को प्राप्त होता है । अब सन्यासियों का आचरण कहते हैं । इस आश्रम में प्रविष्ट होने वाले पुरुष अग्निहोत्र, धन, स्त्री आदि कुटुम्ब तथा घर की सब वस्तुओं का परित्याग

कर, भोगों और आसक्ति के बन्धनों को तोड़ कर सदा के लिये घर से चल देते हैं । वे मिट्टी के ढेले, पत्थर और सुवर्ण में कोई भेद नहीं समझते । धर्म, अर्थ और काम-विषयक कार्यों में उनकी बुद्धि नहीं लगती । शत्रु, मित्र और उदासीन सभी को समान भाव से देखते हैं । स्थावर, पिण्डज, अण्डज, स्वेदज और उदभिज्ज के प्रति मन, वचन कर्म से कभी द्वेष नहीं करते, कुटिया या मठ बनाकर नहीं रहते । उनका कर्त्तव्य है कि वे सर्वत्र विचरण करते रहें, रात्रि में पर्वत की गुफा, नदी-तट, वृक्ष की जड़, देव मन्दिर, नगर या गाँव में ठहरें । प्राण धारण करने के लिये भोजनार्थ ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के घर के आगे खड़े हो जाँय जहाँ संकीर्णता न हो । माँगे बिना ही जितनी भिक्षा पात्र में आ जाय, उसे स्वीकार करे और काम, क्रोध, दर्प, लोभ, मोह, कृपणता, दम्भ, निन्दा, अभिमान और हिंसा से सदा बचते रहें । इस विषय में यह श्लोक कहे गये हैं कि जो मुनि सब प्राणियों को अभयदान देता हुआ विचरण करता है, उसे सब प्राणियों में से किसी से भी कहीं भय नहीं मिलता । जो ब्राह्मण अग्निहोत्र को अपने देह में आरोपित करके शरीर में स्थित अग्नि के उद्देश्य से प्राप्त भिक्षा रूप हविष्य को मुख में होमता है, वह अग्नि का चयन करने वाले अग्निहोत्रियों के लोक को प्राप्त होता है । बुद्धि को कामना-रहित करके और पवित्र होकर जो शास्त्र-विधि के अनुसार सन्यासाश्रम के नियमों का पालन करता है, वह बिना ईंधन की अग्नि के समान अत्यन्त शान्त प्रकाशमान् ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है ॥२३६-२४०॥

अस्माल्लोकात् परो लोकः श्रूयते नोपलभ्यते ।

तमहं ज्ञातुमिच्छामि तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥२४१

उत्तरे हिमवत्पार्श्वे पुण्ये सर्वगुणान्विते ।

पुण्यः क्षेम्यश्च काम्यश्च स परो लोक उच्यते ॥२४२

तत्र ह्यपापकर्माणः शुचयोऽत्यन्तनिर्मलाः ।

लोभमोहपरित्यक्ता मानवा निरूपद्रवाः ॥२४३

स स्वर्गसदृशो देशस्तत्र ह्युक्ताः शुभा गुणाः ।
 कालेमृत्युः प्रभवति स्पृशन्ति व्याधयो न ॥२४४
 न लोभः परदारेषु स्वदारनिरतो जनः ।
 नान्योन्यं बध्यते तत्र द्रव्येषु च न विस्मयः ।
 परो ह्यधर्मो नैवास्ति संदेहो नापि जायते ॥२४५
 कृतस्य तु फलं तत्र प्रत्यक्षमुपलभ्यते ।
 पानासनाशनोपेताः प्रासादभवनाश्रयाः ॥२४६
 सर्वकामैर्वृताः केचिद्धे माभरणभूषिताः ।
 प्राणाधारणमात्रं तु केषांचिदुपपद्यते ।
 श्रमेण महता केचित् कुर्वन्ति प्राणाधारणम् ॥२४७

भरद्वाज ने कहा—इस लोक से श्रेष्ठ जो लोक सुना जाता है, वह दिखाई नहीं देता । मैं उसके विषय में जानना चाहता हूँ । आप उसे मेरे प्रति कहें । भृगुजी ने कहा—उत्तर दिशा में जो हिमालय है, उसके बगल में सर्वगुण सम्पन्न और पुण्यमय प्रदेश है, उसके ही भू भाग पर श्रेष्ठ लोक कहा जाता है, वह पवित्र, कल्याणकारी और कामना के योग्य है । वहाँ पाप कर्म से रहित, पवित्र, अत्यन्त निर्मल, लोभ-रहित तथा मोह-रहित मनुष्य सब प्रकार के उपद्रवों से बचे हुए रहते हैं । वह देश स्वर्ग के समान है, वहाँ सब शुभ गुणों का होना कहा गया है । वहाँ लोग समय पर ही मरते हैं और रोग-व्याधि का प्रकोप उन पर नहीं होता । वहाँ परनारी के लिये किसी के मन में लोभ नहीं होता । सभी अपनी-अपनी स्त्रियों में ही अनुराग रखते हैं । वहाँ एक-दूसरे का धन लेने के लिये हत्याएँ नहीं करते और किसी को बन्धन में भी नहीं डालते । उन्हें कभी विस्मय नहीं होता । क्योंकि, वहाँ अधर्म तो नाम मात्र को भी नहीं है । किये हुए कर्म का फल वहाँ प्रत्यक्ष मिलता है । वहाँ कुछ व्यक्ति बड़े भवनों में निवास करते, श्रेष्ठ आसनों पर बैठते और उत्तम पदार्थों का सेवन करते हैं । सभी कामनाओं से सम्पन्न और सुवर्ण के आभूषणों को धारण किये रहते हैं । कुछ लोगों के लिये केवल प्राण धारण योग्य भोजन

ही स्वीकार है तथा कुछ लोग अत्यन्त परिश्रम पूर्वक तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए प्राण धारण करते हैं ॥२४१-२४७॥

इह धर्मपराः केचित् केचिन्निकृत्तिका नराः ।

सुखिता दुःखिताः केचिन्निर्धना धनिनोऽपरे ॥२४८॥

इह श्रमो भयं मोहः क्षुधा तीव्रा च जायते ।

लोभश्चार्थकृतो नृषां येन मुह्यन्त्यपण्डिताः ॥२४९॥

इह वार्ता बहुविधा धर्माधर्मस्य कारिणः ।

यस्तद्वे दोभयं प्राज्ञः पाप्मना न स लिप्यते ॥२५०॥

सोपधं निकृतिः स्तेयं परीवादो ह्यसूयिता ।

परोपघातो हिंसा च पैशुन्यमनृतं तथा ॥२५१॥

एतानासेवते यस्तु तपस्तस्य प्रहीयते ।

यस्त्वेतान् नाचरेद् विद्वांस्तपस्तस्य प्रवर्धते ॥२५२॥

इह चिन्ता बहुविधा धर्माधर्मस्य कर्मणः ।

कर्मभूमिरियं लोके इह कृत्वा शुभाशुभम् ।

शुभैः शुभमवाप्नोति तथाशुभमथान्यथा ॥२५३॥

इस मनुष्य लोक में कोई पुरुष धर्म परायण होते हैं और कोई ठग होते हैं । इसीलिये कोई सुखी है और कोई दुखी है । कुछ लोग बड़े धनवान् हैं तो कुछ लोग नितान्त निर्धन दिखाई देते हैं । इस लोक में श्रम, भय, मोह और तीव्र क्षुधा का कष्ट होता है । मनुष्यों में धन का विशेष लोभ रहता है, जिससे अज्ञानी जन मोह में पड़े रहते हैं । इस देश में धर्म और अधर्म करने वाले मनुष्यों के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की बातें सुनाई पड़ती हैं । जो पुरुष धर्म और अधर्म दोनों के फलों का ज्ञान रखता, वह कभी पाप में लिप्त नहीं होता । कपट, शठता, चोरी, निन्दा, परदोष दर्शन, दूसरों को हानि पहुँचाना, हिंसा, बुराई करना और मिथ्याभाषण आदि दुर्गुणों का सेवन करने वाले की तपस्या क्षीण हो जाती है । जो इन दोषों को अपने व्यवहार में कभी नहीं लाता, उसके तप निरन्तर वृद्धि होती रहती है । इस लोक में पुण्य और पाप से सम्बन्धित अनेक प्रकार के विचार होते रहते हैं । यह

जगत् कर्म भूमि है । इसमें शुभाशुभ कर्म करने वाले मनुष्य शुभ कर्म से सुख और अशुभ कर्म से दुःख प्राप्त करते हैं ॥२४८-२५३॥

इह प्रजापतिः पूर्वं देवाः सर्षिगणास्तथा ।

इष्टेष्टतपसः पूता ब्रह्मलोकमुपाश्रिताः ॥२५४

उत्तरः पृथिवीभागः सर्वपुण्यतमः शुभः ।

इहस्थास्तत्र जायन्ते ये वै पुण्यकृतो जनाः ॥२५५

असत्त्वर्माणि कुर्वन्तस्तिर्यग्योनिषु चापरे ।

क्षीणायुषस्तथा चान्ये नश्यन्ति पृथिवीतले ॥२५६

अन्योन्यभक्षणासक्ता लोभमोहसन्विताः ।

इहैव परिवर्तन्ते न ते यान्त्युत्तरां दिशम् ॥२५७

ये गुरुन् पयुपासन्ते नियता ब्रह्मचारिणः ।

पन्थानं सर्वलोकानां विजानन्ति मनीषिणः ॥२५८

पूर्व काल में, इसी लोक में प्रजापतियों, देवताओं और क्षत्रियों ने यज्ञानुसार तथा ऊँची तप आदि कर्म करते हुए पवित्र होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लिया था । पृथिवी का उत्तर भाग पुण्यतम एवं शुभ है । इस लोक में पुण्यात्मा पुरुष ही मरने के बाद उस भाग में पुनर्जन्म धारण करते हैं । इसके विपरीत, जो व्यक्ति पाप कर्म करने वाले हैं, वे पशु-पक्षियों की योनियों को प्राप्त होते हैं और कितने ही मनुष्य आयु-क्षीण होने पर मर कर पाताल लोक में पहुँचते हैं । जो प्राणी लोभ, मोह के वश में पढ़ कर एक दूसरे का भक्षण कर लेने में तत्पर रहते हैं, उनका आवागमन भी इसी लोक में होता रहता है, उत्तर दिशा के श्रेष्ठ लोक में वे भी नहीं जाने पाते । मत और इन्द्रियों को संयम में रख कर तथा ब्रह्मचर्य-परायण रह कर जो मनुष्य गुरुजनों की उपासना करते हैं, वे सभी लोकों के मार्गों के ज्ञाता होते हैं ॥२५४-२५८॥



१७—कपिल गीता

अविरोधेन भूतानां योगः षाड्गुण्यकारकः ।
 यः स्यादुभयभागधर्मस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१
 गार्हस्थ्यस्य च धर्मस्य योगधर्मस्य चोभयोः ।
 अदूरसम्प्रस्थितयोः किंस्विच्छ्रेयः पितामह ॥२
 उभौ धर्मौ महाभागावुभौ परमदुश्चरौ ।
 उभौ महाफलौ तौ तु सद्भिराचरितावुभौ ॥३
 अत्र ते वर्तयिष्यामि प्रामाण्यमुभयोस्तयोः ।
 शृणुष्वैकमनाः पार्थ च्छिन्नधर्मार्थसंशयम् ॥४
 अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
 कपिलस्य गोश्व संवादं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥५
 आम्नायमनुपश्यम् हि पुराणं शाश्वतं ध्रुवम् ।
 नहुषः पूर्वमालेभे त्वष्टुर्गामिति नः श्रुतम् ॥६
 तां नियुक्तामदीनात्मा सत्त्वस्थः संयमे रतः ।
 ज्ञानवान् नियताहारो ददर्श कपिलस्तथा ॥७

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह ! प्राणियों का अहित न करने वाला और शम-दम आदि छः गुणों को प्राप्त कराने वाला तथा भुक्ति मुक्ति दिलाने वाला जो धर्म है, उसे मेरे प्रति कहिये । हे पितामह ! गार्हस्थ्य और योग यह दोनों धर्म परस्पर समीप ही हैं । फिर भी उन दोनों में अधिक श्रेष्ठ कौन है, यह मुझे बताइये । भीष्मजी बोले—गार्हस्थ्य और योग दोनों ही धर्म महान् सौभाग्य के देने वाले और अत्यन्त दुष्कर हैं । यह दोनों ही, श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा आचरण में लाये गये और महान् फल वाले धर्म हैं । हे पार्थ ! इन दोनों धर्मों की प्रामाणिकता का प्रतिपादन

कर तुम्हारे धर्मार्थ विषयक संशय को मैं दूर कर दूँगा । तुम मेरी बात एकाग्र मन से सुनो । हे युधिष्ठिर ! इस विषय के ज्ञाता पुरुष महर्षि कपिल और गौ के भीतर आविष्ट स्यूमरश्मि के एक प्राचीन सम्वाद का उदाहरण देते हैं, उसे ध्यान से सुनो । यह सुना गया है कि प्राचीन काल में राजा नहुष ने वेद के अनुशासन को प्राचीन, सनातन और नित्य मानते हुए अपने यहाँ आये हुए अतिथि रूप त्वष्टा के निमित्त एक गौ के आलम्भन का विचार किया । उस समय त्वष्टा के लिये नियुक्त उस गौ को सतोगुणी, संयमी, अल्पाहारी ज्ञानी और उदार चेता महात्मा कपिल ने देखा ॥१-७॥

स बुद्धिमुत्तमां प्राप्तो नौष्ठिकीमकुतोभयाम् ।

सतीमशिथिलांसत्यावेदाः इत्यब्रवीत् सकृत् ॥८

तां गामृषिः स्यूमरश्मिः प्रविश्य यतिमब्रवीत् ।

हंहो वेदाः यदि मता धर्माः केनापरे मताः ॥९

तपस्विनो धृतिमन्तः श्रुतिविज्ञानचक्षुषः ।

सर्वेमार्षं हि मन्यन्ते व्याहृतं विदितात्मनः ॥१०

तस्यैवं गततृष्णस्य विज्वरस्य निराशिषः ।

का विवक्षास्ति वेदेषु निरारम्भस्य सर्वतः ॥११

नाहंवेदान् विनिन्दामि न विवक्ष्यामि कर्हिचित् ।

पृथगाश्रमिणां कर्माण्येकार्थानीति नः श्रुतम् ॥१२

गच्छत्येव परित्यागी वानप्रस्थश्च गच्छति ।

गृहस्थो ब्रह्मचारी च उभौ तावपि गच्छतः ॥१३

देवयाना हि पन्थानश्चत्वारः शाश्वता मताः ।

एषां ज्यायः कनीयस्त्वं फलेषूक्तं बलाबलम् ॥१४

तब श्रेष्ठ, निर्भय, सुस्थिर, सत्य, सद्भावयुक्त और उत्साहयुक्त बुद्धि वाले महर्षि कपिल ने एक बार 'हा वेद' यही कहा । तब गौ के भीतर प्रविष्ट होकर स्यूमरश्मि नामक ऋषि ने महर्षि कपिल से कहा—'यदि वेदों के प्रामाणिक होने में आपको संशय है तो अन्य धर्मशास्त्रों की ही किस आधार पर प्रामाणिक कह सकते हैं । तपस्वी, धर्मवान् श्रुति और

विज्ञानमयी दृष्टि वाले ऋषि वेद को ही नित्य ज्ञानमय परमात्मा की निःश्वास भूत वाणी समझते हैं। जो तृष्णा और उद्वेग से शून्य, कामना रहित और सब प्रकार के आरम्भों से रहित है, उस परमात्मा के निःश्वास से निःसृत वेदों के सम्बन्ध में आप विरुद्ध बात क्यों कहते हैं। कपिल बोले—मैं वेद-निन्दक और उनके विरुद्ध बात करने वाला नहीं हूँ। पृथक्-पृथक् आश्रमों के सभी कर्मों के उद्देश्य भी समान हैं—ऐसा हमने सुना है। सन्यासी को परम पद की प्राप्ति हो सकती है, वानप्रस्थी भी वहीं जा सकता है। गृहस्थ और ब्रह्मचारी इन दोनों को भी उस की प्राप्ति सम्भव है। देवयान नामक चार सनातन मार्ग हैं, वे चारों आश्रम ही माने जाते हैं। इनमें बड़ा, छोटा, प्रबल, दुर्बल का जो भेद है, वह उनके फलों के निमित्त से कहे गये हैं ॥८-१४॥

एवं विदित्वा सर्वार्थानारभेतेति वैदिकम् ।

नारभेतेति चान्यत्र नैष्ठिकी श्रूयते श्रुतिः ॥१५

अनालम्भे ह्यदोषः स्यादालम्भे दोष उत्तमः ।

एवं स्थितस्य शास्त्रस्य दुर्विज्ञेयं बलाबलम् ॥१६

यद्यत्र किञ्चित् प्रत्यक्षमाहिंसायाः परं मतम् ।

ऋते त्वागमशास्त्रेभ्यो ब्रूहि तद् यदि पश्यसि ॥१७

स्वर्गकामो यजेतेति सततं श्रूयते श्रुतिः ।

फलं प्रकल्प्य पूर्वं हि ततो यज्ञः प्रतायते ॥१८

अजश्चाश्वश्च मेषश्च गौश्च पक्षिगणाश्च ये ।

ग्राम्यारण्याश्चौषधयः प्राणस्यान्नमिति श्रुतिः ॥१९

तथैवान्नं ह्यहरहः सायंप्रातर्निरूप्यते ।

पशदश्चाथ धान्यं च यशस्याङ्गमिति श्रुतिः ॥२०

एतानि सह यज्ञेन प्रजापतिरकल्पयत् ।

तेन प्रजापतिर्देवान् यज्ञे नायजत प्रभुः ॥२१

वेदों का मत है कि ऐसा जान कर ही कार्यारम्भ करे। एस अन्य श्रुति भी सुनी जाती है कि कर्मों का आरम्भ ही नहीं करना चाहिये।

यज्ञ आदि में कार्यों का आलम्भन करने से महान् दोष की प्राप्ति और न करने से दोष की अप्राप्ति कही गयी है। ऐसा स्थिति में कौन-सा वेद वाक्य सबल और कौन-सा निर्बल है, यह जानना अत्यन्त कठिन है। वेदों और उनके अनुकूल आगमों को छोड़ कर, अन्य कहीं अहिंसा से भिन्न और हिंसा का बोध कराने वाले नरक का फल यदि युक्ति से भी प्रत्यक्ष होता हो अथवा अनुभव में आता हो तो उसे स्पष्ट कहो। स्यूमरश्वि ने कहा — सदा ही 'स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे' यह श्रुति सुनी जाती है। इसलिये प्रथम स्वर्ग रूप फल की कामना की जाती है और फिर यज्ञानुष्ठान का आरम्भ किया जाता है। श्रुति का कहना है कि बकरा, अश्व, भेड़, गौ, पक्षिगण, ग्राम्य अन्न और वन के अन्न आदि सभी वस्तुएँ प्राण के निमित्त अन्न ही हैं। अन्न को प्रातः सायं प्राण का दैनिक भोज्य कहा गया है। श्रुति कहती है कि पशु और धान्य यज्ञ के अङ्ग हैं। प्रजापति ने यज्ञ के साथ ही इन सबको उत्पन्न किया और प्रजापति ने ही इन यज्ञ-सामग्रियों के द्वारा देवताओं से यज्ञानुष्ठान कराया ॥१५-२१॥

तदन्योन्यवराः सर्वे प्राणिनः सप्त सप्तधा ।

यज्ञे षूपाकृतं विश्वं प्राहुस्तमसंजितम् ॥२२

एतच्चैवाभ्यनुज्ञातं पूर्वं पूर्वतरैस्तथा ।

कोजातु न विचिन्वोत विद्वान् स्वां शक्तिमात्मनः ॥२३

पशवश्च मनुष्याश्च द्रुमाश्चौषधिभिः सह ।

स्वर्गमेवाभिकाङ्क्षन्ते न च स्वर्गस्ततो मखात् ॥२४

ओषध्यः पशवो वृक्षा वीरुदाज्यं पयो दधि ।

हविर्भूमिर्दिशः श्रद्धा कालश्चैतानि द्वादश ॥२५

ऋचो यजूंषि सामानि यजमानश्च षोडश ।

अग्निर्ज्ञेयो गृहपतिः स सप्तदश उच्यते ॥२६

अङ्गान्येतानि यज्ञस्य यज्ञो मूलमिति श्रुतिः ।

आज्येन पयसादध्ना शकृताऽऽमिक्षया त्वचा ॥२७

वालैः शृङ्गेण पादेन सम्भवत्येव गोर्मखम् ।

एवं प्रत्येकशः सर्वं यद् यदस्य विधीयते ॥२८

जो ग्राम्य तथा आरण्य प्राणी सात-सात प्रकार के कहे गये हैं, वे सब पारस्परिक अपेक्षा से हैं। इनमें मनुष्य संज्ञक उत्तम कहा जाने वाला प्राणी भी यज्ञ के लिये नियुक्त कहा गया है। इन सभी द्रव्यों को पूर्ववर्ती तथा अति पूर्ववर्ती पुरुषों ने यज्ञ का अङ्ग कहा है, इसलिये कौन जानी पुरुष अपने समर्थानुसार कभी किसी यज्ञ को अपने निमित्त न चुनेगा। पशु, मनुष्य, वृक्ष और औषधियाँ—यह सभी स्वर्ग की इच्छा करते हैं। परन्तु, वह विशाल स्वर्गलोक यज्ञ के अतिरिक्त किसी अन्य साधन से सुलभ नहीं है। औषधि, पशु, वृक्ष, लता, घृत, दुग्ध, दधि, हविष्य, भूमि, दिशा, श्रद्धा और काल—इन बारहों को यज्ञ का अङ्ग ही माना गया है। ऋक्, यजु और साम वेद तथा यजमान इन चारों के और मिलने पर यज्ञ के सोलह अङ्ग हो जाते हैं और गार्हपत्य अग्नि के सहित यज्ञ के सत्रह अङ्ग बताये गये हैं। यह सब यज्ञाङ्ग हैं और यज्ञ ही इस विश्व का मूल कारण है, ऐसा श्रुति कइती है। घृत, दूध, दही, छाछ, गोबर, चर्म, बाल, सींग और पाँव—इन सब के द्वारा ही गाय यज्ञ का सम्पादन कार्य करती है। इसलिये, इनमें से सभी का संग्रह करना उचित है ॥२२-२८॥

यज्ञं वहन्ति सम्भूय सहृद्विग्भिः सदक्षिणैः ।

संहृत्यैतानि सर्वाणि यज्ञं निर्वर्तयन्त्युत ॥२६

यज्ञार्थानि हि सृष्टानि यथार्था श्रूयते श्रुतिः ।

एवं पूर्वतराः सर्वे प्रवृत्ताश्चैव मानवाः ॥३०

न हिनस्ति नारभते नाभिद्रुह्यति किंचन ।

यज्ञो यष्टव्य इत्येव यो यजत्यफलेप्सया ॥३१

यज्ञाङ्गान्यपि चैतानि यज्ञोक्तान्यनुपूर्वशः ।

विधिना विधियुक्तानि धारयन्ति परस्परम् ॥३२

आम्नायमार्षपश्यामियस्मिन्वेदाः प्रतिष्ठिताः ।

तंविद्वांसोऽनुपश्यन्ति ब्राह्मणस्यानुदर्शनात् ॥३३

ब्राह्मणप्रभवो यज्ञो ब्राह्मणार्पण एव च ।

अनुयज्ञं जगत् सर्वं यज्ञश्चानुजगत् सदा ॥३४

ओमिति ब्रह्मणो योनिर्नमः स्वाहा स्वधा वषट् ।

यस्यैतानि प्रयुज्यन्ते यथाशक्ति कृतान्यपि ॥३५

ऋवित्क् और दक्षिणा से मिल कर यह सब यज्ञ के निर्वाहक हैं । इन सब का संग्रह करके ही यजमान यज्ञानुष्ठान करके हैं । इन सभी वस्तुओं की यज्ञ के लिये रचना हुई है, श्रुति का यह कहना उचित ही है । पूर्वकाल में भी सब मनुष्य इसी प्रकार यज्ञानुष्ठान करते रहे हैं । जो यज्ञानुष्ठान को अपना कर्त्तव्य समझते हुए करता है और उससे किसी फल की इच्छा नहीं रखता, वह पुरुष किसी से द्रोह, हिंसा तथा अहङ्कार पूर्वक कर्म का आरम्भ नहीं करता । यज्ञशास्त्र में क्रम पूर्वक वर्णन किये गये यह सभी यज्ञाङ्ग विधिवत् यज्ञ में प्रयुक्त होते हुए परस्पर एक दूसरे को धारण करते हैं । ऋषियों द्वारा कहे गये अम्नास को मैं देखता हूँ, जिसमें सभी वेद स्थित हैं । कर्म में प्रवृत्त कराने वाले ब्राह्मण वाक्यों के उसमें देखे जाने से उस आर्ष ग्रन्थ को विद्वज्जन प्रामाणिक मानते हैं । वेदों के ब्राह्मण भाग से यज्ञ प्रकट हुआ है और वह यज्ञ ब्राह्मणों को ही अर्पित होता है । यज्ञ के पीछे सम्पूर्ण संसार के पीछे यज्ञ रहता है । वेद का मूल कारण 'ॐ' है । उस ॐ के सहित नमः, स्वाहा, स्वधा और वषट् रूप पद जिस यज्ञ में प्रयुक्त होते हैं, वही यज्ञ अङ्ग-उपाङ्गों सहित पूर्ण होता है ॥२६-३५॥

न तस्य त्रिषु लोकेषु परलोकभयं विदुः ।

इति वेदा वदन्तीह सिद्धाश्च परमर्षयः ॥३६

ऋचो यजूंषिसामानिस्तोभाश्चविधिचोदिताः ।

यस्मिन्नेतानि सर्वाणि भवन्तीह स वै द्विजः ॥३७

अग्न्याधेये यद् भवति यच्च सोमे सुते द्विज ।

यच्चेतरैर्महायज्ञैर्वेद तद् भगवान् पुनः ॥३८

तस्माद् ब्रह्मन् यजेच्चैव याजयेच्चाविचारयन् ।

यजतः स्वर्गविधिना प्रेत्य स्वर्गफलं महत् ॥३९

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञानां परश्चेति विनिश्चयः ।

वेदवादविदश्चैव प्रमाणमुभयं तदा ॥४०

एतावदनुपश्यन्ति यतयो यान्ति मार्गगाः ।

नेषां सर्वेषु लोकेषु कश्चिदस्ति व्यतिक्रमः ॥४१

निर्द्वन्द्वा निर्नमस्कारा निराशीर्बन्धना बुधाः ।

विमुक्ताः सर्वपापेभ्यश्चरन्ति शुचयोऽमलाः ॥४२

ऐसे पुरुष तीनों लोकों में स्थित किसी भी प्राणी से भय को प्राप्त नहीं होते—सभी वेद और सिद्ध महर्षि इस बात का समर्थन करते हैं । ऋक्, यजु, साम यह तीनों वेद और विधि विहित स्तोत्र यह सब जिसमें प्रतिष्ठित हों, वही इस विश्व में द्विज कहलाने का अधिकार रखता है । अग्नि का आधान और सोम याग का जो फल है तथा अन्यान्य महायज्ञों के अनुष्ठानों के जो फल हैं, उन सभी को आप भले प्रकार जानते हैं । इसलिये हे ब्रह्मन् ! बिना किसी प्रकार का विचार किये यज्ञ करना और कराना प्रत्येक द्विज का कर्तव्य है । स्वर्ग देने वाली यज्ञ-विधि से यज्ञ करने वाले को देह त्यागने पर महान् स्वर्ग रूप फल की प्राप्ति होती है । यज्ञ न करने वाले पुरुषों के लिये इहलोक अथवा स्वर्ग, कोई भी लोक सुखदायी नहीं है । वेदोक्त विषयों के जानकार पुरुष प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को ही प्रमाण भूत समझते हैं । महर्षि कपिल बोले—यम-नियमों का पालन करने वाले सन्यासी ज्ञान-मार्ग पर चलते हुए परब्रह्म को प्राप्त होते हैं । उनके लिये दिखायी पड़ने वाला यह प्रपञ्च नाशवान् है । उन सन्यासियों की गति का सभी लोकों में, कहीं भी कोई व्यतिक्रम नहीं हो सकता । उन सन्यासियों को शीत, उष्णता आदि द्वन्द्व विचलित नहीं कर सकते । वे किसी को नमस्कार या आशीर्वाद नहीं देते । वे किसी कामना के बन्धन में बँधते हुए, सब पापों से मुक्त, पवित्र और निर्मल होकर सर्वत्र विचरण करते हैं ॥३६-४२॥

अपवर्गेऽथ संत्यागे बुद्धौ च कृतनिश्चयाः ।

ब्रह्मिष्ठा ब्रह्मभूताश्च ब्रह्मण्येव कृतालयाः ॥४३

विशोका नष्टरजसस्तेषां लोकाः सनातनः ।

तेषां गतिं भिरां प्राप्य गार्हस्थ्ये किं प्रयोजनम् ॥४४

यद्येषा परमा काष्ठा यद्येषा परमा गतिः ।
 गृहस्थानव्यपाश्रित्य नाश्रमोऽन्यः प्रवर्तते ॥४५
 यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः ।
 एवं गार्हस्थ्यमाश्रित्य वर्तन्त इतराश्रमाः ॥४६
 गृहस्थ एव यजते गृहस्थस्तप्यते तपः ।
 गार्हस्थ्यमस्य धर्मस्य मूलं यत्किंचिदेजते ॥४७
 प्रजनाद्यभिनिवृत्ताः सर्वे प्राणभृतो जनाः ।
 प्रजनं चाप्युतान्यत्र न कथंचन विद्यते ॥४८
 यास्तु स्युर्बहिरोषध्यो बहिरन्यास्तथाद्रिजाः ।
 ओषधिभ्यो बहिर्यस्मात् प्राणात् कश्चिन्न दृश्यते ॥४९

मोक्ष-प्राप्ति और सर्वस्व त्याग के लिये उनका निश्चय दृढ़ रहता है ।
 वे सदा ब्रह्म के ध्यान में लगे रहते और ब्रह्म स्वरूप होकर ब्रह्म में ही
 प्रतिष्ठित रहते हैं । जिन सनातन लोकों में शोक और दुःख का सर्वथा
 अभाव है तथा जहाँ रजोगुण देखने को भी नहीं है, वे लोक उन्हें मिलते
 हैं । ऐसी परम गति को पाने वालों के लिये गृहस्थाश्रम में रहने अथवा
 लौकिक धर्मों का पालन करने का क्या प्रयोजन रह जाता है । स्यूमरश्मि
 बोले—यदि ज्ञान प्राप्त करके ब्रह्म में स्थित होना ही पुरुषार्थ की परा-
 काष्ठा है और वही श्रेष्ठ गति है, तब तो गृहस्थ धर्म का महत्व किसी
 प्रकार कम नहीं होता । क्योंकि गृहस्थों के आश्रय बिना कोई भी आश्रम
 नहीं टिक सकता और न ज्ञाननिष्ठा ही रह सकती है । जैसे सभी प्राणी
 माता के आश्रय में ही जीवन-धारण करते हैं, वैसे ही गृहस्थाश्रम के
 आश्रय में सभी आश्रम स्थित हैं । गृहस्थ ही यज्ञ और तप करता है ।
 मनुष्य की प्रत्येक चेष्टा और किसी भी शुभ कर्म के आचरण का मूल
 कारण गृहस्थाश्रम ही है । सभी प्राणी सन्तानोत्पत्ति आदि से सुख का
 अनुभव करते हैं, परन्तु, गृहस्थाश्रम के अतिरिक्ति और किसी भी साधन
 से सन्तान सुलभ नहीं है । तृण, घान, जौ आदि ओषधि, नगर के बाहर
 उत्पन्न होने वाली तथा पर्वत पर होने वाली औषधियों का भी मूल कारण

गृहस्थाश्रम ही है उन प्राण स्वरूप ओषधियों से अन्यत्र कोई ओषधि दृष्टि-
गोचर नहीं होती ॥४३-४६॥

कस्यैषा वाग् भवेत् सत्या मोक्षोनास्ति गृहादिति ।

अश्रद्धानैरप्राज्ञैः सूक्ष्मदर्शनवर्जितैः ॥५०॥

निरासैरलसैः श्रान्तैस्तप्यमानैः स्वकर्मभिः ।

शमस्योपरमो दृष्टः प्रव्रज्यायामपण्डितैः ॥५१॥

त्रैलोक्यस्यैव हेतुर्हि मर्यादा शाश्वती ध्रुवा ।

ब्राह्मणो नाम भगवान् जन्मप्रभृति पूज्यते ॥५२॥

प्राग्गर्भाधानान्मन्त्रा हि प्रवर्तन्ते द्विजातिषु ।

अविश्रम्भेषु वर्तन्ते विश्रम्भेष्वप्यसंशयम् ॥५३॥

दाहे पुनः संश्रयणे संश्रिते पात्रभोजने ।

दाने गवां पशूनां वा पिण्डानामप्सु मज्जने ॥५४॥

अर्चिष्मन्तो बर्हिषदः कव्यादाः पितरस्तथा ।

मृतस्याप्यनुमन्यन्ते मन्त्रान् मन्त्राश्च कारणम् ॥५५॥

एवं क्रोशत्सुवेदेषु कुतो मोक्षोऽस्तिकस्यचित्तु ।

ऋणवन्तो यदा मर्त्याः पितृदेवद्विजातिषु ॥५६॥

गृहस्थाश्रम धर्म के पालन से मोक्ष नहीं होती, यह कहना किसका सत्य हो सकता है ? जो श्रद्धाहीन, मूढ़, स्थूल दृष्टि वाले हैं तथा अस्थिर, आलसी, श्रान्त, पूर्व कर्मों के कारण सन्तप्त अज्ञानी पुरुष ही सन्यासी बन कर गृहस्थाश्रम में अशान्ति देखते हैं । तीनों लोकों का हित करने वाली सनातन मर्यादा ही सत्य है । ब्राह्मण पूज्य है तथा जन्म काल से ही वह सबके द्वारा आदर का पात्र होता है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यह तीनों द्विजाति हैं । इनमें गर्भाधान से पूर्व ही वेद मन्त्रों का उच्चारण होता है । फिर सभी लौकिक अथवा पारलौकिक कार्यों में उन वेदमन्त्रों की प्रवृत्ति होती रहती है । शव-दाह में, पुनः देह धारण में, देह धारण करने पर, तर्पण और श्राद्ध द्वारा मृतक की प्राप्ति में, गौ अथवा अन्य पशुओं के दान में और श्राद्ध कर्म के पिण्डों का जल में विसर्जन करने तक में वेद-मन्त्र प्रयुक्त होते हैं । अर्चिष्मत्, बर्हिषद् और कव्यवाह नामक पितर भी

मृतक के लिये मन्त्र-पाठ की अनुमति देते हैं। इसलिये मन्त्रों को सब धर्मों का कारण समझना चाहिये। जब वे वेदमन्त्र ही उच्च स्वर से कहते हैं कि देव, पितर और ऋषियों के मनुष्य ऋणी हैं, तब उन ऋणों को गृहस्थाश्रम में रहे बिना कैसे चुकाया जा सकता और कैसे मोक्ष प्राप्त की जा सकती है ॥५०-५६॥

श्रिया विहीनैरलसैः पण्डितैः सम्प्रवर्तितम् ।

वेदवादापरिज्ञानं सत्याभासमिवानृतम् ॥५७

न वै पापैर्हियते कृष्यते वा

यो ब्राह्मणो यजते वेदशास्त्रैः ।

ऊर्ध्वं यज्ञैः पशुभिः सार्धमेति

संतर्पितस्तर्पयते च कामैः ॥५८

न वेदानां परिभवान्न शास्त्रेण न मायया ।

महत् प्राप्नोति पुरुषो ब्रह्मणि ब्रह्म विन्दति ॥५९

दर्शं च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः ।

चातुर्मास्यानि चैवासंस्तेषु धर्मः सनातनः ॥६०

अनारम्भाः सुधृतयः शुचयो ब्रह्मसंज्ञिताः ।

ब्रह्मणैव स्म ते देवास्तर्पयन्त्यमृतैर्षिणः ॥६१

सर्वभूतात्मभृतस्य सर्वभूतानि पश्यतः ।

देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैर्षिणः ॥६२

चतुर्द्वारं पुरुषं चतुर्मुखं

चतुर्धा चैनमुपयाति वाचा ।

बाहुभ्यां वाच उदरादुपस्थात्

तेषां द्वारं द्वारपालो बुभूषेत् ॥६३

कर्म-त्याग से मोक्ष मिलने का मत श्रीहीन और आलसी पण्डितों ने चलाया है। सुनने में यह यथार्थ-सा लगता है। परन्तु, इस मार्ग पर चलने वाले किसी भी व्यक्ति को वैदिक सिद्धान्तों का ज्ञान नहीं है। वेदशास्त्रा-नुकूल यज्ञ करने वाले पापों का आक्रमण नहीं होता। वह अपने यज्ञों और उनमें उपयोग हुए पशुओं के सहित ऊपर के लोकों में जाता

और स्वयं सभी भोगों से तृप्त होता तथा दूसरों को भी तृप्त करता है । वेदों का आदर न करने से, शठता और छल-कपट से परब्रह्म को कोई नहीं पा सकता । वेदोक्त कर्मों के आश्रय से ही परब्रह्म की प्राप्ति संभव है । कपिलजी बोले—बुद्धिमान के लिये दर्श, पौर्णमास अग्निहोत्र एवं चातुर्मास्य आदि का विधान है । क्योंकि, उन कर्मों में सनातन धर्म प्रतिष्ठित है । परन्तु, सन्यास धर्म का स्वीकार कर जिन्होंने कर्मों को त्याग दिया है, वे धीरे पवित्र और ब्रह्म स्वरूप में स्थित पुरुष ब्रह्म की ही कामना करते और ब्रह्मज्ञान के द्वारा ही देवताओं को तृप्त करते हैं । जो सब प्राणियों के आत्मा रूप से स्थित हैं तथा सभीको आत्मभाव से देखते हैं, जिनका कोई पद विशेष भी नहीं है, उन ज्ञानीजन का पद-चिह्न खोजते हुए भी मोहित हो जाते हैं । मनुष्यों के चार द्वार हैं—हाथ-पाँव, वाणी, उदर और उपस्थ, इन द्वारों का रक्षक बने । शास्त्र वचनों के अनुसार इन चारों द्वारों के संयम से ऋक्, यजु, साम और अथर्व रूप चार मुख वाले परम पुरुष को भक्ति, ज्ञान, कर्म और अष्टांग योग, इन चार उपायों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है ॥५७-६३॥

नाक्षैर्दीव्येन्नाददीतान्यवित्तं

न वायोनीयस्य शृतं प्रगृह्णात् ।

क्रुद्धो न चैव प्रहरेत् धीमां

स्तथास्य तत्पणिपादं सुगुप्तम् ॥६४॥

नाक्रोशमृच्छेन्न वृथा वदेच्च

न पशुनं जनवादं च कुर्यात् ।

सत्यव्रतो मितभाषोऽप्रमत्त-

स्तथास्य वाग्द्वारमथो सुगुप्तम् ॥६५॥

नानाशनः स्यान्न महाशनः स्या-

दलोलुपः साधुभिरागतः स्यात् ।

यात्रार्थमाहारमिहाददीत

तथास्य स्याज्जाठरी द्वारगुप्तिः ॥६६॥

न वीर पत्नीं विहरैत नारीं

न चापि नारीमनृतावाह्यीत ।

भार्याव्रतं ह्यात्मनि धारयीत

तथास्योपस्थद्वारगुप्तिर्भवेत् ॥६७

द्वाराणि यस्य सर्वाणि सुगुप्तानि मनीषिणः ।

उपस्थमुदरं बाहू वाक् चतुर्थो स वै द्विजः ॥६८

मोघान्यगुप्तद्वारस्य सर्वाण्येव भवन्त्युत ।

किं तस्य तपसा कार्यं किं यज्ञेन किमात्मना ॥६९

अनुत्तरीयवसनमनुपस्तीर्णशायिनम् ।

बाहूपधानं शाम्यन्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥७०

बुद्धिमान पुरुष को जुआ नहीं खेलना चाहिये । पराया धन तथा नीच पुरुष का बनाया हुआ अन्न नहीं लेना चाहिये । क्रोध में किसी पर प्रहार नहीं करना चाहिये । इस प्रकार के आचरण से उसके हाथ-पाँव सुरक्षित रहते हैं । व्यर्थ न बोले, किसी को गाली न दे, परनिन्दा न करे, मितभाषी और सत्यवक्ता रहता हुआ सदा सावधान रहे । इससे वाक् इन्द्रिय सुरक्षित रहती है । उपवास न करे, अधिक भोजन न करे, भोजन के लिये सदा लालायित न रहे, सज्जन पुरुषों के साथ रहे और पेट में उतना ही अन्न डाले जितना कि जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक हो । इससे उदर द्वार की रक्षा होती है परनारी के साथ विहार न करे, अपनी स्त्री के साथ ही विहार करे और वह भी जब तक ऋतु स्नाना न हुई हो अपने पास न बुलावे तथा एक पत्नी व्रत का पालन करे । इससे उपस्थ द्वार की रक्षा होती है । जो मनीषी पुरुष अपने उपस्थ, हाथ-पाँव और वाणी अपने इन सब द्वारों को सुरक्षित रखता है, वही पुरुष यथार्थ रूप में ब्राह्मण है । जिस पुरुष के यह द्वार असुरक्षित हैं, उसके सभी शुभ कर्म फलहीन होते हैं । ऐसे पुरुष को तप, यज्ञ अथवा आत्म-चिन्तनसे भी क्या लाभ हो सकता है ? ऋस्व के नाम पर एक लंगोटी, ओढ़ने बिछाने को भी कुछ नहीं, अपनी बाँहों का ही तकिया लगाता और सदा शान्त भाव से रहता है, उसी को देवगण ब्राह्मण कहते हैं ॥६४-७०॥

द्वन्द्वारामेषु सर्वेषु य एको रमते मुनिः ।

परेषामननुध्यायंस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥७१

येन सर्वमिदं बुद्धं प्रकृतिविकृतिश्च या ।

गतिज्ञः सर्वभूतानां तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥७२

अभयं सर्वभूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः ।

सर्वभूतात्मभूतो यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥७३

नान्तरेणानुजानन्ति दानयज्ञक्रियाफलम् ।

अविज्ञाय च तत् सर्वमन्यद् रोचयते फलम् ॥७४

स्वकर्मभिः संश्रितानां तपो घोरत्वमागतम् ।

तं सदाचारमाश्रित्य पुराणं शाश्वतं ध्रुवम् ॥७५

अशक्नुवन्तश्चरितुं किञ्चिद् धर्मेषु सूत्रितम् ।

निरापद्धर्म आचारो ह्यप्रमादोऽपराभवः ॥७६

फलवन्ति च कर्माणि व्युष्टिमन्ति ध्रुवाणि च ।

विगुणानि च पश्यन्ति तथानैकान्तिकानि च ॥७७

शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वों में अकेला निवास करता हुआ जो दूसरों का चिन्तन नहीं करता, उसे देवगण ब्राह्मण मानते हैं। जो इस विश्व को नाशवान् जानता है, जो प्रकृति और उसके विकारों से अनभिज्ञ नहीं है और जिसे सभी भूतों की गति का ज्ञान है, उसे देवगण ब्राह्मण समझते हैं। जो भूतों से भय रहित है तथा कोई भी प्राणी जिससे भय नहीं मानता और जो सभी का आत्मा स्वरूप है, उसी को देवता ब्राह्मण समझते हैं। परन्तु, मूर्ख मनुष्य यज्ञ-कर्म के फल के अतिरिक्त योग आदि फल को स्वीकार नहीं करते। वे मोक्ष देने वाले उन सभी साधनों के महत्व को नहीं जानते, इसलिये स्वर्ग आदि फलों की ही इच्छा करते हैं। किन्तु, पुराण, सनातन और ध्रुव यौगिक सदाचार के आश्रय में अपने कर्तव्य में लगे रहने वाले ज्ञानियों का तप दिनों दिन बढ़ता जाता है। प्रवृत्ति मार्ग पर चलने वाले पुरुष योगशास्त्र के सूत्रों में कहे गये यम-नियम आदि का अनुष्ठान नहीं कर पाते। यथार्थ में यौगिक आचार आपत्ति और प्रमाद से शून्य है तथा काम आदि के सामने हार नहीं मानता। योग

शास्त्रोक्त कर्म श्रेष्ठ फल वाले, उन्नति शील और स्थायी होते हैं, तो भी प्रवृत्तिमार्ग के अनुयायी उन्हें गुणहीन व अस्थिर मानते हैं ॥७१-७७॥

गुणाश्चात्र सुदुर्ज्ञेया ज्ञाताश्चात्र सुदुष्कराः ।

अनुष्ठिताश्चान्तवन्त इति त्वमनुपश्यसि ॥७८

यथा च वेदप्रामाण्यं त्यागश्च सफलो यथा ।

तौ पन्थानावुभौ व्यक्तौ भगवंस्तद् वदस्व मे ॥७९

प्रत्यक्षमिह पश्यन्ति भवन्तः सत्पथे स्थिताः ।

प्रत्यक्षं तु किमत्रास्ति यद् भवन्त उपासते ॥८०

स्यूमरश्मिरहं ब्रह्मन् जिज्ञासार्थमिहागतः ।

श्रेयस्कामः प्रत्यवोचमार्जवान्न विवक्षया ॥८१

इमं च संशयं धोरं भगवान् प्रब्रवीतु मे ।

प्रत्यक्षमिह पश्यन्तो भवन्तः सत्पथे स्थिताः ।

किमत्र प्रत्यक्षममं भवन्तो यदुपासते ॥८२

अन्यत्र तर्कशास्त्रेभ्य आगमार्थं यथागमम् ।

आगमो वेदवादास्तु तर्कशास्त्राणि चागमः ॥८३

यथाश्रममुपासीत आगमस्तत्र सिध्यति ।

सिद्धिः प्रत्यक्षरूपा च दृश्यत्यागमनिश्चयात् ॥८४

गुणों के कार्य भूत यज्ञों के स्वरूप और विधि-विधान कठिनाई से समझ में आते हैं, समझने पर भी उनका अनुष्ठान करना दुष्कर है और अनुष्ठान भी कर लें तो उससे नश्वर फल ही मिलता है। इन सब बातों को तुम भी देखते समझते हो। स्यूमरश्मि ने कहा—हे भगवन् ! 'कर्म करना' अथवा 'कर्म का त्यागना' यह परस्पर विरुद्ध मार्ग है। इनका उपदेश देने वाले वेद को प्रामाणिक कैसे समझा जाय ? तथा त्याग की सफलता कैसे हो ? यह भी आप मेरे प्रति कहिये। महर्षि कपिल ने कहा—सन्मार्ग में स्थित रह कर योग मार्ग का फल प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। परन्तु, तुम जिस कर्म मार्ग द्वारा यज्ञोपासना करते हो, उसके द्वारा किस प्रत्यक्ष फल की प्राप्ति हो सकती है ? स्यूमरश्मि बोले—हे ब्रह्मन् ! मैं स्यूमरश्मि ज्ञान पाने की इच्छा से यहाँ आया हूँ। मैंने

कल्याण की कामना से ही अपनी जिज्ञासा प्रकट की है, वाद-विवाद की इच्छा से मैंने कुछ नहीं कहा है मेरे मन में जो घोर संशय है उसे आप ही दूर कर सकते हैं। आपने कहा था कि सन्मार्ग में स्थित रह कर योग मार्ग का फल प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। तो आप जिसकी उपासना करते हैं, उसका प्रत्यक्ष फल क्या है? यह बात तर्क के आश्रय को छोड़ कर मुझे बताइये, जिससे मैं आगम का तात्पर्य समझ सकूँ। वेदमत का अनुसरण करने वाले शास्त्र आगम हैं और तर्क शास्त्र भी आगम ही है। जिस-जिस आश्रम का जो-जो धर्म कहा गया है, उस-उस में वही-वही धर्म पालन करना चाहिये। इसी में आगम की सफलता है। इस प्रकार शास्त्र के निश्चय से सिद्धि को प्रत्यक्ष देख सकते हैं ॥७८-८४॥

नौर्नावीव निबद्धा हि स्रोतसा सनिबन्धना ।

ह्रियमाणा कथं विप्र कुबुद्धीस्तारयिष्यति ।

एतद् ब्रवीतु भगवानुपपन्नोऽस्म्यधीहि भोः ॥८५॥

नैव त्यागी न संतुष्टो नाशोको न निरामयः ।

न निर्विधित्सो नावृत्तो नापवृत्तोऽस्ति कश्चन ॥८६॥

भवन्तोऽपि च हृष्यन्ति शोचन्ति च यथा वयम् ।

इन्द्रियार्थाश्च भवतां समानाः सर्वजन्तुषु ॥८७॥

एवं चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां प्रवृत्तिषु ।

एकमालम्बमानानां निणये किं निरामयम् ॥८८॥

यद् यदाचरते शास्त्रमर्थं सर्वप्रवृत्तिषु ।

यस्य यत्र ह्यनुष्ठानं तत्र तत्र निरामयम् ॥८९॥

ज्ञानं प्लावयते सर्वं यो ज्ञानं ह्यनुवर्तते ।

ज्ञानादपेत्य या वृत्तिः सा विनाशयति प्रजाः ॥९०॥

भवन्तो ज्ञानिनो व्यक्तं सर्वतश्च निरामयाः ।

ऐकात्म्यं नाम कश्चिद्धि कदाचिदुपपद्यते ॥९१॥

जैसे जाने वाली नाव के साथ दूसरी नाव बाँध दें तो वह जल प्रवाह के व्यतिक्रम में पड़ कर गन्तव्य स्थान तक नहीं पहुँच सकती है।

वैसे ही पारब्ध कर्म की वासना से बँधी यह कर्ममय नाव भवसावर से पार कैसे उतार सकती है ? मैं आपकी शरण आया हूँ आप मुझे इस सब का उपदेश कीजिये । यथार्थ रूप में, इस संसार में कोई त्यागी नहीं है । कोई सन्तुष्ट, शोक-रहित अथवा रोग-रहित भी नहीं है । न कोई कर्म करने की इच्छा से शून्य है और न आसक्ति से ही रहित है तथा कर्म का सर्वथा त्याग करने वाला भी कोई नहीं है । आप भी हमारे समान हर्ष एवं शोक को प्रकट करते हैं तथा सब प्राणियों के समान आपके आगे भी शब्द, स्पर्श आदि विषय उद्यस्थ होते और ग्रहण किये जाते हैं चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लोग सब स्थितियों में केवल सुख का आश्रय ही हैं, इसलिये सिद्धान्त रूप से मुझे अक्षय सुख का स्वरूप बताइये । कपिल जी ने कहा—जिस-जिस शास्त्र से जो-जो अर्थ प्रतिपादित होता है, वह वह सब प्रवृत्तियों में सफल होता है । जहाँ जिस साधन का अनुष्ठान होता है वहाँ क्षीण न होने वाला सुख प्राप्त होता है । ज्ञान का अनुसरण करने वाले पुरुष के सभी बधनों को ज्ञान काट देता है । ज्ञान-रहित प्रवृत्ति प्रजा को जन्म-मरण के चक्कर में डाल कर उसे नष्ट कर देती है यह बात सब जानते हैं कि आप सर्व ज्ञानी हैं और सब ओर से रोग-रहित हैं । परन्तु, क्या आप में से किसी को भी, किसी भी काल में एकात्मता की प्राप्ति होती है ॥८५-८६॥

शास्त्रं ह्यबुद्ध्वा तत्त्वेन केचिद् वादबलाज्जनाः ।

कामद्वेषाभिभूतत्वादहङ्कारवशं गताः ॥८७

याथातथ्यमविज्ञाय शास्त्राणां शास्त्रदस्यवः ।

ब्रह्मास्तेना निरारम्भा दम्भमोहवशानुगाः ॥८८

नैर्गुण्यमेव पश्यन्ति न गुणाननुयुञ्जते ।

तेषां तमःशरीराणां तम एव परायणम् ॥८९

यो यथाप्रकृतिर्जन्तुः प्रकृतेः स्याद् वशानुगः ।

तस्य द्वेषश्च कामश्च क्रोधो दम्भोऽनृतं मदः ।

नित्यमेवाभिवर्तन्ते गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ॥९०

एवं ध्यात्वानुपश्यन्तः संत्यजेयुः शुभाशुभम् ।
 परां गतिमभीप्सन्तो यतयः संयमे रताः ॥६६
 सर्वमेतन्मया ब्रह्मन् शास्त्रतः परिकीर्तितम् ।
 न ह्यविज्ञाय शास्त्रार्थं प्रवर्तन्ते प्रवृत्तयः ॥६७
 यः कश्चिन्न्याय्य आचारः सर्वं शास्त्रमिति श्रुतिः ।
 यदन्याय्यमशास्त्रं तदित्येषा श्रूयते श्रुतिः ॥६८

यथार्थ रूप से शास्त्र को न जानने वाले लोग केवल वितण्डावाद के बल से ही राग-द्वेष से अभिभूत होकर अहंकार के वश में पड़ गये हैं। शास्त्रों के यथार्थ तत्व का ज्ञान न होने के कारण वे शास्त्र-दस्यु कहे जाते हैं और उसमें ब्रह्म का अपलाप होने से ब्रह्मचोर की उपाधि प्राप्त करते हैं। वे शम-दम आदि को त्याग कर दम्भ और मोह में ही पड़े रहते हैं। शम-दम आदि साधनों को वे सदा निष्फल देखते तथा ज्ञान, ऐश्वर्य आदि गुणों को जानने का यत्न नहीं करते। उन तमोगुणी पुरुषों का आश्रय तमोगुण ही है। प्रत्येक प्राणी अपनी प्रकृति के अधीन होता है। उसमें द्वेष, काम, क्रोध, असत्य और मद, यह प्रकृति से उत्पन्न गुण सदैव स्थित रहते हैं। परमगति को पाने के इच्छुक तथा संयमी यति इस प्रकार विचार करके शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का त्याग कर देते हैं। स्पूमरश्मि ने कहा—हे ब्रह्मन्। मैंने सभी कुछ शास्त्र से प्रतिपादित ही कहा है। क्योंकि शास्त्र के तात्पर्य को समझे बिना कोई, किसी कार्यमें प्रवृत्त नहीं हो सकता। श्रुति कहती है कि कोई भी न्यायोचित आचार शास्त्र रूप ही है। जिस वर्ताव में न्याय नहीं, वह अशास्त्रीय कहने वाली श्रुति भी सुनी जाती है ॥६२ ६८॥

न प्रवृत्तिर्ऋते शास्त्रात् काचिदस्तीति निश्चयः ।
 यदन्यद् वेदवादेभ्यस्तदशास्त्रमिति श्रुतिः ॥६६
 शास्त्रादपेतं पश्यन्ति बहवो व्यक्तमानिनः ।
 शास्त्रदोषान् न पश्यन्ति शोचन्ति च यथा वयम् ।
 इन्द्रियार्थाश्च भवतां समानाः सर्वजन्तुषु ॥१००

एवं चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां प्रवृत्तिषु ।

एकमालम्बमानानां निर्णये सर्वतोदिशम् ॥१०१

आनन्त्यं वदमानेन शक्तेनावर्जितात्मना ।

अविज्ञानहतप्रज्ञा हीनप्रज्ञास्तमोवृताः ॥१०२

शक्यं त्वेकेन युक्तेन कृतकृत्येन सर्वशः ।

पिण्डमात्रं व्यपाश्रित्य चरितुं विजितात्मना ॥१०३

पिण्डमात्रं व्यपाश्रित्य मोक्षोऽस्तीति प्रभाषितुम् ।

अपेतन्यायशास्त्रेण सर्वलोकविगर्हिणा ॥१०४

इदं तु दुष्करं कर्म कुटुम्बमभिसंश्रितम् ।

दानमध्ययनं यज्ञः प्रजासंतानमार्जवम् ॥१०५

शास्त्र के बिना किसी प्रवृत्ति का सफलता नहीं है, विद्वानों का यह निश्चित मत है। श्रुति कहती है कि वैदिक वाक्यों के विरुद्ध जो कुछ है वह सभी अज्ञास्वीय है। अनेक मनुष्य प्रत्यक्ष को ही मानते और शास्त्र से परे इहलोक को ही देखते हैं। वे शास्त्रोक्त दोषों पर ध्यान नहीं देते। हम जैसे शोक करते हैं, वैसे ही वे वेद-विरुद्ध मत के आश्रय में शोक मग्न रहते हैं। आपके समान ज्ञानी भी, सब प्राणियों के समान इन्द्रियों के विषयो का अनुभव करते हैं। इस प्रकार चारों वर्णों और आश्रमों की प्रवृत्तियों में निमग्न पुरुष एक मात्र सुख का सहारा लेते हैं। उनमें से हमारे समान पुरुष अज्ञान से बुद्धि को नष्ट कर तुच्छ विषयों में रमते हुए तथा तमोगुण से दबे हुए हैं। आर्य वर्णन करने में समर्थ हैं, इसलिये आपने सार्वदेशिक सिद्धान्त के रूप में मोक्ष सुख का अनन्त होना कह कर हमें शान्ति प्रदान की है। आपके जैसा एकाकी, योग-सम्पन्न, कृतकृत्य, मन को जीत लेने वाला, शरीर-रक्षा के लिये स्वल्प भिक्षान्न के सहारे से सर्वत्र विचरने वाला, न्याय शास्त्र को त्यागने वाला तथा सम्पूर्ण विश्व को गहित मानने वाला पुरुष ही वेद वाक्यों के आधार पर 'मोक्ष है' ऐसा वाक्य अधिकार सहित कह सकता है। गृहस्थाश्रम के अनुकूल कुटुम्ब के भरण पोषण से सम्बन्धित कार्य और दान, स्वाध्याय, यज्ञ, सन्तानोत्पादन

तथा सरल भाव युक्त बर्ताव रूप कर्म आदि सभी कार्य मनुष्य के लिये अत्यन्त कठिन ही हैं ॥६६-१०५॥

यद्ये तदेवं कृत्वापि न विमोक्षोऽस्ति कस्यचित् ।

धिक् कर्तारं च कार्यं च श्रमश्चायं निरर्थकः ॥१०६

नास्तिक्यमन्यथा च स्याद् वेदानां पृष्ठतः क्रिया ।

एतस्यानन्त्यमिच्छामि भगवञ्श्रोतुमञ्जसा ॥१०७

तत्त्वं वदस्व मे ब्रह्मन्नुपसन्नोऽस्म्यधीहि भोः ।

यथा ते विदितो मोक्षस्तथेच्छाम्युपपिषितुम् ॥१०८

वेदाः प्रमाणं लोकानां न वेदाः पृष्ठतः कृताः ।

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ॥१०९

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ।

शरीरमेतत् कुरुते यद् वेदे कुरुते तनुम् ॥११०

कृतशुद्धशरीरो हि पात्रं भवति ब्राह्मणः ।

आनन्त्यमत्र बुद्धयेदं कर्मणां तद् ब्रवीमि ते ॥१११

अनागममनैतिह्यं प्रत्यक्षं लोकसाक्षिकम् ।

धर्म इत्येव ये यज्ञान् वितन्वन्ति निराशियः ॥११२

यदि इनके करने पर भी मोक्ष न मिला तो करने वाले को और उसके कार्य को भी धिक्कार है । क्योंकि उसमें होने वाला सभी परिश्रम व्यर्थ हो गया । कर्मकाण्ड को व्यर्थ समझ कर त्याग देना नास्तिकता और वेद विरुद्धता होगी । इसलिये हे भगवन् ! कर्मकाण्ड सुगमता पूर्वक किस प्रकार मोक्ष को सिद्ध करने वाला होगा, यह सुनने को मैं इच्छुक हूँ । हे ब्रह्मन् ! मेरे प्रति उत्तर कहिये, मैं शिष्य भाव से आपके शरण में हूँ, मुझे उपदेश दीजिये । मोक्ष के जिस स्वरूप का आपको ज्ञान है । उसे मैं भी सीखने और जानने का इच्छुक हूँ । कपिलजी बोले—सभी लोकों के लिये वेद प्रमाण स्वरूप है, इसलिये वेदों की अवहेलना नहीं की गई । ब्रह्म के दो स्वरूप कहे गये हैं—शब्द ब्रह्म और परब्रह्म । शब्द ब्रह्म अर्थात् वेद शास्त्रों में पारंगत पुरुष परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है । वेदोक्त गर्भाधान संस्कार विधि से जो माता-पिता जिस बालक के शरीर को उत्पन्न करते

हैं, वे उस बालक के शरीर का ही संस्कार करते हैं। इस प्रकार वैदिक संस्कार से शुद्ध हुआ शरीर ही ब्रह्मज्ञान का अधिकारी है। अब तुम्हें कर्म के अक्षय-सुख प्राप्त कराने वाला होने के सम्बन्ध में बताता हूँ। किसी प्रकार के भोग की इच्छा के बिना यज्ञानुष्ठान का जो अपना कर्तव्य समझते हैं, उनके उस अनुष्ठान का फल वेद अथवा इतिहास के द्वारा ज्ञात नहीं होता। वह तो प्रत्यक्ष है और नेत्रों के द्वारा देखा जाता है ॥१०६-११२॥

उत्पन्नत्यागिनोऽलुब्धाः कृपासूयाविवर्जिताः ।

धनानामेष वै पन्थास्तीर्थेषु प्रतिपादनम् ॥११३

अनाश्रिताः पापकर्म कदाचित् कर्मयोगिनः ।

मनःसंकल्पसंसिद्धा विशुद्धज्ञाननिश्चयाः ॥११४

अक्रुध्यन्तोऽनसूयन्तो निरहङ्कारमत्सराः ।

ज्ञाननिष्ठास्त्रिशुक्लाश्च सर्वभूतहिते रताः ॥११५

आसन् गृहस्था भूयिष्ठा अव्युत्क्रान्ताः स्वकर्मसु ।

राजानश्च तथा युक्ता ब्राह्मणाश्च यथाविधि ॥११६

समा ह्यार्जवसम्पन्नाः संतुष्ट ज्ञाननिश्चयाः ।

प्रत्यक्षधर्माः शुचयः श्रद्धाढाः परावरे ॥११७

पुरस्ताद् भावितात्मानो यथावच्चरितव्रताः ।

चरन्ति धर्मं कृच्छ्रेऽपि दुर्गे चैवापि संहताः ॥११८

संहृत्य धर्मं चरतां पुराऽऽसीत् सुखमेव तत् ।

तेषां नासीद् विधातव्यं प्रायश्चित्तं कथंचन ॥११९

सब प्रकार के लालच को त्याग कर प्राप्त पदार्थों का भी जो लोग त्याग कर देते हैं तथा सत्पात्रों को दान देते हुए समझते हैं कि 'धन का सर्वोत्तम उपयोग यही है', पाप कर्म को कभी न करते हुए कर्मयोग की साधना करते रहते हैं, उनके मानसिक संकल्प पूर्ण होने लगते हैं और वे विशुद्ध ज्ञान स्वरूप परब्रह्म के विषय में भी दृढ़ विश्वासी हो जाते हैं। वे किसी पर क्रोधित नहीं होते, किसी में दोष नहीं देखते, अहंकार और मात्सर्य से दूर रहते हैं, ज्ञान-साधनों में निष्ठावान् तथा जन्म, कर्म और

विद्या से शुद्ध एवं सभी प्राणियों के हित-साधन में लगे रहते हैं। प्राचीन काल में अनेक राजा और ब्राह्मण गृहस्थाश्रम में रहते रहे, उन्होंने अपने कर्मों का त्याग नहीं किया और निष्काम भाव से उनमें लगे रहे। वे सभी प्राणियों के प्रति समदर्शी थे। सरल, सन्तुष्ट, ज्ञान में निष्ठा वाले, प्रत्यक्ष फलदायक धर्म का अनुष्ठान करने वाले और शुद्ध चित्त वाले होते हुए शब्द ब्रह्म और परब्रह्म दोनों में ही श्रद्धावात् थे। वे नियमों का विधिवत् पालन करते हुए चित्त को शुद्ध रखते थे, संकट ग्रस्त होने पर भी मिल कर धर्मानुष्ठान करते थे। संघ रूप से मिल कर धर्मानुष्ठान में लगे रह कर सुख का अनुभव करते थे। वे ऐसा कोई कार्य नहीं करते थे, जिससे उन्हें प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता प्रतीत होती हो

॥११३-११६॥

सत्यं हि धर्ममास्थाय दुराधर्षतमा मताः ।

न मात्रामनुरुध्यन्ते न धर्मच्छलमन्ततः ॥१२०

य एव प्रथमः कल्पस्तमेवाभ्याचरन् सह ।

तेषां नासीद् विधातव्यं प्रायश्चित्तं कदाचन ॥१२१

तस्मिन् विधौ स्थितानां हि प्रायश्चित्तं न विद्यते ।

दुर्बलात्मन उत्पन्नं प्रायश्चित्तमिति श्रुतिः ॥१२२

एवं बहुविधा विप्राः पुराणा यज्ञवाहनाः ।

त्रैविद्यवृद्धाः शुचयो वृत्तवन्तो यशस्विनः ॥१२३

यजन्तोऽहरहर्यज्ञैर्निराशीर्बन्धना बुधाः ।

तेषां यज्ञाश्च वेदाश्च कर्माणि च यथागमम् ॥१२४

आगमाश्च यथाकाले संकल्पाश्च यथाक्रमम् ।

अपेतकामक्रोधानां दुश्चराचारकर्मणाम् ॥१२५

स्वकर्मभिः शंसितानां प्रकृत्या शंसितात्मनाम् ।

ऋजूनां शमनित्यानां स्वेषु कर्मसु वर्तताम् ॥१२६

सत्यधर्म के आश्रय में अत्यन्त दुर्धर्ष थे। वे किंचित् भी पाप नहीं करते थे और प्राण जाने का भय उपस्थित होने पर भी छल-कपट से काम नहीं लेते थे। सभी साथ रह कर प्रथम श्रेणी के धर्म का आचरण

करते थे, इसलिये उनको प्रायश्चित्त करने का अवसर कभी भी उपस्थित नहीं होता था। धर्म की उस श्रेष्ठ श्रेणी में रहते हुए उन शुद्ध चेता पुरुषों के प्रायश्चित्त था ही नहीं। क्योंकि दुर्बल हृदय वालों के द्वारा ही पाप होता है और प्रायश्चित्त का विधान भी उन्हीं के लिये है—श्रुति में ऐसा ही कहा गया है। पूर्वकाल में अनेक ब्राह्मण इसी प्रकार यज्ञ का निर्वाह करते थे। वे वेद विद्या में पारंगत, पवित्र, सदाचारी और यशस्वी थे। कामनाओं के बन्धन से मुक्त हुए वे विज्ञान यज्ञों के द्वारा यजन करते थे। उनके यज्ञादि कार्यों की सम्पन्नता शास्त्र विधि के द्वारा हुआ करती थी। उन्होंने काम, क्रोध को छोड़ दिया था। वे जैसा आचरण करते थे, उस पर चलना दूसरों के लिये कठिन था। शास्त्र ज्ञान और सत्संकल्प उनके हृदयों में यथा समय उत्पन्न होते रहते थे। उनके श्रेष्ठ कर्म उनकी प्रशंसा के कारण थे। उनका स्वभाव ही सरल, शान्त और पवित्र चित्त वाला था तथा वे अपने धर्म में निष्ठावान् रहते थे ॥१२०-१२६

, सर्वमानन्त्यमेवासीदिति नः शाश्वती श्रुतिः ।
 तेषामदीनसत्त्वानां दुश्चराचारकर्मणाम् ॥१२७
 स्वकर्मभिः सम्भृतानां तपो घोरत्वमागतम् ।
 तं सदाचारमाश्चर्यं पुराणं शाश्वतं ध्रुवम् ॥१२८
 अशक्नुवद्विश्वारितुं किञ्चिद् धर्मेषु सूक्ष्मताम् ।
 निरापद्धर्म आचारो ह्यप्रमादोऽपराभवः ॥१२९
 सर्ववर्णेषु जातेषु नासीत् कश्चिद् व्यतिक्रमः ।
 व्यस्तमेकं चतुर्धा हि ब्राह्मणा आश्रमं विदुः ॥१३०
 तं सन्तोविधिवत् प्राप्य गच्छन्ति परमां गतिम् ।
 गृहेभ्य एव निष्क्रम्य वनमन्ये समाश्रिताः ॥१३१
 गृहमवाभिसंश्रित्य ततोऽन्यो ब्रह्मचारिणः ।
 त एते दिवि दृश्यन्ते ज्योतिर्भूता द्विजातयः ॥१३२
 नक्षत्राणीव धिष्ण्येषु बहवस्तारकागणाः ।
 आनन्त्यमुपसम्प्राप्ताः संतोषादिति वैदिकम् ॥१३३

वे उदार हृदय वाले थे। ऐसे श्रेष्ठ आचरण और कर्म को करते थे, जिनका करना दूसरों के लिये अत्यन्त कठिन था। यह सुना जाता है कि वे सदा अक्षय मोक्ष रूप फल देनेवाले कर्म में लगे रहते थे। वे अपने-अपने कर्मों में दृढ़ थे। उनकी तपस्या का स्वरूप घोर हो चुका था। उनके सदाचार-पालन से आश्चर्य होता था, जिसके फल स्वरूप उन्हें पुरातन, शाश्वत और अविनाशी ब्रह्म की प्राप्ति होती थी। धर्मों की किंचित सूक्ष्मता का आचरण करने में अनेक पुरुष असमर्थ रहते हैं। यथार्थ में वेद-वर्णित आचार और धर्म आपत्ति-विहीन, प्रमाद रहित तथा पराभव से भी दूर है। प्राचीन काल में सब वर्णों के उत्पन्न हो जाने पर भी वर्णाश्रम का भेद नहीं था। फिर एक ही आश्रम के अवस्था भेद से चार भाग किये गये—यह बात सभी ब्राह्मण जानते थे। श्रेष्ठ पुरुष सभी आश्रमों में प्रविष्ट होते और उनके धर्मों पर चलते हुए परमगति को पाते हैं। उनमें से कुछ गृह त्याग कर, कुछ वानप्रस्थी होकर, कुछ गृहस्थी ही रह कर तथा कुछ ब्रह्मचर्य पूर्वक रहते हुए ही परमपद को प्राप्त कर लेते हैं। जो नक्षत्रों के समान तारागण रूप से आकाश के विभिन्न स्थानों में हैं, वे वही द्विजगण ज्योतिर्मय रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। सन्तोष के द्वारा ही उन्हें इस पद की प्राप्ति हुई है—यह वेद विहित सिद्धान्त समझना चाहिये ॥१३७-१२३॥

यद्यागच्छन्ति संसारं पुनर्योनिषु तादृशाः ।

न लिप्यन्ते पापकृत्यैः कदाचित् कर्मयोनितः ॥१३४

एवमेव ब्रह्मचारी शुश्रूषुर्धोरनिश्चयः ।

एवं युक्तो ब्राह्मणः स्यादन्यो ब्राह्मणको भवेत् ॥१३५

कर्मैव पुरुषस्याह शुभं वा यदि वाशुभम् ।

एवं पक्वकषायाणामानन्त्येन श्रुतेन च ॥१३६

सर्वमानन्त्यमासीद् वै एवं नः शाश्वती श्रुतिः ।

तेषामपेततृष्णानां निर्णिक्तानां शुभात्मनाम् ॥१३७

चतुर्थोपनिषद् धर्मः साधारण इति स्मृतिः ।

संसिद्धः साध्यते नित्यं ब्राह्मणैर्नियतात्मभिः ॥१३८

संतोषमूलस्त्यागात्मा ज्ञानाधिष्ठानमुच्यते ।

अपवर्गमतिनित्यो यतिधर्मः सनातनः ॥१३६

साधारणः केवलो वा यथाबलमुपासते ।

गच्छतां गच्छतां क्षेमं दुर्बलोऽत्रावसीदति ।

ब्रह्मणः पदमन्विच्छन् ससारान्मुच्यते शुचिः ॥१४०

ऐसे पुण्यात्मा पुरुषों को यदि संसार में पुनर्जन्म धारण करना होता है तो वे कर्माधिकार वाली योनियों में उत्पन्न होते हैं और वे उस योनि के सम्बन्ध से ही पाप कर्मों में लिप्त नहीं होते। इसी प्रकार गुरु सेवक ब्रह्मचारी, दृढ़ निश्चयी और योग-सम्पन्न शिष्य ही श्रेष्ठ ब्राह्मण माना जा सकता है। उससे भिन्न अथवा निम्न कोटि का ब्राह्मण नाम के लिये ही ब्राह्मण समझना चाहिये। पुरुष के शुभ-अशुभ कर्म के अनुरूप ही उसका नाम निश्चित होता है। जिनके राग-द्वेष आदि कषायों का पाक हो गया है, जिनके मन में तृष्णा नहीं रहती है, जो बाह्याभ्यन्तर से शुद्ध और मोक्ष में लगी कल्याणमयी बुद्धि वाले हैं, उन तत्त्व ज्ञानी पुरुषों को अनन्त ब्रह्मज्ञान और शास्त्र-ज्ञान के प्रभाव से सभी कुछ ब्रह्म रूप दिखाई देता था—यह बात सुनी जाती है। तुरीय ब्रह्म से सम्बन्धित उपनिषद् विद्या को प्राप्त कराने वाले शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान रूप धर्म सभी वर्ण और आश्रम वालों के लिये स्मृति साधारण कहती है। परन्तु, संयत चित्त वाले तपस्वी सिद्ध ही ब्रह्मनिष्ठ हैं, उस धर्म का साधन करने में वही समर्थ होते हैं। जिसके सुख का मूल संतोष, और स्वरूप त्याग है तथा जो ज्ञान और मोक्ष देने वाली बुद्धि का आश्रय है, वह सनातन धर्म सन्यास आश्रम रूप से विद्यमान है। अन्य आश्रम धर्मों से मिश्रित अथवा स्वतन्त्र यह यति धर्म जिनके वैराग्य-बल के प्रभाव से आश्रय स्वरूप होता है, वे कल्याण को प्राप्त करते हैं। इस मार्ग पर चलने वालों का सदा कल्याण होता है। परन्तु असंयमी पुरुष शिथिल हुआ बैठा रहता है। बाह्याभ्यन्तर से पवित्र रहने वाला पुरुष ही ब्रह्म-पद को खोजता हुआ संसार के बन्धन से मुक्त हो पाता है ॥१३४-१४०॥

ये भुञ्जते ये ददते यजन्तेऽधीयते च ये ।
 मात्राभिरुपलब्धाभिर्ये वा त्यागं समाश्रिताः ॥१४१॥
 एतेषां प्रेत्यभावे तु कतमः स्वर्गजित्तमः ।
 एतदाचक्ष्व मे ब्रह्मन् यथातत्त्वेन पृच्छतः ॥१४२॥
 परिग्रहाः शुभाः सर्वे गुणतोऽभ्युदयाश्च ये ।
 न तु त्यागसुखं प्राप्ता एतत् त्वमपि पश्यसि ॥१४३॥
 भवन्तो ज्ञाननिष्ठा वै गृहस्थाः कर्मनिश्चयाः ।
 आश्रमाणां च सर्वेषां निष्ठायामैक्यमुच्यते ॥१४४॥
 एकत्वेन पृथक्त्वेन विशेषो नात्र दृश्यते ।
 तद् यथावद् यथान्यायं भगवान् प्रब्रवीतु ॥१४५॥
 शरीरपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः ।
 कषाये कर्मभिः पक्वे रसज्ञाने च तिष्ठति ॥१४६॥
 आनृशंस्यं क्षमा शान्तिरहिंसा सत्यमार्जवम् ।
 अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तिर्तिका शमस्तथा ॥१४७॥
 पन्थानो ब्रह्मणस्त्वेते एतैः प्राप्नोति यत्परम् ।
 तद् विद्वाननुबुद्धयेत मनसा कर्मनिश्चयम् ॥१४८॥

स्यूमरश्मि ने कहा—हे ब्रह्मन् ! प्राप्त धन के द्वारा केवल भोग भोगने वाले, दान करने वाले, यज्ञ में धन को लगाने वाले, स्वाध्याय करने वाले अथवा त्याग करने वाले, इनमें से कौनसे पुरुष मरने पर स्वर्ग लोक को जीत पाते हैं ? मुझे इसके जानने की जिज्ञासा है, आप इसका यथार्थ रूप मेरे प्रति कहें । कपिलजी ने कहा—सात्विक गुण से प्रकट होने वाले सभी परिग्रह शुभ हैं । परन्तु, त्याग के समान सुख किसी में नहीं है, उसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता—यह तुम प्रत्यक्ष देखते ही हो । स्यूमरश्मि बोले—हे भगवन् ! आप ज्ञाननिष्ठ हैं, परन्तु गृहस्थ कर्मनिष्ठ होते हैं । आपके द्वारा सभी आश्रमों की एकता का प्रतिपादन ज्ञान और कर्म की एकता का और पृथक्ता का भी आभास प्रकट करता है । अतः इस भ्रम को दूर करने के लिए मुझे यथार्थ रूप से इस अन्तर को स्पष्ट समझाने की कृपा करें । कपिलजी ने कहा—स्थूल और सूक्ष्म

शरीर की शुद्धि कर्म से होती है। परन्तु ज्ञान परमगति के समान है। कर्म करने से जब राग आदि दोष भस्म हो जाते हैं, तब रस स्वरूप ज्ञान में मनुष्य की स्थिति होती है। सभी प्राणियों पर दया, क्षमा, शान्ति, अहिंसा, सत्य, सरलता, अद्रोह, अभिमान-शून्यता, लज्जा, तितिक्षा और शम यह सभी परब्रह्म को प्राप्त करने के मार्ग हैं। इस प्रकार विद्वान् पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह मन के द्वारा कर्म के यथार्थ फल का निश्चय करे ॥१४१-१४८॥

यां विप्राःसर्वतः शान्ता विशुद्धाज्ञाननिश्चयाः ।
 गतिं गच्छन्ति संतुष्टास्तामाहुः परमां गतिम् ॥१४९
 वेदांश्च वेदितव्यं च विदित्वा च यथास्थितिम् ।
 एवं वेदविदित्याहुरतोऽन्यो वातरेचकः ॥१५०
 सर्वं विदुर्वेदविदो वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
 वेदे हि निष्ठा सर्वस्य यद् यदस्ति च नास्ति च ॥१५१
 एषैव निष्ठा सर्वत्र यत् तदस्ति च नास्ति च ।
 एतदन्तं च मध्यं च सच्चासच्च विजानतः ॥१५२
 समाप्तं त्यागं इत्येव सर्ववेदेषु निष्ठितम् ।
 संतोष इत्यनुगतमपवर्गे प्रतिष्ठितम् ॥१५३
 ऋतं सत्यं विदितं वेदितव्यं

सर्वस्यात्मा स्थावरं जङ्गमं च ।

सर्वं सुखं यच्छिवमुत्तरं च

ब्रह्माव्यक्तं प्रभवश्चाव्ययं च ॥१५४

तेजः क्षमा शान्तिरनामयं शुभं

तथाविधं व्योम सनातनं ध्रुवम् ।

एतैः सर्वैर्गम्यते बुद्धिनेत्रै-

स्तस्मै नमो ब्रह्मणे ब्राह्मणाय ॥१५५

सब प्रकार से शान्त, सन्तुष्ट, विशुद्धचित्त और ज्ञान में निष्ठावान् ब्राह्मण जिस गति को प्राप्त होते हैं, वही परम गति कही जाती है। वेदों और उनके द्वारा जानने योग्य परब्रह्म को ठीक प्रकार से जानने वाले को

ही वेदवेत्ता कहा गया है। उससे भिन्न पुरुष जो मुख से वेद मन्त्रों का उच्चारण नहीं करते, वे धौंकनी से वायु छोड़ने के समान मुख वाले समझने चाहिये। वेद वेत्ता पुरुष को सभी विषयों का ज्ञान होता है, क्योंकि वेद में सभी विषयों की विद्यमानता है। जो वस्तु हैं, अथवा जो वस्तु नहीं हैं, उन सभी का वर्णन वेद में किया गया है। सभी शास्त्रों का निश्चित मत है कि दिखाई पड़ने वाले सभी पदार्थ प्रतीत काल में विद्यमान रहते हैं। परन्तु, परमार्थ ज्ञान की स्थिति में बाधित हो जाने पर उनका अस्तित्व नहीं रहता। ज्ञानी पुरुष तो जगत के आदि, मध्य और अन्त रूप में सदसत् ब्रह्म को ही देखते हैं। सर्व त्याग करने पर ही उस ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। सभी वेद इस बात को निश्चय रूप से कहते हैं। वह ब्रह्म अपने आनन्दस्वरूप से सब में अनुगत तथा मोक्ष में भी प्रतिष्ठित है। इसलिये वह ब्रह्म ऋतु, सत्य, ज्ञात, ज्ञातव्य, सभी का आत्मा, स्थावर जंगम रूप, सम्पूर्ण सुख स्वरूप, कल्याण रूप, अव्यक्त, सब प्राणियों की उत्पत्ति का कारण तथा कभी भी नाश को प्राप्त नहीं होता। ज्ञान रूपी नेत्रों वाले सभी पुरुष तेज, क्षमा और शान्ति रूप साधनों के द्वारा आकाश के समान उस असंग, अविनाशी और सदा एक रस तत्त्व का साक्षात्कार करते हैं। जो परब्रह्म यथार्थ रूप में ब्रह्म के जानने वाले से भिन्न नहीं है, उस परमात्मा को नमस्कार है ॥१४६-१५५॥



१८-बृह्म गीता

य एव राजन् राजेति शब्दश्चरति भारत ।
 कथमेष समुत्पन्नस्तन्मे ब्रूहि परंतप ॥१
 तुल्यपाणिभुजग्रीवस्तुल्यबुद्धीन्द्रियात्मकः ।
 तुल्यदुःखसुखात्मा च तुल्यपृष्ठमुखोदरः ॥२
 तुल्यशुक्रास्थिमज्जा च तुल्यमांसासृगेव च ।
 निःश्वासोच्छ्वासतुल्यश्च तुल्यप्राणशरीरवान् ॥३
 समानजन्ममरणः समः सर्वैर्गुणैर्नृणाम् ।
 विशिष्टबुद्धीन् शूरांश्च कथमेकोऽधितिष्ठति ॥४
 कथमेको महीं कृत्स्नां शूरवीरार्यसंकुलाम् ।
 रक्षत्यपि च लोकस्य प्रसादमभिवाञ्छति ५
 एकस्य तु प्रसादेन कृत्स्नो लोकः प्रसीदति ।
 व्याकुले चाकुलः सर्वो भवतीति विनिश्चयः ॥६
 एतदिच्छाम्यहं श्रोतु तत्त्वेन भरतर्षभ ।
 कृत्स्नं तन्मे यथातत्त्वं प्रब्रूहि वदतां वरः ॥७

युधिष्ठिर ने कहा—हे शत्रुओं को संतप्त करने वाले भारत ! लोक में प्रचलित 'राजा' शब्द की उत्पत्ति किस प्रकार हुई यह कहने की कृपा करिये । जिस राजा कहा जाता है वह सभी गुणों में अन्य तनुष्यों के ही समान है । उसके हाथ, पांव, कण्ठ आदि भी वैसे ही हैं, बुद्धि और इन्द्रियों में भी कोई अन्तर नहीं है । सुख-दुःख का अनुभव भी दूसरों के समान करता है । मुख, उदर, पीठ, वीर्य, अस्थि, मज्जा, मांस, रक्त, उच्छ्वास, निःश्वास, प्राण, शरीर तथा जन्म-मरण विषयक कार्य भी दूसरों के समान ही हैं, फिर वह विशिष्ट बुद्धि वाले अनेक शूरों को अपने वश में अकेला

ही किस प्रकार कर लेता है । अकेला होने पर भी वह वीरों और सत्पुरुषों से परिपूर्ण इस सम्पूर्ण भूमि का पालन किस प्रकार करता और सभी की प्रसन्नता कैसे चाहता है ? यह निश्चित रूप से देखते हैं कि एक राजा की प्रसन्नता से ही सम्पूर्ण विश्व प्रसन्न होता है और एक की व्याकुलता से ही सब व्याकुल हो उठते हैं । इसका क्या कारण है ? यह मैं वास्तविक रूप से जानने का इच्छुक हूँ । हे पितामह ! यह सम्पूर्ण रहस्य मेरे प्रति कहिये ॥१-७॥

नैतत् कारणमल्पं हि भविष्यति विशाम्पते ।

यदेकस्मिन् जगत् सर्वं देववद् याति संनतिम् ॥८

नियतस्त्वं नरव्याघ्र शृणु सर्वमशेषतः ।

यथा राज्यं समुत्पन्नमादौ कृतयुगेऽभवत् ॥९

न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः ।

धर्मेणव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥१०

पाल्यमानास्तथान्योन्यं नरा धर्मेण भारत ।

खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान् मोह आविशत् ॥११

ते मोहवशमापन्ना मनुजा मनुजर्षभ ।

प्रतिपत्तिविमोहाच्च धर्मस्तेषामनीनशत् ॥१२

नष्टायां प्रतिपत्तौ च मोहवश्या नरास्तदा ।

लोभस्य वशमापन्नाः सर्वे भरतसत्तम ॥१३

अप्राप्तस्याभिमर्शं तु कुर्वन्तो मनुजास्ततः ।

कामो नामापरस्तन्न प्रत्यपद्यत वै प्रभो ॥१४

यह सम्पूर्ण विश्व केवल एक व्यक्ति को ही देव-तुल्य मानता हुआ उसके सामने सिर झुकाता है, इसका कोई तुच्छ कारण तो हो नहीं सकता । भीष्मजी ने कहा—सत्ययुग में राजा और राज्य की उत्पत्ति जिस प्रकार हुई, उस सम्पूर्ण वृत्तान्त को एकाग्र चित्त से सुनो । पहले कोई राज्य अथवा राजा नहीं था और दण्ड अथवा दण्ड देने वाला भी नहीं था । सम्पूर्ण प्रजा धर्म से ही परस्पर रक्षा करती थी । सभी मनुष्य धर्म के द्वारा परस्पर में ही पाले-पोषे जाते थे । कुछ दिनों बाद पारस्परिक संरक्षण के

इस काम में सभी को कष्ट प्रतीत होने लगा । सभी मोह के वशीभूत हो, गये । जब सब मनुष्य मोह के वश में पड़ गये, तब कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का ज्ञान न रहने से उनका धर्म नष्ट हो गया । कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान नष्ट हो जाने पर मोह में पड़े हुए सब मनुष्य लोभ के वश में पड़ गये । फिर उन्हें जो वस्तु प्राप्त नहीं थी, उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करने लगे, सभी काम नामक एक अन्य दोष ने उन्हें आ घेरा ॥८-१४॥

तांस्तु कामवशं प्राप्तान् रामो नाम समस्पृशत् ।

रक्ताश्रु नाभ्यजानन्त कार्याकार्ये युधिष्ठिर ॥१५

अगम्यागमनं चैव वाच्यावाच्यं तथैव च ।

भक्ष्याभक्ष्यं च राजेन्द्र दोषादोषं च नात्यजन् ॥१६

विप्लुते नरलोके वै ब्रह्म चैव ननाश ह ।

नाशाच्च ब्रह्मणो राजन् धर्मो नाशमथागमत् ॥१७

नष्टे ब्रह्मणि धर्मे च देवांस्त्रासः समाविशत् ।

ते त्रस्ता नरशार्दूल ब्रह्माणं शरणं ययुः ॥१८

प्रसाद्य भगवन्तं ते देवं लोकपितामहम् ।

ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे दुःखवेगसमाहताः ॥१९

भगवन् नरलोकस्थं ग्रस्तं ब्रह्म सनातनम् ।

लोभमोहादिभिर्भावैस्ततो नो भयमाविशत् ॥२०

ब्रह्मणश्च प्रणाशेन धर्मो व्यनशदीश्वर ।

ततः स्म समतां याता मर्त्यैस्त्रिभुवनेश्वर ॥२१

हे युधिष्ठिर ! काम के वश में पड़े हुए उन मनुष्यों पर राग ने आक्रमण किया और जब वे राग के वश पड़ गये तब कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को भी भूल बैठे । तब उन्होंने अगम्यागमन, वाच्य-अवाच्य, भक्ष्य-अभक्ष्य और दोष-अदोष कुछ भी नहीं देखा । इस प्रकार धर्म के विप्लव में वेदों के स्वाध्याय का भी लोप हुआ और उस वैदिक ज्ञान के अभाव से यज्ञादि कर्मों का भी लोप हो गया । इस प्रकार वेद और धर्म के लुप्त हो जाने पर देवताओं के मन में भय उत्पन्न हुआ और वे उस दशा में ब्रह्माजी की

कारण में पहुँचे । लोक पितामह ब्रह्माजी को प्रसन्न करके दुःख के वेग से अत्यन्त पीडित वे सभी देवगण ब्रह्माजी के समक्ष कर-बद्ध प्रार्थना करने लगे । हे भगवन् ! मनुष्यलोक में लोभ, मोह आदि दूषित भावों ने सनातन वेद-ज्ञान को लुप्त कर दिया है, इस कारण हम सभी अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं । हे त्रैलोक्येश्वर ! वैदिक ज्ञान के न रहने से यज्ञ-धर्म का भी लोप हो गया और यज्ञादि के न होने से हम सभी देवता मनुष्यों के समान ही हो गये हैं ॥१५-२१॥

अधो हि वर्षमस्माकं नरास्तूर्ध्वप्रवर्षिणः ।

क्रियाव्युपरमात् तेषां ततो गच्छाम संशयम् ॥२२

अत्र निःश्रेयसं यन्नस्तद् ध्यायस्व पितामह ।

त्वत्प्रभावसमुत्थोऽसौ स्वभावो नो विनश्यति ॥२३

तानुवाच सुरान् सर्वान् स्वयम्भूर्भगवांस्ततः ।

श्रेयोऽहंचिन्तयिष्यामि व्येतु वो भीः सुरर्षभाः ॥२४

ततोऽध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम् ।

यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः ॥२५

त्रिवर्ग इति विख्यातो गण एष स्वयम्भुवा ।

चतुर्थो मोक्ष इत्येव पृथगर्थः पृथग्गुणः ॥२६

मोक्षस्यास्ति त्रिवर्गोऽन्यः प्रोक्तः सत्त्वं रजस्तमः ।

स्थानं वृद्धिः क्षयश्चैव त्रिवर्गश्चैव दण्डजः ॥२७

आत्मा देशश्च कालश्चाप्युपायाः कृत्यमेव च ।

सहायाः कारणं चैव षड्वर्गो नीतिजः स्मृतः ॥२८

यज्ञादि में घृताहुति देकर मनुष्य हमारे निमित्त ऊपर की ओर वर्षा करते थे और हम उनके निमित्त नीचे की ओर जल-वृष्टि करते थे । परन्तु अब उन्होंने यज्ञ कर्म को नष्ट कर दिया, इसलिये हमारा जीवन ही संशय में पड़ गया है । हे पितामह ! अब जिस प्रकार हमारा कल्याण हो सके, वह उपाय सोचिये । आपकी कृपा से हम जिस दैवत्व को प्राप्त हुए थे, अब वह नष्ट होने जा रहा है । तब भगवान् ब्रह्माजी ने उनसे कहा—हे देवगण ! तुम्हारा भय दूर होगा, मैं उसका उपाय सोचूँगा । फिर ब्रह्मा

जी ने एक लाख अध्यायों के नीति शास्त्र की अपनी बुद्धि से रचना की । उस शास्त्र में धर्म, अर्थ और काम का सविस्तार वर्णन किया गया है । इन वर्गों के वर्णन वाला प्रकरण 'त्रिवर्ग' के नाम से प्रसिद्ध है । चौथा वर्ग 'मोक्ष' है । उसके प्रयोजन और गुण इन तीनों वर्गों से नितान्त भिन्न हैं ! मोक्ष का त्रिवर्ग दूसरा है, उसमें सत्त्व, रज और तम का वर्णन है । दण्डजनित त्रिवर्ग स्थान, वृद्धि और क्षय के भेद वाला है । ब्रह्माजी के नीति शास्त्र में आत्मा, देश, काल, उपाय, कार्य और सहायक यह छः वर्ग हैं । नीति के द्वारा संचालित होने पर छः वर्ग उन्नति करने वाले होते हैं ॥२२-२८॥

त्रयी चान्वीक्षिकी चैव वार्ता च भरतर्षभ ।

दण्डनीतिश्च विपुला विद्यास्तत्र निर्दिशिताः ॥२९

अमात्यरक्षा प्रणिधी राजपुत्रस्य लक्षणम् ।

चारश्च विविधोपायः प्रणिधेयः पृथग्विधः ॥३०

साम भेदः प्रदानं च ततो दण्डश्च पार्थिव ।

उपेक्षा पञ्चमी चात्र कात्स्न्येन समुदाहृता ॥३१

मन्त्रश्च वर्णितः कृत्स्नस्तथा भेदार्थ एव च ।

विभ्रमश्चैव मन्त्रस्य सिद्ध्यसिद्धयोश्च यत् फलम् ॥३२

संधिश्च त्रिविधाभिर्यो हीनो मध्यस्तथोत्तमः ।

भयसत्कारवित्ताख्यं कात्स्न्येन परिवर्णितम् ॥३३

यात्राकालाश्च चत्वारस्त्रिवर्गस्य च विस्तरः ।

विजयो धर्मयुक्तश्च तथार्थविजयश्च ह ॥३४

आसुरश्चैव विजयस्तथा कात्स्न्येन वर्णितः ।

लक्षणं पञ्चवर्गस्य त्रिविधं चात्र वर्णितम् ॥३५

उस ग्रन्थ में वेदत्रयी, आन्वीक्षिकी, वार्ता और दण्ड नीति का पूर्ण विवेचन हुआ है । उसमें मन्त्रियों की रक्षा, राजदूत, राजपुत्र के लक्षण गुप्तचरों का विचरण और उनकी विभिन्न स्थानों में नियुक्ति, साम, दाम, भेद, दण्ड और उपेक्षा इन सभी का पूर्ण विवेचन किया गया है । सर्व प्रकार की मन्त्रणा, भेद-नीति के प्रयोजन, मन्त्रणा में उत्पन्न भ्रम अथवा

उसके खुल जाने का भय तथा मन्त्रणा की सफलता और असफलता का प्रतिपादन भी है। उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से सन्धि तीन प्रकार की होती है। वित्तसन्धि, सत्कार सन्धि और भयसन्धि यह इनकी तीन संज्ञाएँ हैं। भय लेकर की जाने वाली सन्धि श्रेष्ठ है, उसे वित्त सन्धि कहते हैं। सरकार प्राप्त करके होने वाली सन्धि मध्यम है। तथा भय के कारण की जाने वाली अधम सन्धि है। शत्रुओं पर आक्रमण करने के चार अवसर, त्रिषर्ग का विस्तार, धर्म विजय, अर्थ-विजय और आसुर-विजय, मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, सेना और कोष इन वर्गों के उत्तम, मध्यम और अधम भेद और उनके लक्षणों को विस्तार पूर्वक कहा है ॥२६-३५॥

प्रकाशश्चाप्रकाशश्च दण्डोऽथ परिशब्दितः ।

प्रकाशोऽष्टविधस्तत्र गुह्यश्च बहुविस्तरः ॥३६

रथा नागा ह्याश्चैव पादाताश्चैव पाण्डव ।

विष्टिर्नावश्चराश्चैव देशिका इति चाष्टमम् ।

अङ्गान्येतानि कोरव्य प्रकाशानि बलस्य तु ॥३७

जङ्गमाजङ्गमाश्चोक्ताश्चूर्णयोगा विषादयः ॥३८

स्पर्शं चाम्यबहार्यं चाप्युपांशुर्विविधः स्मृतः ।

अरिमित्र उदासीन इत्येतेऽप्नुवर्णिताः ॥३९

कुत्स्ना मार्गगुणाश्चैव तथा भूमिगुणाश्च ह ।

आत्मारक्षणमाश्वासः सर्गणां चान्ववेक्षणम् ॥४०

कल्पना विविधाश्चापि नृनागरथवाजिनाम् ।

व्यूहाश्च विविधाभिरूया विचित्रं युद्धकौशलम् ॥४१

उत्पाताश्च निपाताश्च सुयुद्धं सुपलायितम् ।

शस्त्राणां पालनं ज्ञानं तथैव भरतर्षभ ॥४२

प्रकट और गुप्त दो प्रकार की सेनाएँ होती हैं, उनमें प्रकट सेना के आठ प्रकार हैं और गुप्त सेना का विस्तार तो बहुत अधिक होता है। हे पाण्डुनन्दन ! हाथी, घोड़े, रथ, प्यादे, बेगार में पकड़े हुए भार वाहक नौकारोही, गुप्तचर और कर्तव्योपदेशक गुप्त सेना के यह आठ अङ्ग प्रकट कहे गये हैं। सेना के गुप्त अङ्ग हैं स्रर्ष आदि जंगम जीव और अजंगम

विष आदि चूर्ण योग (जो शत्रु-नाश के लिये प्रयुक्त होते हैं) वे गुप्त साधन शत्रुओं के वस्त्रादि से लगाने या उनके भोजन में मिलाने के काम आते हैं । विभिन्न मन्त्रों के जप-प्रयोग भी इस शास्त्र में कहे हैं और शत्रु मित्र तथा उदासीन का वर्णन भी हुआ है । मार्ग के सभी गुण, भूमि के गुण, आत्म रक्षा के उपाय और रथादि का निर्माण तथा उनके निरीक्षण आदि का भी विवेचन किया गया है । सेना के लिये पुष्टिकारक योग, हाथी, घोड़ा, रथ और मनुष्य-सेना के समान व्यूह-रचना, विभिन्न प्रकार के युद्ध कौशल—ऊपर उछल कर या नीचे कूद कर अथवा झुक कर अपने को बचा लेना, सावधानी से युद्ध करना, कुशलता पूर्वक युद्ध स्थल से निकल भागना, शस्त्रों का संरक्षण और उनका प्रयोग यह सब भी उसमें कहा गया है ॥३६-४२॥

बलव्यसनमुक्तं च तथैव बलहर्षणम् ।

पीडा चापदकालश्च पत्तिज्ञानं च पाण्डव ॥४३

तथा खातविधानं च योगः संचार एव च ।

'चौरैराटविकैश्चोग्रैः परराष्ट्रस्य पीडनम् ॥४४

अग्निदैर्गर्गदैश्चैव प्रतिरूपककारकैः ।

श्रेणिमुख्योपजापेन वीरुधश्छेदनेन च ॥४५

दूषणेन च नागानामातङ्कजननेन च ।

आराधनेन भक्तस्य प्रत्ययोपार्जनेन च ॥४६

सप्ताङ्गस्य च राज्यस्य ह्रासवृद्धिसमसम् ।

दूतसामर्थ्यसंयोगात् सराष्ट्रस्य विवर्धनम् ॥४७

अरिमध्यस्थमित्राणां सम्यक् चोक्तं प्रपञ्चनम् ।

अवमर्दः प्रतीघातस्तथैव च बलीयसाम् ॥४८

व्यवहारः सुसूक्ष्मश्च तथा कण्टकशोधनम् ।

श्रमो व्यायामयोगश्च त्यागो द्रव्यस्य संग्रहः ॥४९

संकट से सेनाओं को मुक्त कराना, सैनिकों का उत्साह बढ़ाना, पीड़ा और आपत्ति के समय सैनिकों की स्वामि-भक्ति की परीक्षा करना आदि

को विस्तार से कहा है । दुर्ग के चारों ओर खाई खुदवाना, युद्ध के लिये सेना का सुसज्जित होना और रणभूमि को प्रस्थान करना, चोरों और डाकुओं के द्वारा शत्रु के राज्य में अशान्ति उत्पन्न कराना, आग लगाने और विष देने वाले छद्मवेशियों को शत्रु के यहाँ भेजना, शत्रु-दल के प्रमुख व्यक्तियों में फूट डालना, शत्रु-राष्ट्र की फसल को काट लेना या नष्ट कर देना, हाथियों को भड़काना, शत्रु-सेना और प्रजा में आतंक उत्पन्न करना, शत्रु के लोगों को अपनी ओर तोड़ लेना और शत्रुदल में अपना विश्वास उत्पन्न कराना तथा विभिन्न उपायों द्वारा शत्रु-राष्ट्र को पीड़ित किया जाना भी कहा है । सात अङ्गों से युक्त राज्य के ह्रास, वृद्धि और स्थिति, दूत के द्वारा अपनी और अपने राष्ट्र की वृद्धि तथा शत्रु मित्र, मध्यस्थ का विवेचन, शक्तिशाली शत्रुओं का मर्दन तथा उनसे भिड़ने के उपाय आदिका वर्णन भी हुआ है । शासन-विषयक सूक्ष्म ज्ञान, कण्टक-शोधन, परिश्रम, व्यायाम के योग और धनके त्याग तथा संग्रह का विषय भी आवश्यक है ॥४३-४६॥

अभृतानां च भरणं भृतानां चान्ववेक्षणम् ।

अर्थस्य काले दानं च व्यसने चाप्रसङ्गिता ॥५०

तथा राजगुणाश्चैव सेनापतिगुणाश्च ह ।

कारणं च त्रिवर्गस्य गुणदोषास्तथैव च ॥५१

दुश्श्रेष्ठितं च विविधं वृत्तिश्चैवानुवर्तिनाम् ।

शङ्कितत्वं च सर्वस्य प्रमादस्य च वर्जनम् ॥५२

अलब्धलाभो लब्धस्य तथैव च विवर्धनम् ।

प्रदानं च विवृद्धस्य पात्रेभ्यो विधिवत्ततः ॥५३

विसर्गोऽर्थस्य धर्मार्थं कामहैतुकमुच्यते ।

चतुर्थं व्यसनाघाते तथैवात्रानुवर्णितम् ॥५४

क्रोधजानि तथोग्राणि कामजानि तथैव च ।

दशोक्तानि कुरुश्रेष्ठ व्यसनान्यत्र चैव ह ॥५५

मृगयाक्षास्तथा पानं स्त्रियश्च भरतर्षभः ।

कामजान्याहुराचार्याः प्रोक्तानीह स्वयम्भुवा ॥५६

जिनकी जीविका न हो, उनके निर्वाह का प्रबन्ध, जिनकी जीविका राज्य से चलती हो, उनकी देख-भाल, समय पर धन दान और दुर्व्यसनों में अनासक्ति आदि के उपाय भी कहे गये हैं। राजा के गुण, सेनापति के गुण, अर्थ-धर्म और काम के साधन तथा उनके गुण-दोष का विवेचन भी हुआ है। विभिन्न भाँति की दुःचेष्टा, सेवकों की जीविका का प्रबन्ध, सबके प्रति सावधानी, प्रमाद का त्याग, अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और प्राप्त वस्तु की सुरक्षा तथा वृद्धि और बढ़ी हुई वस्तु का दान—यह धन का प्रथम उपयोग माना गया है। धर्म के लिये धन का त्याग करना उसका द्वितीय उपयोग है। काम-भोग पर व्यय करना तृतीय उपभोग और संकट निवारणार्थ उसका व्यय चतुर्थ उपयोग समझना चाहिये। क्रोध और काम के द्वारा जो दस प्रकार के भयंकर व्यसन उत्पन्न होते हैं, उनके परित्याग का आदेश दिया गया है। नीतिशास्त्र के आचार्यों ने मृगया, द्यूत, मद्यपान और स्त्री-प्रसंग, इन चारों को काम जनित कहा है, उनका असेवन ही उचित कहा है ॥५०-५६॥

वाक्पारुष्यं तथोग्रत्वं दण्डपारुष्यमेव च ।

आत्मनो त्तिव्रहस्त्यागो ह्यर्थदूषणमेव च ॥५७

यन्त्राणि विविधान्येव क्रियास्तेषां च वर्णिताः ।

अवमर्दः प्रतीघातः केतनानां च भञ्जनम् ॥५८

चैत्यद्रुमावमर्दश्च रोधः कर्मानुशासनम् ।

अपस्करोऽथ वसनं तथोपायाश्च वर्णिताः ॥५९

पणवानकशङ्खानां भेरीणां च युधिष्ठिर ।

उपार्जनं च द्रव्याणां परिमर्दश्च तानि षट् ॥६०

लब्धस्य च प्रशमनं सतां चैवाभिपूजनम् ।

विद्वद्भिरेकीभावश्च दानहोमविधिज्ञता ॥६१

मङ्गलालम्भनं चैव शरीरस्य प्रतिक्रिया ।

आहारयोजनं चैव नित्यमास्तिक्यमेव च ॥६२

एकेन च यथोत्थेयं सत्यत्वं मधुरा गिरः ।

उत्सवानां समाजानां क्रियाः केतनजास्तथा ॥६३

वाणी की कटुता, उग्रता और दण्ड की कठोरता, कारागार का दण्ड, सदा के लिये निकाल देना या अर्थिक हानि पहुँचाना—यह छः प्रकार के व्यसन क्रोध से ही उत्पन्न होते हैं। विभिन्न प्रकार के यन्त्र और क्रियाएँ, शत्रु के राष्ट्र को कुचलना, उसकी सेना पर चोट करना और निवास स्थानों को तोड़ फोड़ कर नष्ट कर देना। शत्रु की राजधानी के चैत्य वृक्षों को नष्ट कराना, उसके निवास स्थान और नगर को चारों ओर से घेर लेना, कृषि एवं शिल्प की उन्नति, रथ के अवयवों का निर्माण ग्राम और नगर में रहने के ढंग तथा जीवन-निर्वाह के अनेक उपायों को भी कहा है। हे युधिष्ठिर ! ढोल, नक्कारे, शंख, भेरी आदि युद्ध के बाजों के बजाने का तथा मणि, पशु, भूमि, वस्त्र, दास-दासी और सुवर्ण इन छः प्रकार के द्रव्यों का अपने लिये उपार्जन और शत्रु के पास की इन वस्तुओं का नाश करना भी आवश्यक कहा है। जिन देशों पर अधिकार हो चुका हो, उनमें शान्ति स्थापित करना, सत्पुरुषों का सत्कार और विद्वानों से मैत्री, दान और हवन की विधि का ज्ञान, माङ्गलिक वस्तुओं का स्पर्श, वस्त्राभूषणों से देह का सजाना, भोजन की उचित व्यवस्था, आस्तिकता यह सभी आवश्यक कहे गये हैं। यदि अकेला हो तो भी अपनी उन्नति किस प्रकार करे, इसका विचार, सत्यता, उत्सवों और समाजों में मधुर वाणी का प्रयोग तथा घर सम्बन्धी क्रियाओं का भी विवेचन है ॥५७-६३॥

प्रत्यक्षाश्च परोक्षाश्च सर्वाधिकरणेष्वथ ।

वृत्तार्भरतशार्दूल नित्यं चैवान्ववेक्षणम् ॥६४॥

अदण्डचत्वं च विप्राणां युक्त्यादण्डनिपातनम् ।

अनुजीविस्वजातिभ्यो गुणेभ्यश्च समुद्भवः ॥६५॥

रक्षणं चैव पौराणां राष्ट्रस्य च विवर्धनम् ।

मण्डलस्थाचया चिन्ता राजन् द्वादशराजिका ॥६६॥

द्वासप्ततिविधा चैव शरीरस्य प्रतिक्रिया ।

देशजातिकुलानां च धर्माः समनुवर्णिताः ॥६७॥

धर्मश्चाथेश्च कामश्च मोक्षश्चात्रानुवर्णिताः ।

उपायाश्चार्थलिप्सा च विविधा भूरिदक्षिण ॥६८

मूलकर्मक्रिया चात्र मायायोगश्च वर्णितः ।

दूषणं स्रोतसां चैव वर्णितंचास्थिराम्भसाम् ॥६९

यैर्यैरुपायैर्लोकस्तु न चलेदार्यवर्त्मनः ।

तत् सर्वराजशार्दूलनीतिशास्त्रेऽभिवर्णितम् ॥७०

सभी न्यायालयों में जो प्रत्यक्ष या परोक्ष विचार अथवा राजकीय पुरुषों के व्यवहार होते हैं, उन सबका राजाको निरीक्षण करना चाहिये । ब्राह्मणों को दण्डित न करने, तथा अपराधियों को दण्ड देने की और अपने पीछे जिनकी जीविका चलती हो उनकी उन्नति की व्यवस्था करनी चाहिये । अपनी जाति के लोगों की और गुणवान पुरुषों की भी उन्नति होसके उसका उपाय करना चाहिये । हे राजन् ! नगर निवासियों की रक्षा राज्य की वृद्धि और द्वादश राजमण्डलों के विषयों में भी उल्लेख है । चिकित्सा शास्त्र के अनुसार शरीर की बहतर प्रकार की चिकित्सा तथा देश, जाति और कुल के धर्मों को भले प्रकार समझने का उपदेश है । धर्म अर्थ, काम, मोक्ष और इनकी प्राप्ति के उपायों का और विभिन्न प्रकार की लिप्सा का भी वर्णन है । कोश को बढ़ाने वाले कृषि, वाणिज्य आदि मूल कर्म हैं उनकी विधि, माया का प्रयोग तथा स्रोतजल अस्थिर जल के दोषों का दिग्दर्शन है । जिन-जिन उपायों के द्वारा यह विश्व सन्मार्ग से विचलित न हो, वे उपाय करने चाहिये ॥६४-७०॥

एतत् कृत्वा शुभं शास्त्रं ततः स भगवान् प्रभुः ।

देवानुवाच संहृष्टः सर्वाञ्छक्रपुरोगमान् ॥७१

उपकाराय लोकस्य त्रिवर्गस्थापनाय च ।

नवनीतं सरस्वत्या बुद्धिरेषा प्रभाविता ॥७२

दण्डेन सहिता ह्येषा लोकरक्षणकारिका ।

निग्रहानुग्रहरता लोकाननुचरिष्यति ॥७३

दण्डेन नीयते चेदं दण्डं नयति वा पुनः ।

दण्डनीतिरिति ख्याता त्रीँल्लोकानभिवर्तते ॥७४

षाड्गुण्यगुणसारैषा स्थास्यत्यग्रं महात्मसु ।
 धर्मार्थकाममोक्षाश्च सकला ह्यत्र शब्दिताः ॥७५
 ततस्तां भगवान् नीतिं पूर्वं जग्राह शङ्करः ।
 बहुरूपो विशालाक्षः शिवः स्थाणुरुमापतिः ॥७६
 प्रजानामायुषो ह्यासं विज्ञाय भगवाञ्छिवः ।
 संचिक्षेप ततः शास्त्रं महास्त्रं ब्रह्मणा कृतम् ॥७७

इस शुभ शास्त्र की रचना करके भगवान् ब्रह्माजी अत्यन्त प्रसन्न हुए और इन्द्र आदि देवताओं से कहने लगे । सम्पूर्ण विश्व के उपकार के लिये तथा धर्म, अर्थ, काम की स्थापना के लिये यह वाणी का सारभूत विचार प्रकट हुआ है । दण्ड विधान का साथ देने वाली यह नीति सम्पूर्ण विश्व की रक्षा करने वाली है । दुष्टों के निग्रह और सन्तजनों के अनुग्रह में लगी रह कर यह प्रचलित हो जायगी । दण्ड के द्वारा जगत् सन्मार्ग पर चलता और राजा प्रजावर्ग में दण्ड को ही स्थापित करता है । इसी लिये इस विद्या को दण्डनीति कहा गया है । यह सन्धि-विग्रह आदि छः गुणों का सारभूत है, इसका स्थान महात्माओं में सर्व प्रथम होगा । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों की इसके द्वारा प्राप्ति हो सकती है सर्व प्रथम भगवान् शंकर ने इसे ग्रहण किया । वे शंकर बहुरूप, विशालाक्ष, शिव, स्थाणु, उमापति आदि कहे जाते हैं । उन्हीं विशालाक्ष भगवान् ने प्रजाओं की आयु क्षीण होती देखी तो इस विद्या को संक्षिप्त किया, इसी लिये इसे 'वैशालाक्ष' कहा गया । इसे फिर इन्द्र ने ग्रहण किया ॥७१-७७॥

वैशालाक्षमिति प्रोक्तं तदिन्द्रः प्रत्यपद्यत ।
 दशाध्यायसहस्राणि सुब्रह्मण्यो महातपाः ॥७८
 भगवानपि तच्छास्त्रं संचिक्षेप पुरंदरः ।
 सहस्रैः पञ्चभिस्तात यदुक्तं बाहुदन्तकम् ॥७९
 अध्यायानां सहस्रंस्तु त्रिभिरेव बृहस्पतिः ।
 संचिक्षेरेश्वरो बुद्ध्या बार्हस्पत्यं तदुच्यते ॥८०

अध्यायानां सहस्रेण काव्यः संक्षेपमब्रवीत् ।
 तच्छास्त्रममितप्रज्ञो योगाचार्यो महायशः ॥८१
 एवं लोकानुरोधेन शास्त्रमेतन्महर्षिभिः ।
 संक्षिप्तमायुर्विज्ञाय मर्त्यानां ह्यासमेव च ॥८२
 अथ देवाः समागम्य विष्णुमूचुः प्रजापतिम् ।
 एको योऽर्हतिमर्त्येभ्यः श्रेष्ठ्यं वै तं समादिश ॥८३
 ततः संचिन्त्य भगवान् देवो नारायणः प्रभुः ।
 तैजसं वै विरजसं सोऽसृजन्मानसं सुतम् ॥८४

जब उन्होंने इसका अध्ययन किया, और दस हजार अध्यायों से भी संक्षेप कर दिया, तब इसका नाम 'बाहुदन्तक' हुआ। फिर बृहस्पति जी ने इसे संक्षिप्त किया, तब इसका नाम 'बार्हस्पत्य' हुआ। फिर उसका संक्षेप योगशास्त्र के आचार्य शुक्राचार्यजी ने किया और तब एक हजार अध्याय रह गये। मनुष्यों की आयु घटती हुई देख कर संसार के हितार्थ महर्षियों ने इसे संक्षिप्त किया। फिर प्रजापति ने भगवान् विष्णु से कहा— 'हे भगवन् ! मनुष्यों में जो कोई एक पुरुष श्रेष्ठ पद प्राप्त करने का अधिकारी हो, उसका नाम कहिये। तब भगवान् श्रीहरि ने भले प्रकार सोच कर अपने तेज से एक मानस पुत्र उत्पन्न किया, जिसका नाम विरजा हुआ ॥७८-८४॥

विरजास्तु महाभागः प्रभुत्वं भुवि नच्छत ।
 न्यासायैवाभवद् बुद्धिः प्रणीता तस्य पाण्डव ॥८५
 कीर्तिमांस्तस्य पुत्रोऽभूत्सोऽपिपञ्चातिगोऽभवत् ।
 कर्दमस्तस्य तु सुतः सोऽप्यतप्यन्महत् तपः ॥८६
 प्रजापतेः कर्दमस्य त्वनङ्गो नाम वै सुतः ।
 प्रजा रक्षयिता साधुर्दण्डनीतिविशारदः ॥८७
 अनङ्गपुत्रोऽतिबलो नीतिमानभिगम्य वै ।
 प्रतिपेदे महाराज्यमथेन्द्रियवशोऽभवत् ॥८८
 मृत्योस्तुदुहिताराजन् सुनीथा नाम मानसी ।
 प्रख्याता त्रिषु लोकेषु यासौ वेनमजीजनत् ॥८९

तं प्रजासु विधर्माणं रागद्वेषवशानुगम् ।

मन्त्रपूत्रैः कुशैर्जघ्नुः ऋषयो ब्रह्मवादिनः ॥६०॥

ममन्थुर्दक्षिणं चोरुमृषयस्तस्य मन्त्रयः ।

ततोऽस्य विकृतो जज्ञे ह्रस्वाङ्गः पुरुषो भुवि ॥६१॥

उस महाभाग विरजा ने राजा होने की इच्छा नहीं की और उन्होंने बुद्धि पूर्वक सन्यास लेने का ही निश्चय किया । विरजा के कीर्तिमान् पुत्र हुआ । वह भी पंच विषयों से ऊपर होकर मोक्ष मार्ग में स्थित हो गया । कीर्तिमान के कर्दम हुए और वे भी तप में लग गये । प्रजापति कर्दम के पुत्र अनङ्ग हुए, वे प्रजा-पालन में समर्थ, साधु और दण्डनीति विशारद थे । अनङ्ग का पुत्र अतिबल था । वह नीतिशास्त्र का ज्ञाता था । वह विशाल राज्य पाकर इन्द्रियों के वश में पड़ गया । मृत्यु की मानसिक कन्या सुनीधी थी । वह अपने रूप और गुणों में प्रसिद्ध थी । उसने वेन को उत्पन्न किया । राग-द्वेष के वश में पड़े हुए वेन ने प्रजाओं पर अत्याचार किया । इससे कुपित हुए ऋषियों ने मन्त्रपूत कुशों के द्वारा उसे प्राणहीन कर दिया । फिर उन ऋषियों ने ही मन्त्रोच्चारपूर्वक राजा वेन की दाँयीं जाँघ का मन्थन आरम्भ किया । उससे एक बेडौल आकृति वाला और ठिगना मनुष्य उत्पन्न हुआ ॥६५-६१॥

दग्धस्थूणाप्रतीकाशो रक्ताक्षः कृष्णमूर्धजः ।

निषोदेत्येवमूचुस्तमृषयो ब्रह्मवादिनः ॥६२॥

तस्मान्निषादाः सम्भूताः क्रूराः शैलवनाश्रयाः ।

ये चान्ये विन्ध्यनिलयाम्लेच्छाः शतसहस्रशः ॥६३॥

भूयोऽस्य दक्षिणं पाणि ममन्थुस्ते महर्षयः ।

ततः पुरुष उत्पन्नो रूपेणोन्द्र इवापरः ॥६४॥

कवची बद्धनिस्त्रिशः सशरः सशरासनः ।

वेदवेदाङ्गविच्चैव धनुर्वेदे च पारगः ॥६५॥

तं दण्डनीतिः सकला श्रिता राजन् नरोत्तमम् ।

ततस्तु प्राञ्जलिर्वैन्यो महर्षीस्तानुवाच ह ॥६६॥

सुसूक्ष्मा मे समुत्पन्ना बुद्धिर्धर्मार्थदर्शिनी ।

अनया किं मया कार्यं तन्मे तत्त्वेन शंसत ॥६७

यन्मां भवन्ती वक्ष्यन्ति कायमर्थसमन्वितम् ।

तदहं वै करिष्यामि नात्र कार्या विचारणा ॥६८

वह जले हुए खम्भे के समान लगता था । उसके नेत्र लाल और केश काले थे । ब्रह्मवादी ऋषियों ने उससे 'निषीद' बैठ जाओ—ऐसा कहा । पर्वतों और वनों में रहने वाले निषादों की उत्पत्ति उसी से हुई तथा विन्ध्यागिरि में रहने वाले म्लेच्छ भी उत्पन्न हुए । फिर ऋषियों ने वेन के दाँये बाहु का मन्थन किया, उससे एक अन्य पुरुष इन्द्र के समान रूपवान् उत्पन्न हुआ । वे कवच, तलवार, धनुष-बाण आदि के सहित प्रकट हुए । वे धनुर्वेद के विद्वान् तथा वेद वेदान्तों के ज्ञाता थे । पुरुषों में श्रेष्ठ उस वेनपुत्र को सम्पूर्ण दण्डनीतिका स्वतः ज्ञान हो गया और उन्होंने उन महर्षियों से हाथ जोड़े हुए विवेदन किया । मुझे धर्मार्थ-दर्शन वाली बुद्धि स्वयं प्राप्त हो गयी है । इसके द्वारा आपकी क्या सेवा करूँ, यह मुझे बताइये । जिस प्रयोजन को सिद्ध करने की आप मुझे आज्ञा देंगे, उसे मैं पूर्ण करूँगा, इस में आप मिथ्या न समझें ॥६२-६८॥

तमूचुस्तत्र देवास्ते ते चैव परमर्षयः ।

नियतो यत्र धर्मो वै तमशङ्कः समाचर ॥६९

प्रियाप्रिये परित्यज्य समः सर्वेषु जन्तुषु ।

कामं क्रोधं च लोभं च मानं चोत्सृज्य दूरतः ॥१००

यश्च धर्मात् प्रविचलेल्लोके कश्चन मानवः ।

निग्राह्यस्ते स्वबाहुभ्यां शश्वद् धर्ममवेक्षता ॥१०१

प्रतिज्ञां चाधिरोहस्त्व मनसा कर्मणा गिरा ।

पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत् ॥१०२

यश्चात्र धर्मो नित्योक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः ।

तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन ॥१०३

अदण्डचामेद्विजाश्चेति प्रतिजानीहि हे विभो ।

लोकं च संकरात्कृत्स्नं त्रातास्मीति परंतप ॥१०४

वैन्यस्ततस्तानुवाच देवानृषिपुरोगमान् ।

ब्राह्मणा मे महाभागा नमस्याः पुरुषर्षभाः ॥१०५॥

तब वहाँ देवताओं और ऋषियों ने उनसे कहा—जिस कार्य के करने से धर्म की सिद्धि होती हो, उसे निःशंक होकर करो । प्रिय-अप्रिय का विचार त्याग कर और काम, क्रोध, लोभ तथा अभिमान को मिटा कर सब जीवों के प्रति समभावी बनो । संसार में जो कोई मनुष्य अपने धर्म से हटता दिखाई दे, उसे सनातन धर्म के हितार्थ हरा कर दण्ड दो । साथ ही प्रतिज्ञा लो कि मन, वाणी, कर्म द्वारा पृथिवी पर स्थित वेद का पालन करूँगा । दण्डनीति से सम्बन्धित जिस नित्य धर्म का वेद में उल्लेख हुआ है, उसका पालन करता हुआ मैं कभी स्वच्छन्द नहीं होऊँगा । साथ ही यह भी प्रतिज्ञा लो कि ब्राह्मण मेरे लिये दण्डनीय नहीं होंगे तथा मैं विश्व की वर्णसंकरता और धर्म-संकरता से रक्षा करूँगा । तब वेनकुमार ने कहा हे महात्माओ ! महाभाग ब्राह्मणोंको मैं सदा वन्दनीय मानूँगा ॥६६-१०५॥

एवमस्त्विति वैन्यस्तु तैरुक्तो ब्रह्मवादिभिः ।

पुरोधाश्चाभवत् तस्य शुक्रो ब्रह्ममयो निधिः ॥१०६॥

मन्त्रिणो बालखिल्याश्च सारस्वत्यो गणस्तथा ।

महर्षिर्भगवान् गर्गस्तस्य तावत्सरोऽभवत् ॥१०७॥

आत्मनाष्टम इत्येव श्रुतिरेषा परा नृषु ।

उत्पन्नो वन्दिनौ चास्य तत्पूर्वौ सूतमागधौ ॥१०८॥

तयोः प्रीतो ददौ राजा पृथुर्वैन्यः प्रतापवान् ।

अनूपदेशं सूताय मगधं मागधाय च ॥१०९॥

समतां वसुधायाश्च स सम्यगुदपादयत् ।

वैषम्यं हि परं भूमेरासीदिति च नः श्रुतम् ॥११०॥

मन्वन्तरेषु सर्वेषु विषमा जायते मही ।

उज्जहार ततो वैन्यः शिला जालान् समन्ततः ॥१११॥

धनुष्कोट्या महाराज तेन शैला विवर्धिताः ।

स विष्णुना च देवेन शक्रेण विबुधैः सह ।

ऋषिभिश्च प्रजापालैर्ब्राह्मणैश्चाभिषेचितः ॥११२॥

बेनकुमार के ऐसा कहने पर ऋषियों ने 'एवमस्तु' कहा। फिर उनके पुरोहित वैदिक ज्ञाननिधि शुक्राचार्य जी हुए। वालखिल्यगण और सरस्वती के तट पर निवास करने वाले ऋषियों ने उनका मन्त्रिपद ग्रहण किया और महर्षि गंग उनके राज-ज्योतिषी हुए। यह प्रसिद्ध है कि राजा पृथु भगवान् विष्णु की आठवीं पीढ़ी में थे। सूत और मागध नामक दोनों बन्दी उनके जन्म से पहिले ही उत्पन्न हुए थे। बेन-पुत्र राजा पृथु ने प्रसन्न हो कर पुरस्कार में सूत को अनूपदेश और मागध को मगध देश प्रदान किया। सुनते हैं कि उस समय पृथिवी बहुत ऊँची-नीची थी, राजा पृथु ने ही उसे समतल कराया था। सभी मन्वन्तरों में यह पृथिवी ऊँची नीची होजाती है। धनुष की कोटि के द्वारा पृथु ने शिलाओं को उखाड़ कर एक जगह एकत्र कर दीं, जिससे पर्वत अधिक ऊँचे, लम्बे और चौड़े हो गये। भगवान् विष्णु, सदेव इन्द्र, ऋषिगण, प्रजापतियों और ब्राह्मणों ने पृथु का राज्याभिषेक किया ॥१०६-११२॥

तं साक्षात् पृथिवी भेजे रत्नान्वादाय पाण्डव ॥११३

सागरः सरितां भर्ता हिमवांश्चाचलोत्तमः ।

शक्रश्च धनमक्षय्यं प्रादात् तस्मै युधिष्ठिर ॥११४

रुक्मं चापि महामेरुः स्वयं कनकपर्वतः ।

यक्षराक्षसभर्ता च भगवान् नरवाहनः ।

धर्मं चार्थं च कामे च समर्थं प्रददौ धनम् ॥११५

हया रथाश्च नागाश्च कोटिशः पुरुषास्तथा ।

प्रादुर्बभूवुर्वैन्यस्य चिन्तनादेव पाण्डव ॥११६

न जरा न च दुर्भिक्षं नाधयो व्याघयस्तथा ॥११७

सरीसृपेभ्यः स्तेनेभ्यो न चान्योन्यात् कदाचन ।

भयमुत्पद्यते तत्र तस्य राज्ञोऽभिरक्षणात् ॥११८

आपस्तस्तम्भिरे चास्य समुद्रमभियास्यतः ।

पर्वताश्च ददुमार्गं ध्वजभङ्गश्च नाभवत् ॥११९

तेनेयं पृथिवी दुग्धा सस्यानि दश सप्त च ।

यक्षराक्षसनागैश्चापीप्सितं यस्य यस्य यत् ॥१२०

उस समय स्वयं पृथिवी रत्नों की भेंट लेकर प्रकट हुई, सरिता-पति समुद्र, गिरिश्रेष्ठ हिमाचल और देवराज इन्द्र ने अक्षय धन भेंट किया। सुवर्णमय सुमेरु पर्वत ने उपस्थित होकर सुवर्ण-राशि भेंट की। यक्षों और राक्षसों के राजा कुबेर ने भी उनके धर्म-अर्थ और काम के निर्वाह योग्य प्रचुर धन दिया। पृथु द्वारा चिन्तन करते ही घोड़े, रथ, हाथी और करोड़ों मनुष्य उनकी सेवा के लिये आ गये। उनके राज्य में किसी को बुढ़ापा, दुर्भिक्ष और रोगादि के कष्ट नहीं थे। सुरक्षा की सर्वोपरि व्यवस्था के कारण वहाँ साँपों, चोरों आदि से किसी को भय नहीं था। जब वे समुद्र-मार्ग से जाते तो जल जम जाता और पर्वत से जाते तो वह भी उन्हें मार्ग देता था। उनके रथ की ध्वजा कभी नहीं टूटी थी। उन्होंने सत्रह प्रकार से पृथिवी का दोहन किया और जिसे जो वस्तु अभीष्ट थी, वही उन्होंने पृथिवी से दुह ली ॥११३-१२०॥

तेन धर्मोत्तरश्चायं कृतो लोको महात्मना ।

रंजिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्दयते ॥१२१

ब्राह्मणानां क्षत्राणात् ततः क्षत्रिय उच्यते ।

प्रथिता धर्मतश्चेयं पृथिवी बहुभिः स्मृता ॥१२२

स्थापनं चाकरोद् विष्णुः स्वयमेव सनातनः ।

नातिवर्तिष्यते कश्चिद् राजस्त्वमिति भारत ॥१२३

तपसा भगवान् विष्णुराविवेश च भूमिपम् ।

देववन्नरदेवानां नमते यं जगन्तृपम् ॥१२४

दण्डनीत्या च सततं रक्षितव्यं नरेश्वर ।

नाधर्षयेत् तथा कश्चिच्चारनिष्पन्ददर्शनात् ॥१२५

शुभं हि कर्म राजेन्द्र शुभत्वायोपकल्पते ।

आत्मना कारणैश्चैव समस्येह महीक्षितः ।

को हेतुर्यद् वशे तिष्ठेल्लोको दैवाहते गुणात् ॥१२६

उन्होंने विश्व में धर्म की प्रमुखता स्थापित कर दी और सम्पूर्ण प्रजा का रंजन करने से राजा कहलाये। ब्राह्मणों को क्षति से बचाने के कारण उन्हें क्षत्रिय कहा गया, धर्म के द्वारा भूमि को प्रथित किया, इसलिये यह

पृथिवी कही जाने लगी । भगवान् विष्णु ने स्वयं ही मर्यादा स्थापित करते हुए कहा कि राजन् ! तुम्हारी आज्ञा को कोई नहीं टाल सकेगा । पृथु के तप से प्रसन्न हुए श्रीहरि ने स्वयं उनके भीतर प्रवेश किया । सब राजाजों में केवल पृथु को ही यह सम्पूर्ण विश्व देवता के समान सिर झुकाता है । हे राजन् ! इसलिये गुप्तचरों की नियुक्ति करके राज्य की अवस्था को देखते हुए दण्डनीति द्वारा राष्ट्र-रक्षा करो, तो कोई भी तुम पर आक्रमण करने का साहस न करेगा । चित्त और क्रिया द्वारा समान भाव रखने वाले राजा का शुभ कर्म प्रजा की भलाई करने वाला होता है । उस एक ही व्यक्ति के अधीन सम्पूर्ण देश रहता है इसका कारण दैवी गुण के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? ॥१२१-१२६॥

विष्णोर्ललाटात् कमलं सौवर्णमभवत् तदा ।

श्रीः सम्भूता यतो देवी पत्नी धर्मस्य धीमतः ॥१२७

श्रियः सकाशादर्थश्च जातो धर्मेण पाण्डव ।

अथ धर्मस्तथैवार्थः श्रीश्च राज्ये प्रतिष्ठिता ॥१२८

सुकृतस्य क्षयाच्चैव स्वर्लोकादेत्य मेदिनीम् ॥१२९

पार्थिवो जायते तात दण्डनीतिविशारदः ॥

महत्वेन च संयुक्तो वैष्णवेन नरो भुवि ।

बुद्ध्याभवति संयुक्तो माहात्म्यं चाधिगच्छति ॥१३०

स्थापितं च ततो देवैर्न कश्चिदतिवर्तते ।

तिष्ठत्येकस्य च वशे तं चेदं न विधीयते ॥१३१

शुभं हि कर्म राजेन्द्र शुभत्वायोपकल्पते ।

तुल्यस्यैकस्य यस्यायं लोको वचसि तिष्ठते ॥१३२

योऽस्यैवमुखमद्राक्षीत् सौम्यं सोऽस्य वशानुगः ।

सुभगं चार्थवन्तं च रूपवन्तं च पश्यति ॥१३३

उस समय भगवान् विष्णु के ललाट से एक सुवर्णमय कमल उत्पन्न हुआ, जिससे धर्म की पत्नी श्रीदेवी प्रकट हुई । धर्म के द्वारा श्रीदेवी से अर्थ उत्पन्न हुआ । फिर धर्म, अर्थ और श्री—तीनों ही पृथु के राज्य में

प्रतिष्ठित हुए । पुण्य के क्षीण होने पर स्वर्ग से पृथ्वी पर आना होता है और वह दण्डनीति का ज्ञाता राजा होता है। इस पृथिवी पर भगवान् विष्णु की महत्ता से युक्त और बुद्धि सम्पन्न होकर विशिष्टता प्राप्त करता है । फिर देवताओं द्वारा राज्य पर प्रतिष्ठित हुआ मान कर उसकी आज्ञा का उल्लंघन कोई भी नहीं करता । उस समय सम्पूर्ण विश्व पर उस एक का ही शासन रहता है । शुभ कर्म का शुभ परिणाम होता है, तभी तो अन्य मनुष्यों के समान होने पर भी राजा की आज्ञा में सम्पूर्ण संसार रहता है । राजा का सौम्य मुख देखते ही मनुष्य उसके अधीन हो जाता है । राजा को सभी मनुष्य भाग्यवान्, रूपवान् और धनवान् देखते हैं ॥१२७-१३३॥

महत्त्वात् तस्य दण्डस्य नीतिर्विस्पष्टलक्षणा ।
 नयचारश्च विपुलो येन सर्वमिदं ततम् ॥१३४
 आगमश्च पुराणानां महर्षीणां च सम्भवः ।
 तीर्थवंशश्च वंशश्च नक्षत्राणां युधिष्ठिर ॥१३५
 सकलं चातुराश्रम्यं चातुर्होत्रं तथैव च ।
 चातुर्वर्ण्यं तथैवात्र चातुर्विद्यं च कीर्तितम् ॥१३६
 इतिहासाश्च वेदाश्च न्यायः कृत्स्नश्च वर्णितः ।
 तपो ज्ञानमहिंसा च सत्यासत्येन यः परः ॥१३७
 वृद्धोपसेवा दानं च शौचमुत्थानमेव च ।
 सर्वभूतानुकम्पा च सर्वमत्रोपवर्णितम् ॥१३८
 भुवि चाधोगतं यच्च तच्च सर्वं समर्पितम् ।
 तस्मिन् पंतामहे शास्त्रे पाण्डवे तन्न संशयः ॥१३९
 ततो जगति राजेन्द्र सततं शब्दितं बुधैः ।
 देवाश्च नरदेवाश्च तुल्या इति विशाम्यते ॥१४०

दण्ड की महत्ता से ही नीति और न्यायपूर्ण आचार का प्रसार होता है, उसी से यह सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है । पुराण, महर्षियों का प्राकट्य, तीर्थ, नक्षत्र, ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रम, होता आदि से सम्पन्न होने वाले

यज्ञानुष्ठान, चारों वर्ण तथा चारों विद्याओं का प्रतिपादन हुआ है। इतिहास, वेद, न्याय, तप, ज्ञान, अहिंसा का, सत्यासत्य से परे ब्रह्म का, वृद्धों की सेवा, दान, शौच, उत्थान और समस्त प्राणियों पर दया आदि यह सब आवश्यक विषय हैं। अधिक क्या कहें, इस पृथिवी और इसके नीचे जो कुछ भी है, उस सब का वर्णन ब्रह्माजी ने यथार्थ रूप से किया है। हे राजेन्द्र ! हे युधिष्ठिर ! उस समय से विद्वानों ने यह स्पष्ट घोषणा कर दी है कि देवता और राजा दोनों ही समान हैं ॥१३४-१४०॥



१६--बृहस्पति गीता

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
 श्रोतुमिच्छामि मर्त्यानां संसारविधिमुत्तमम् ॥१
 केन वृत्तेन राजेन्द्र वर्तमाना नरा भुवि ।
 प्राप्नुवन्त्युत्तमं स्वर्गं कथं च नरकं नृप ॥२
 मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं जनाः ।
 प्रयात्यमुं लोकमितः को वै ताननुगच्छति ॥३
 अयमायाति भगवान् बृहस्पतिरुदारधीः ।
 पृच्छेन्नं सुमहाभागमेतद् गुह्यं सनातनम् ॥४
 नैतदन्येन शक्यं हि वक्तुं केनचिदद्य वै ।
 वक्ता बृहस्पतिसमो न ह्यन्यो विद्यते कचित् ॥५
 तयोः संवदतोरेवं पार्थगाङ्गेययोस्तदा ।
 आजगाम विशुद्धात्मा नाकपृष्ठाद् बृहस्पतिः ॥६
 ततो राजा समुत्थाय धृतराष्ट्रपुरोगमः ।
 पूजामनुपमां चक्रे सर्वे ते च सभासदः ॥७

युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह ! हे महाप्राज्ञ ! आप सभी शास्त्रों के ज्ञान में निपुण हैं । मैं आपसे मनुष्यों की संसार-यात्रा के निर्वाह की श्रेष्ठ गति को सुनने का इच्छुक हूँ । हे राजेन्द्र ! पृथिवी पर निवास करने वाले प्राणी किस प्रकार से उस श्रेष्ठ स्वर्गलोक को प्राप्त होते हैं और किस आचरण से उन्हें नरक की प्राप्ति होती है । जब मनुष्य अपने मृत शरीर को काष्ठ और मृत्तिका के समान त्याग कर इस लोक से परलोक को जाते हैं, उस समय उनके पीछे कौन जाता है ? भीष्मजी ने कहा—देखो ! इन उदार बुद्धि भगवान् बृहस्पतिजी का इधर आगमन

हुआ है। इन्हीं से इस सनातन गूढ़ विषय को जानने के लिये प्रश्न करो। इस विषय का प्रतिपादन कोई अन्य नहीं कर सकता, क्योंकि इनके समान इस विषय का कोई वक्ता नहीं है। वैशम्पायनजी ने कहा—हे जनमेजय ! कुन्तीसुत युधिष्ठिर और गंगा-पुत्र भीष्मजी में इस प्रकार बातें हो ही रही थीं कि वहाँ शुद्ध अन्तःकरण वाले भगवान् बृहस्पतिजी स्वर्ग लोक से आ गये। उन्हें देख कर राजा युधिष्ठिर धृतराष्ट्र को आगे करके खड़े होगये और सभी सभासदों के सहित उन्होंने बृहस्पतिजी का अनुपम रूप से पूजन किया ॥१-७॥

ततो धर्मसुतो राजा भगवन्तं बृहस्पतिम् ।

उपगम्य यथान्यायं प्रश्नं पप्रच्छ तत्त्वतः ॥८

भगवन् सर्वधर्मज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।

मर्त्यस्य कः सहायो वै पिता माता सुतो गुरुः ॥९

ज्ञातिसम्बन्धिवर्गश्च मित्रवर्गस्तथैव च ।

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं जनाः ।

गच्छन्त्यमुत्र लोकं वै क एनमनुगच्छति ॥१०

एकः प्रसूयते राजन्नेक एव विनश्यति ।

एकस्तरति दुर्गाणि गच्छत्येकस्तु दुर्गतिम् ॥११

असहायः पिता माता तथा भ्राता सुतो गुरुः ।

ज्ञातिसम्बन्धिवर्गश्च मित्रवर्गस्तथैव च ॥१२

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं जनाः ।

महूर्तमिव रोदित्वा ततो यान्ति पराङ्मुखाः ॥१३

तैस्तच्छरीरमुत्सृष्टं धर्म एकोऽनुगच्छति ।

तस्माद् धर्मः सहायश्च सेवितव्यः सदाः नृभिः ॥१४

फिर धर्म-पुत्र राजा युधिष्ठिर ने उन भगवान् बृहस्पतिजी के पास जाकर यथोचित रीति से यह तात्त्विक प्रश्न किया। युधिष्ठिर ने कहा—हे भगवन् ! आप सभी धर्मों के जानने वाले तथा सब शास्त्रों के विद्वान् हैं। मुझे बताने की कृपा करें कि पिता, माता, पुत्र, गुरु, सम्बन्धी, मित्र आदि में से कौन सच्चा सहायक है ? जब सभी व्यक्ति अपने मृतक देह

को काष्ठ और मृत्तिका के समान छोड़ जाते हैं, तब इस जीव के साथ परलोक गमन कौन करता है। बृहस्पतिजी ने कहा—हे राजन् ! प्राणी एकाकी ही जन्म लेता है, एकाकी ही मरता, एकाकी ही दुःखों से छूटता और एकाकी ही दुर्गति को भोगता है। पिता, माता, भाई, पुत्र, गुरु, जाति वाले, सम्बन्धो और मित्र इनमें से कोई भी उसके सहायक नहीं होते। उसके मृतक शरीर को काष्ठ या मिट्टी के समान फेंक कर दो घड़ी रोते हैं और फिर उसकी ओर से मुख मोड़ कर चले जाते हैं। वे कुटुम्बीजन तो उसे छोड़ कर चले जाते हैं, परन्तु एक मात्र धर्म उसका अनुसरण करता है। इसलिये धर्म ही जीव का परम सहायक है। अतः मनुष्यों का कर्त्तव्य है कि वे सदा धर्म का ही पालन करते रहें ॥८-१४॥

प्राणी धर्मसमायुक्तो गच्छेत् स्वर्गगतिं पराम् ।

तथैवाधर्मसंयुक्तो नरकं चोपपद्यते ॥१५

तस्मान्न्यायागतैरर्थैर्धर्मं सेवेत पण्डितः ।

धर्म एको मनुष्याणां सहायः पारलौकिकः ॥१६

लोभान्मोहादनुक्रोशाद् भयाद् वाप्यबहुश्रुतः ।

नरः करोत्यकार्याणि परार्थे लोभमोहितः ॥१७

णर्मश्चार्थाश्च कामश्च त्रितयं जीविते फलम् ।

एतत् त्रयमवाप्तव्यमधर्मपरिवर्जितम् ॥१८

श्रुतं भगवतो वाक्यं धर्मयुक्तं परं हितम् ।

शरीरनिचयं ज्ञातुं बुद्धिस्तु मम जायते ॥१९

मृतं शरीरं हि नृणां सूक्ष्ममव्यक्ततां गतम् ।

अचक्षुर्विषयं प्राप्तं कथं धर्मोऽनुगच्छति ॥२०

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिर्मनोऽन्तकः ।

बुद्धिरात्मा च सहिता धर्मं पश्यन्ति नित्यदा ॥२१

धर्मवान् प्राणी ही श्रेष्ठ स्वर्गलोक में पहुँचता है और अधर्म करने वाले प्राणी को नरक की प्राप्ति होती है। इसलिये विद्वान् पुरुष को न्याय द्वारा प्राप्त धन से ही धर्म का अनुष्ठान करना चाहिये क्योंकि, परलोक में मनुष्यों का सहायक एक मात्र धर्म ही है। अबहुश्रुत मनुष्य ही

लोभ और मोह के वश में होकर दूसरे के लिये लोभ, मोह, दया या भय से न करने योग्य पाप कर्मों को करने लगता है। धर्म, अर्थ और काम—यह तीनों जीवन के फल रूप हैं। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि अधर्म को छोड़ता हुआ ही इन तीनों को प्राप्त करने का प्रयत्न करे। युधिष्ठिर ने कहा—हे भगवन् ! आपके मुख से मैंने धर्ममयी और परम हितकारिणी वाणी सुनी है। अब मैं शरीर की स्थिति जानना चाहता हूँ। मृत्यु के बाद मनुष्य का स्थूल शरीर तो यहीं पड़ा रह जाता है और सूक्ष्म शरीर अव्यक्त भाव को प्राप्त हो जाता है जो नेत्रों से देखा नहीं जा सकता। इस दशा में उसका अनुसरण धर्म किस प्रकार करता है ? बृहस्पतिजी ने कहा—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, यम, बुद्धि और आत्मा—यह सभी एक साथ मनुष्य के धर्म को सदा देखते रहते हैं ॥१५-२१॥

प्राणिनामिह सर्वेषां साक्षिभूता निशानिशम् ।
 एतैश्च सह धर्मोऽपि तं जीवमनुगच्छति ॥२२
 त्वगस्थिमांसं शुक्रं च शोणितं च महामते ।
 शरीरं वर्जयन्त्येते जीवितेन विवर्जितम् ॥२३
 ततो धर्मसमायुक्तः प्राप्नुते जीव एव हि ॥२४
 ततोऽस्य कर्म पश्यन्ति शुभं वा यदि चाशुभम् ।
 देवताः पञ्चभूतस्थाः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥२५
 ततो धर्मसमायुक्तः स जीवः सुखमेधते ।
 इहलोके परे चैव किं भूयः कथयामि ते ॥२६
 तद् दर्शितं भगवता यथा धर्मोऽनुगच्छति ।
 एतत् तु ज्ञातुमिच्छामि कथं रेतः प्रवर्तते ॥२७
 अन्नमश्नन्ति यद् देवाः शरीरस्था नरेश्वर ।
 पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिर्मनस्तथा ॥२८
 ततस्तृप्तेषु राजेन्द्र तेषु भूतेषु पञ्चसु ।
 मनःषष्ठेयु शुद्धात्मन् रेतः सम्पद्यते महत् ॥२९

दिन और रात्रि भी इस विश्व के सभी प्राणियों के कर्मों को देखते हैं। इन सब के साथ धर्म भी प्राणी का अनुसरण करता है। हे महामते ! त्वचा, अस्थि, मांस शुक्र और रक्त यह धातु प्राण रहित शरीर को छोड़ देते हैं। केवल धर्म ही उनके साथ जाता है। इसलिये धार्मिक जीव ही परम गति पाता है। फिर परलोक में अपने कर्मों का भोग पूर्ण करके प्राणी जब अन्य देह धारण करता है, तब उसके शरीर के पाँचों भूतों में स्थित अधिष्ठाता देवता उस प्राणी के शुभाशुभ कर्मों को देखते हैं। अब तुम और क्या सुनने की इच्छा करते हो ? फिर वह धार्मिक जीव ही इहलोक और परलोक में सुख पाता है। इसके अतिरिक्त तुम्हें क्या बताऊँ ? युधिष्ठिर ने कहा—हे भगवन् ! जिस प्रकार धर्म प्राणी का अनुसरण करता है, वह तो आपने कह दिया। अब, शरीर में वीर्य किस प्रकार उत्पन्न होता है ? यह मैं जानना चाहता हूँ। बृहस्पति ने कहा—हे राजन्। इस शरीर में स्थित पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और मन के अधिष्ठाता देवता जिस अन्न का भक्षण करते हैं, उस अन्न से मन-सहित उन पाँचों भूतों के पूर्ण तृप्त हो जाने पर उस महान् वीर्य की उत्पत्ति होती है ॥२२-२६॥

ततो गर्भः सम्भवति श्लेषात् स्त्रीपुंसयोर्नृप ।

एतत् ते सर्वमाख्यातं भूयः किं श्रोतुमिच्छसि ॥३०

आख्यातं मे भगवता गर्भः संजायते यथा ।

यथा जातस्तु पुरुषः प्रपद्यति तदुच्यताम् ॥३१

आसन्नमात्रः पुरुषस्तैर्भूतैरभिभूयते ।

विप्रयुक्तश्च तैर्भूतैः पुनर्यात्यपरां गतिम् ॥३२

सर्वभूतसमायुक्तः प्राप्नुते जीव एव हि ।

ततोऽस्य कर्म पश्यन्ति शुभं वा यदि वाशुभम् ।

देवताः पञ्चभूतस्थाः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥३३

त्वगस्थिमांसमुत्सृज्य तैश्च भूतैर्विवर्जितः ।

जीवः स भगवन् ववस्थः सुखदुःखे समश्नुते ॥३४

जीवः कर्मसमायुक्तः शीघ्रं रेतस्त्वमागतः ।

स्त्रीणां पुष्पं समासाद्य सूते कालेन भारत ॥३५

हे राजन् ! फिर स्त्री-पुरुष के संयोग होने पर वही वीर्य गर्भ के रूप में हो जाता है । यह सब मैंने तुम्हारे प्रति कह दिया, अब और क्या सुनने की इच्छा है ? युधिष्ठिर ने कहा—हे भगवन् ! आपने गर्भ के उत्पन्न होने की बात तो बता दी, अब यह बताने की कृपा करें कि उत्पन्न हुआ प्राणी बन्धन में किस प्रकार पड़ता है ? बृहस्पतिजी ने कहा—हे राजन् । जब वीर्य में प्रविष्ट हुआ जीव जब गर्भ के रूप में होता है, तब वे पाँचों भूत शरीर के रूप में बदल कर उसे बाँध लेते हैं । फिर जन्हीं भूतों से पृथक् हो जाने पर उसे अन्य गति की प्राप्ति होती है । शरीर में सभी भूतों से युक्त होकर वह जीव सुख अथवा दुःख को प्राप्त करता है । उस समय पञ्चभूतों में स्थित उनके अधिष्ठाता देवता प्राणी के शुभाशुभ कर्मों को देखते हैं । अब और क्या सुनने की इच्छा है ? युधिष्ठिर ने कहा—हे भगवन् ! जीव त्वचा, हड्डी और मांस युक्त शरीर को छोड़ कर जब पञ्चभूतों से अलग हो जाता है, तब वह कहाँ रह कर सुख-दुःख रूप फल को भोगता है ? बृहस्पतिजी ने कहा—हे भरत-नन्दन ! अपने कर्मों से प्रेरित हुआ जीव वीर्यत्व को प्राप्त होता हुआ स्त्री के रज में प्रविष्ट होकर नियत समय में जन्म ग्रहण कर लेता है ॥३०-३५॥

यमस्य पुरुषैः क्लेशं यमस्य पुरुषैर्वन्धम् ।

दुःखं संसारचक्रं च नरः क्लेशं स विन्दति ॥३६

इहलोके च स प्राणी जन्मप्रभृति पार्थिव ।

सुकृतं कर्म वै भुङ्क्ते धर्मस्य फलमाश्रितः ॥३७

यदि धर्मं यथाशक्ति जन्मप्रभृति सेवते ।

ततः स पुरुषो भूत्वा सेवते नित्यदा सुखम् ॥३८

अथान्तरा तु धर्मस्याप्यधर्ममुपसेवते ।

सुखस्यानन्तरं दुःखं स जीवोऽप्यधिगच्छति ॥३९

अधर्मेण समायुक्तो यमस्य विषयं गतः ।

महद् दुःखं समासाद्य तिर्यग्योनौ प्रजायते ॥४०

कर्मणा येन येनेह यस्यां योनौ प्रजायते ।

जीवो मोहसमायुक्तस्तन्मे निगदतः शृणु ॥४१

यदेतदुच्यते शास्त्रे सेतिहासे च्छन्दसि ।

यमस्य विषयं घोरं मर्त्यो लोकः प्रपद्यते ॥४२

यमदूतों के द्वारा यह प्राणी विभिन्न प्रकार के क्लेश प्राप्त करता, उनके प्रहारों को सहन करता और इस दुःखपूर्ण संसार-चक्र में घूमता हुआ अनेक प्रकार के कष्ट भोगता है। हे पृथिवीपते ! यदि प्राणी जन्म होते ही पुण्य कर्मों में प्रवृत्त रहता है तो वह धर्म-फल के आश्रय में सुख भोगता है। यदि बाल्यकाल से ही भ्रमरसक धर्म पालन में लगा रहता है तो वह बड़ा होने पर सदा ही सुख पाता है। यदि धर्म करते हुए कभी-कभी अधर्माचरण कर बैठे तो उसे सुख के साथ दुःख भी भोगना पड़ता है। अधर्म में लगे रहने वाले मनुष्य को यमलोक प्राप्त होता है और वहाँ महान् दुःखों को भोगने के बाद पशु-पक्षियों की योनि प्राप्त होती है। जीव मोह के वश में पड़ कर जिस-जिस कर्म को करता है, और उसे जिस-जिस योनि में जाना होता है, वह तुम्हारे प्रति कह रहा हूँ। ध्यान से सुनो। शास्त्र, इतिहास और वेद का यह कथन सत्य ही है कि इस लोक में पाप करने वाला मनुष्य मरने के बाद यम के भयङ्कर लोक को प्राप्त होता है ॥३६-४२॥

इह स्थानानि पुण्यानि देवतुल्यानि भूपते ।

तिर्यग्योन्यतिरिक्तानि गतिमन्ति च सर्वशः ॥४३

यमस्य भवने दिव्ये ब्रह्मलोकसमे गुणैः ।

कर्मभिर्नियतैर्बद्धा जन्तुर्दुःखान्युपाश्नुते ॥४४

येन येन तु भावेन कर्मणा पुरुषो गतिम् ।

प्रयाति परुषां घोरां तत्ते वक्ष्याम्यतः परम् ॥४५

अघोत्य चतुरो वेदान् द्विजो मोहसमन्वितः ।

पतितात् प्रतिगृह्याथ खरयोनौ प्रजायते ॥४६

खरो जीवति वर्षाणि दस पञ्च च भारत ।

खरो मृतो बलीवर्दः सप्त वर्षाणि जीवति ॥४७

बलीवर्दो मृतश्चापि जायते ब्रह्मराक्षसः ।

ब्रह्मराक्षश्च मासांस्त्रींस्ततो जायति ब्राह्मणः ॥४८

पतितं याजयित्वा तु कृमियोनौ प्रजायते ।

तत्र जीवति वर्षाणि दश पञ्च च भारत ॥४९

हे भूपते ! उस यमलोक में भी देवलोक के समान पुण्यमय स्थान है, जिनमें तिर्यक योनिवाले प्राणियों के अतिरिक्त सभी पुण्यात्मा जंगम प्राणी पहुँचते हैं । सौंदर्यादि गुणों के कारण यम-सदन ब्रह्मलोक के समान दिव्य है । परन्तु अपने निश्चित पाप-कर्मों में बँधा हुआ प्राणी वहाँ भी नरक के दुःखों को भोगता है । मनुष्य को जिस-जिस भाव अथवा कर्म के करने से निष्ठुर गति प्राप्त होती है, अब उसको कहता हूँ । वेदाध्ययन करने के पश्चात् भी जो द्विज मोह के वशीभूत होकर पतित व्यक्तियों से दान लेता है, उसे गधे की योनि में जन्म धारण करना होता है । उसे गधे की योनि में पंद्रह वर्ष तक जीवित रहना होता है, फिर मृत्यु को पाकर बेल हो जाता है और सात वर्ष तक उस योनि में रहता है । जब बेल का शरीर भी छूट जाता है, तब ब्रह्म राक्षस होता है । तीन महीने तक ब्रह्म राक्षस रह कर वह ब्राह्मण के घर जन्म लेता है । पतित पुरुष का यज्ञ कराने वाला ब्राह्मण मरने के पश्चात् कीट-योनि में उत्पन्न होता है और वह योनि उसे पन्द्रह वर्ष तक भोगनी होती है ॥४३-४९॥

कृमिभावाद् विमुक्तस्तु ततो जायति गर्दभः ।

गर्दभः पञ्च वर्षाणि पञ्च वर्षाणि सूकरः ॥५०

कुक्कुटः पञ्च वर्षाणि पञ्च वर्षाणि जम्बुकः ।

श्वा वर्षमेकं भवति ततो जायति मानवः ॥५१

उपाध्यायस्य यः पापं शिष्यः कुर्यादबुद्धिमान् ।

स जीव इह संसारांस्त्रीनाप्नोति न संशयः ॥५२

प्राक् श्वा भवति राजेन्द्र ततः क्रव्यात्ततः खरः ।

ततः प्रेतः परिक्लिष्टः पश्चाज्जायति ब्राह्मणः ॥५३

मनसापिगुरोर्भार्यायः शिष्योयाति पापकृत् ।
 स उग्रान् प्रैति संसारानधर्मेणोह चेतसा ॥५४
 श्वयोनौ तु स सम्भूतस्त्रीणि वर्षाणि जीवति ।
 तत्रापि निधनं प्राप्तः कृमियोनौ प्रजायते ॥५५
 कृमिभावमनुप्राप्तो वर्षमेकं तु जीवति ।
 ततस्तु निधनं प्राप्तो ब्रह्मयोनौ प्रजायते ॥५६

कीट योनि से मुक्त होकर गधा बनता है । पाँच वर्ष तक गधा रह कर फिर पाँच-पाँच वर्ष सूअर, मुर्गी, सियार तथा एक वर्ष तक कुत्ता रहता है । इसके बाद उसे मनुष्य योनि प्राप्त होती है । अपने अध्यापक का अपराध करने वाला मूर्ख शिष्य निम्न तीन योनियाँ प्राप्त करता है । उसे प्रथम तो कुत्ते की योनि मिलती है, फिर राक्षस की और बाद में गधे की इसके पश्चात् प्रेतावस्था में अनेक कष्ट भोग लेने के बाद ही उसे ब्राह्मण के यहाँ जन्म मिल पाता है । पाप का आचरण करने वाला जो शिष्य अपने गुरु की पत्नी से संगम का विचार भी मन में लाता है, वह केवल अपने मानसिक पाप से ही भयानक योनियों को प्राप्त होता है । वह प्रथम तीन वर्ष तक कुत्ते की योनि में और फिर एक वर्ष तक कीट-योनि में पड़ा रहता है । इसके बाद उसे ब्राह्मण की योनि प्राप्त होती है ॥५०-५६॥

यदि पुत्रसमं शिष्यं गुरुर्हन्त्यादकारणे ।
 आत्मनः कामकारेण सोऽपि हिंस्रः प्रजायते ॥५७
 पितरं मातरं चैव यस्तु पुत्रोऽवमन्यते ।
 सोऽपि राजन् मृतो जन्तुः पूर्वं जायेत गर्दभः ॥५८
 गर्दभत्वं तु सम्प्राप्य दश वर्षाणि जीवति ।
 संवत्सरं तु कुम्भीरस्तो जायेत मानवः ॥५९
 पुत्रस्य मातापितरौ यस्य रुष्टावुभावपि ।
 गुर्वपध्यानतः सोऽपि मृतो जायति गर्दभः ॥६०
 खरो जीवति मासांस्तु दश आ च चतुर्दश ।
 विडालः सप्तमासांस्तु ततो जायति मानवः ॥६१

मातापितरावाक्रुश्य सारिकः सम्प्रजायते ।

ताडयित्वा तु तावेव जायते कच्छपो नृप ॥६२

कच्छपो दश वर्षाणि त्रीणि वर्षाणि शल्यकः ।

व्यालोभूत्वा च षण्मासांस्ततो जायति मानुषः ॥६३

यदि गुरु अपने शिष्य को अकारण ही मारता है तो वह अपनी उस स्वेच्छाचारिता के कारण हिंसक पशु होता है । हे राजन् ! अपने माता-पिता का अनादर करने वाला पुत्र मृत्यु के पश्चात् गधा होता है । गधे की योनि में उत्पन्न होकर वह दस वर्षों तक जीवित रह कर फिर एक वर्ष तक घड़ियाल की योनि में रहता और इसके बाद उसे मनुष्य-योनि मिलती है । जिस पुत्र से माता और पिता दोनों ही रुष्ट रहते हों, वह गुरु-जनों के अनिष्टचिन्तन से मरने के बाद गधे की योनि में उत्पन्न होता है । गधे की योनि को दस महीने तक भोग कर चौदह महीने तक कुत्ता और सात महीने तक बिलाव रहता है और फिर मनुष्य की योनि को प्राप्त होता है । माता-पिता का निन्दक अथवा उन्हें गाली देने वाला पुत्र मरने पर मैना होता है और जो उन्हें मारता है वह कछुए की योनि में जन्म लेता है । दस वर्ष तक कछुआ, तीन वर्ष तक साही और छै महीने सर्प रह कर फिर मनुष्य-योनि प्राप्त होती है ॥५७-६३॥

भर्तृपिण्डमुपाश्नन् यो राजद्विष्टानि सेवते ।

सोऽपि मोहसमापन्नो मृतो जायति वानरः ॥६४

वानरो दश वर्षाणि पञ्च वर्षाणि मूषिकः ।

श्वाथ भूत्वा तु षण्मासांस्ततो जायति मानुषः ॥६५

न्यासापहर्ता तु नरो यमस्य विषयं गतः ।

संसाराणां शतं गत्वा कृमियोनौ प्रजायते ॥६६

तत्र जीवति वर्षाणि दश पञ्च च भारत ।

दुष्कृतस्य क्षयं कृत्वा ततो जायति मानुषः ॥६७

असूयको नरश्चापि मृतो जायति शार्ङ्गकः ।

विश्वासहर्ता तु नरो मीनो जायति दुर्मतिः ॥६८

भूत्वा मीनोऽष्ट वर्षाणि मृतो जायति भारतः ।

मृगस्तु चतुरो मासांस्ततश्छागः प्रजायते ॥६६

छागस्तु निधनं प्राप्य पूर्णे संवत्सरे ततः ।

कीटः संजायते जन्तुस्ततो जायति मानुषः ॥७०

जिस किसी राजा के अन्न पर पलने वाला मनुष्य यदि उसके शत्रुओं की सेवा करे तो मरने पर उसे बन्दर की योनि में जन्म लेना पड़ता है । दस वर्ष तक बन्दर रह कर पाँच वर्ष तक चूहा और छः महीने तक कुत्ता रहता हुआ फिर मनुष्य होता है । दूसरों की धरोहर न लौटाने वाले मनुष्य को यमलोक की प्राप्ति होती है और सौ योनियों में भ्रमण करता हुआ वह अन्त में कीट-योनि को प्राप्त होता है । कीट-योनि में पन्द्रह वर्ष रह कर अपने पापों को क्षीण करने के बाद मनुष्य योनि में जाता है । दूसरों के छिद्र देखने वाले को हरिण की योनि में जाना होता है तथा दूसरों के साथ विश्वासघात करने वाले मनुष्य को मछली की योनि में जन्म लेना होता है । आठ महीने तक मछली और फिर चार महीने तक मृग रहने के बाद उसे बकरी की योनि मिलती है । एक वर्ष बकरी की योनि भोगकर कीट-योनि में जाता और फिर मनुष्य योनि को प्राप्त होता है ॥६४-७०॥

धान्यान्यवांस्तिलान् माषान् कुलत्थान् सर्षपांश्चणान् ।

कलापानथ मुद्गांश्च गोधूमानतसींस्तथा ॥७१

सस्यस्यान्यस्य हर्ता च मोहाज्जन्तुरचेतनः ।

स जायते महाराज मूषिको निरपत्रपः ॥७२

ततः प्रेत्य महाराज मृतो जायति सूकरः ।

सूकरो जातमात्रस्तु रोगेण म्रियते नृप ॥७३

श्वा ततो जायते मूढः कर्मणा तेन पार्थिवः ।

भूत्वा श्वा पञ्च वर्षाणि ततो जायति मानवः ॥७४

परदाराभिमर्शं तु कृत्वा जायति वै वृकः ।

श्वाशृगालस्ततो गृध्रोव्यालःकङ्कोबकस्तथा ॥७५

भ्रातुर्भार्या तु पापात्मा यो धर्षयति मोहितः ।

पुंस्कोकिलत्वमाप्नोति सोऽपि संवत्सर नृप ॥७६

सखिभार्या गुरोर्भार्या राजभार्या तथैव च ।

प्रधर्षयित्वा कामाय मृतो जायति सूकरः ॥७७

जो पुरुष लज्जा को छोड़ कर अज्ञान और मोह के अधीन हुआ धान, जौ, तिल, उड़द, कुलथी, सरसों, चना, मटर, मूँग, गेंहूँ, तीसी तथा अन्य अनाजों को चुराता है, उसे मृत्यु के पश्चात् चूहे की योनि प्राप्त होती है । हे राजन् ! चूहे के बाद शूकर होता है और उस शूकर योनि में वह जन्म लेते ही रोगी होकर मृत्यु को प्राप्त होता है । फिर अपने उसी कर्म के कारण उसे पाँच वर्ष तक के लिये कुत्ता होना पड़ता है और अन्त में मनुष्य देह मिलती है । परस्त्रीगमन के पाप से मनुष्य को भेड़िया, कुत्ता, सियार, गिद्ध, सर्प, कंक और बगुला की योनि मिलती है । जो पापी मनुष्य अपने भाई की स्त्री से दुष्कर्म करता है, उसे एक वर्ष तक के लिये कोयल की योनि भुगतनी होती है । जो पुरुष अपनी इच्छापूर्ति के लिये मित्र या राजा को पत्नी का सतीत्व नष्ट करता है उसे शूकर-योनि मिलती है ॥७१-७७॥

सूकरः पञ्च वर्षाणि दश वर्षाणि श्राविधः ।

बिडालः पञ्च वर्षाणि दश वर्षाणि कुक्कुटः ॥७८

पिपीलिकस्तुमासांस्त्रीन् कीटः स्यान्मासमेव तु ।

एतानासाद्य संसारान् कृमियोनौ प्रजायते ॥७९॥

तत्र जीवति मासांस्तु कृमियोनौ चतुर्दश ।

ततोऽधर्मक्षयं कृत्वा पुनर्जायति मानवः ॥८०

उपस्थिते विवाहे तु यज्ञे दानेऽपि वा विभो ।

मोहात्करोतियोविघ्नं स मृतो जायते कृमिः ॥८१

कृमिर्जीवति वर्षाणि दश पञ्च च भारत ।

अधर्मस्य क्षयं कृत्वा ततो जायति मानवः ॥८२

पूर्वं दत्त्वा तु यः कन्यां द्वितीये दातुमिच्छति ।

सोऽपि राजन् मृतो जन्तुः कृमियोनौ प्रजायते ॥८३

तत्र जीवति वर्षाणि त्रयोदश युधिष्ठिर ।

अधर्मसंक्षये युक्तस्ततो जायति मानवः ॥८४

वह पाँच वर्ष सूकर, दस वर्ष भेड़िया, पाँच वर्ष बिलाव, दस वर्ष मुर्गा, तीन महीने चीटी और एक महीने कीट-योनि में रहता है । इन सभी योनियों में भ्रमण करने के बाद वह फिर कीट-योनि में उत्पन्न होता है । उस कीट-योनि में चौदह महीने तक रह कर पाप-क्षय होने पर उसे पुनः मनुष्य देह मिल जाती है । विवाह, यज्ञ अथवा दान के कार्य में विघ्न डालने वाले मनुष्य को भी मरने पर कीट-योनि मिलती है । पन्द्रह वर्ष तक कीट-योनि भोगने से पापों का क्षय हो जाता है और तब उसे मनुष्य जन्म मिल पाता है । पहिले किसी एक व्यक्ति को कन्या दान करने के बाद पुनः किसी दूसरे को दान करने की इच्छा वाला मनुष्य भी मर कर कीड़े की योनि में जाता है । उस योनि में तेरह वर्षों तक रह कर, पाप क्षीण होने पर वह फिर मनुष्य-जन्म धारण करता है ॥८८-८४॥

देवकार्यमकृत्वा तु पितृकार्यमथापि वा ।

अनिर्वाप्य समश्नन् वै मृतो जायति वायसः ॥८५

वायसः शतवर्षाणि ततो जायति कुक्कुटः ।

जायते व्यालकश्चापि मासं तस्मात् तु मानुषः ॥८६

ज्येष्ठं पितृसमं चापि भ्रातरं योऽवमन्यते ।

सोऽपि मृत्युमुपागम्य क्रौञ्चयोनौ प्रजायते ॥८७

क्रौञ्चो जीवति वर्षं तु ततो जायति चीरकः ।

ततो निधनमापन्नो मानुषत्वमुपाश्नुते ॥८८

वृषलो ब्राह्मणीं गत्वा कृमियोनौ प्रजायते ।

ततः सम्प्राप्य निधनं जायते सूकरः पुनः ॥८९

सूकरो जातमात्रस्तु रोगेण म्रियते नृप ।

श्वा ततो जायते मूढः कर्मणा तेन पार्थिव ॥९०

श्वा भूत्वा कृतकर्मासौ जायते मानुषस्ततः ।

तत्रापत्यं समुत्पाद्य मृतो जायति मूषिकः ॥९१

जो देवकार्य या पितृकार्य नहीं करता और बलिवैश्वदेव किये बिना ही अन्न ग्रहण कर लेता है, उस मनुष्य को मरने से बाद काक-योनि प्राप्त होती है। वह सौ वर्षों तक कौए की योनि भोगने पर मुर्गा बनता है, और फिर एक महीने तक सर्प रहकर मनुष्य होता है। बड़े भाई का आदर पिता के समान करना चाहिये, उसका अपमान करने वाला मनुष्य मरने पर क्राँच पक्षी होता है। ब्राह्मणी से समागम करने वाला शूद्र, मरने पर कीट-योनि को प्राप्त होता है और फिर उसे शूकर योनि मिलती है। शूकर योनि में जाते ही रोग से मृत्यु को प्राप्त होता है और फिर श्वान-योनि को पाता है। श्वान-योनि में पाप कर्म के भोग को समाप्त करके मनुष्य-योनि को प्राप्त होता है। मनुष्य-योनि में भी एक सन्तान उत्पन्न करके मृत्यु को प्राप्त होता और शेष पाप-फल भोगने के लिये भूषक का जन्म धारण करता है ॥८५-९१॥

कृतघ्नस्तु मृतो राजन् यमस्य विषयं गतः ।

यमस्य पुरुषः क्रुद्धं वैधं प्राप्नोति दारुणम् । ८२

दण्डं समुद्गरं शूलमग्निकुम्भं च दारुणम् ।

, असिपत्रवनं घोरवालुकं कूटशाल्मलीम् ॥ ८३

एताश्चान्याश्च बह्वीश्च यमस्य विषयं गतः ।

यातनाः प्राप्य तत्रोग्रास्ततो वध्यति भारत ॥ ८४

ततो हतः कृतघ्नः स तत्रोग्रैर्भरतर्षभ ।

संसारचक्रमासाद्य कृमियोनौ प्रजायते ॥ ८५

कृमिर्भवति वर्षाणि दश पञ्च च भारत ।

ततो गर्भं समासाद्य तत्रैव म्रियते शिशुः ॥ ८६

ततो गर्भशतैर्जन्तुर्बहुभिः सम्प्रपद्यते ।

संसारांश्च बहून् गत्वा ततस्तिर्यङ्मु जायते ॥ ८७

ततो दुःखमनुप्राप्य बहु वर्षगणानिह ।

अपुनर्भवसंयुक्तस्ततः कूर्मः प्रजायते ॥ ८८

हे राजन् ! कृतघ्न पुरुष को यमलोक में जाना होता है। वहीं क्रोधित यमदूत उस पर निर्दय प्रहार करते हैं। वह दण्ड, मुद्गर और

शूल की चोट खाकर भीषण कुम्भीपाक, असिपत्रवन, तपी हुई बालू और कंटकाकीर्ण शाल्मली आदि नरकों को भोगता है। उन भयंकर नरक यातनाओं के भोग लेने पर यमदूतों द्वारा पिटता है। इस प्रकार निर्दय यमदूतों द्वारा त्रसित हुआ कृतघ्न मनुष्य संसार चक्र में आकर कृमि होता है। पन्द्रह वर्षों तक कृमि रह कर फिर गर्भ में आता और भ्रूण रूप में ही मर जाता है। इस प्रकार कई सौ बार उसे गर्भ की यन्त्रणा भोगनी होती है, फिर अनेक बार जन्म लेकर उसे तिर्यग् योनि की प्राप्ति होती है। इन योनियों में बहुत वर्षों तक दुःख भोगता हुआ वह कछुआ की योनि को प्राप्त होता है ॥६२-६८॥

दधि हृत्वा बकश्चापि प्लवो मत्स्यानसंस्कृतान् ।

चोरयित्वा तु दुर्बुद्धिर्मधु दंशः प्रजायते ॥६९

फलं वा मूलकं हृत्वा अपूप वा पिपीलिकाः ।

चोरयित्वा च निष्पावं जायते हलगोलकः ॥१००

पायसं चोरयित्वा तु तित्तिरित्वमवाप्नुते ।

हृत्वा पिष्टमयं पूषं कुम्भौलूकः प्रजायते ॥१०१

अयो हृत्वा तु दुर्बुद्धिर्वायसो जायते नरः ।

कांस्यं हृत्वा तु दुर्बुद्धिर्हारितो जायते नरः ॥१०२

राजतं भाजनं हृत्वा कपोतः सम्प्रजायते ।

हृत्वा तु काञ्चन भाण्डं कृमियोनौ प्रजायते ॥१०३

पत्रोर्णं चोरयित्वा तु कृकलत्वं निगच्छति ।

कौशिकं तु ततो हृत्वा नरो जायति वर्तकः ॥१०४

अंशुकं चोरयित्वा तु शुको जायति मानवः ।

चोरयित्वा दुक्कलं तु मृतोः हंसः प्रजायते ॥१०५

दही को चुराने वाला दुर्बुद्धि मनुष्य बगला होता है। कच्ची मली चुराने वाला कारण्डव नाम का जल पक्षी होता है और शहद चुराने वाला मनुष्य मच्छर बनता है। फल, मूल, पूए आदि के चुराने वाला चींटी होता है और निष्पाव की चोरी करने वाला हलगोलक नामक कीट होता है। खीर चुराने वाला तीतर और आटे का पूआ चुराने वाला

मनुष्य उलूक की योनि प्राप्त करता है । लोहे की चोरी करने वाला मूखं कौवा होता है और काँस चुराने वाला हारीत पक्षी होता है । चाँदी का बर्तन चुराने वाले को कपोत-योनि और सुवर्ण युक्त बर्तन चुराने वाले को कीट-योनि प्राप्त होती है । ऊनी वस्त्र चुराने वाला गिरगिट और रेशमी वस्त्र चुराने वाला बत्तख होता है । महीन वस्त्र चुराने वाले को तोते की योनि और उत्तरीय चुराने वाले को हंस की योनि प्राप्त होती है ॥६६-१०५॥

क्रौञ्चः कार्पासिकं हृत्वा मृतो जायति मानवः ।

चोरयित्वा नरः पट्टं त्वाविकं चैव भारत ।

क्षौमं च वस्त्रमादाय शशो जन्तुः प्रजायते ॥१०६॥

वर्णान् हृत्वा तु पुरुषो मृतो जायति बर्हिणः ।

हृत्वा रक्तानि वस्त्राणि जायते जीवजीवकः ॥१०७॥

वर्णकादींस्तथा गन्धांश्चोरयित्वेह मानवः ॥१०८॥

चुच्छुन्दरित्वमाप्नोति राजल्लोभपरायणः ।

तत्र जीवति वर्षाणि ततो दश च पञ्च च ॥१०९॥

अधर्मस्य क्षयं गत्वा ततो जायति मानुषः ।

चोरयित्वा पयश्चापि बलाका सम्प्रजायते ॥११०॥

यस्तु चोरयते तैलं नरो मोहसमन्वितः ।

सोऽपि राजन् मृतो जन्तुस्तैलपायी प्रजायते ॥१११॥

अशस्त्रं पुरुषं हृत्वा सहस्रः पुरुषाधमः ।

अर्थार्थी यदि वा वैरो स मृतो जायते खरः ॥११२॥

मृती वस्त्र चुराने वाला क्रौञ्च पक्षी और पाटम्बर, भेड़ के ऊन का वस्त्र तथा क्षौम वस्त्र चुराने वाला खरगोश होता है । अनेक प्रकार के रंगों को चुराने वाला मोर और लाल वस्त्र चुराने वाला चकोर होता है । हे राजन् ! लोभ के वश में हुआ जो मनुष्य अनुलेपन और चन्दन आदि सामग्री चुराता है, वह मरने पर छलूँदर होकर पन्द्रह वर्ष तक उस योनि में दुःख भोगता है । फिर पापों के नष्ट होने पर उसे मनुष्य-देह की प्राप्ति होती है । जो स्त्री दूध की चोरी करती है, वह मरने के बाद बगुली

का देह धारण करती है। हे राजन् ! जो मोह में पड़ा हुआ मनुष्य तेल की चोरी करता है, वह मर कर तेलपायी नामक कीट होता है। जो मनुष्य धन के लोभ से अथवा शत्रुता वश किसी निहत्थे का वध करता है, उसे मृत्यु के बाद गधे की योनि में जन्म लेना पड़ता है ॥१०६-११२॥

खरो जीवति वर्षे द्वे ततः शस्त्रेण वध्यते ।

स मृतो मृगयोनौ तु नित्योद्विग्नोऽभिजायते ॥११३

मृगो वध्यति शस्त्रेण गते संवत्सरे तु सः ।

हतो मृगस्ततो मीनः सोऽपि जालेन बध्यते ॥११४

मासे चतुर्थे सम्प्राप्ते श्वापदः सम्प्रजायते ।

श्वापदो दश वर्षाणि द्वीपी वर्षाणि पञ्च च ॥११५

ततस्तु निधनं प्राप्तः कालपर्यायचोदितः ।

अधर्मस्य क्षयं कृत्वा ततो जायति मानुषः ॥११६

स्त्रियं हत्वा तु दुर्बुद्धिर्यमस्य विषयं गतः ।

बहून् क्लेशान्समासाद्य संसारांश्चैव विंशतिम् ॥११७

ततः पश्चान्महाराज कृमियोनौ प्रजायते ।

कृमिर्विंशतिवर्षाणि भूत्वा जायति मानुषः ॥११८

भोजनं चोरयित्वा तु मक्षिका जायते नरः ।

मक्षिकासंघवशगो बहून् मासान् भवत्युत ।

ततः पापक्षयं कृत्वा मानुषत्वमवाप्नुते ॥११९

उस गर्दभ योनि में वह दो वर्षों तक रहता और फिर शस्त्र के द्वारा उसकी हत्या की जाती है। फिर उसे मृग की योनि मिलती है, जहाँ हिंसकों से उसे सदा उद्विग्नता रहती है। मृग-योनि में एक वर्ष रहने पर शस्त्र के द्वारा उसका वध होता है और मत्स्य होने पर जाल में बँधता है। जाल से छूटने पर चौथे महीने में मर कर भेड़िया आदि हिंसक जीव की योनि में दस वर्ष रह कर पाँच वर्ष के लिये व्याघ्र-योनि में जाता अथवा चीता होता है। फिर पाप के क्षीण होने पर, मृत्यु होकर पुनः मनुष्य-योनि में उत्पन्न होता है। जो दुर्बुद्धि मनुष्य स्त्री की हत्या करता

है, वह यमलोक में जाकर विभिन्न प्रकार से त्रास प्राप्त करता हुआ बीस बार कष्टप्रद योनियों में जन्म-धारण करता है। फिर वह कीट-योनि में बीस वर्ष रह कर अन्त में मनुष्य योनि को प्राप्त करता है। भोजन चुराने वाला मनुष्य मक्खी होकर कई महीने मक्खियों के वश में रहता है। फिर पापों को भोग कर मनुष्य योनि में जन्म धारण करता है ॥११३-११६॥

धान्यं हत्वा तु पुरुषो लोमशः सम्प्रजायते ॥१२०

तथा पिण्याकसम्मिश्रमशनं चोरयेन्नरः ।

स जायते बभ्रुसमो दारुणो मूषिको नरः ॥१२१

दशन् वै मानुषान्नित्यं पापात्मा स विशाम्पते ।

धृतां हत्वा तु दुर्बुद्धिः काकमद्गुः प्रजायते ॥१२२

मत्स्यमांसमथो हत्वा काको जायति दुर्मतिः ।

लवणं चोरयित्वा तु चिरिकाकः प्रजायते ॥१२३

विश्वासेन तु निक्षिप्तं यो विनिहोति मानवः ।

स गतायुर्नरस्तात मत्स्ययोनौ प्रजायते ॥१२४

मत्स्ययोनिमनुप्राप्य मृतो जायति मानुषः ।

मानुषत्वमनुप्राप्य क्षीणायुरुपपद्यते ॥१२५

पापानि तु नराः कृत्वा तिर्यग् जायन्ति भारत ।

न चात्मनः प्रमाणं ते धर्मं जानन्ति किंचन ॥१२६

धान्य चुराने वाले मनुष्य के दूसरा जन्म लेने पर शरीर में बहुत-से रोएँ होते हैं। तिलकुटा मिले हुए अन्न को चुराने वाला नेबले के समान आकार वाला चूहा होता है और वह पापात्मा मनुष्यों को काटने के स्वभाव वाला होता है। धी चुराने वाला दुर्बुद्धि मनुष्य काकमद्गु नामक जलपक्षी होता है। मत्स्य और मांस चुराने वाले को काक-योनि और नमक चुराने वाले को चिरिकाक योनि की प्राप्ति होती है। जो मनुष्य किसी की धरोहर न लौटा कर विश्वासघात करता है, वह मरने पर मत्स्य होता है। मत्स्य योनि से छूट कर जब वह मनुष्य देह धारण करता है, तब उसकी अल्प आयु होती है। पापी मनुष्य पशु-पक्षी होते हैं।

उस योनि से उद्धार कराने वाले धर्म का उन्हें किंचित ज्ञान नहीं रहता
॥१२०-१२६॥

ये पापानि तु नराः कृत्वा निरस्यन्ति व्रतैः सदा ।

सुखदुःखसमायुक्ता व्यथितास्ते भवन्त्युतः ॥१२७

असंवासाः प्रजायन्ते म्लेच्छाश्चापि न संशयः ।

नराः पापसमाचारा लोभमोहसमन्विताः ॥१२८

वर्जयन्ति च पापानि जन्मप्रभृति ये नराः ।

अरोगा रूपवन्तस्ते धनिनश्च भवन्त्युत ॥१२९

स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेनः कृत्वा पापमवाप्नुयुः ।

एतेषामेव जन्तूनां भार्यात्वमुपयान्ति ताः ॥१३०

परस्वहरणो दोषाः सर्व एव प्रकीर्तिताः ।

एतद्वि लेशमात्रेण कथितं ते मयानघ ॥१३१

अपरस्मिन् कथायोगे भूयः श्रोष्यसि भारत ।

एतन्मया महाराज ब्रह्मणो वदतः पुराः ॥१३२

सुरर्षीणां श्रुतं मध्ये पृष्टश्चापि यथातथम् ।

मयापि तच्च कात्स्न्येन यथावदनुवर्णितम् ।

एतच्छ्रुत्वा महाराज धर्मे कुरु मनः सदा ॥१३३

जो पापी मनुष्य लोभ और मोह के अधीन होकर पाप करते और फिर उसके फल को व्रत आदि के द्वारा दूर करने का यत्न करते हैं, वे सदा सुख-दुःखों को भोगते रहते हैं। वे निराश्रय होकर घूमते और म्लेच्छ हो जाते हैं। इसमें संदेह नहीं है। जो मनुष्य, जन्म से ही पाप की प्रवृत्ति नहीं रखते, वे रोग रहित, रूपवान् और धनवान् होते हैं। पूर्वोक्त पाप-कर्मों के करने वाली स्त्रियाँ भी पाप फल को भोगती हैं तथा उन्हें पाप भोगने वाले पुरुषों की ही पत्नी होना पड़ता है। हे राजन् ! दूसरों के धन का अपहरण करने के कारण जिन दोषों की प्राप्ति होती है, वे सब कह दिये गये हैं। मैंने इस विषय का संक्षिप्त रूप से ही वर्णन किया है। फिर कभी इसका प्रसङ्ग आने पर इसे विस्तार सहित सुनना प्राचीन

काल में एक बार ब्रह्माजी इस विषय में जो कुछ बता रहे थे, वही मैंने तुम्हारे प्रश्न पर कह दिया है। इसे सुन कर तुम्हें अपने मत को धर्म में लगाना चाहिये ॥१२७-१३३॥

अधर्मस्य गतिर्ब्रह्मन् कथिता मे त्वयानघ ।

धर्मस्य तु गतिं श्रोतुमिच्छामि वदतां वर ॥१३४

कृत्वा कर्माणि पापानि कथं यान्ति शुभां गतिम् ।

कर्मणा च कृतेनेह केन यान्ति शुभां गतिम् ॥१३५

कृत्वा पापानि कर्माणि अधर्मवशमागतः ।

मनसा विपरीतेन निरयं प्रतिपद्यते ॥१३६

मोहादधर्मं यः कृत्वा पुनः समनुतप्यते ।

मनःसमाधिसंयुक्तो न स सेवेत दुष्कृतम् ॥१३७

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गहते ।

तथा तथा शरीरं तु तेनाधर्मेण मुच्यते ॥१३८

यदि व्याहरते राजन् विप्राणां धर्मवादिनाम् ।

ततोऽधर्मकृतात् क्षिप्रमपवादात् प्रमुच्यते ॥१३९

यथा यथा नरः सम्यग्धर्ममनुभाषते ।

समाहितेन मनसा विमुच्येत तथा तथा ।

भुजङ्ग इव निर्मोकात् पूर्वमुक्ताज्जरान्वितात् ॥१४०

युधिष्ठिर ने कहा—हे ब्रह्मन् ! आपने अधर्म की गति तो कह दी, अब धर्म की गति सुनने की इच्छा है। पाप-कर्म को करके मनुष्य श्रेष्ठ गति कैसे प्राप्त करते हैं। उन्हें किस कर्म के द्वारा उत्तम गति मिलती है। बृहस्पतिजी ने कहा—पाप कर्म करने वाला जो मनुष्य अधर्म के वश में पड़ जाता है, उसका मन धर्म के विपरीत मार्ग पर चलता है और इसलिये उसे नरक की प्राप्ति होती है। परन्तु, अज्ञान के कारण जिससे अधर्म कार्य हो जाय और वह उसके लिये पश्चात्ताप करे, तो उसे अपने मन को वश में रखना और कभी पापाचार न करने का निश्चय करना चाहिये। मनुष्य का मन पाप कर्म की जैसे-जैसे निन्दा करता है, वैसे-वैसे ही उसका शरीर अधर्म के बन्धनों से छूटता जाता है। हे राजन् !

यदि पाप करने वाला मनुष्य धर्म के ज्ञाता ब्राह्मणों पर अपना पाप प्रकट कर दे तो उस पाप से होने वाली निन्दा से वह शीघ्र ही मुक्त होता है। अपने मन को स्थिर करके मनुष्य ज्यों-ज्यों अपने पाप को प्रकट करता है, त्यों-त्यों ही पाप से छूटता जाता है। उसी प्रकार जैसे कि सर्प पुरानी केंचुली से मुक्त हो जाता है ॥१३४-१४०॥

दत्त्वा विप्रस्य दानानि विविधानि समाहितः ।

मनःसमाधिसंयुक्तः सुगतिं प्रतिपद्यते ॥१४१

प्रदानानि तु वक्ष्यामि यानि दत्त्वा युधिष्ठिर ।

नरः कृत्वाप्यकार्याणि ततो धर्मेण युज्यते ॥१४२

सर्वेषामेव दानानामन्नं श्रेष्ठमुदावृतम् ।

पूर्वमन्नं प्रदातव्यमृजुना धर्ममिच्छता ॥१४३

प्राणा ह्यन्नं मनुष्याणां तस्माज्जन्तुश्च जायते ।

अन्ने प्रतिष्ठितो लोकस्तास्मादन्नं प्रशस्यते ॥१४४

अन्नमेव प्रशंसन्ति देवर्षिपितृमानवाः ।

अन्नस्य हि प्रदानेन रन्तिदेवो दिवं गतः ॥१४५

न्यायलब्धं प्रदातव्यं द्विजातिभ्योऽन्नमुत्तमम् ।

स्वाध्यायं समुपेतेभ्यः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥१४६

यस्य ह्यन्नमुपाश्नन्ति ब्राह्मणानां शतं दश ।

हृष्टेन मनसा दत्तं न स तिर्यग्गतिर्भवेत् ॥१४७

एकाग्रचित्त से सावधान हुआ मनुष्य यदि ब्राह्मण को विभिन्न वस्तुएँ दान करे तो उसे श्रेष्ठ गति मिलती है। अब मैं उन उत्कृष्ट दानों को कहता हूँ, जिनके द्वारा मनुष्य न करने योग्य कर्मों को करने के पाप से छूट कर धर्म के फल से सम्पन्न होता है। सभी दानों में अन्न-दान श्रेष्ठ कहा गया है। इसलिये धर्म की इच्छा वाला मनुष्य सरल भाव से अन्न-दान करे। अन्न पुरुषों का प्राण है, उसी के द्वारा प्राणी का जन्म होता है और उसी के आधार पर संसार टिका है। इसीलिये अन्न को सब से उत्तम समझा जाता है। देवता, ऋषि, पितर और मनुष्य अन्न की ही प्रशंसा करते हैं। अन्नदान के प्रभाव से ही राजा रन्तिदेव को स्वर्ग की

प्राप्ति हुई थी । इसलिये जो ब्राह्मण स्वाध्याय में लगे रहते हैं, उन्हीं को न्याय से उपार्जित श्रेष्ठ अन्न का प्रसन्न चित्त से दान करे । जिस पुरुष के द्वारा प्रसन्न चित्त से दिये हुए अन्न से एक हजार ब्राह्मण भोजन कर लें, वह कभी पशु-पक्षी की योनियों को प्राप्त नहीं होता ॥१४१-१४७॥

ब्राह्मणानां सहस्राणि दश भोज्य नरर्षभ ।

नरोऽधर्मात् प्रमुच्येत योगेष्वभिरतः सदा ॥१४८

भैक्ष्येणान्नं समावृत्य विप्रो वेदपुरस्कृतः ।

स्वाध्यायनिरते विप्रे दत्त्वेह सुखमेधते ॥१४९

भैक्ष्येणापि समावृत्य दद्यादन्नं द्विजेषु वै ।

सुवर्णदानात् पापानि नश्यन्ति सुबहून्यपि ॥१५०

दत्त्वा वृत्तिकरीं भूमिं पातकेनापि मुच्यते ।

पारायणैः पुराणानां मुच्यते पातकं द्विजः ॥१५१

गायत्र्याश्चैव यक्षेण गोसहस्रस्य तर्पणात् ।

वेदार्थं ज्ञापयित्वा तु शुद्धान् विप्रान् यथार्थतः ॥१५२

सर्वत्यागादिभिश्चापि मुच्यते पातकं द्विजः ।

सर्वातिथ्यं परं ह्येषां तस्मादन्नं परं स्मृतम् ॥१५३

अहिसन् ब्राह्मणस्वानि न्यायेन परिपाल्य च ।

क्षत्रियस्तरसा प्राप्तमन्नं यो वै प्रयच्छति ॥१५४

द्विजेभ्यो वेदवृद्धेभ्यः प्रयतः सुसमाहितः ।

तेनापोहति धर्मात्मन् दुष्कृतं कर्म पाण्डव ॥१५५

हे नरोत्तम ! योग-साधन में सदा लगा रहने वाला जो मनुष्य दस हजार ब्राह्मणों को भोजन करा देता है, वह पाप के बन्धनों से छूट जाता है । वेद का जानने वाला जो ब्राह्मण भिक्षा द्वारा लाये हुए अन्न को यदि स्वाध्याय में लगे हुए ब्राह्मण को देता है तो वह इस लोक में सुख प्राप्त करता है । जो भिक्षा द्वारा अन्न लाकर भी ब्राह्मणों को दे देता है, अथवा जो सुवर्ण-दान करता है, वह अनेक पापों से छूट जाता है । जीविका चलाने वाली भूमि का दान करके भी मनुष्य पाप से छूट

जाता है तथा पुराणों का पाठ करने से भी ब्राह्मण पाप-मुक्त हो जाता है। एक लाख गायत्री मन्त्र जपने से, एक हजार गौओं को तृप्त करने से, विशुद्ध ब्राह्मणों को यथार्थ रूप से वेदार्थ ज्ञान कराने से और सर्वस्व त्याग करने से भी ब्राह्मण पाप-मुक्त होता है। इन सब में भी अन्न के द्वारा आतिथ्य-सत्कार करना ही सर्वश्रेष्ठ है। इसीलिये, अन्न को सर्वोत्तम कहा गया है। जो क्षत्रिय ब्राह्मण के धन का अपहरण नहीं करता, न्याय पूर्वक प्रजा-पालन करता और अपने भुजबल के द्वारा प्राप्त अन्न वेद के जानने वाले ब्राह्मणों को सब प्रकार शुद्ध मन से दान करता है, वह उस अन्नदान के बल से ही अपने पहिले के किये हुए पाप-कर्मों को नष्ट कर डालता है ॥१४८-१५५॥

षड्भागपरिशुद्धं च कृषेर्भागमुपार्जितम् ।

वैश्योददद्विजातिभ्यःपापेभ्यः परिमुच्यते ॥१५६

अवाप्य प्राणसंदेहं कार्कश्येन समार्जितम् ।

अन्नं दत्त्वा द्विजातिभ्यःशूद्रःपापात् प्रमुच्यते ॥१५७

औरसेन बलेनान्नमर्जयित्वाविहिसकः ।

यः प्रयच्छति विप्रेभ्यो न स दुर्गाणि पश्यतिः ॥१५८

न्यायेनैवाप्तमन्नं तु नरो हर्षसमन्वितः ।

द्विजेभ्यो वेदवृद्धेभ्यो दत्त्वा पापात् प्रमुच्यते ॥१५९

अन्नमूर्जस्करं लोके दत्त्वोर्जस्वी भवेन्नरः ।

सतां पन्थानमावृत्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१६०

दानवद्भिः कृतः पन्था येन यान्ति मनीषिणः ।

ते हि प्राणस्य दातारस्तेभ्यो धर्मः सनातनः ॥१६१

कृषि के द्वारा अन्न उत्पन्न करके जो वैश्य उसका छठा भाग राजा को देता है और शेष अन्न में से ब्राह्मण को दान करता है, वह पापों से छूट जाता है। शूद्र भी यदि प्राणों की चिन्ता न करके कठोर परिश्रम के द्वारा कमाये हुए अन्न का ब्राह्मणों को दान करता है तो पापों से मुक्त हो जाता है। जो किसी प्राणी की हिंसा करते हुए अपनी छाती की शक्ति से उत्पन्न किये हुए अन्न का दान करता है, उसे कभी संकटों

का अनुभव नहीं करना पड़ता । न्यायोचित ढँग से अन्न प्राप्त करके उसे वेद के जानने वालों को हर्ष पूर्वक देने वाला पुरुष पाप-बन्धन से छूटता है । लोक में बल की वृद्धि करने वाला अन्न ही है, इसलिये अन्न-दान करने वाला मनुष्य बलवान् होता हुआ, सत्पुरुषों के मार्ग का अनुसरण करता हुआ सभी पापों से मुक्त होता है । दान देने वाले पुरुषों ने जिस मार्ग को खोला है, उसी मार्ग पर मनीषी पुरुष चलते हैं । अन्नदाता पुरुष यथार्थ में प्राणदाता ही हैं । उन्हीं के द्वारा सनातन धर्म प्रवृद्ध होता है ॥१५६-१६१॥

सर्वावस्थं मनुष्येण न्योयेनान्नमुपार्जितम् ।

कार्यं पात्रागतं नित्यमन्नं हि परमा गतिः ॥१६२

अन्नस्य हि प्रदानेन नरो रौद्रं न सेवते ।

तस्मादन्नं प्रदातव्यमन्यायपरिवर्जितम् ॥१६३

यतेद् ब्राह्मणपूर्वं हि भोक्तुमन्नं गृही सदा ।

अवन्ध्यं दिवसं कुर्यादन्नदानेन मानवः ॥१६४

भोजयित्वा दशशतं नरो वेदविदां नृप ।

न्यायविद्धर्मविदुषामितिहासविदां तथा ॥१६५

न याति नरकं घोरं संसारांश्च न सेवते ।

सर्वकामसमायुक्तः प्रेत्य चाप्यश्नुते सुखम् ॥१६६

एवं खलु समायुक्तो रमते विगतज्वरः ।

रूपवान् कीर्तिमांश्चैव धनवांश्चोपपद्यते ॥१६७

एतत् ते सर्वमाख्यातमन्नदानफलं महत् ।

मूलमेतत् तु धर्माणां प्रदानानां च भारत ॥१६८

मनुष्य का कर्त्तव्य है कि कैसी भी अवस्था हो, न्यायोचित ढँग से उपार्जन किये हुए अन्न का ही सत्पात्र को दान करे । क्योंकि, अन्न ही सब प्राणियों की परम गति है । अन्नदान करने वाले को नरक की भयंकर यन्त्रणाएं कभी भी नहीं भोगनी होतीं । इसलिये न्यायोचित ढँग से प्राप्त किये हुए अन्न का ही सदा दान करे । प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह प्रथम अतिथि को भोजन कराके स्वयं भोजन करे और अन्नदान

करता हुआ अपने प्रत्येक दिन को सफल करने की चेष्टा करे । जो पुरुष वेद, न्याय, धर्म और इतिहास के ज्ञाता एक महस्र विप्रों को भोजन कराता है, वह कभी घोर नरक अथवा संसार चक्र में नहीं भ्रमता । इस लोक में उसके सभी मनोरथ पूर्ण होते और मृत्यु होने पर परलोक में भी सुख प्राप्त होता है । इस प्रकार अन्नदान में लगा हुआ मनुष्य चिन्ता-रहित होकर सुख भोगता है और रूप, कीर्ति तथा धन से सम्पन्न रहता है । अन्नदान सब प्रकार के धनों और दानों में मूल रूप है । इस प्रकार अन्नदान की यह सम्पूर्ण महिमा मैंने तुम्हारे प्रति भले प्रकार कह दी है ॥१६२-१६८॥

अहिंसा वैदिकं कर्म ध्यानमिन्द्रियसंयमः ।

तपोऽथ गुरुश्रूषा किं श्रेयः पुरुषं प्रति ॥१६९

सर्वाण्येतानि धर्म्याणि पृथग्द्वाराणि सर्वशः ।

शृणु संकीर्त्यमानानि षडेव भरतर्षभ ॥१७०

हन्त निःश्रेयसं जन्तोरहं वक्ष्याम्यनुत्तमम् ।

अहिंसापाश्रयं धर्मं यः साधयति वै नरः ॥१७१

त्रीन् दोषान् सर्वभूतेषु निधाय पुरुषः सदा ।

कामक्रोधौ च संयम्य ततः सिद्धिमवाप्नुते ॥१७२

अहिंसकानि भूतानि दण्डेन विनिहन्ति यः ।

आत्मनःसुखमन्विच्छन् स प्रेत्य न सुखी भवेत् ॥१७३

आत्मोपमस्तु भूतेषु यो वै भवति पूरुषः ।

न्यस्तदण्डो जितक्रोधः स प्रेत्य सुखमेधते ॥१७४

सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतानि पश्यतः ।

देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥१७५

युधिष्ठिर ने कहा—अहिंसा, वेदोक्त कर्म, ध्यान, इन्द्रिय संयम, तप और गुरु की सेवा-सुश्रूषा इनमें से कौन-से कर्म से मनुष्य का कल्याण हो सकता है ? बृहस्पतिजी ने कहा—यह छः प्रकार के कर्म ही धर्म को उत्पन्न करने वाले हैं और सभी भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न होते हैं । मैं इन छहों का तुम्हारे प्रति वर्णन करता हूँ । अब मैं, मनुष्य का कल्याण

करने वाले एक सर्वश्रेष्ठ उपाय को कहता हूं। अहिंसामय धर्म का पालन करने वाला मनुष्य मोह, मद और मत्सरता रूप दोषों को अन्य सब प्राणियों में स्थापित करता हुआ काम क्रोध को वशीभूत कर सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। अपने सुख की इच्छा से जो मनुष्य अहिंसक जीवों को डंडे से मारता है, वह परलोक में जाकर सुख नहीं पाता। जो सभी भूतों को अपने समान मानता हुआ किसी प्राणी को नहीं मारता और क्रोध को अपने वश में रखता है वह मरने के बाद सुख प्राप्त करता है। जो सभी भूतों को आत्मवत् देखता है, उस आवागमन से रहित ज्ञानी पुरुष की गति को जानने के समय देवता भी भ्रम युक्त हो जाते हैं

॥१६६-१७५॥

न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः ।

एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते ॥१७६

प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।

आत्मौपम्येन पुरुषः भ्रमाणमधिगच्छति ॥१७७

यथा परः प्रक्रमते परेषु

तथापरे प्रक्रमन्ते परस्मिन् ।

तथैव तेऽस्तूपमा जीवलोके

यथा धर्मो नैपुणो नोपदिष्टः ॥१७८

जो बात स्वयं को अच्छी न लगे, उसे दूसरे के प्रति भी न कहे। धर्म का सार रूप लक्षण यही है। इससे भिन्न कार्य कामना से उत्पन्न हुआ ही समझना चाहिये। माँगने पर देने से जो सुख होता है और न देने से जो दुःख होता है, इस प्रकार के प्रिय और अप्रिय कार्य से जिस हर्ष या शोक का जो अनुभव अपने लिये होता है, वैसा ही दूसरे के प्रति समझना चाहिये। जब एक मनुष्य दूसरे पर आक्रमण करता है तो अवसर प्राप्त होने पर दूसरे भी उस पर आक्रमण करते हैं। यही उदाहरण अपने विषय में भी समझना चाहिये और कभी किसी पर आक्रमण नहीं करना चाहिये। इस प्रकार निपुणता से यह उपदेश दिया गया है ॥१७६-१७८॥

१०—उतथ्य गीता

यानङ्गिरा क्षत्रधर्मानुतथ्यो ब्रह्मविक्रमः ।
 मान्धात्रे यौवनाश्रया प्रीतिमानभ्यभाषतः ॥१
 स यथानुशशासनमुतथ्यो ब्रह्मवित्तमः ।
 तत् ते सर्वं प्रवक्ष्यामि निखिलेन युधिष्ठिर ॥२
 धर्माय राजा भवति न कामकरणाय तु ।
 मान्धातरिति जानीहि राजा लोकस्य रक्षिता ॥३
 राजा चरति चेद् धर्मं देवत्वायैव कल्पते ।
 स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति ॥४
 धर्मे तिष्ठन्ति भूतानि धर्मो राजनि तिष्ठति ।
 तं राजा साधु यःशास्ति स राजा पृथिवीपतिः ॥५
 राजा परमधर्मात्मा लक्ष्मीवान् धर्मं उच्यते ।
 देवाश्च गृही गच्छन्ति धर्मो नास्तीति चोच्यते ॥६
 स्वधर्मे वर्तमानानामर्थसिद्धिः प्रदृश्यते ।
 तदेव मङ्गलं लोकः सर्वः समनुवर्तते ॥७

भीष्मजी ने कहा—ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ अंगिरा-पुत्र उतथ्य ने युव-
 नाश्र-पुत्र मान्धाता के प्रति जिन क्षत्रिय धर्मों को कहा था, उन्हें तुमसे
 कहता हूँ । ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ उतथ्य ने जिस प्रकार उन राजा को
 उपदेश दिया था, वह सब प्रसंग कह रहा हूँ । उतथ्य ने कहा—हे
 मान्धाता ! राजा धर्म-पालन और उसके प्रचारार्थ ही होता है, विषय-
 सुखों को भोगने के लिये नहीं । क्योंकि, राजा को सम्पूर्ण विश्व का रक्षक
 समझना चाहिये । धर्माचरण करने वाला राजा देवता हो जाता है और
 यदि अधर्माचरण-रत होता है तो वह नरक में जाता है । सभी प्राणी

धर्म के आधार पर स्थित हैं और धर्म राजा के ऊपर स्थित है। जो राजा भले प्रकार धर्म-पालन करता हुआ उसके अनुकूल चलता है वह दीर्घ काल तक पृथिवी का अधीश्वर बना रहता है। परम धर्मात्मा और श्री सम्पन्न राजा को साक्षात् धर्म का अवतार ही समझो। यदि वह धर्म-पालन में तत्पर नहीं है तो उसके पाप से देवताओं की भी निन्दा होती है। धर्म-पालन में तत्पर राजा से ही अभीष्ट-सिद्धि होती है। सभी संसार उस मङ्गलमय धर्म पर चलता है ॥१-७॥

उच्छिद्यते धर्मवृत्तमधर्मो वर्तते महान् ।

भयमार्हुर्दिवारात्रं यदा पापो न वार्यते ॥८

ममेदमिति नैवैतत् साधूनां तात धर्मतः ।

न वै व्यवस्था भवति यदा पापो न वार्यते ॥९

नैव भार्या न पशवो न क्षेत्रं न निवेशनम् ।

संहस्येत मनुष्याणां यदा पापबलं भवेत् ॥१०

, देवाः पूजां न जानन्ति न स्वधां पितरस्तदा ।

न पूज्यन्ते ह्यतिथयो यदा पापो न वार्यते ॥११

न वेदानधिगच्छन्ति व्रतवन्तो द्विजातयः ।

न यज्ञास्तन्वते विप्रा यदा पापो न वार्यते ॥१२

वृद्धानामिव सत्त्वानां मनो भवति विह्वलम् ।

मनुष्याणां महाराज यदा पापो न वार्यते ॥१३

उभौ लोकावभिप्रेक्ष्य राजानमृषयः स्वयम् ।

असृजन् सुमहद् भूतमयं धर्मो भविष्यति ॥१४

जब पाप को नहीं रोका जाता, तब विश्व से धर्म वृत्ति समाप्त हो जाती है और सर्वत्र महान् अधर्म के फैलने से प्रजा सदा भयभीत रहती है। यदि पाप-प्रवृत्ति को न रोके तो श्रेष्ठ पुरुष 'यह मेरी वस्तु है' ऐसा नहीं कह सकते। उस समय धर्म की व्यवस्था का आधार भी कुछ नहीं रहता। जब पाप की शक्ति बढ़ जाती है, तब मनुष्यों को अपनी स्त्री, पशु, खेत और घर की रक्षा का उपाय भी नहीं सूझता। जब पाप रोका नहीं जाता, तब देवगण पूजन का और पितरगण स्वधा का अनुभव नहीं

कर पाते तथा अतिथि पूजन भी कहीं होता दिखाई नहीं देता । जब पाप को नहीं रोका जाता, तब ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले द्विज वेदाध्ययन और विप्रगण यज्ञानुष्ठान से विरत हो जाते हैं । जब पाप को नहीं रोका जाता, तब मनुष्यों का मन वृद्ध जन्तुओं के समान विह्वल हो जाता है । लोक परलोक को देखते हुए, ऋषियों ने राजा नामक अत्यन्त बली मनुष्य को उत्पन्न किया और उसे साक्षात् धर्म स्वरूप माना ॥८-१४॥

यस्मिन् धर्मो विराजेत तं राजानं प्रचक्षते ।

यस्मिन् विलीयते धर्मस्तं देवा वृषलं विदुः ॥१५॥

वृषो हि भगवान् धर्मो यस्तस्य कुरुते ह्यलम् ।

वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं विवर्धयेत् ॥१६॥

धर्मे वर्धन्ति वर्धन्ति सर्वभूतानि सर्वदा ।

तस्मिन् ह्यसति ह्यीयन्ते तस्माद् धर्मं न लोपयेत् ॥१७॥

धनात् स्रवति धर्मो हि धारणाद् वेति निश्चयः ।

अकार्याणां मनुष्येन्द्र स सीमान्तकरः स्मृतः ॥१८॥

प्रभवार्थं हि भूतानां धर्मः सृष्टः स्वयम्भुवा ।

तस्मात् प्रवर्तयेद् धर्मं प्रजानुग्रह कारणात् ॥१९॥

तस्माद्धि राजशार्दूल धर्मः श्रेष्ठतरः स्मृतः ।

स राजा यः प्रजाः शास्ति साधुकृत् पुरुषर्षभ ॥२०॥

कामक्रोधावनादृत्य धर्ममेवानुपालय ।

धर्मः श्रेयस्करतमो राज्ञां भरतसत्तम ॥२१॥

इसलिये, जिसमें धर्म प्रतिष्ठित है, वही राजा कहा गया है । जिसमें धर्म लीन हो गया हो उसे देवगण 'वृषल' कहते हैं । भगवान् धर्म को 'वृष' कहते हैं, जो धर्म-विषय में 'अलम्' कहता है उसे वृषल समझना चाहिये और धर्म की सदा वृद्धि करते रहना चाहिये । धर्म की वृद्धि पर सदा सब का अभ्युत्थान होता है और धर्म के ह्रास में सब का ह्रास निहित है, इसलिये धर्म को कभी लुप्त नहीं होने देना चाहिये । धन से धर्म उत्पन्न होता है, सब का धारक होने से वह धर्म संज्ञक हुआ । उस धर्म को पाप की सीमा का अन्त करने वाला भी कहा है । प्राणियों के

कल्याण की इच्छा से ही ब्रह्माजी ने धर्म को उत्पन्न किया, इसलिये राजा को प्रजाजनों का अनुग्रह करने के लिये देशभर में धर्म का प्रचार करना चाहिये । इसी कारण धर्म को सर्व श्रेष्ठ कहा गया है । जो धर्म का पालन करता हुआ प्रजा पर शासन करे, वही राजा है । हे राजा ! तुम भी काम-क्रोध का त्याग कर निरन्तर धर्म-पालन करो । क्योंकि, धर्म ही राजाओं के लिये सबसे अधिक कल्याण करने वाला है ॥१५-२१॥

धर्मस्यब्राह्मणो योनिस्तस्मात् तान्पूजयेत् सदा ।
 ब्राह्मणानां च मान्धातुःकुर्यात्कामानमत्सरी ॥२२॥
 तेषां ह्यकामकरणाद् राज्ञः संजायते भयम् ।
 मित्राणि न च वर्धन्ते तधामित्रीभवन्त्यपि ॥२३॥
 ब्राह्मणानां सदासूयाद् बाल्याद् वैरोचनो बलिः ।
 अथास्माच्छीरपाकामद् यस्मिन्नासीत् प्रतापिनी ॥२४॥
 ततस्तस्मादपाक्रम्य सागच्छत् पाकशासनम् ।
 अथ सोऽन्वतपत् पश्चाच्छ्रियं दृष्ट्वा पुरन्दरे ॥२५॥
 एतत् फलमसूयाया अभिमानस्य वा विभो ।
 तस्माद्बुध्यस्वमान्धातुर्मात्वा जह्यात्प्रतापिनी ॥२६॥
 दर्पो नाम श्रियः पुत्रो यज्ञेऽधर्मादिति श्रुतिः ।
 तेन देवासुरा राजन् नीताःसुबहवो व्ययम् ॥२७॥
 राजर्षयश्च बहवस्तथा बुध्यस्व पार्थिव ।
 राजा भवति तं जित्वा दासस्तेन पराजितः ॥२८॥

हे मान्धाता ! धर्म का मूल ब्राह्मण है, अतः ब्राह्मणों का पूर्ण सम्मान करते हुए उनकी सब कामनाओं को पूर्ण करते रहना चाहिये । उनकी इच्छाओं की पूर्ति न करने से राजाओं को भय की प्राप्ति होती है तथा राजा के मित्र नहीं बढ़ते, शत्रुओं की ही वृद्धि होती जाती है । विरोचन पुत्र बलि अपने बालकपन से ही ब्राह्मणों पर दोष लगाते रहते थे, इसलिये, शत्रुओं को संतप्त करने वाली उनकी राज्यश्री उनके पास से चली गयी । बलि के पास से गई हुई वह राज्यश्री इन्द्र को प्राप्त हुई और तब

इन्द्र के पास उसे देखकर राजा बलि को अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ । हे मान्धाता ! यह अभिमान और असूया का परिणाम है । इसलिये, तुम सचेत हो जाओ, शत्रु को संतप्त करने वाली राज्यलक्ष्मी कहीं तुम्हारा साथ न छोड़ बैठे । हे राजन् ! सम्पत्ति का पुत्र दर्प है, वह अधर्म के अंश से उत्पन्न हुआ है—यह श्रुति कहती है । उस दर्प ने अनेकों देवता, असुर और राजर्षियों को नष्ट कर डाला है, इसलिये, सावधान हो जाओ । उस दर्प को जीत लेने वाला राजा और उससे हार जाने वाला दास बन जाता है ॥२२-२८॥

स यथा दर्पसहितमधर्मं नानुसेवते ।

तथावर्तस्वमान्धातश्चिरंचेतुस्थातुमिच्छसि ॥२९

मत्तात्प्रमत्तात् पौगण्डादुन्मत्ताच्च विशेषतः ।

तदभ्यासादुपावर्तं संहितानां च सेवनात् ॥३०

निगृहीतादमात्याच्च स्त्रीभ्यश्चैव विशेषतः ।

पर्वताद् विषमाद्दुर्गाद्धस्तिनोऽश्वात्सरोसृपात् ॥३१

एतेभ्यो नित्ययत्तः स्यान्नक्तचर्या च वर्जयेत् ।

अत्यागं चाभिमानं च दम्भं क्रोधं च वर्जयेत् ॥३२

अविज्ञातासु च स्त्रीषु क्लीबासु स्वेरिणीषु च ।

परभार्यासु कन्यासु नाचरेन्मैथुनं नृपः ॥३३

कुलेषु पापरक्षांसि जायन्ते वर्णसंकरात् ।

अपुमांसोऽङ्गहीनाश्च स्थूलजिह्वा विचेतसः ॥३४

एते चान्ये च जायन्ते यदा राजा प्रमाद्यति ।

तस्माद् राजा विशेषेण वर्तितव्यं प्रजाहिते ॥३५

हे मान्धाता ! यदि तुम चिरकाल तक राजा बने रहना चाहते हो, तो ऐसा कार्य करो, जिससे तुम्हें दर्प और अधर्म का सेवन न करना पड़े । मत्त, प्रमत्त, बालक और पागलों से बचो । उनके निकट सम्पर्क में न जाओ, यदि वे तुम्हारे साथ रह कर सेवा करना चाहें तो उस सेवा से भी दूर रहो । इसी प्रकार, जिसे कभी बन्दी बनाया हो, उस मन्त्री से, विशेषकर पर-स्त्रियों से, ऊँचे नीचे पर्वतों से, हाथी, घोड़े और साँपों से

राजा को सदा बचना चाहिये। इनसे सदा सावधान रहे, रात्रि में एकाकी न घूमे और कृपणता, अभिमान, दम्भ और क्रोध को भी बिल्कुल छोड़ दे। अपरिचित्त नारी, बन्ध्या, वेश्या, परायी पत्नी और कन्याओं के साथ राजा को संसर्ग नहीं करना चाहिये। जब राजा धर्म में प्रमाद करता है तब श्रेष्ठ कुल में भी वर्णसंकरता आने से पापियों और राक्षसों की उत्पत्ति होती है। नपुंसक, काने, लंगड़े, बहरे आदि अंगहीन भी इसी कारण होते हैं। अनेकों कुत्सित सन्तानों की उत्पत्ति हो जाती है। इसलिये राजा को सदा सावधान और धर्म परायण रहते हुए प्रजा का हित-साधन करना चाहिये ॥२६-३५॥

क्षत्रियस्य प्रमत्तस्य दोषः संजायते महान् ।

अधर्माः सम्प्रवर्धन्ते प्रजासंकरकारकाः ॥३६

अशीते विद्यते शीतं शीते शीतं न विद्यते ।

अवृष्टिरतिवृष्टिश्च व्याधिश्राप्याविशेत् प्रजाः ॥३७

नक्षत्राण्युपतिष्ठन्ति ग्रहा घोरास्तथागते ।

उत्पाताश्चात्र दृश्यन्ते बहवो राजनाशनाः ॥३८

अरक्षितात्मा यो राजा प्रजाश्चापि न रक्षति ।

प्रजाश्च तस्य क्षीयन्ते ततः सोऽनुविनश्यति ॥३९

द्वावाददाते ह्येकस्य द्वयोः सुबहवोऽपरे ।

कुमार्यः सम्प्रलुप्यन्ते तदाहुर्नृपदूषणम् ॥४०

ममेदमिति नैकस्य मनुष्येष्ववतिष्ठति ।

त्यक्त्वा धर्मं यदा राजा प्रमादमनुतिष्ठति ॥४१

राजा के प्रमाद से महान् दोषों की प्राप्ति होती है। वर्णसंकरता फैलाने वाले पाप कर्म बढ़ जाते हैं। ग्रीष्म ऋतु में ठंड और शीत काल में गर्मी पड़ने लगती है। कभी अतिवृष्टि होती है और कभी वर्षा ही नहीं होती। प्रजा में विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। आकाश में अनेकों भयानक ग्रह और तारे दिखाई देते हैं तथा राष्ट्र के विनाश के सूचक अनेक उत्पात होने लगते हैं। जो राजा अपनी रक्षा नहीं कर

सकता, वह प्रजा की भी रक्षा नहीं कर सकता । पहिले उसकी प्रजा नष्ट होती है, फिर वह स्वयं नष्ट हो जाता है । जब दो मनुष्य मिल कर एक की वस्तु छीन लें, अनेक व्यक्ति मिल कर दो को लूट लें और कुमारी कन्याओं पर बलात्कार होने लगें, तब इन सभी अपराधों का कारण राजा ही कहा जाता है । जब राजा धर्म का त्याग कर प्रमादी हो जाता है, तब कोई भी अपने धन को 'मेरा धन' नहीं कह सकता ॥३६-४१॥

कालवर्षी च पर्जन्यो धर्मचारी च पार्थिवः ।

सम्पद् यदेषाभवति सा विभर्ति सुखं प्रजाः ॥४२॥

यो न जानाति हतुं वा वस्त्राणां रजको मलम् ।

रक्तानां वा शोधयितुं यथा नास्ति तथैव सः ॥४३॥

एवमेतद् द्विजेन्द्राणां क्षत्रियाणां विशां तथा ।

शूद्रश्चतुर्थो वर्णानां नानाकर्मस्ववस्थितः ॥४४॥

कर्म शूद्रे कृषिवैश्ये दण्डनीतिश्च राजनि ।

ब्रह्मचर्यं तपो मन्त्राः सत्यं चापि द्विजातिषु ॥४५॥

तेषां यः क्षत्रियो वेद ब्रह्माणामिव शोधनम् ।

शीलदोषान् विनिर्हन्तुं स पिता स प्रजापतिः ॥४६॥

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्च भरतर्षभ ।

राजवृत्तानि सर्वाणि राजैव युगमुच्यते ॥४७॥

चातुर्वर्ण्यं तथा वेदाश्चातुराश्रम्यमेव च ।

सर्वं प्रमुह्यते ह्येतद् यदा राजा प्रमाद्यति ॥४८॥

अग्नित्रेता त्रयी विद्या यज्ञाश्च सहदक्षिणाः ।

सर्वं एव प्रमाद्यन्ति यदा राजा प्रमाद्यति ॥४९॥

उत्तथ्य ने कहा—हे राजन् ! राजा धर्म का आचरण करे तो मेघ समय पर वर्षा करता है और इस प्रकार जो धन बढ़ता है, उससे प्रजाओं का सुख पूर्वक पालन होता है । यदि धोबी वस्त्रों को स्वच्छ करना अथवा रंगे हुए वस्त्रों को उज्ज्वल बनाना नहीं जानता तो उसका होना, न होना समान ही समझो । इसी प्रकार, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र यदि अपने-अपने कर्मों को जानकर उनमें तत्पर नहीं रहते तो उनका होना

या न होना भी एक जैसा ही है। शूद्रों में द्विज-सेवा, वैश्यों में खेती, क्षत्रियों में दण्ड नीति और ब्राह्मणों में ब्रह्मचर्य, तप, वेदमन्त्र तथा सत्य की प्रमुखता है। इनमें जो क्षत्रिय धोबी के समान चारित्रिक दोष को दूर करने में निपुण है, वही प्रजापति एवं पिता है। सत्युग, त्रेता, द्वापर और कलियुग यह सभी राजा के आचरणों में निहित हैं। राजा ही युगों का प्रवर्तक है, इसलिये उसे युग कहा गया है। राजा के प्रमादी होने से चारों वर्ण, चारों वेद और चारों आश्रम मोह में पड़ जाते हैं। राजा के प्रमादी होने पर गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि, ऋक्, साम और यजुर्वेद तथा दक्षिणाओं का यज्ञ भी विकृति को प्राप्त होता है ॥४२-४६॥

राजैव कर्ता भूतानां राजैव च विनाशकः ।
 धर्मात्मा यः स कर्ता स्यादधर्मात्मा विनाशकः ॥४०॥
 राज्ञो भार्याश्च पुत्राश्च बान्धवाः सुहृदस्तथा ।
 समेत्य सर्वे शोचन्ति यदा राजा प्रमाद्यति ॥४१॥
 हस्तिनोऽश्वाश्च गावश्चाप्युष्ट्राश्चतरगर्दभाः ।
 अधर्मभूते नृपतौ सर्वे सीदन्ति जन्तवः ॥४२॥
 दुर्बलार्थं बलं सृष्टं धात्रा मान्धातरुच्यते ।
 अबलं तु महद्भूतं यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥४३॥
 यच्च भूतं सम्भजते ये च भूतास्तदन्वयाः ।
 अधर्मस्थे हि नृपतौ सर्वे शोचन्ति पार्थिव ॥४४॥
 दुर्बलस्य च यच्चक्षुर्मुनेराशीविषस्य च ।
 अविषह्यतमं मन्ये मा स्म दुर्बलमासदः ॥४५॥
 दुर्बलांस्तात बुध्येया नित्यमेवाविमानितान् ।
 मा त्वां दुर्बलचक्षूषि प्रदहेयुः सबान्धवम् ॥४६॥

राजा ही प्राणियों का जीवन दाता और राजा ही उनका विनाश करने वाला है। धर्मात्मा राजा प्रजा को जीवन देता है और पापात्मा उसे नष्ट कर डालता है। राजा के प्रमादी होने पर, उसकी भार्या, पुत्र,

बन्धु-बान्धव और सुहृदजन सभी शोक करते हैं । राजा के पाप कर्म में प्रवृत्त होने पर उसके हाथी- घोड़े, गौ, ऊँट, गधे आदि सब दुःख पाते हैं । कहा जाता है कि दुर्बल प्राणियों की रक्षा के लिये ही विधाता ने बलवान् राजा को उत्पन्न किया है । क्योंकि बल-हीन प्रजाएँ राजा के बल पर ही स्थित हैं । राजा अन्न आदि से जिनका पालन करता है अथवा जो जीव राजा से सम्बन्ध रखते हैं, वे सभी उस राजा के अधर्मी होने पर शोक करते हैं । दुर्बल मनुष्य और मुनिगण तथा विषधर साँप इन सभी की दृष्टि दुःसह होती है, इसलिये तुम किसी दुर्बल जीव को कभी मत सताना । दुर्बल प्राणी अपमान के पात्र नहीं होते, कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारी असावधानी के कारण दुर्बल प्राणियों के नेत्र तुम्हें बन्धु-बांधवों सहित भस्म कर डालें ॥५०-५६॥

न हि दुर्बलदग्धस्य कुले किञ्चित् प्ररोहति ।
 आमूलं निर्दहन्त्येव मा स्म दुर्बलमासदः ॥५७
 अबलं वै बलाच्छ्रेयो यच्चातिबलवद्बलम् ।
 बलस्याबलदग्धस्य न किञ्चिदवशिष्यते ॥५८
 विमानितो हतः क्रुष्टस्त्रातारं चेन्न विन्दति ।
 अमानुषकृतस्तत्र दण्डो हन्ति नराधिपम् ॥५९
 मा स्म तात रगो स्थित्वा भुञ्जीथा दुर्बलं जनम् ।
 मा त्वां दुर्बलचक्षूषि दहन्त्वग्निरिवाश्रयम् ॥६०
 यानि मिथ्याभिज्ञस्तानां पतन्त्यश्रूणि रोदताम् ।
 यानि पुत्रान्पशून् घनन्ति तेषां मिथ्याभिज्ञंसनात् ॥६१
 यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पौत्रेषु नप्तृषु ।
 न हि पापं कृतं कम सद्यः फलति गौरिव ॥६२
 यत्राबलो बध्यमानस्त्रातारं नाधिगच्छति ।
 महान् दैवकृतस्तत्र दण्डः पतति दारुणः ॥६३

जिसे अपनी क्रोधाग्नि में दुर्बल मनुष्य भस्म कर डालते हैं, उसके कुल में फिर अंकुर भी नहीं लगता । क्योंकि उससे तो समूल भस्म हो जाती है । इसलिये दुर्बल को कभी भी मत सताना । निर्बल प्राणी को

बलवान से श्रेष्ठ समझो । क्योंकि, निर्बल का बल बलवान् से अधिक है । निर्बल के द्वारा जलाये गये बलवान् का कुछ भी नहीं बच पाता । यदि अपमानित, हताहत अथवा तिरस्कृत दुर्बल मनुष्य राजा को अपनी रक्षा करने वाले के रूप में नहीं पाता तो वह राजा दैव के दण्ड से ही मर जाता है । तुम युद्ध में निर्बल मनुष्य को कर का शिकार मत बनाना जैसे अग्नि अपने आश्रयभूत काष्ठ को भस्म कर डालती है, वैसे ही निर्बल की दृष्टि तुम्हें भस्म न कर दे । मिथ्या दोषारोपण करने पर रोते हुए दुर्बल मनुष्यों के नेत्रों से जो अश्रु-पात होता है, उसी के द्वारा मिथ्या कलंक लगाने वालों के पुत्र और पशु नष्ट हो जाते हैं । यदि पापी का फल अपने को नहीं मिल पाता तो वह पुत्रों-पौत्रों को भोगना होता है । जैसे भूमि में बोया हुआ बीज तुरन्त फल नहीं देता, वैसे ही पाप का परिणाम भी तुरन्त नहीं होता । यद्यपि जो मनुष्य सताया जाता है, वह यदि अपना रक्षक नहीं पाता, तो सताने वाले पापी को भी दैव की ओर से दारुण दण्ड मिलता है ॥५७-६३॥

युक्ता यदा जानपदा भिक्षन्ते ब्राह्मणा इव ।
 अभीक्ष्णं भिक्षुरूपेण राजानं ध्वन्ति तादृशाः ॥६४॥
 राज्ञो यदा जनपदे बहवो राजपूरुषाः ।
 अनयेनोवपर्तन्ते तद् राज्ञः किल्बिषं महत् ॥६५॥
 यदा युक्त्या नयेदर्थान् कामादर्थवशेन वा ।
 कृपणं याचमानानां तद् राज्ञो वैशसं महत् ॥६६॥
 महान् वृक्षो जायते वर्धते च
 तं चैव भूतानि समाश्रयन्ति ।
 यदा वृक्षश्छिद्यते दह्यते च
 तदाश्रया अनिकेता भवन्ति ॥६७॥
 यदा राष्ट्रे धर्ममग्रचं चरन्ति
 संस्कारं वा राजगुणं ब्रुवाणाः ।
 तैरेवाधर्मश्चरितो धर्ममोहात्
 तूर्णं जह्यात् सुकृतं दुष्कृतं च ॥६८॥

यत्र पापा ज्ञायमानाश्चरन्ति

सतां कलिर्विन्दते तत्र राज्ञः ।

यदा राजा शास्ति नरानशिष्टां-

स्तदा राज्यं वर्धते भूमिपस्य ॥६६

यश्चामात्यान् मानयित्वा यथार्थं

मन्त्रे च युद्धे च नृपो नियुज्यात् ।

विवर्धते तस्य राष्ट्रं नृपस्य

भुङ्क्ते महीं चाप्यखिलांचि राय ॥७०

जब गाँवों के व्यक्ति समूह बना कर ब्राह्मणों के समान भीख मांगते हैं, तब उन्हीं व्यक्तियों के द्वारा राजा विनाश को प्राप्त होता है । जब राजा के अनेकों कर्मचारी देश में अन्याय कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं, तब उनका वह पाप-कर्म राजा को ही लगता है । यदि राजा या उसका कर्मचारी प्रजाओं की दीनता पूर्ण प्रार्थनाओं को ठुकरा कर किसी प्रकार उनका धन अपहरण करले तो वह राजा के विनाश का कारण होता है । किसी महान् वृक्ष के उत्पन्न होकर बढ़ जाने पर, उस पर अनेकों पक्षी बसेरा करते हैं और जब उस वृक्ष को काट कर जला देते हैं, तब उसके सभी पक्षी आश्रयहीन हो जाते हैं । जब राज्य के निवासी अपने राजा का गुण-गान करते हुए श्रेष्ठ धर्म का आचरण करते हैं, तब राजा पाप से छूट जाता है । परन्तु उन्हीं के अधर्माचरण करने के कारण वह शीघ्र ही पुण्यहीन हो जाता है । जिस राजा के आश्रय में पापी मनुष्य खुले रूप में घूमते हैं, वहाँ सत्पुरुष समझते हैं कि राजा कलियुग के घिराव में आ गया है, परन्तु, जब वह दुष्टों को दण्ड देने लगता है, तभी उसकी सर्वतोमुखी उन्नति होती है । जो राजा अपने मन्त्रियों का सम्मान करता हुआ उन्हें मन्त्रणा कार्य में नियुक्त करता है, उसके राज्य की दिनों दिन वृद्धि होती है और वह चिरकाल तक सम्पूर्ण पृथिवी पर राज्य करता है ॥६४-७०॥

यच्चापि सुकृतं कर्म वाचं चैव सुभाषिताम् ।

समीक्ष्य पूजयन् राजा धर्मं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥७१

संविभज्य यदा भुङ्क्ते नामात्यानवमन्यते ।
 निहन्ति बलिनं दृप्तं स राज्ञो धर्म उच्यते ॥७२
 त्रायते हि यदा सर्वं वाचा कायेन कर्मणा ।
 पुत्रस्यापि न मृष्येच्च स राज्ञो धर्म उच्यते ॥७३
 संविभज्ययदा भुङ्क्ते नृपतिर्दुर्बलान् नरान् ।
 तदा भवन्ति बालिनः स राज्ञो धर्म उच्यते ॥७४
 यदा रक्षति राष्ट्राणि यदा दस्यूनपोहति ।
 यदा जयति संग्रामे स राज्ञो धर्म उच्यते ॥७५
 पापमाचरतो यत्र कर्मणा व्याहृतेन वा ।
 प्रियस्यापि न मृष्येत स राज्ञो धर्म उच्यते ॥७६
 यदा शारणिकान् राजा पुत्रवत् परिरक्षति ।
 भिनत्ति च न मर्यादां स राज्ञो धर्म उच्यते ॥७७

जो राजा अपने प्रजाजनों और कर्मचारियों को पुण्य कर्म करते देख कर उनका यथायोग्य सम्मान करता है, वह श्रेष्ठ धर्म को प्राप्त कर लेता है। जब राजा सब को यथा योग्य भाग देता, अपने मन्त्रियों का अपमान नहीं करता और घमण्डी शत्रु को मार गिराता है, तब उसका वह कार्य राज-धर्म ही कहा जाता है। मन, वाणी और क्रिया के द्वारा जब वह सब की रक्षा करता है तथा अपराधी पुत्र को भी क्षमा नहीं करता, तो उसका वह कार्य भी राज-धर्म ही है। जब राजा दुर्बल मनुष्यों को आवश्यकतानुसार भोजन देकर फिर स्वयं खाता है, तब वे दुर्बल मनुष्य भी बलवान हो जाते हैं। उसे भी राज-धर्म कहते हैं। जब राजा डाकू और लुटरो को मार कर भगा देता है और युद्ध में विजय प्राप्त करता है, तब उसे राज-धर्म कहते हैं। वाणी अथवा कर्म के द्वारा पाप कर्म करने वाले प्रिय से प्रिय व्यक्ति को भी क्षमा नहीं करना चाहिये। इसी न्याय-प्रियता को राज-धर्म कहा गया है। राजा व्यापार करने वालों की जब रक्षा करता और धर्म की मर्यादा को नहीं तोड़ता तो उसका वह कार्य राज-धर्म कहा है ॥७१-७७॥

यदाऽऽप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्यजते श्रद्धयान्वितः ।

कामद्वेषावनाहत्य स राज्ञो धर्म उच्यते ॥७८

कृपणानाथवृद्धानां यदाश्रु परिमार्जति ।

हर्षं संजनयन् नृणां स राज्ञो धर्म उच्यते ॥७९

विवर्धयति मित्राणि तथारीश्रवापि कर्षति ।

सम्पूजयति साधूँश्च स राज्ञो धर्म उच्यते ॥८०

सत्यं पालयति प्रीत्या नित्यं भूमिं प्रयच्छति ।

पूजयेदतिथीन् भृत्यान् स राज्ञो धर्म उच्यते ॥८१

निग्रहानुग्रहौ चोभौ यत्र स्यातां प्रतिष्ठितौ ।

अस्मिन् लोके परेचैवराजासप्राप्नुते फलम् ॥८२

यमो राजा धार्मिकाणां मान्धातः परमेश्वरः ।

संयच्छन्भवति प्राणानसंयच्छंस्तु पातुकः ॥८३

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान् सत्कृत्यानवमन्य च ।

यदा सम्यक् प्रगृह्णाति स राज्ञो धर्म उच्यते ॥८४

जब राजा राग-द्वेष को छोड़ कर पर्याप्त दक्षिणा वाले यज्ञ करता है। तब उसका वह राज-धर्म ही है। जब वह दीन, अनाथ और वृद्ध-अशक्त पुरुषों को सान्त्वना देता और सभी के मन में प्रसन्नता उत्पन्न करता है, तब उसका वह कार्य राज-धर्म कहा जाता है। जब वह मित्रों की वृद्धि करता, साधु पुरुषों का आदर करता और शत्रुओं का नाश करता है, वह उसका राजधर्म ही कहा गया है। जब राजा सत्य का पालन करता और भूमिदान देता तथा अतिथियों और पोष्य व्यक्तियों को भोजनादि देता है, उसका वह कर्म राज-धर्म ही कहा गया है। जिस राजा में निग्रह—अर्थात् दण्ड देने की प्रवृत्ति और अनुग्रह अर्थात् दया और सहानुभूति हों वह इहलोक तथा परलोक में भी इच्छित फल प्राप्त करता है। हे मान्धाता ! राजा दुष्टों को दण्ड देने के कारण यम है और धार्मिक पुरुषों के लिये परमात्मा। वह अपनी इन्द्रियों को वश में रखता है तभी शासन करने में समर्थ होता है, परन्तु जब इन्द्रियों को

वश में नहीं रखता, तभी पतित हो जाता है। जब राजा ऋत्विक् पुरोहित और आचार्य का सत्कार करता हुआ उन्हें अपनाता है, तब वह राज-धर्म कहा जाता है ॥७८-८४॥

यमो यच्छति भूतानि सर्वाण्येवाविशेषतः ।

तथा राजानुकर्तव्यं यन्तव्या विधिवत् प्रजाः ॥८५॥

सहस्राक्षेण राजा हि सर्वथैवोपमीयते ।

स पश्यति च यं धर्मं स धर्मः पुरुषर्षभ ॥८६॥

अप्रमादेन शिक्षेथाः क्षमां बुद्धिं धृतिं मतिम् ।

भूतानां चैव जिज्ञासा साध्वसाधु च सर्वदा ॥८७॥

संग्रहः सर्वभूतानां दानं च मधुरं वचः ।

पौरजानपदाश्चैव गोप्तव्यास्ते यथासुखम् ॥८८॥

न जात्वदक्षो नृपतिः प्रजाः शक्नोति रक्षितुम् ।

भारो हि सुमहांस्तात राज्यं नाम सुदुष्करम् ॥८९॥

तदण्डविन्तृपः प्राज्ञः शूरः शक्नोति रक्षितुम् ।

न हि शक्यमदण्डेन क्लीबेनाबुद्धिनापि वा ॥९०॥

अभिरूपैः कुले जातैर्दक्षैर्भक्तैर्बहुश्रुतैः ।

सर्वा बुद्धीः परीक्षेथास्तापसाश्चमिणामपि ॥९१॥

जैसे यमराज सभी जीवों पर समान रूप से शासन करते हैं, वैसे ही राजा बिना भेद-भाव के सभी पर नियन्त्रण रखे। राजा को सहस्राक्ष इन्द्र के समान कहा जाता है। इसलिये राजा द्वारा निश्चित किया गया धर्म ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। हे राजन् ! तुम प्रमाद-रहित होकर क्षमा, विवेक, धृति, और बुद्धि की शिक्षा लो तथा सब प्राणियों की शक्ति और साधुता-असाधुता को भी समझने का यत्न करो। सब जीवों को अपने अनुकूल रखना, दान देना और मिष्ट-भाषण करना सीखो। नगर और ग्रामों की जनता को सुख प्राप्त हो और उनकी रक्षा हो सके, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये। राज्य-कार्य में अदक्ष राजा प्रजा की कभी रक्षा नहीं कर सकता। क्योंकि, राज्य का चलाना बड़ा दुष्कर है। राज्य की रक्षा तो बुद्धिमान्, शूरवीर और दण्डनीति का ज्ञाता नरेश ही कर सकता है।

दण्ड देने से हिचकने वाला क्लीव और बुद्धिहीन राजा नहीं कर सकता ।
हे राजन् ! तुम्हें रूपवान्, कुलवान्, कार्यदक्ष, राजभक्त और बहुश्रुत
मन्त्रियों के साथ रह कर तपस्वियों और आश्रम में रहने वाले मुनियों की
बुद्धि की परीक्षा करनी चाहिये ॥८५-८१॥

अतस्त्वं सर्वभूतानां धर्मं वेत्स्यसि वै परम् ।
स्वदेशे परदेशे वा न ते धर्मो विनङ्क्ष्यति ॥८२
तस्मादर्थान् कामान् धर्म एवोत्तरो भवेत् ।
अस्मिँल्लोके परे चैव धर्मात्मा सुखमेधते ॥८३
त्यजन्ति दारान् पुत्रान्श्च मनुष्याः परिपूजिताः ।
संग्रहश्चैव भूतानां दानं च मधुरा च वाक् ॥८४
अप्रमादश्च शौचं च राज्ञो भूतिकरं महत् ।
एतेभ्यश्चैव मान्धातः सततं मा प्रमादिथाः ॥८५
अप्रमत्तो भवेद् राजा छिद्रदर्शी परात्मनोः ।
नास्यच्छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेषु परमन्वितात् ॥८६
एतद् वृत्तं वासवस्य यमस्य वरुणस्य च ।
राजर्षीणां च सर्वेषां तत् त्वमप्यनुपालय ॥८७
तत् कुरुष्व महाराज वृत्तं राजर्षिसेवितम् ।
आतिष्ठ दिव्यं पन्थानमह्माय पुरुषर्षभ ॥८८

ऐसा करने से सब भूतों के परम धर्म का तुम्हें ज्ञान हो जायगा, फिर
स्वदेश में या स्वदेश से बाहर रहने पर भी तुम्हारे धर्म का क्षय नहीं होगा ।
इस प्रकार अर्थ अथवा काम की अपेक्षा धर्म की श्रेष्ठता ही सिद्ध होती है ।
धर्मात्मा मनुष्य इहलोक और परलोक दोनों में ही सुख प्राप्त करता है । यदि
मनुष्यों का सम्मान करें तो वे सम्मान देने वाले के हितार्थ अपने स्त्री-पुत्रों
का भी त्याग कर देते हैं । सब प्राणियों को अपने अनुकूल बनाये रखना,
दान देना, मधुर वचन बोलना, आलस्य का त्याग करना तथा बाह्याभ्यं-
तर से पवित्र रहना यह सभी कार्य राजा के ऐश्वर्य की वृद्धि करने वाले
हैं । हे मान्धाता ! इन कार्यों में तुम कभी प्रमाद न करना । राजा सदा
सावधान रहे । शत्रु के छिद्रों को जानने की चेष्टा करें और अपने छिद्र

शत्रु पर प्रकट न होने पावें, इसके लिए प्रयत्नशील रहे । शत्रु के छिद्रों की जानकारी हो जाय, तभी उस पर आक्रमण करे । इन्द्र, यम, वरुण और सभी राजर्षि इस नीति का पालन करते हैं, तुम्हें भी इसका निरंतर पालन करते रहना चाहिये । हे राजन् ! राजर्षियों के द्वारा प्रयुक्त आचार का सदा पालन करते हुए प्रकाशमय दिव्य मार्ग का आश्रय ग्रहण करो ॥६२-६८॥

धर्मवृत्तं हि राजानं प्रेत्य चेह च भारत ।

देवर्षिपितृगन्धर्वाः कीर्तयन्ति महौजसः ॥६९

स एवमुक्तो मान्धाता तेनोत्थ्येन भारत ।

कृतवानविशङ्कश्च एकः प्राप च मेदिनीम् ॥१००

भवानपि तथा सम्यङ्मान्धातेव महीपते ।

धर्मं कृत्वा महीरक्ष स्वर्गे स्थानमवाप्स्यसि ॥१०१

हे भारत ! महातेजस्वी देवतागण, ऋषिगण, पितरगण और गन्धर्वादि इहलोक तथा परलोक में भी धर्म में लगे रहने वाले राजा का सदा यश गाढ़े रहते हैं । भीष्मजी ने कहा—हे राजन् ! उत्थ के इस उपदेश को सुन कर मान्धाता ने शंका छोड़ कर उनकी आज्ञा का पालन किया और पृथिवी का एकछत्र राज्य प्राप्त कर लिया । हे महीपते ! मान्धाता की तरह तुम भी भले प्रकार धर्म-पालन करो और पृथिवी की रक्षा करो तो तुम्हें भी स्वर्गलोक में श्रेष्ठ स्थान की प्राप्ति होगी ॥६९-१०१॥



११-पञ्चशिख गीता

केन वृत्तेन वृत्तज्ञ जनको मिथिलाधिपः ।
 जगाम मोक्षं मोक्षज्ञो भोगानुत्सृज्य मानुषान् ॥१
 अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
 येन वृत्तेन धर्मज्ञः स जगाम महत्सुखम् ॥२
 जनको जनदेवस्तु मिथिलायां जनाधिपः ।
 और्ध्वदेहिकधर्माणामासीद् युक्तो विचिन्तने ॥३
 तस्य स्म शतमाचार्या वसन्ति सततं गृहे ।
 दर्शयन्तः पृथग्धर्मान् नानाश्रमनिवासिनः ॥४
 स तेषां प्रेत्यभावे च प्रेत्यजातौ विनिश्चये ।
 आगमस्थः स भूयिष्ठमात्मतत्त्वे न तुष्यति ॥५
 तत्र पञ्चशिखो नाम कापिलेयो महामुनिः ।
 परिधावन् महीं कृत्स्नां जगाम मिथिलामथ ॥६
 सर्वसंन्यासधर्माणां तत्त्वज्ञानविनिश्चये ।
 सुपर्यवसितार्थश्च निर्वृन्दो नष्टसंशयः ॥७

युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह ! मोक्ष धर्म के ज्ञाता मिथिला नरेश
 जनक ने सब भोगों को छोड़ कर अपने किस आचरण के द्वारा मोक्ष
 प्राप्त किया । भीष्मजी ने कहा—हे राजन् ! इस विषय में एक प्राचीन
 इतिहास का दृष्टान्त दिया जाता है, जिसमें धर्मज्ञ राजा जनक महान्
 सुखरूप मोक्ष को प्राप्त हुए थे । एक समय की बात है कि मिथिलापुरी
 में जनकवंशी राजा जनदेव का राज्य था । वे सदा आत्मा के अस्तित्व
 रूप धर्मों के चिन्तन में लगे रहते थे । उनकी सभा में सौ आचार्य रहते
 थे, वे सभी विभिन्न आश्रमों में रहते थे और धर्मोपदेश किया करते थे ।
 इस देह को त्यागने के बाद जीव का अस्तित्व रहता है या नहीं, अथवा

मरने के बाद फिर जन्म धारण करता है या नहीं, इस विषय में उन आचार्यों का जो निश्चित मत था, उस मत से राजा जनदेव को सन्तोष नहीं हो पाता था । तभी वहाँ कापिलेय महामुनि पंचशिख सम्पूर्ण पृथिवी की परिक्रमा करते हुए पधारे । वे सभी सन्यास धर्मों के जानने वाले और तत्त्वज्ञान में सुनिश्चित सिद्धान्त को पुष्ट करने वाले थे । वे सन्देह-रहित थे और निर्द्वन्द्व होकर विचरण करते थे ॥१-७॥

ऋषीणामाहुरेकं तं यं कामानावृतं नृषु ।

शाश्वतं सुखमत्यन्तमन्विच्छन्तं सुदुर्लभम् ॥८

यमाहुः कपिलं सांख्याः परमर्षिं प्रजापतिम् ।

स मन्ये तेन रूपेण विस्मापयति हि स्वयम् ॥९

आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम् ।

पञ्चस्रोतसि यः सत्रमास्ते वर्षसहस्रिकम् ॥१०

तं समासीनमागम्य कापिलं मण्डलं महत् ।

पञ्चस्रोतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः ॥११

पञ्चज्ञः पञ्चकृत्पञ्चगुणः पञ्चशिखः स्मृतः ।

पुरुषावस्थमव्यक्तं परमार्थं न्यवेदयत् ॥१२

इष्टसत्रेण संसिद्धो भूयश्च तपसाऽऽसुरिः ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्व्यक्तिं बुबुधे देवदर्शनः ॥१३

यत् तदेकाक्षरं ब्रह्म नानारूपं प्रदृष्टे ।

आसुरिर्मण्डले तस्मिन् प्रतिपेदे तदव्ययम् ॥१४

वे ऋषियों में अद्वितीय कहे जाते थे । वे कामना से सदा शून्य थे और अपने उपदेश से मनुष्यों में दुर्लभ सनातन धर्म को स्थापित करना चाहते थे । सांख्य के ज्ञातापुरुष उन्हें साक्षात् प्रजापति कपिल मुनि का ही स्वरूप कहते थे । उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि सांख्य शास्त्र के प्रवर्तक भगवान् कपिल ही पंचशिख के रूप में साक्षात् पधार कर लोगों को विस्मय में डाल रहे हों । उन्हें आसुरि मुनि का प्रथम शिष्य और चिरजीवी कहा जाता था । उन्होंने निरन्तर एक सहस्र वर्षों तक मानस यज्ञ का अनुष्ठान किया था । एक समय आसुरि मुनि अपने आश्रम

में थे । तभी कपिलमत वाले मुनियों का समुदाय वहाँ पहुँचा और प्रत्येक पुरुष के अन्तर में प्रतिष्ठित, अव्यक्त और परमार्थतत्त्व के विषय में वर्णन करने का उनसे अनुरोध करने लगा । उसी समुदाय में पाँच स्रोतों में कुशल पञ्चशिख भी थे । यह पंचरात्र आगम के विशेषज्ञ, पंचकोशों के ज्ञाता और पंचोपासनाओं के जानने वाले थे । शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधान इन पाँचों गुणों से सम्पन्न थे । पंचकोशों से भिन्न शिखा-स्थानीय ब्रह्म को पंचशिख कहा जाता है और उसका ज्ञान होने के कारण ही इन्हें पंचशिख माना गया था । आसुरि को अपने तपोबल से दिव्य दृष्टि प्राप्त हो चुकी थी, ज्ञान यज्ञ के द्वारा सिद्धि पाकर उन्होंने क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के भेद को भले प्रकार जान लिया था । जो एकमात्र अक्षर ब्रह्म विभिन्न रूपों में दिखाई देता है, आसुरि मुनि ने उस मुनि-मण्डली में उसके ज्ञान का प्रतिपादन किया ॥८-१४॥

तस्य पञ्चशिखः शिष्यो मानुष्या पयसा भृतः ।

ब्राह्मी कपिला नाम काचिदासीत् कुटुम्बिनी ॥१५

तस्याः पुत्रत्वमागम्य स्त्रियाः स पिबति स्तनौ ।

ततः स कापिलेयत्वं लेभे बुद्धिं च नैष्ठिकीम् ॥१६

एतन्मे भगवानाह कापिलेयस्य सम्भवम् ।

तस्य तत् कापिलेयत्वं सर्ववित्त्वमनुत्तमम् ॥१७

सामान्यं जनकं ज्ञात्वा धर्मज्ञो ज्ञानमुत्तमम् ।

उपेत्य शतमाचार्यान् मोहयामास हेतुभिः ॥१८

जनकस्त्वभिसंरक्तः कापिलेयानुदर्शनात् ।

उत्सृज्य शतमाचार्यान् पृष्ठतोऽनुजगाम तम् ॥१९

तस्मै परमकल्याय प्रणताय च धर्मतः ।

अब्रवीत् परमंमोक्षं यत्तत्संख्येऽभिधीयते ॥२०

जातिनिर्वेदमुक्त्वा स कर्मनिर्वेदमब्रवीत् ।

कर्मनिर्वेदमुक्त्वा च सर्वनिर्वेदमब्रवीत् ॥२१

पंचशिख उन्हीं आसुरि मुनि के शिष्य थे, जो कपिला नाम वाली एक कुटुम्बिनी ब्राह्मणी के पुत्र भाव को प्राप्त होकर उसके दूध से पले

थे । इस प्रकार कपिला-पुत्र कहे जाने से उनका नाम कापिलेय हुआ । उनकी बुद्धि ब्रह्म में निष्ठा वाली थी । कापिलेय के जन्म का यह वृत्तान्त मुझ से भगवान् ने कहा था । उनके कपिला-पुत्र कहे जाने और सर्वज्ञ होने का यही सर्व श्रेष्ठ वृत्तान्त समझना चाहिये । धर्म के जानने वाले पंचशिख ने श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त किया था । वे राजा जनदेव को सौ आचार्यों के प्रभाव में जान कर सभा में पधारे और अपने युक्तियुक्त वचनों के द्वारा उन सब आचार्यों को भी मोहित कर दिया । उस समय महर्षि पंचशिख का ज्ञान देख कर महाराज जनदेव उनके प्रति आकर्षित होगये और अपने सौ आचार्यों को छोड़ कर, उन्हीं के पीछे-पीछे चलने लगे । जब मुनिश्रेष्ठ पंचशिख ने राजा जनक को धर्मानुसार अपने चरणों में पड़ा देखा, तब उन्होंने, राजा को योग्य अधिकारी समझ कर सांख्य सम्मत परम मोक्ष का उपदेश दिया । प्रथम उन्होंने 'जाति-निर्वेद' का वर्णन किया, फिर 'कर्म-निर्वेद' का उपदेश करके 'सर्व निर्वेद' का प्रतिपादन किया ॥१५-२१॥

यदर्थं धर्मसंसर्गः कर्मणां च फलोदयः ।

तमनाश्वासिकं मोहं विनाशि चलमध्रुवम् ॥२२

दृश्यमाने विनाशे च प्रत्यक्षे लोकसाक्षिके ।

आगमात् परमस्तीति ब्रूवन्नपि पराजितः ॥२३

अनात्माह्यात्मनोमृत्यु क्लेशोमृत्युर्जरामयः ।

आत्मानं मन्यते मोहात् तदसम्यक् परं मतम् ॥२४

अथ चेदेवमप्यस्ति यल्लोके नोपपद्यते ।

अजरोऽयममृत्युश्च राजासौ मन्यते यथा ॥२५

अस्ति नास्तीति चाप्येतत् तस्मिन्नसति लक्षणम् ।

किमधिष्ठाय तद् ब्रूयाल्लोकयात्रविनिश्चयम् ॥२६

प्रत्यक्षं ह्येतयोर्मूलं कृतान्तैति ह्ययोरपि च ।

प्रत्यक्षेणागमो भिन्नः कृतान्तो वा न किञ्चन ॥२७

यत्र यत्रानुमानेऽस्मिन् कृतं भावयतोऽपि च ।

नान्योजीवः शरीरस्य नास्तिकानां मते स्थितः ॥२८

उन्होंने कहा कि जिस भोग के लिये धर्म का आभरण किया जाता है और जो कर्म फल के रूप में उदय होता है, वह भोग इहलोक का अथवा परलोक का भी नाशवान् है। वह मोह रूप, चंचल और अस्थिर है। उसमें अनुरक्ति उचित नहीं है। कुछ नास्तिकों का कहना है कि देह रूपी आत्मा को नष्ट होते प्रत्यक्ष देखा जाता है। सम्पूर्ण लोक इसका साक्षी है। फिर भी यदि कोई शास्त्र प्रमाण की ओट में शरीर से भिन्न आत्मा का अस्तित्व प्रतिपादन करता है तो उसका कहना लोका-नुभव के विरुद्ध होने से व्यर्थ है और उसे अपने कथन में पराजित ही समझना चाहिये। आत्मा के स्वरूपभूत देह का न रहना ही उसकी मृत्यु है। इस प्रकार दुःख, बुढ़ापा और विभिन्न प्रकार के रोग, ये सब आत्मा का मरण ही है। फिर भी जो आत्मा को देह से भिन्न समझते हैं, उनका समझना उचित नहीं है। जो वस्तु लोक में संभव नहीं है, उसका अस्तित्व माना जाय तो जो बन्दीजन राजा को अजर-अमर कहते हैं, उनकी वह बात भी सत्य माननी होगी। आत्मा है या नहीं है, इस प्रकार का संशय उत्पन्न होने पर उसके अस्तित्व का अनुमान करने लगे तो कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता जो निर्दोष हो, तो किस प्रकार लोक व्यवहार का निश्चय हो सकता है। अनुमान और आगम का भी मूल प्रत्यक्ष प्रमाण ही है। यदि यह दोनों प्रत्यक्ष अनुभव के विरुद्ध हों तो वे व्यर्थ समझने चाहिये अर्थात् उन्हें प्रामाणिक नहीं मान सकते। जहाँ कहीं भी ईश्वर, अदृष्ट अथवा नित्य आत्मा को सिद्ध करने के लिये अनुमान किया जाता है, वहाँ साध्य-साधना वाली भावना भी निरर्थक है। इसलिये नास्तिकों के अनुसार जीवात्मा का देह से भिन्न कोई अस्तित्व नहीं है ॥२२-२८॥

रेतो वटकणीकायां घृतपाकाधिवासनम् ।

जातिःस्मृतिरयस्कान्तःसूर्यकान्तोऽम्बुभक्षणम् ॥२९॥

प्रेतीभूतेऽत्ययश्च देवताद्युपयाचनम् ।

मृते कर्मनिवृत्तिश्च प्रमाणमिति निश्चयः ॥३०॥

नन्वेते हेतवः सन्ति ये केचिन्मूर्तिसंस्थिताः ।

अमृतस्य हि मूर्तेन सामान्यं तोपपद्यते ॥३१॥

अविद्या कर्म तृष्णा च केचिदाहुः पुनर्भवे ।
 कारणं लोभमोहौ तु दोषाणां तु निषेवणम् ॥३२
 अविद्यां क्षेत्रमाहुर्हि कर्म बीज तथा कृतम् ।
 तृष्णा संजननं स्नेह एष तेषां पुनर्भवः ॥३३
 तस्मिन् गूढे च दग्धे च भिन्ने मरणधर्मिणि ।
 अन्योऽस्माज्जायते देहस्तमाहुः सत्त्वसंक्षयम् ॥३४
 यदा स्वरूपतश्चान्यो जातितः शुभतोऽर्थतः ।
 कथमस्मिन् स इत्येवं सर्वं वा स्यादसंहितम् ॥३५

जैसे वट वृक्ष के बीज में पत्र, पुष्प, फल, मूल और त्वचा आदि का अस्तित्व छिपा होता है, जैसे गाय के द्वारा खायी जाने वाली घास में उसके दूध का अस्तित्व होता है, जैसे अनेक औषधियों में अनेक शक्ति रहती हैं, वैसे ही वीर्य से शरीर और उसमें चैतन्यता भी प्रकट होती है। इसके अतिरिक्त स्मृति, अस्यकान्त मणि, सूर्यकान्त मणि और बड़वानल के द्वारा समुद्र से जल का पिया जाना आदि दृष्टान्त भी चैतन्य को देह से पृथक् सिद्ध नहीं कर सकते। उक्त मत के विपरीत—मृतक देह में चेतना का न होना देखा जाता है, वही देह से भिन्न आत्मा के होने का प्रमाण है। नास्तिक पुरुष भी रोग आदि को दूर करने के लिये मन्त्र तन्त्र और जप आदि का प्रयोग करते हैं। यदि शरीर के मरने के साथ आत्मा का मरना भी मान लें तो उसके द्वारा किये गये कर्मों का नष्ट होना भी मानना पड़ेगा और शुभ अशुभ कर्मों का फल भोगने वाला भी कोई नहीं रहेगा। और देह के उत्पन्न होने पर बिना किये हुए कर्म का ही सुख-दुःख रूप भोग प्राप्त होने का प्रसंग उपस्थित होगा। इससे देह के अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। नास्तिकों ने मूर्त्त पदार्थों के ही दृष्टान्त दिये हैं। मूर्त्त पदार्थ जड़ होते हैं और उनसे मूर्त्त जड़ पदार्थ ही उत्पन्न हो सकते हैं। उन दृष्टान्तों से यही सिद्ध होता है। आत्मा अमूर्त्त है और देह मूर्त्त है, इसलिये अमूर्त्त की मूर्त्त से समानता नहीं हो सकती और न मूर्त्त जड़ के संयोग से अमूर्त्त आत्मा ही उत्पन्न

हो सकती है। कुछ लोगों के मत में अविद्या, कर्म, तृष्णा, लोभ, मोह और दोषों का सेवन पुनर्जन्म का कारण है। वे अविद्या को क्षेत्र और पूर्वजन्म के कर्म को बीज कहते हैं। तृष्णा से अंकुर और स्नेह से जल होता है। उनके मत में पुनर्जन्म का प्रकार यही है। वे अविद्यादि कारण सुषुप्ति और प्रलय में भी संस्कार रूप से स्थित रहते हैं। उनके रहते हुए एक शरीर के नष्ट होने पर दूसरा शरीर उत्पन्न हो जाता है। जब ज्ञान के द्वारा अविद्यादि भस्म हो जाते हैं, तब शरीर के नष्ट होने पर सत्त्व का क्षय रूप मोक्ष हो जाता है—ऐसा वे कहते हैं। क्षणिक विज्ञानवादी मानते हैं कि शरीर और जीव के क्षणिक होने पर पूर्व क्षणवर्ती देह, रूप, जाति, धर्म और प्रयोजन सब प्रकार भिन्न हैं। ऐसी दशा में यह वही है ऐसी 'प्रतिभिज्ञा' होना संभव नहीं। यदि संभव मानें तो भोग, मोक्ष आदि की प्राप्ति भी बिना इच्छा किये ही हो जानी माननी होगी ॥२६-३५॥

एवं सति च का प्रीतिर्दानविद्यातपोबलैः ।
यदस्याचरितं कर्म सर्वमन्यत् प्रपद्यते ॥३६
अपि ह्ययमिहैवान्यैः प्राक्कृतैर्दुःखितो भवेत् ।
सुखितो दुःखितो वापि दृश्यादृश्यविनिर्णयः ॥३७
तथा हि मुसलैर्हन्त्युः शरीरं तत् पुनर्भवेत् ।
पृथग्ज्ञानं यदन्यच्च येनैतन्नोपपद्यते ॥३८
ऋतुसंवत्सरौ तिष्ठयः शीतोष्णोऽथ प्रियाप्रिये ।
यथातीतानि पश्यन्ति तादृशः सत्त्वसंक्षयः ॥३९
जरयाभिपरीतस्य मृत्युना च विनाशिना ।
दुर्बलं दुर्बलं पूर्वं गृहस्येव विनश्यति ॥४०
इन्द्रियाणि मनो वायुः शोणितं मांसमस्थि च ।
आनुपूर्व्या विनश्यन्ति स्वं धातुमुपयान्ति च ॥४१
लोकयात्राविघातश्च दानधर्मफलागमे ।
तदर्थं वेदशब्दाश्च व्यवहाराश्च लौकिकाः ॥४२

यदि ऐसा है तो तप, दान, विद्या और बल से भी क्या प्रसन्नता होनी है ? क्योंकि, उसका किया हुआ सभी कर्म दूसरे को ही अपना फल देने वाला हो जायेगा । इस लोक में एक पुरुष दूसरे पुरुषों के अशुभ कर्म से दुःखी और शुभ कर्म से सुखी कैसे हो सकता है ? जब कि दृश्य और अदृश्य का निर्णय भी पूर्व क्षण में दृश्य का वर्तमान में अदृश्य हो जाना और पूर्वक्षण में अदृश्य का वर्तमान में दृश्य हो जाना ही होगा । यदि कहें कि सजातीय विज्ञान धारा में ही कर्म और उसका भोग मिल सकता है, तब हमें पूछना पड़ेगा कि आपके मत में उत्पन्न सजातीय विज्ञान का उपादान क्या है ? यदि पूर्वक्षण के विज्ञान को ही उपादान कहें, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वह विज्ञान ही नष्ट हो गया और यदि उसका नष्ट होना ही परक्षणवर्ती विज्ञान की उत्पत्ति में कारण है तो किसी के मूशल से मार डाले जाने पर, उस मरे हुए शरीर से ही अन्य शरीर की फिर उत्पत्ति होजानी चाहिये । ऋतु, संवत्सर, युग, शीत, ऊष्मा, प्रिय और अप्रिय यह सभी आते और चले जाते हैं और पुनः आजाते हैं । यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है, वैसे ही सत्त्वसंक्षय स्वरूप मोक्ष भी आकर निवृत्त हो सकती है । जैसे मकान के कमजोर भाग पहिले गिरने लगते हैं और फिर धीरे-धीरे मकान ही गिर जाता है, वैसे ही बुढ़ापा और मृत्यु से आक्रान्त शरीर के कमजोर अंगों के क्षीण होते होते एक दिन पूरा शरीर ही नष्ट हो जाता है । इन्द्रिय, मन, प्राण, रक्त, मांस और हड्डी यह सब क्रमशः नष्ट होते-होते अपने-अपने कारणों में मिल जाते हैं । आत्मा का अस्तित्व न मानने से लोक-यात्रा का निर्वाह भी नहीं हो सकता । दान और अन्य फल वाले कर्मों में भी विश्वास नहीं रहेगा, क्योंकि वैदिक शब्द और लोक-व्यवहार सभी कुछ आत्मा को सुख देने के लिये ही तो है ॥३६-४२॥

इति सम्यङ्मनस्येते बहवः सन्ति हेतवः ।

एतदस्तीदमस्तोति न किञ्चित्प्रतिदृश्यते ॥४३

तेषां विमृशतामेव तत् तत्समभिधावताम् ।

क्वचिन्निविशते बुद्धिस्तत्र जोर्यति वृक्षवत् ॥४४

एवमर्थैरनर्थैश्च दुःखिताः सर्वजन्तवः ।

आगमैरपकृष्यन्ते हस्तिर्यैर्हस्तिनो यथा ॥४५॥

अर्थास्तथात्यन्तसुखावहांश्च

लिप्सन्त एते बहवो विशुष्काः ।

महत्तरं दुःखमनुप्रपन्ना

हित्वाऽऽमिषं मृत्युवशं प्रयान्ति ॥४६॥

विनाशिनो ह्यध्रुवजीवितस्य

किं बन्धुभिर्भिन्नपरिग्रहैश्च ।

विहाय यो गच्छति सर्वमेव

क्षणेन गत्वा न निवर्तते च ॥४७॥

भूव्योमतोयानलवायवोऽपि

सदा शरीरं प्रतिपालयन्ति ।

इतीदमालक्ष्य रतिः कुतो भवेद्

विनाशिनोऽप्यस्य न शर्मं विद्यते ॥४८॥

इदमनुपधिवाक्यमच्छलं

परमनिरामयमात्मसाक्षिकम् ।

नरपतिरभिवीक्ष्य विस्मृतः

पुनरनुयोक्तुमिदं प्रचक्रमे ॥४९॥

इस प्रकार के अनेकों तर्क मन में उत्पन्न होते हैं, परन्तु, उनसे आत्मा के अस्तित्व के होने या न होने का निर्णय होता हुआ दिखाई नहीं देता । इस प्रकार भिन्न-भिन्न विचारों की ओर दौड़ने वाली बुद्धि कहीं एक स्थान में प्रविष्ट होती है और कहीं वृक्ष के समान जड़ जमाये हुए जीर्ण हो जाती है । इस प्रकार के अर्थ और अनर्थ करने से सभी प्राणी दुःखित रहते हैं । उन्हें शास्त्र के वचन से ही मार्ग पर लाते हैं । जैसे महावत अंकुश के द्वारा हाथी को ठीक मार्ग पर ले जाता है । अनेकों शुष्क हृदय पुरुष अत्यन्त सुख देने वाले विषयों की लिप्सा रखते हैं । परन्तु यह लिप्सा उन्हें घोर दुःखों की प्राप्ति कराने वाली हो जाती है

और अन्त में उन्हें भोग छोड़ कर मृत्यु के वश में पड़ना होता है। जो शरीर एक दिन नष्ट होगा ही, जिसके जीवन का कोई निश्चय नहीं, ऐसे इस अनित्य शरीर को प्राप्त कर इन बन्धु-बान्धवों और स्त्री-पुत्र आदि से क्या लाभ होगा ? ऐसा विचार कर जो मनुष्य इन सभी को, विरक्त होकर त्याग देता है, उसे मरने पर इस लोक में जन्म-धारण नहीं करना होता। पृथिवी, आकाश, जल, अग्नि और वायु शरीर की सदा रक्षा करते रहते हैं, इसे भले प्रकार जान लेने पर इसके प्रति आसक्ति किस प्रकार हो सकेगी ? एक दिन मृत्यु के मुख में पड़ने वाले शरीर से सुख कहाँ हो सकता है ? महर्षि पंचशिख का यह उपदेश भ्रम और वंचना हीन, परम निर्दोष और आत्मा का साक्षात्कार कराने वाला था। इसे सुनकर महाराज ने अत्यन्त विस्मयपूर्वक पुनः प्रश्न करने का विचार किया ॥४३-४६॥

जनको जनदेवस्तु ज्ञापितः परमर्षिणा ।

पुनरेवानुपप्रच्छ साम्पराये भवाभवौ ॥५०

भगवन् यदि न प्रेत्य संज्ञा भवति कस्यचित् ।

एवं सति किमज्ञानं ज्ञानं वा किं करिष्यति ॥५१

सर्वमुच्छेदनिष्ठं स्यात् पश्य चैतद् द्विजोत्तम ।

अप्रमत्तः प्रमत्तो वा किं विशेषं करिष्यति ॥५२

असंसर्गो हि भूतेषु संसर्गो वा विनाशिषु ।

कस्मै क्रियेत कल्प्येत निश्चयः कोऽत्र तत्त्वतः ॥५३

तमसा हि प्रतिच्छन्नं विभ्रान्तमिव चातुरम् ।

पुनःप्रशमयन् वाक्यैः कविः पञ्चशिखोऽब्रवीत् ॥५४

उच्छेदनिष्ठा नेहास्ति भावनिष्ठा न विद्यते ।

अयं ह्यपिसमाहारः शरीरेन्द्रियचेतसाम् ।

वर्तते पृथगन्योन्यमप्यपाश्रित्य कर्मसु ॥५५

धातवः पञ्च भूतेषु खं वायुज्योतिषो धरा ।

ते स्वभावेन तिष्ठन्ति वियुज्यन्ते स्वभावतः ॥५६

भीष्मजी ने कहा—हे राजन् ! महर्षि पंचशिख के इस उपदेश को सुन कर राजा जनदेव जनक ने मरने के बाद आत्मा के अस्तित्व या विनाश-विषयक प्रश्न को पुनः किया । राजा ने कहा—हे भगवन् ! यदि मरने के बाद किसी की कोई विशेष संज्ञा नहीं रहती तो उस दशा में ज्ञान या अज्ञान क्या करेगा ? हे द्विचोत्तम ! मनुष्य की मृत्यु के साथ ही उसके सम्पूर्ण साधन का नाश हो जाता है, फिर वह पहिले से सावधान हो अथवा असावधान हो, उसे क्या विशेष लाभ हो सकेगा? मरने के बाद इन नाशवान् पंच महाभूतों से जीव का कोई सम्बन्ध रहता है या नहीं ? यदि रहता है तो क्यों? इस सम्बन्ध में वास्तविक रूप से क्या निश्चय हो सकता है ? भीष्मजी ने कहा—हे राजन् ! महात्मा पंचशिख ने राजा की बुद्धि को अज्ञान रूप अन्धकार से आवृत्त और आत्मा के नष्ट होने की संभावना से भ्रान्त समझकर मीठे वचनों से उन्हें सान्त्वना देते हुई कहा— हे राजन् ! मरने के बाद न तो आत्मा नष्ट होता है और न वह किसी विशेष आकार में बदलता है, यह प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाला शरीर, इंद्रिय और मन समूह ही है । यद्यपि यह सब भी अलग-अलग हैं, फिर भी एक दूसरे के आश्रय से ही कर्मों में लगते हैं । प्राणियों के देह में उपादान रूप में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी यह पाँच धातु स्वभाव से ही मिलती और अलग-अलग हो जाती हैं ॥५०-५६॥

आकाशो वापुरुष्मा च स्नेहो यश्चापि पार्थिवः ।

एष पञ्चसमाहारः शरीरमपि नैकधा ॥५७

ज्ञानमूष्मा च वायुश्च त्रिविधः कार्यसंग्रहः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च स्वभावश्चेतना मनः ।

प्राणापानौ विकारश्च धातवश्चात्र निःसृताः ॥५८

श्रवणं स्पर्शनं जिह्वा दृष्टिर्नासा तथैव च ।

इन्द्रियाणीति पञ्च ते चित्तपूर्व गता गुणाः ॥५९

तत्र विज्ञानसंयुक्ता त्रिविधा चेतना ध्रुवा ।

सुखदुःखेति यामाहुरदुःखामसुखेति च ॥६०

शब्दः स्पर्शं च रूपं च रसो गन्धश्च मूर्तयः ।

एते ह्यामरणात् पञ्च षड्गुणा ज्ञानसिद्धये ॥६१॥

तेषु कर्मविसर्गश्च सर्वतत्त्वार्थनिश्चयः ।

तमाहुः परमं शुक्रं बुद्धिरित्यव्ययं महत् ॥६२॥

इमं गुणसमाहारमात्यभावेन पश्यतः ।

असम्यग्दर्शनैर्दुःखमनन्तं नोपशाम्यति ॥६३॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी—इन पाँचों के समाहार से ही अनेक प्रकार के शरीर बने हैं। देह में ज्ञान, ऊष्मा और वायु का समुदाय सभी कर्मों का संग्रह करने वाले हैं। क्योंकि इन्हीं के द्वारा इन्द्रिय, इन्द्रिय के विषय, स्वभाव, चेतना, मन, प्राण, अपान, विकार तथा धातु प्रकट होते हैं। चित्त से संयुक्त हुए शब्दादि गुण श्रवण, त्वचा, जिह्वा, नेत्र और नासिका इन पंचज्ञानेन्द्रियों के विषय होते हैं। अदुःखा, असुखा और सुख-दुःखा के भेद से विज्ञानयुक्त चेतना तीन प्रकार मानी गयी है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और मूर्त द्रव्य यह छहों गुण देहधारी के मरने से पहले तक इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान को सिद्ध करने वाले होते हैं। श्रोत्रादि इंद्रियों में उनके विषयों का त्याग करने से सभी तत्त्वों के निश्चय रूपी मोक्ष की प्राप्ति होती है। उस तत्त्व का निश्चय ही श्रेष्ठ ज्ञान और अविनाशी ब्रह्म-पद कहा गया है। जो गुणों के समुदाय रूप इस देह को ही आत्मा मान लेते हैं, उन्हें मिथ्या ज्ञान से ही अनन्त दुःख भोगने होते हैं, फिर भी उन दुःखों की परम्परा नष्ट नहीं होती ॥५७-६३॥

अनात्मेति च यद् दृष्टं तेनाहं न ममेत्यपि ।

वर्तते किमधिष्ठानात् प्रसक्ता दुःखसंसृतिः ॥६४॥

अत्र सम्यग्बोधो नाम त्यागशास्त्रमनुत्तमम् ।

शृणु यत् तव मोक्षाय भाष्यमाणं भविष्यति ॥६५॥

त्याग एवहि सर्वेषां युक्तानामपि कर्मणाम् ।

नित्यं मिथ्याविनीतानां क्लेशो दुःखवहोमतः ॥६६॥

द्रव्यत्यागे तु कर्माणि भोगत्यागे व्रतान्यपि ।

सुखत्यागे तपो योगं सर्वत्यागे समापना ॥६७॥

तस्य मार्गोऽयमद्वैधः सर्वत्यागस्य दर्शितः ।

विप्रहाणाय दुःखस्य दुर्गतिस्त्वन्यथा भवेत् ॥६८

पञ्चज्ञानेन्द्रियाण्युक्त्वा मनःषष्ठानि चेतसि ।

बलषष्ठानि वक्ष्यामि पञ्चकर्मैन्द्रियाणि तु ॥६९

हस्तौ कर्मैन्द्रियं ज्ञेयमथ पादौ गतीन्द्रियम् ।

प्रजनानन्दयोः श्रोत्रो निसर्गं पायुरिन्द्रियम् ॥७०

इसके विपरीत, जो इस दृश्य प्रपंच को अनात्म समझ चुके हैं वे इस के प्रति ममता या अहंकार नहीं करते, तो फिर उन्हें दुःखों की परम्परा ही क्यों प्राप्त होगी ? उन दुःखों के लिये आश्रय ही क्या रह जाता है ? अब मैं सम्यग्बोध नामक परम श्रेष्ठ सांख्य शास्त्र का वर्णन करता हूँ । उसमें त्याग ही प्रमुख है । उसका उपदेश तुम्हारे लिये मोक्ष का देने वाला होगा, उसे तुम ध्यान से सुनो । मोक्ष-कामी पुरुषों को सभी कर्मों में अहंता, ममता, आसक्ति और कामना का त्याग करना चाहिये । इनको त्यागे बिना ही जो विनीत बनते हैं, उन्हें अविद्या जनित दुःख देने वाले क्लेशों की प्राप्ति होती है । द्रव्य का त्याग करने के लिये यज्ञादि कर्म, भोग का त्याग करने के लिये व्रत और देह के सुखों का त्याग करने के लिये तप और सर्व त्याग के हेतु योगानुष्ठान की शास्त्रों ने व्यवस्था दी है । त्याग की यही चरम सीमा है । एक मात्र सर्वत्याग का मार्ग ही दुःखों से मुक्ति पाने के लिये श्रेष्ठ कहा गया है । जो लोग इसके विपरीत आचरण करते हैं, उन्हें दुर्गति भोगनी होती है । मन सहित पंच ज्ञानेन्द्रिय बुद्धि में स्थित हैं । उनका वर्णन करके अब पंचकर्मैन्द्रिय का वर्णन करता हूँ । इनके साथ प्राण शक्ति को छठी समझना चाहिये । दोनों हाथ कार्य करने वाली इन्द्रिय है । दोनों पाँव चलने का कार्य करने वाली इन्द्रिय है । उपस्थ मंथुनजनित आनन्द और सन्तान प्राप्त कराने वाली इन्द्रिय है । पायु मल त्याग करने वाली इन्द्रिय कही गयी है ॥६४ ७०॥

वाक् च शब्दविशेषार्थमिति पञ्चान्वितं विदुः ।

एवमेकादशैतानि बुद्ध्याऽऽशु विसृजेन्मनः ॥७१

कणौ शब्दश्च चित्तं च त्रयः श्रवणसंग्रहे ।
 तथा स्पर्शे तथा रूपे तथैव रसगन्धयोः ॥७२
 एवं पञ्चत्रिका ह्येते गुणास्तदुपलब्धये ।
 येनायं त्रिविधो भावः पर्यायात् समुपस्थितः ॥७३
 सात्त्विको राजसश्चापि तामसश्चापि ते त्रयः ।
 त्रिविधा वेदना येषु प्रसूताः सर्वसाधनाः ॥७४
 प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः सुखं संशान्तचित्तता ।
 अकुतश्चित्तकुतश्चिद्वाचिन्तितः सात्त्विको गुणः ॥७५
 अतुष्टिः परित्तापश्च शोको लोभस्तथाक्षमा ।
 लिङ्गानि रजसस्तानि दृश्यन्ते हेत्वहेतुतः ॥७६
 अविवेकस्तथा मोहः प्रमादः स्वप्नतन्द्रिताः ।
 कथंचिदपि वर्तन्ते विविधास्तामसा गुणाः ॥७७

वाक् शब्द विशेष का उच्चारण करने वाली इन्द्रिय है । इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय कहे गये हैं । मन सहित यह ग्यारह इंद्रियाँ हैं । बुद्धि के द्वारा इनके विषयों का शीघ्र ही त्याग कर दे । सुनने के समय श्रोत्रेन्द्रिय, शब्द रूपी विषय और चित्त रूप कर्त्ता, इन तीनों का संयोग आवश्यक है । इसी प्रकार स्पर्श करने, रूप देखने, रस-पान करने और सूँघने के समय भी इन्द्रिय, उसका विषय और चित्त इन तीनों का संयोग होना अपेक्षित है । इस प्रकार तीन-तीन के यह पाँच समूह हैं, इन सब को गुण कहा जाता है । इनसे शब्दादि विषयों का ग्रहण होता है, जिससे यह कर्त्ता, कर्म और करण रूपी तीन प्रकार के भाव क्रमशः उपस्थित होते रहते हैं । इनमें से प्रत्येक के सात्त्विक, राजस, तामस तीन-तीन भेद होते हैं । उनके अनुभव भी तीन प्रकार के हैं । यह हर्ष, प्रीति आदि सब भावों को सिद्ध करने वाले हैं । हर्ष, प्रीति, आनन्द, सुख और चित्त की शान्ति, यह सब भाव स्वतः हों अथवा कारणवश, सात्त्विक ही कहे गये हैं । असन्तोष, सन्ताप, शोक, लोभ और असहनशीलता-यह किसी कारण से हों या स्वतः हों, रजोगुण कहे जाते हैं । अविवेक, मोह, प्रमाद, स्वप्न

और आलस्य, स्वयं हो या कारणवश, परन्तु तमोगुण के रूप ही हैं
॥७१-७७॥

अत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत् ।

वर्तते सात्त्विको भाव इत्यपेक्षेत तत् तथा ॥७८

यत् त्वसंतोषसंयुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।

प्रवृत्तं रज इत्येवं ततस्तदपि चिन्तयेत् ॥७९

अथ यन्मोहसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत् ।

अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥८०

श्रोत्रं व्योमाश्रितं भूतं शब्दः श्रोत्रं समाश्रितः ।

नोभयं शब्दविज्ञाने विज्ञानस्येतरस्य वा ॥८१

एवं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चेति पञ्चमी ।

स्पर्शं रूपे रसे गन्धे तानि चेतो मनश्च तत् ॥८२

स्वकर्मयुगपद्भावो दशस्वेतेषु तिष्ठति ।

चित्तमेकादशं विद्धि बुद्धिर्द्वादशमी भवेत् ॥८३

तेषामयुगपद्भाव उच्छेदो नास्ति तामसे ।

आस्थितोयुगपद्भावो व्यवहारः स लौकिकः ॥८४

इनमें शरीर या मन में प्रीति के संयोगसे उत्पन्न होने वाला सात्त्विक भाव है । उस सतोगुण की वृद्धि ही समझना चाहिये । अपने लिये असंतोष जनक अथवा, अप्रीति करने वाले भाव को रजोगुण की प्रवृत्ति और वृद्धि माननी चाहिये । शरीर या मनमें तर्क-रहित, अज्ञेय और मोह मुक्त जो भाव प्रकट हो, उसे तमोगुण का रूप ही समझो । शब्दका आधार श्रोत्र है और श्रोत्र का आधार आकाश, इसलिये वह आकाश रूप ही माना गया है । इस दशा में शब्द का ज्ञान होने के काल में आकाश और श्रोत्र दोनों ही ज्ञान अज्ञान के विषय नहीं होते । इसी प्रकार त्वचा, चक्षु, जिह्वा और नासिका भी स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के आश्रय तथा अपने आश्रय भूत पंच महा भूतों के स्वरूप हैं । इन सब का कारण मन होने से उन सभी को मन स्वरूप ही समझना चाहिये । यह दसों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को एक साथ ग्रहण करने में भी समर्थ है । ग्यारहवाँ मन और बारहवीं बुद्धि को

इन्द्रियों का सहायक मानना चाहिये । तमोगुण से उत्पन्न सुषुप्ति-काल में जब इन्द्रियाँ अपने कारण में विलीन हो जाती हैं, तब विषयों का ग्रहण नहीं कर सकतीं, परन्तु उनका नाश उस समय भी नहीं होता । उनमें अपने विषयों को एक साथ ग्रहण करने की शक्ति लौकिक व्यवहार में ही होती है ॥७८-८४॥

इन्द्रियाण्यपि सूक्ष्माणि दृष्ट्वा पूर्वश्रुतागमात् ।
चिन्तयन्नानुपर्येति त्रिभिरेवान्वितो गुणैः ॥८५॥
यत् तमोपहतं चित्तमाशु संहारमध्रुवम् ।
करोत्युपरमं काये तदाहुस्तामसं बुधाः ॥८६॥
यद् यदागमसंयुक्तं न कृच्छ्रमनुपश्यति ।
अथ तत्राप्युपादत्ते तमोऽव्यक्तमिवानृतम् ॥८७॥
एवमेष प्रसंख्यातः स्वकर्मप्रत्ययो गुणः ।
कथञ्चिद् वर्तते सम्यक् केषांचिद् वा निवर्तते ॥८८॥
एतदाहुः समाहारं क्षेत्रमध्यात्मचिन्तकाः ।
स्थितो मनसि यो भावः स वै क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥८९॥
एवं सति क उच्छेदः शाश्वतो वा कथं भवेत् ।
स्वभावाद् वर्तमानेषु सर्वभूतेषु हेतुतः ॥९०॥
यथार्णवगता नद्यो व्यक्तीर्जहति नाम च ।
नदाश्च ता नियच्छन्ति तादृशः सत्त्वसंक्षयः ॥९१॥

जाग्रत् अवस्था के देखने-सुनने से पहिले की वासना के कारण शब्दादि विषयों की उपलब्धि से स्वप्न देखने वाला मनुष्य सूक्ष्म ग्यारह इन्द्रियों को देख कर विषयोपभोग की भावना करता हुआ सत्त्वादि गुणों से युक्त होकर शरीर के भीतर ही स्वेच्छा पूर्वक विचरता रहता है । सुषुप्ति के समय जब चित्त तमोगुणी होकर अपने स्वभाव का संहार कर के इन्द्रिय के व्यापार को रोक देता है, तब जिस सुख की प्राप्ति होती है, उसे ज्ञानीजन तामस सुख कहते हैं । सुषुप्ति के समय स्वप्न देखने वाला व्यक्ति प्राप्त दुःख को प्रत्यक्ष के समान अनुभव नहीं करने के कारण उस समय भी तमोगुण युक्त झूठे सुख का अनुभव करता है । इस प्रकार

अपने कर्मानुसार ही गुण-प्राप्ति के विषय में कहा है। अज्ञानियों के यह गुण सम्यक् रूप से प्रवृत्त होते हैं, परन्तु ज्ञानियों के गुण निवृत्त हो जाते हैं। अध्यात्मतत्त्व के चिन्तक विज्ञान इस देह और इन्द्रियों के संघात को क्षेत्र और मन में स्थित चेतन सत्ता को क्षेत्रज्ञ अथवा जीवात्मा कहते हैं। इस प्रकार आत्मा का विनाश कैसे होगा ? या हेतुतः प्रकृति के अनुसार प्रवृत्त पंच महाभूतों के साथ उस आत्मा का शाश्वत संबन्ध भी कैसा रहेगा। जैसे नद और नदियाँ समुद्र में मिल कर अपने नाम और रूपको त्याग देती हैं अथवा बड़े-बड़े नद छोटी-छोटी नदियों को अपने में समा लेते हैं, वैसे जीवात्मा परमात्मा में समा जाता है, इसी को मोक्ष कहा गया है ॥८५-९१॥

एवं सति कुतः संज्ञा प्रेत्यभावे पुनर्भवेत् ।
प्रतिसम्मिश्रिते जीवेऽगृह्यमाणे च सर्वतः ॥८२

इमां च यो वेद विमोक्षबुद्धि-
मात्मानमन्विच्छति चाप्रमत्तः ।

न लिप्यते कर्मफलैरनिष्टैः
पत्रं बिसस्येव जलेन सिक्तम् ॥८३

दृढैर्हि पाशैर्बहुभिर्विमुक्तः
प्रजानिमित्तैरपि देवतैश्च ।

यदा ह्यसौ सुखदुःखे बहति
मुक्तस्तदाग्र्यां गतिमेत्यलिङ्गः ॥८४

श्रुतिप्रमाणागममङ्गलैश्च
शेते जरामृत्युभयादभीतः ।

क्षीरो च पुण्ये विगते च पापे
ततो निमित्ते च फले विनष्टे ।

अलेपमाकाशमलिङ्गमेव-
मास्थाय पश्यन्ति महत्यसक्ता ॥८५

यथोर्णनाभिः परिवर्तमान-
स्तन्मुख्ये तिष्ठति पात्यमानः ।

तथा विमुक्तः प्रजहाति दुःखं

विध्वंसते लोष्ट इवाद्रिमृच्छन् ॥६६

यथा रुरुः शृङ्गमथो पुराणं

हित्वात्वचं वाप्युनगो यथा च ।

विहाय गच्छत्यनवेक्षमाण-

स्तथाविमुक्तो विजहाति दुःखम् ॥६७

द्रुमं यथा वाप्युदके पतन्त-

मुत्सृज्य पक्षी निपतत्यसक्तः ।

तथा ह्यसौ सुखदुःखे विहाय

मुक्तः पराद्धर्मा गतिमेत्यलिङ्गः ॥६८

जीव जब ब्रह्म में लीन हो जाता है, तब उसका भी नाम रूप अग्राह्य हो जाता है। इस प्रकार जीव की संज्ञा कैसे रह सकती है? जो इस मोक्षविद्या का ज्ञाता है और सावधानी से आत्मतत्त्व को खोजता है, वह जैसे जल से कमलपत्र लिप्त नहीं होता, वैसे ही कर्मों के अनिष्ट फलों से लिप्त नहीं होता। परन्तु सन्तान के प्रति आसक्ति वश तथा विभिन्न देवताओं की प्रसन्नता के लिये अज्ञानी पुरुष जिन सकाम कर्मों को करते हैं, वे सभी उनके लिये सुदृढ़ बंधन रूप हो जाते हैं, जब वह इन बंधनों से छुटकारा पाकर सुख-दुःख की चिन्ता का त्याग कर देता है, तब सूक्ष्म शरीर के अभिमान को भी छोड़ कर सर्वोत्तम गति को प्राप्त कर लेता है। श्रुति द्वारा प्रतिपादन किये प्रमाणों का विचार और शास्त्रोक्त माङ्गलिक साधनों का अनुष्ठान करने से मनुष्य जरा और मृत्यु के भय से मुक्त होकर सुख पूर्वक शयन करता है। जब पुण्य-पाप और उनके फल रूप सुख-दुःख का नाश हो जाता है, तब सब वस्तुओं में आसक्ति-रहित पुरुष आकाशवत् निर्लेप-निर्गुण ब्रह्म में स्थित होकर उसका दर्शन करते हैं जैसे मकड़ी अपने द्वारा ताने हुए जाले पर चक्कर काटती रहती है, परन्तु जालों के नष्ट होने पर एक स्थान पर ठहर जाती है, वैसे ही अविद्या से पतित होने वाला जीव कर्म जाल में भटकता फिरता है, परन्तु,

उस जाल से मुक्त होने पर दुःख से छूट जाता है। पर्वत पर फँके हुए ढेले के टकरा कर चूर-चूर होने के समान उसके दुःख नष्ट हो जाते हैं। जैसे रुरु नामक मृग अपने पुराने सींग को त्याग देता है। तथा सर्प अपनी केंचुली को छोड़ कर उसकी ओर बिना देखे ही चला जाता है, वैसे ही ममता और अहंता से रहित जीव संसार से मुक्त हो अपने दुःख रूप देह को छोड़ देता है। जैसे वृक्ष को जल में गिरता हुआ देख कर उसके आश्रय में रहने वाले पक्षी, उसका मोह छोड़ कर उड़ जाते हैं, वैसे ही मुक्त पुरुष सुख-दुःख को छोड़ और सूक्ष्म देह का भी त्याग कर श्रेष्ठ गति को प्राप्त होता है ॥६२-६८॥

अपि च भवति मैथिलेन गीतं

नगरमुपाहितमग्निनाभिवीक्ष्य ।

न खलु ममहि दह्यतेऽत्र किञ्चित्

स्वयमिदमाह किल स्म भूमिपालः ॥६९

इदममृतपदं निश्चम्य राजा

स्वयमिह पञ्चशिखेन भाष्यमाणम् ।

निखिलमभिसमीक्ष्य निश्चितार्थः

परमसुखी विजहार वीतशोकः ॥७०॥

इमं हि यः पठति विमोक्षनिश्चयं

महीपते सततमवेक्षते तथा ।

उपद्रवान् नानुभवत्यदुःखितः

प्रमुच्यते कपिलमिवैत्य मैथिलः ॥७१॥

श्रूयतां नृपशार्दूल यदर्थं दीप्तिता पुरा ।

बह्निना दीपिता सा तु तन्मे शृणु महामते ॥७२॥

जनको जनदेवस्तु कर्माण्याधाय चात्मनि ।

सर्वभावमनुप्राप्य भावेन विचचार सः ॥७३॥

यजन् ददंस्तथा जुह्वन् पालयन् पृथिवीमिमाम् ।

अध्यात्मविन्महाप्राज्ञस्तन्मयत्वेन निष्ठितः ॥७४॥

स तस्य हृदि संकल्पं ज्ञातुमैच्छत् स्वयं प्रभुः ।

सर्वलोकाधिपस्तत्र द्विजरूपेण संयुतः ॥१०५

मिथिलायां महाबुद्धिर्व्यलीकं किञ्चिदाचरन् ।

स गृहीत्वा द्विजश्रेष्ठैर्नृपाय प्रतिवेदितः ।

अपराधं समुद्दिश्य तं राजा प्रत्यभाषत ॥१०६

भीष्मजी ने कहा—हे राजन् ! आचार्य पंचशिख के कहे हुए अमृत-मय ज्ञानोपदेश को सुन कर राजा एक निश्चित सिद्धान्त पर पहुंच गये और शोक-ग्रहित होकर सुख-पूर्वक रहने लगे । फिर उनकी दशा ही बदल गयी और एक बार तो उन्होंने अपनी प्रिय मिथिलानगरी को जलती हुई देख कर भी कह दिया कि इस नगर के जलने से मेरा कुछ नहीं जलेगा । हे राजन् ! यहाँ मोक्षतत्व का जो निर्णय हुआ है, उसका स्वाध्याय और चिन्तन करने वाला पुरुष उपद्रवों का कष्ट कभी नहीं भोगता । दुःख उसके पास फटकते भी नहीं । जैसे राजा जनदेव महर्षि पंचशिख के ज्ञान से मुक्ति को प्राप्त हो गये, वैसे ही मुक्त हो जाता है । हे राजन् ! उस समय मिथिला नगरी जिस कारण जलाई गई थी, अब उसे भी कहता हूँ । जनकवंशी राजा जनकदेव ब्रह्मा में अपने कर्मों को स्थापित कर सर्वात्ममय होकर सर्वत्र घूमते थे । अध्यात्म तत्व के ज्ञाता होने के कारण वे निष्काम भाव से यज्ञ, दान, होम और पृथिवी-पालन करते हुए भी उस अध्यात्म ज्ञान में लगे रहते थे । एक समय सभी लोकों के स्वामी साक्षात् भगवान् नारायण राजा जनक के मनोभाव को जानने के लिये ब्राह्मण वेश में मिथिला नगरी आये और कुछ प्रतिकूल आचरण करने लगे । वहाँ के द्विज उन्हें पकड़ कर राजा के पास लाये । तब ब्राह्मण के अपराध को जान कर राजा ने उनसे कहा ॥१०६॥

न त्वां ब्राह्मण दण्डेन नियोक्ष्यामि कथंचन ।

मम राज्याद्विनिर्गच्छ यावत्सीमा भुवो मम ॥१०७

इत्युक्तः स तथा तेन मंथिलेन द्विजोत्तमः ।

अब्रवीत् तं महात्मानं राजानं मन्त्रिभिवृत्तम् ॥१०८

त्वमेवं पद्मनाभस्य नित्यं पक्षपदाहितः ।

अहो सिद्धार्थरूपोऽसि गमिष्ये स्वस्तितेऽस्तुवै ॥१०६

इत्युक्त्वा प्रययौ विप्रस्तज्जिज्ञासुर्द्विजोत्तमः ।

अदहच्चाग्निना तस्य मिथिलां भगवान् स्वयम् ॥११०

प्रदीप्यमानां मिथिलां पृष्ट्वा राजा न कम्पितः ।

जनैः स परिपृष्टस्तु वाक्यमेतदुवाच ह ॥१११

अनन्तं बत मे वित्तं भाव्यं मे नास्ति किञ्चन ।

मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किञ्चन दह्यते ॥११२

तदस्य भाषमाणस्य श्रुत्वा श्रुत्वा हृदि स्थितम् ।

पुनःसंजीवयामास मिथिलां तां द्विजोत्तमः ॥११३

आत्मानं दर्शयामास वरं चास्मै ददौ पुनः ।

धर्मे तिष्ठतु सद्भावो बुद्धिस्तेऽर्थे नराधिप ॥

सत्ये तिष्ठस्वनिर्विण्णःस्वस्तितेऽस्तु व्रजाम्यहम् ॥११४

जनक बोले—हे ब्राह्मण ! मैं तुम्हें किसी प्रकार का दण्ड तो नहीं देता, परन्तु, तुम मेरे राज्य की सीमा से बाहर चले जाओ । राजा के इस प्रकार कहने पर मन्त्रियों से घिरे उन राजा से ब्राह्मण ने कहा—हे राजन् ! आप भगवान् नारायण के चरणों में प्रीति रखने वाले और उन्हीं के शरणागत हैं । आप धन्य हैं, आपका कल्याण हो, अब मैं जाता हूँ । यह कह कर ब्राह्मणरूप धारी भगवान् ने वहाँ से जाते-जाते मिथिला नगरी को जला दिया । मिथिला नगरी को भस्म होते देख राजा किञ्चित् भी विचलित नहीं हुए । उन्होंने सब से यही कहा कि मैं आत्मज्ञान रूपी अनन्त धन से युक्त हूँ, मुझे अब कुछ भी पाना शेष नहीं है । इस नगरी के जलने पर भी मेरा कुछ नही जलेगा । राजा की बात ब्राह्मण वेशधारी भगवान् ने भी सुनी और प्रसन्न होकर उन्होंने उस नगरी को फिर दाह-रहित कर दिया । साथ ही उन्होंने अपना स्वरूप प्रकट कर राजा को वर दिया—हे राजन् ! तुम्हारा मन धर्म-परायण रहे और बुद्धि तत्त्वज्ञान में स्थित हो । विषयों से विरक्त रह कर सत्यमार्ग पर स्थिर रहो, तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं जाता हूँ ॥१०७-११४॥

११--सावित्री गीता

अथ कन्याप्रदाने स तमेवार्थं विचिन्तयन् ।
 समानिन्ये च तत् सर्वं भाण्डं वैवाहिकं नृपः ॥१॥
 ततो वृद्धान् द्विजान् सर्वानृत्विजः सपुरोहितान् ।
 समाहूय दिने पुण्ये प्रययौ सह कन्यया ॥२॥
 मेघधारण्यं स गत्वा च द्युमत्सेनाश्रमं नृपः ।
 पद्भ्यानेव द्विजैः सार्धं राजर्षि तमुपागमत् ॥३॥
 तत्रापश्यन्महाभागं शालवृक्षमुपाश्रितम् ।
 कौश्यां बृश्यां समासीनं चक्षुर्हीनं नृपं तदा ॥४॥
 स राजा तस्य राजर्षेः कृत्वा पूजां यथार्हतः ।
 वाचा सुनियतो भूत्वा चकारात्मनिवेदनम् ॥५॥
 तस्यार्घ्यमासनं चैव गां चावेद्य स धर्मवित् ।
 किमागमनमित्येवं राजा राजानमब्रवीत् ॥६॥
 तस्य सर्वमभिप्रायमितिकर्तव्यतां च ताम् ।
 सत्यवन्तं समुद्दिश्य सर्वमेव न्यवेदयत् ॥७॥

कन्यादान के विषय में नारदजी के कहने पर विचार करते हुए राजा अश्वपति ने समस्त सामग्री एकत्र की । फिर वे वृद्ध ब्राह्मणों, ऋत्विजों और पुरोहितों को साथ ले, शुभ दिन, नक्षत्र में अपनी कन्या सावित्री के साथ तपोवन में गये । द्युमत्सेन के आश्रम के पास पहुँच कर राजा पैदल ही विप्रगणों के साथ राजर्षि के पास पहुँचे । वहाँ उन्होंने उन नेत्र हीन राजर्षि द्युमत्सेन को शालवृक्ष के नीचे एक कुशासन पर बैठे देखा । राजा अश्वपति ने राजर्षि द्युमत्सेन का पूजन कर संयत वाणी से अपना परिचय दिया । तब उन्होंने राजा अश्वपति को अर्घ्य, आसन और गौ देकर उनके

आगमन का उद्देश्य पूछा । तब राजा अश्वपति ने सत्यवान के उद्देश्य से आने की बात कहते हुए कैसे, क्या करना है, यह सब स्पष्ट बता दिया ॥१-७॥

सावित्री नाम राजर्षे कन्येयं मम शोभना ।
तां स्वधर्मेण धर्मज्ञ स्तुषार्थे त्वं गृहाण मे ॥८
च्युताः स्म राज्याद् वनवासमाश्रिता-

श्ररामधर्मनियतास्तपस्विनः ।

कथं त्वनर्हा वनवासमाश्रमे
निवत्स्यते क्लेशमिमं सुता तव ॥९

सुखं च दुःखं च भवाभवात्मकं

यदाविजानातिसुताहमेव च ।

नमद्विधेयुज्यतिवाक्यमीदृशं

विनिश्चयेनाभिगतोऽस्मितेनृप ॥१०

आशां नार्हसि मे हन्तुं सौहृदात् प्रणतस्य च ।

अभितश्चागतं प्रेम्णा प्रत्याख्यातुं न मार्हसि ॥११

अनुरूपो हि युक्तश्च त्वं ममाहं तवापि च ।

स्तुषां प्रतीच्छ मे कन्यां भार्या सत्यवतः सतः ॥१२

पूर्वमेवाभिलषितः सम्बन्धो मे त्वया सह ।

भ्रष्टराज्यस्त्वहमिति तत एतद् विचारितम् ॥१३

अभिप्रायस्त्वयं यो मे पूर्वमेवाभिकाक्षितः ।

स निर्वर्ततु मेऽद्यैव काक्षितो ह्यसि मेऽतिथिः ॥१४

राजा अश्वपति ने कहा—हे धर्मज्ञ राजर्षे ! मेरी यह सुन्दरी कन्या सावित्री कही जाती है । इसे आप अपनी पुत्रवधू के रूप में स्वीकार करें । राजर्षि द्युमत्सेन ने कहा—‘हम तो राज्य-भ्रष्ट और वन के आश्रय में रहने वाले संयम-नियम पूर्वक तपस्वी जीवन व्यतीत करते और धर्मानुष्ठान करते रहते हैं । आपकी यह कन्या सुकुमारी है, आश्रम में रह कर वनवास के कष्टों को किस प्रकार सहन कर सकेगी ? अश्वपति बोले— राजन् ! सुख और दुःख तो उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं, इसे मैं और

मेरी पुत्री दोनों ही जानते हैं । मेरे प्रति आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये । क्योंकि, मैं सब प्रकार का निश्चय करके ही यहाँ आया हूँ । मैं सौहार्द्र भाव से आपकी शरण में आया हूँ । आप मेरी आशा को भंग न करें और प्रेम-पूर्वक शरण में आये हुए को खाली हाथ न लौटावें । आप मेरे सर्वथा अनुरूप तथा योग्य हैं और मैं भी आपके पूरी तरह योग्य हूँ । आप मेरी कन्या को अपने पुत्र सत्यवान की पत्नी और पुत्रवधू के रूप में ग्रहण करने की कृपा करें । द्युमत्सेन ने कहा—हे राजन् ! मेरी इच्छा तो पहिले से ही आपके यहाँ सम्बन्ध करने की थी । परन्तु, जब राज्य से च्युत हो गया तो यह समझ कर कि 'अब यह सम्बन्ध नहीं हो सकेगा' अपना विचार त्याग दिया । महाराज ! आप मेरे मनोवांछित अतिथि हैं । यदि मेरी पूर्व अभिलाषा आज पूर्ण होना चाहती है, तो अवश्य होनी चाहिये ॥७-१४॥

ततः सर्वान् समानाद्य द्विजानाश्चमवासिनः ।
 यथाविधि समुद्राहं कारयामासतुर्नृपौ ॥१५
 दत्त्वा सोऽश्वपतिः कन्यां यथार्हं सपरिच्छदम् ।
 ययौ स्वमेव भवनं युक्तः परमया मुदा ॥१६
 सत्यवानपि तां भार्यां लब्ध्वा सर्वगुणान्विताम् ।
 मुमुदे सा च तं लब्ध्वा भर्तारं मनसेप्सितम् ॥१७
 गते पितरि सर्वाणि संन्यस्याभरणानि सा ।
 जगृहे वल्कलान्येव वस्त्रं काषायमेव च ॥१८
 परिचारैर्गुणैश्चैव प्रश्रयेण दमेन च ।
 सर्वकामक्रियाभिश्च सर्वेषां पुष्टिमादधे ॥१९
 श्वश्रूं शरीरसत्कारैः सर्वैराच्छादनादिभिः ।
 श्वशुरं देवसत्कारैर्वचिःसंयमनेन च ॥२०
 तथैव प्रियवादेन नैपुणेन शमेन च ।
 रहश्चैवोपचारेण भर्तारं पर्यतोषयत् ॥२१

फिर उस आश्रम में निवास करने वाले सभी द्विजों को दोनों राजाओं ने आमंत्रित किया और सावित्री-सत्यवान का वैवाहिक संस्कार विधि

पूर्वक पूर्ण कराया । राजा अश्वपति ने कन्यादान कर दहेज दिया और अत्यंत प्रसन्न होते हुए अपनी राजधानी के लिये चल दिये । सभी सद्गुणों से सम्पन्न सावित्री को भार्या रूप में पाकर सत्यवान को बड़ी प्रसन्नता हुई और सत्यवान को प्राप्त कर लेने से सावित्री को भी मनोवांछित वर मिल गया । पिता के वहाँ से चले जाने पर सावित्री ने अपने सब आभूषण उतार दिये और वत्कल धारण पूर्वक गेहूँ रंग के वस्त्र पहनने लगी । सावित्री विनय, संयम और अपने श्रेष्ठ गुणों से सब को प्रसन्नता करती हुई, सब के मनोनुकूल कार्य करती हुई सेवा-सुश्रूषा करने लगी । उसने अपनी सास की शारीरिक सेवा तथा वस्त्राभूषण आदि से प्रसन्नता प्राप्त की और देवोचित सत्कार के द्वारा अपने श्वसुर द्युमत्सेन को भी सन्तुष्ट किया । इसी प्रकार, मधुर भाषण, कार्य-कुशलता और शान्तिमय एकान्त सेवा के द्वारा अपने पति सत्यवान को भी वह सदा प्रसन्न रखने लगी ॥१५-२१॥

एवं तत्राश्रमे तेषां तदा निवसतां सताम् ।

कालस्तपस्यतां कश्चिदपाक्रामत भारत ॥२२

सावित्र्या ग्लायमानायास्तिष्ठन्यास्तु दिवानिशम् ।

नारदेन यदुक्तं तद् वाक्यं मनसि वर्तते ॥२३

ततः काले बहुतिथे व्यतिक्रान्ते कदाचन ।

प्राप्तः स कालो मर्तव्य यत्र सत्यव्रता नृप ॥२४

गणयन्त्याश्च सावित्र्या दिवसे दिवसे गते ।

यद् वाक्यं नारदेनोक्तं वर्तते हृदि नित्यशः ॥२५

चतुर्थेऽहनि मतव्यमिति संचिन्त्य भाविनी ।

व्रतं त्रिरात्रमुद्दिश्य दिवारात्र स्थिताभवत् ॥२६

त श्रुत्वा नियम तस्या भृशं दुःखान्वितो नृपः ।

उत्थाय वाक्यं सावित्रीमब्रवीत् परिसान्त्वयन् ॥२७

अतितीव्रोऽयमारम्भस्त्वयाऽऽरब्धो नृपात्मजे ।

तिसृणां वसतीनां हि स्थान परमदुश्चरम् ॥२८

इस प्रकार, उन सभी को, उस आश्रम में निवास करते हुए और तपस्यामय जीवन व्यतीत करते हुए कुछ काल बीत गया । इधर सावित्री

चिन्ता से निरन्तर गली जा रही थी। रात-दिन, सोते-बैठते हर समय उसके मन में नारदजी की बात जमी रहती थी, क्षण भर के लिये भी वह उसे भूल नहीं पाती थी। बहुत समय व्यतीत होने पर सत्यवान की मृत्यु वाला दिन भी आ पहुंचा। एक-एक दिन बीतने की गणना सावित्री करती रही। क्योंकि, नारदजी की बात उसके हृदय में जमी हुई थी! जब सावित्री को यह अनुमान हुआ कि मेरे पति की मृत्यु आज चौथे दिन होनी है, तब उसने तीन रात्रि का व्रत धारण किया और उन तीनों दिन-रात वह खड़ी ही रही। सावित्री के इस कठोर व्रत की बात सुन कर राजा द्युमत्सेन को अत्यन्त दुःख हुआ और उन्होंने उठ कर सावित्री को सान्त्वना के रूप में कहा—राजकुमारी! तुमने अत्यन्त कठोर व्रत का आरम्भ किया है। निरन्तर तीन दिन-रात निराहार रहना परम दुष्कर कार्य है ॥२२-२८॥

न कार्यस्तात संतापः पारयिष्याम्यहं व्रतम् ।

व्यवसायकृतं हीदं व्यवसायश्च कारणम् ॥२६

व्रतंभिन्धीति वक्तुं त्वां नास्मि शक्तः कथञ्चन ।

पारयस्वेति वचनं युक्तमस्मद्विधो वदेत् ॥३०

एवमुक्त्वा द्युमत्सेनो विरराम महामनाः ।

तिष्ठन्ती चैव सावित्री काष्ठभूतेव लक्ष्यते ॥३१

श्वोभूते भर्तृमरणे सावित्र्या भरतर्षभ ।

दुःखान्वितायास्तिष्ठन्त्याः सा रात्रिर्व्यत्यवर्तत ॥३२

अद्य तद् दिवसं चेति हुत्वा दीनं हुताशनम् ।

युगमात्रोदिते सूर्ये कृत्वा पौर्वाह्निकीः क्रियाः ॥३३

ततः सर्वान् द्विजान् वृद्धान् श्वश्रून् श्वशुरमेव च ।

अभिवाद्यानुपूर्व्येण प्राञ्जलिनि यता स्थिता ॥३४

अवैधव्याशिषस्ते तु सावित्र्यर्थं हिताः शुभाः ।

ऊचुस्तपस्विनः सर्वे तपोवननिवासिनः ॥३५

सावित्री ने उत्तर दिया—पिताजी! आप चिन्तित न हों, मैं इस व्रत को पूर्ण कर लूंगी, ऐसा मुझे विश्वास है। किसी व्रत के निर्वाह में

दृढ़ निश्चय ही मुख्य कारण होता है और मैंने दृढ़ निश्चय पूर्वक इस व्रत का प्रारम्भ किया है। राजा द्युमत्सेन ने कहा—मैं व्रत-भग करने के लिये तो कभी नहीं कटूंगा बेटी ! परन्तु, 'तुम्हारा व्रत निर्विघ्न पूर्ण हो' यही मैं कह सकता हूँ। महामना द्युमत्सेन सावित्री से इस प्रकार कह कर चुप हो गये और फिर सावित्री एक स्थान पर खड़ी हुई काष्ठ के समान दिखाई देने लगी। भरतश्रेष्ठ ! दुःख में डूबी हुई सावित्री ने कल ही अपने पतिदेव की मृत्यु होने वाली समझ कर वह रात भी खड़े ही खड़े व्यतीत कर दी। दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही उसने समझ लिया कि आज वह दिन आ गया है और उसने सूर्य के चार हाथ ऊपर उठते-उठते पूर्वाह्निकाल के सभी कृत्य पूरे करके प्रज्वलित अग्नि में आहुति दी। फिर सब ब्राह्मणों, वृद्धों और सास-श्वशुर को क्रमशः प्रणाम करके और नियमानुसार हाथ जोड़े हुए उनके सम्मुख खड़ी रही। उस तपोवन में निवास करने वाले सभी तपस्वियों ने सावित्री को सौभाग्य वर्द्धक, अत्यंत शुभ और हित करने वाले आशीर्वाद दिये ॥२६-३५॥

एवमस्त्विति सावित्री ध्यानयोगपरायणा ।

मनसा ता गिरः सर्वाः प्रत्यगृह्णात् तपस्विनाम् ॥३६

तं कालं तं मुहूर्तं च प्रतीक्षन्ती नृपात्मजा ।

यथोक्तं नारदवचश्चिन्तायन्ती सुदुःखिता ॥३७

ततस्तु श्वश्रूश्वशुरावूचतुस्तां नृपात्मजाम् ।

एकान्तमास्थितां वाक्यं प्रीत्या भरतसत्तम ॥३८

व्रतं यथोपदिष्टं तु तथा तत् पारितं त्वया ।

आहारकालः सम्प्राप्तः क्रियतां यदनन्तरम् ॥३९

अस्तं गते मयाऽऽदित्ये भोक्तव्यं कृतकामया ।

एष मे हृदि संकल्प समयश्च कृतो मया ॥४०

एवं सम्भाषमाणायाः सावित्र्या भोजनं प्रति ।

स्कन्धे परशुमादायसत्यवान् प्रस्थितो वनम् ॥४१

सावित्री त्वाह भर्तारं नैकस्त्वं गन्तुमर्हसि ।

सह त्वया गमिष्यामि न हि त्वां हातुमुत्सहे ॥४२

ध्यान योग में स्थित हुई सावित्री ने उन तपस्वियों के आशीर्वादमय वचनों को 'ऐसा ही हो' कहते हुए शिरोधार्य किया। अपने पति की मृत्यु से सम्बन्धित समय और मुहूर्त की प्रतीक्षा करती हुई सावित्री नारदजी के वचनों को सोचती हुई अत्यन्त दुःखी हो गई। फिर सास और श्वसुर ने एकान्त में बैठी हुई उस सावित्री से स्नेह पूर्वक इस प्रकार कहा। बेटी ! तुम शास्त्र के आदेशानुसार अपना व्रत पूरा कर चुकी हो, अब पारायण का समय हो गया है, इसलिये, इसमें जैसा विधान हो, वैसा करो। सावित्री ने कहा—जब सूर्यास्त होने पर मेरा मनोरथ पूर्ण हो जायगा, तभी भोजन करूँगी। यह मेरा हार्दिक संकल्प है और मैंने ऐसी ही प्रतिज्ञा की हुई है। जब सावित्री इस प्रकार बातें कर रही थी, तभी सत्यवान अपने कंधे पर कुल्हाड़ी लिये वन की ओर चले। तब सावित्री ने उससे कहा—स्वामिन् ! आप अकेले वन को मत जाइये। मैं भी आपके साथ चलूँगी। क्योंकि, आज आपको अकेला नहीं जाने दूँगी ॥३६-४२॥

वनं न गतपूर्वं ते दुःखः पन्थाश्च भाविनी ।

'व्रतोपवासक्षामा च कथं पद्भ्यां गमिष्यसि ॥४३

उपवासान्न मे ग्लानिर्नास्ति चापि परिश्रमः ।

गमने च कृतोत्साहां प्रतिषेद्धुं न मार्हसि ॥४४

यदि ते गमनोत्साहः करिष्यामि तव प्रियम् ।

ममत्वामन्त्रयगुरुन् न मां दोषः स्पृशेदयम् ॥४५

साभिवाद्याब्रवीच्छ्वश्रूँश्चशुरं च महाव्रता ।

अयं गच्छति मे भर्ता फलाहारो महावनम् ॥४६

इच्छेयमभ्यनुज्ञाता आर्यया श्वशुरेण ह ।

अनेन सह निर्गन्तुं मेऽद्य विरहः क्षमः ॥४७

गुर्वग्निहोत्रार्थकृते प्रस्थितश्च सुतस्तव ।

ननिवार्यो निवार्यः स्यादन्यथा प्रस्थितो वनम् ॥४८

सवत्सरः किञ्चिदूनो न किष्क्रान्ताहमाश्रमात् ।

वनं कुसुमितं प्रष्टुं परं कौतूहलं हि मे ॥४९

इस पर सत्यवान ने कहा—वन का मार्ग बड़ा कष्टप्रद है। तुम इससे पहिले कभी वन में गयी भी नहीं। फिर व्रत और उपवास के कारण आज तुम अत्यन्त दुर्बल हो रही हो, इसलिये पैदल चलने में भी समर्थ नहीं हो। सावित्री ने कहा—मुझे उपवास के कारण किसी प्रकार की थकावट मालुम नहीं हो रही है। वन में चलने के लिये मेरे मन में उत्साह भी बहुत है। इसलिये आज आप मुझे मत रोकिये। सत्यवान बोला—यदि तुम्हारे मन में चलने का उत्साह है तो मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूँगा। परन्तु, इसके लिये, तुम्हें मेरे माता-पिता से पूछ लेना चाहिये, जिससे मुझ पर किसी प्रकार का दोष न लगे। तब उस महाव्रता सावित्री ने अपने सास-श्वसुर को प्रणाम करके कहा कि मेरे पतिदेव महान् वन में फल आदि लाने के लिये जा रहे हैं। यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं भी उनके साथ जाना चाहती हूँ। आज इनका एक क्षण का विरह भी मुझसे सहन नहीं हो रहा है। आपके पुत्र आज गुरुजनों के लिये तथा अग्निहोत्र करने के निमित्त फल, पुष्प, समिधादि लाने के लिये वन में जा रहे हैं, इसलिये उनको वहाँ जाने से रोकना तो उचित नहीं है। यदि किसी अन्य कार्य से जाते होते तो रोके भी जा सकते थे। एक वर्ष के लगभग हो आया, मैं कभी इस आश्रम से बाहर नहीं गयी। इसलिये, आज पुष्पों से परिपूर्ण वन को देखने की मेरी उत्कट इच्छा है ॥४३-४६॥

यतः प्रभृति सावित्री पित्रा दत्ता स्नुषा मम ।

नानयाम्यर्थनायुक्तमुक्तपूर्वं स्मराम्यहम् ॥५०

तदेषा लभतां कामं यथाभिलषितं बधूः ।

अप्रमादश्च कर्तव्यः पुत्रि सत्यवतः पथि ॥५१

उभाभ्यामभ्यनुज्ञाता सा जगाम यशस्विनी ।

सह भर्त्रा हसन्तीव हृदयेन विदूयता ॥५२

सा वनानि विचित्राणि रमणीयानि सर्वशः ।

मयूरगणजुष्टानि ददर्श विपुलेक्षणा ॥५३

नदीः पुण्यवहाश्चैव पुष्पितांश्च नगोत्तमान् ।

सत्यवानाह पश्येति सावित्रीं मधुरं वचः ॥५४

निरीक्षमाणा भर्तारं सर्वाविस्थमनिन्दिता ।

मृतमेव हि भर्तारं काले मुनिवचः स्मरन् ॥५५

अनुव्रजन्ती भर्तारं जगाम मृदुगामिनी ।

द्विधेव हृदयं कृत्वा तं च कालमवेक्षती ॥५६

तब राजा द्युमत्सेन ने कहा—जब से इसके पिता ने इसे मेरी पुत्र-वधू के रूप में प्रदान किया है, तब से आज तक इसने कभी किसी बात की मुझसे प्रार्थना की हो, इसकी मुझे याद नहीं आ रही है । इसलिये आज मेरी यह पुत्रवधू अपना इच्छित मनोरथ प्राप्त करे । जा बेटी, सत्यवान को कर्त्तव्य पथ पर आरूढ़ रखना और इसमें प्रमाद न करना । इस प्रकार सास-श्वसुर की आज्ञा प्राप्त कर यशस्विनी सावित्री अपने पति के साथ चली । उसके मुख पर बाह्य मुसकराहट होते हुए भी वह हृदय में दुःख से जली जा रही थी । विशाल नेत्र वाली उस सावित्री ने सब ओर घूम-घूम कर मोरों वाले उस श्रेष्ठ और रमणीय वन में नगर से विलक्षण दृश्य देखे । पुण्य सलिला नदियाँ और पुष्पों से लदे हुए श्रेष्ठ वृक्षों को दिखाते हुए, सावित्री से सत्यवान ने कहा कि 'प्रिये ! देखो यह दृश्य कैसा सुन्दर है' । सती सावित्री अपने पति की सभी अवस्थाओं को सूक्ष्म रूप से जानने का प्रयत्न कर रही थी । वह नारदजी के वचनों को याद करके यह समझ रही थी कि मेरे पति की मृत्यु अवश्य होने को है । मन्द गति वाली सावित्री जैसे हृदय के दो टुकड़े करके, उनमें से एक अपने से पति का अनुसरण और दूसरे से उसके मरण-काल की प्रतीक्षा कर रही थी ॥५५ ५६॥

अथ भार्यासहायः स फलान्यादाय वीर्यवान् ।

कठिनं पूरयामास ततः काष्ठान्यपाटयत् ॥५७

तस्य पाटयतः काष्ठं स्वेदो व समजायत ।

व्यायामेन च तेनास्य जज्ञे शिरसि वेदना ॥५८

सोऽभिगम्य प्रियां भार्यामुवाच श्रमपीडितः ।

व्यायामेन ममानेन जाता शिरसि वेदना ॥५९

अङ्गानि चैव सावित्रि हृदयं दूयतीव च ।
 अस्वस्थमिव चात्मानं लक्षये मितभाषिणि ॥६०॥
 शूलैरिव शिरो विद्धमिदं संलक्षयाम्यहम् ।
 तत्स्वप्नुमिच्छेकल्याणि नस्थातुं शक्तिरस्ति मे ॥६१॥
 सा समासाद्य सावित्री भर्तारमुपगम्य च ।
 उत्सङ्गेऽस्य शिरः कृत्वा निषसाद महीतले ॥६२॥
 ततः सा नारदवचो विमृशन्ती तपस्विनी ।
 तं मुहूर्तं क्षणं वेलां दिवसं च युयोज ह ॥६३॥

फिर शक्तिशाली सत्यवान ने अपनी पत्नी को साथ लेकर फल चुने और काठ की टोकरी भर ली और फिर वे लकड़ी चीरने लगे । जब वह लकड़ी चीर रहे थे, तब परिश्रम से वे पसीने में लथपथ हो गये और सिर में दर्द होने लगा । तब वह कष्ट से पीड़ित हो अपनी प्रिय पत्नी के पास जाकर कहने लगे । सत्यवान बोले—हे प्रिये ! हे सावित्री ! आज लकड़ी काटने के परिश्रम से मेरे सिर में और सम्पूर्ण अंग में पोंड़ा हो रही है । ऐसा लगता है, जैसे, हृदय जला जा रहा है । हे अल्पभाषिणी सावित्री ! मैं इस समय अस्वस्थता का प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हूँ । ऐसा लगता है जैसे कोई मेरे सिर को शूलों से छेद रहा है । मुझ में अब खड़े रहने की शक्ति नहीं है, इसलिये सोने की इच्छा है । यह सुनते ही सावित्री अपने पति के पास शीघ्रता से आयी और सत्यवान का सिर गोदी में लेकर पृथिवी पर बैठ गयी । फिर उस तपस्विनी सावित्री ने नारदजी से कहे हुए मुहूर्त, क्षण, समय आदि का योग मिलाया ॥५७-६३॥

मुहूर्तदिव चापश्यत् पुरुषं रक्तवाससम् ।
 बद्धमौलिं वपुष्मन्तमादित्यसमतेजसम् ॥६४॥
 श्यामावदातं रक्ताक्षं पाशहस्तं भयावहम् ।
 स्थितं सत्यवतः पार्श्वे निरीक्षन्तं तमेव च ॥६५॥
 तं दृष्ट्वा सहस्रोत्थाय भर्तुर्न्यस्य शनः शिरः ।
 कृता लिख्वाचार्ता हृदयेन प्रवेपती ॥६६॥

दैवतं त्वाभिजानामि वपुरेतद्धयमानुषम् ।

कामया ब्रूहि देवेश कस्त्वं किंच चिकीर्षसि ॥६७

पतिव्रतासि सावित्री तथैव च तपोऽन्विता ।

अतस्त्वामभिभाषामि विद्धि मांत्वंशुभेयमम् ॥६८

अयंतेसत्यवान्भर्ताक्षीणायुःपार्थिवात्मजः ।

नेष्यामितमहबद्ध्वाविद्धये तन्मेचिकीर्षितम् ॥६९

श्रूयते भगवन् दूतास्तवागच्छन्ति मानवान् ।

नेतुं किल भवान् कस्मादागतोऽसि स्वयं प्रभो ॥७०

फिर, दो मुहूर्त्त में ही उसने एक दिव्य पुरुष को प्रकट होते हुए देखा । वे अपने शरीर पर लाल रंग का वस्त्र धारण किये हुए थे, सिर पर मुकुट बँधा है और तेज सूर्य के समान होने से ऐसा लगता था कि साक्षात् सूर्य ही वहाँ आ गये हों । उनके शरीर का श्याम वर्ण और नेत्र लाल हैं । अपने हाथ में पाश लिये हुए भयानक वेश वाले हैं । वे सत्यवान के पास ही खड़े हैं और बारम्बार उनकी ओर देख रहे हैं । उन्हें देखते ही सावित्री ने अपने पति का मस्तक धीरे से पृथिवी पर रख दिया और वह सहसा खड़ी हो गई तथा कम्पित हृदय से आर्त्तवाणी में उनसे कर-बद्ध निवेदन करने लगी । सावित्री बोली—मैं जान रही हूँ कि आप कोई देवता हैं, क्योंकि आपका देह मानव देह से भिन्न है । हे देवेश ! यदि आप बता सकते हों तो मुझे बतावें कि आप कौन हैं और यहाँ क्या करने की इच्छा से पधारे हैं ? यमराज बोले कि हे सावित्री ! तू पतिव्रता और तपस्विनी है । इसलिये मैं तुझ से बातें कर सकता हूँ । तू मुझे यमराज समझ ले । तेरे इस पति की आयु समाप्त हो चुकी है । अब मेरा कर्त्तव्य इसे बाँध ले जाना है और यही करने की इच्छा है । सावित्री ने कहा—भगवन् ! मैंने तो सुन रखा है कि आपके दूत ही मनुष्यों को ले जाने के लिये आते हैं, परन्तु, यहाँ आपको स्वयं ही क्यों आना पड़ गया ? ॥६४-७०॥

इत्युक्तःपितृराज्ञस्तां भगवान् स्वचिकीर्षितम् ।

यथावत् सर्वमाख्यातुं यत्प्रियार्थं प्रचक्रमे ॥७१

अयं च धर्मसंयुक्तो रूपवान् गुणसागरः ।
 नाहो मत्पुरुषैर्नेतुमतोऽस्मि स्वयमागतः ॥७२
 ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशं गतम् ।
 अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ॥७३
 ततः समुद्धृतप्राणं गतश्चासं हतप्रभम् ।
 निर्विचेष्टं शरीरं तद् बभूवाप्रियदर्शनम् ॥७४
 यमस्तु तं ततो बद्ध्वा प्रयातो दक्षिणामुखः ।
 सावित्री चैव दुःखार्ता यममेवान्वगच्छत ।
 नियमव्रतसंसिद्धा महाभागा पतिव्रता ॥७५
 निवर्तं गच्छ सावित्रि कुरुष्वास्योर्ध्वदेहिकम् ।
 कृतं भर्तुं स्त्वयाऽऽनृत्यं यावद् गम्यं गतं त्वया ॥७६
 यत्र मे नीयते भर्ता स्वयं वा यत्र गच्छति ।
 मया च तत्र गन्तव्यमेष धर्मः सनातनः ॥७७

मार्कण्डेयजी बोले कि सावित्री के इस प्रश्न के उत्तर में उसका प्रिय करने के लिये यमराज ने अपना पूर्ण अभिप्राय कहना आरम्भ किया । यह सत्यवान धर्मवान, रूपवान और गुणों का सागर है । इसलिये दूतों के द्वारा ले जाने के योग्य नहीं है । इसके लिये मुझे ही स्वयं आना पड़ा है । फिर यमराज ने सत्यवान के देह से, पाश में बँधे अँगूठे के बराबर जीव को बल पूर्वक खींच लिया । प्राण के निकलते ही सत्यवान की साँस बन्द हो गई, देह की कांति मलीन होगई और शरीर निश्चेष्ट हो गया तथा विरूप दिखाई देने लगा । उस जीव को बाँध कर यमराज दक्षिण दिशा की ओर ले चले, तब दुःख से आतुर हुई सावित्री भी उनके पीछे-पीछे चली । क्योंकि वह महाभाग्य शालिनी पतिव्रता विधिवत व्रत-पालन करने से सिद्ध हो चुकी थी । यमराज बोले कि—सावित्री ! अब तू लौट कर अपने पति का अन्तिम संस्कार कर । क्योंकि अब तू पति के ऋण से उन्मूढ हो गयी है । तुझे उसके पीछे जहाँ तक आना उचित था, वहाँ तक आ चुकी है । सावित्री ने कहा—‘जहाँ तक मेरे पति को ले जाया जायगा

या जहाँ तक वे स्वयं जायेंगे, वहीं तक मैं भी जाऊँ, यही तो सनातन धर्म है ॥७१-७७॥

तपसा गुरुभक्त्या च भर्तुःस्नेहाद् व्रतेन च ।
तव चैव प्रसादेन न मे प्रतिहता गतिः ॥७८
प्राहुः साप्तपदं मैत्रं बुधास्तत्त्वार्थदर्शिनः ।
मित्रतां च पुरस्कृत्य किंचिद्वक्ष्यामि तच्छृणु ॥७९

नानात्मवन्तस्तु वने चरन्ति
धर्मं च वासं च परिश्रमं च ।

विज्ञानतो धर्ममुदाहरन्ति
तस्मात् सन्तो धर्ममाहुः प्रधानम् ॥८०

एकस्य धर्मेण सतां मतेन
सर्वे स्म तं मार्गमनुप्रपन्नाः ।

मा वै द्वितीयं मा तृतीयं च वाञ्छेत्
तस्मात् सन्तो धर्ममाहुः प्रधानम् ॥८१

निवर्तं तुष्टोऽस्मि तवानया गिरा
स्वराक्षरव्यञ्जनहेतुयुक्तया ।

वरं वृणीष्वेह विनास्य जीवितं
ददानि ते सर्वमनिन्दिते वरम् ॥८२

च्युतःस्वराज्याद् वनवासमाश्रितो
विनष्टचक्षुः श्वशुरो ममाश्रमे ।

स लब्धचक्षुर्बलवान् भवेन्नृप-

स्तव प्रसादाज्ज्वलनार्कसंनिभः ॥८३

तप, गुरुजनों की भक्ति, पति का प्रेम, व्रतपालन और आपकी कृपा से मेरी गति कहीं भी नहीं रुक सकती। तत्त्व के जानने वालों का कहना है कि सात पग साथ चलने से ही मित्रता हो जाती है। मैं उसी मित्रता के आधार पर आपसे कुछ निवेदन करना चाहती हूँ। जिन्होंने अपने मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं किया, वे वन में रह कर धर्म

का पालन, गुरुकुल में निवास और कष्टों का सहना आदि तप करने में समर्थ नहीं हैं। यह सब जितेन्द्रिय पुरुष ही करने में समर्थ हैं। महात्माओं का कहना है कि विवेक पूर्ण विचार ही धर्म-प्राप्ति के साधन हैं। इसलिये धर्म को सभी श्रेष्ठ कहते हैं। जो मार्ग सब का लक्ष्य है उस पर एक ही वर्ण के सत्पुरुषों के बताये हुए धर्म का पालन करने से ही पहुँचा जा सकता है। इसलिये, दूसरे या तीसरे वर्ण की इच्छा न करे। इसीलिये संतजन वर्णधर्म को ही प्रमुख मानते हैं। यमराज बोले—हे निन्दारहित सावित्री ! स्वर, अक्षर, व्यंजन और युक्तियों से सिद्ध तेरी बातों से मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। अब तू लौट जा, सत्यवान के जीवन के अतिरिक्त और सब कुछ तुझे देने में, मैं समर्थ हूँ। सावित्री ने कहा—मेरे श्वसुर अपने राज्य को खोकर वन में रहते हैं। वे नेत्र-हीन हैं। आपकी कृपा से नेत्रवान हों और बलवान तथा सूर्य के समान तेजस्वी हों। यमराज बोले तूने जैसा कहा है, वैसा ही होगा—मैं तुझे यह वर देता हूँ। तू मार्ग चलने से अधिक थक चुकी है। अब अधिक परिश्रम न कर और लौट कर चली जा ॥७८-८३॥

ददानि तेऽहं तमनिन्दिने वरं

यथा त्वयोक्तं भविता च तत् तथा ।

तवाध्वना ग्लानिमिवोपलक्षये

निवर्त गच्छस्व न ते श्रमो भवेत् ॥८४

श्रमः कुतो भर्तृसमीपतो हि मे

यतो हि भर्ता मम सा गतिर्ध्रुवा ।

यतः पतिं नेष्यसि तत्र मे गतिः

सुरेश भूयश्च वचो निबोध मे ॥८५

सतां सकृत्संगतमीप्सितं परं

ततः परं मित्रमिति प्रचक्षते ।

न चाफलं सत्पुरुषेण सङ्गतं

ततः सतां सन्निवसेत् समागमे ॥८६

मनोऽनुकूलं बुधबुद्धिवर्धनं
 त्वयायुक्तं वचनं हिताश्रयम् ।
 विना पुनः सत्यवतोऽस्य जीवितं
 वरं द्वितीयं वरयस्व भामिनि ॥८७
 हृतं पुरा मे श्वशुरस्य धीमतः
 स्वमेव राज्यं लभतां स पार्थिवः ।
 जह्यात् स्वधर्मं न च मे गुरुर्यथा
 द्वितीयमेतद् वरयामि ते वरम् ॥८८
 स्वमेव राज्यं प्रतिपत्स्यतेऽचिरा-
 न्न च स्वधर्मात् परिहास्यते नृपः ।
 कृतेन कामेन मया नृपात्मजे
 निवर्तगच्छस्व न ते श्रमो भवेत् ॥८९
 प्रजास्त्वयंता नियमेन संयता
 नियम्य चेता नयसे निकामया ।
 ततो यमत्वं तव देव विश्रुतं
 निबोध चेमां गिरमीरितां मया ॥९०
 भद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
 अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥९१
 सावित्री ने कहा—अपने स्वामी के पास रहते हुए मुझे श्रम नहीं
 हो सकता । जहाँ मेरे पति रहेंगे, वही मैं रहूँगी । जहाँ आप उन्हें ले
 जायेंगे, वहीं मुझे जाना होगा । हे देवेश ! आप मेरा निवेदन सुनें । सत्पु-
 र्षों का एक बार का समागम भी अभीष्ट होता है । फिर यदि उनसे
 मित्रता हो जाय तो और भी उत्तम । साधुजनों का संग निष्फल नहीं होता
 इसलिये सदा साधुजन का ही साथ करे । यमराज ने कहा—सावित्री !
 तेरी यह बात सब के हित में और मेरे भी मन के अनुकूल है । उससे
 विद्वानों की भी बुद्धि-वृद्धि होगी । इसलिये तू सत्यवान के जीवन के
 अतिरिक्त कोई अन्य वर माँग ले । सावित्री ने कहा—भगवन् ! मेरे बुद्धि-
 मान श्वशुर का छिना हुआ राज्य उन्हें पुनः प्राप्त हो और वे मेरे पूज्य

गुरु द्युमत्सेन अपने धर्म का कभी त्याग न करें, यह दूसरा वर मुझे दें । यमराज ने कहा—राजा द्युमत्सेन को उनका राज्य शीघ्र ही प्राप्त होगा और वे कभी अपने धर्म को नहीं छोड़ेंगे । अब तेरा इच्छित तुझे मिल गया । अब तू लौट जा, जिससे अधिक न थके । सावित्री बोली—आप इस सम्पूर्ण प्रजा को नियम पूर्वक संयम में रखते हुए उसका नियमन कर के उसे विभिन्न लोकों की प्राप्ति कराते हैं, इसीलिये आप 'यम' नाम से प्रसिद्ध हैं । अब मेरा निवेदन सुनें । साधुजनों का सनातन धर्म है कि मन बाणी और कर्म से, किसी से भी द्रोह न करे, सब पर दया रखे और दान दे ॥८४-९१॥

एवंप्रायश्च लोकोऽयं मनुष्यं मनुष्याः शक्तिपेशलाः ।

सन्तस्त्वेवाप्यमित्रेषु दयां प्राप्तेषु कुर्वते ॥९२

पिपासितस्येव भवेद् यथा पय-

स्तथात्वया वाक्यमिदं समीरितम् ।

विना पुनः सत्यवतोऽस्य जीवितं

वरं वृणीष्वेह शुभे यदिच्छसि ॥९३

ममानपत्यः पृथिवीपतिः पिता

भवेत् पितुः पुत्रशतं तथौरसम् ।

कुलस्य सन्तानकरं च यद् भवेत्

तृतीयमेतद् वरयामि ते वरम् ॥९४

कुलस्य सन्तानकरं सुवर्चसं

शतं सुतानां पितुरस्तु ते शुभे ।

कृतेन कामेन नराधिपात्मजे

निवर्त दूरं हि पथस्त्वमागता ॥९५

न दूरमेतन्मम भर्तृसंनिधौ

मनो हि मे दूरतरं प्रधावति ।

अथ ब्रजन्नेव गिरं समुद्यतां

मयोच्यमानां शृणु भूय एव च ॥९६

विवस्वतस्त्वं तनयः प्रतापवां-

स्ततो नि वैवस्वत उच्यसे बुधैः ।

समेन धर्मेण चरन्ति ताः प्रजा-

स्ततस्तवेहेश्वर धर्मराजता ॥६७

आत्मन्यपि न विश्वासस्तथा भवति सत्सु यः ।

तस्मात् सत्सु विशेषेण सर्वः प्रणयमिच्छति ॥६८

संसार में प्रायः सब अल्पायु होते हैं और मनुष्य को निर्बल होना तो प्रसिद्ध है ही । आप जैसे सन्त तो अपने शत्रुओं के शरण में आने पर उन पर भी दया करते हैं । यमराज ने कहा—जैसे प्यासे को जल के मिल जाने पर आनन्द होता है, वैसे ही तेरी यह बातें मेरे लिये आनन्द देने वाली हैं । इसलिये, अब तू सत्यवान के अतिरिक्त कोई अन्य वर, अपनी इच्छानुसार मुझसे माँग ले । सावित्री बोली—मेरे पिता अश्वपति के कोई पुत्र नहीं है, उनके सौ औरस पुत्र हों, जिससे सन्तान-परम्परा चल सके । मुझे यह तीसरा वर दीजिये । यमराज बोले—अच्छा ! तेरे पिता के कुल को चलाने वाले सौ तेजस्वी पुत्र होंगे । तेरी यह इच्छा भी पूरी होगई, तू अपने मार्ग से बहुत दूर चली आई है, अब लौट जा । सावित्री बोली—भगवन् ! अपने स्वामी के पास होने के कारण यह स्थान कुछ दूर नहीं है । मेरा मन तो अब और भी दूर तक जा रहा है । आप चलते-चलते ही मेरा निवेदन पुनः सुनने की कृपा करें । आप भगवान् सूर्य के प्रतापी पुत्र हैं, इसीलिये विद्वज्जन आपको वैवस्वत कहते हैं । सम्पूर्ण प्रजा के साथ समान धर्माचरण करने के कारण आप धर्मराज कहे जाते हैं । मनुष्य को स्वयं पर जितना विश्वास नहीं होता, उतना संतजनों पर होता है । इसीलिये संतजनों से सभी प्रेम करते हैं ॥६२-६८॥

सौहृदात् सर्वभूतानां विश्वासो नाम जायते ।

तस्मात् सत्सु विशेषेण विश्वासं कुरुते जनः ॥६९

उदाहृतं ते वचनं यदङ्गने

शुभे न तादृक्त्वदृते श्रुतं मया ।

]

अनेन तुष्टोऽस्मि विनास्य जीवितं

वरं चतुर्थं वरयस्व गच्छ च ॥१००

ममात्मजं सत्यवतस्तथौरसं

भवेदुभाभ्यामिह यत् कुलोद्वहम् ।

शतं सुतानां बलवीर्यशालिना-

मिदं चतुर्थं वरयामि ते वरम् ॥१०१

शतं सुतानां बलवीर्यशालिनां

भविष्यति प्रीतिकरं तवाबले ।

परिश्रमस्ते न भवेन्नुपात्मजे

निवर्तं दूरं हि पथस्त्वमागता ॥१०२

सतां सदा शाश्वतधर्मवृत्तिः

सन्तो न सीदन्ति न च व्यथन्ति ।

सतां सद्भिर्नाफलः सद्भ्योऽस्ति

सद्भ्यो भयं नानुवर्तन्ति सन्तः ॥१०३

सन्तो हि सत्येन नयन्ति सूर्यं

सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति ।

सन्तो गतिर्भूतभव्यस्य राजन्

सतां मध्ये नावसीदन्ति सन्तः ॥१०४

आर्यजुष्टमिदं वृत्तमिति विज्ञाय शाश्वतम् ।

सन्ता परार्थं कुर्वाणा नावेक्षन्ति परस्परम् ॥१०५

सभी प्राणियों में परस्पर के सौहार्द्र से विश्वास की उत्पत्ति होती है । सन्तजनों में सौहार्द्र होने से ही उन पर सभी का विश्वास रहता है । यमराज ने कहा—सावित्री ! तेरे मुख से जो बातें सुन रहा हूँ, वह अब तक किसी और के मुख से नहीं सुनी । मैं तेरी बातों से अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ । अब तू, सत्यवान के जीवन के अतिरिक्त, कोई चौथा वर और माँग कर यहाँ से लौट जा । सावित्री बोली—भगवद् ! मेरे और सत्यवान के संयोग से कुल की वृद्धि करने वाले तथा बल और पराक्रम में बढ़े चढ़े सौ औरस पुत्र हों । यह चौथा वर मुझे दीजिये । यमराज ने कहा—हे

अबले ! बल और पराक्रम से सम्पन्न सौ पुत्रों की तुझे प्राप्ति होगी, वे तेरी प्रसन्नता को बढ़ाने वाले होंगे। थकावट से बचने के लिये अब तू लौट जा, क्योंकि मार्ग से बहुत दूर चली आई है। सावित्री ने कहा— भगवन् ! सत्पुरुष तो निरन्तर धर्म-बुद्धि वाले होते हैं। उन श्रेष्ठ पुरुषों को दुःख या व्यथा संतप्त नहीं करती। सत्पुरुषों का संतों से समागम निष्फल नहीं होता और श्रेष्ठ पुरुषों को संतों से कभी डर भी नहीं लगता। सत्य के बल से श्रेष्ठ पुरुष सूर्य का संचालन करते हैं और संतगण अपनी तपस्या से इस पृथिवी को धारण करते हैं। सत्पुरुषों के आश्रय में ही भूत, भविष्यत्, वर्तमान रूप तीनों काल टिके हैं। संतों के मध्य रहने वाले पुरुष कभी दुःखी नहीं रहते। यह सनातन सदाचार सत्पुरुषों द्वारा सदा से सेवित है। इसे जानने वाले पुरुष परोपकार करते और परस्पर में कभी स्वार्थ की दृष्टि नहीं रखते ॥६६-१०६॥

न च प्रसादः सत्पुरुषेषु मोघो

न चाप्यर्थो नश्यति नापि मानः ।

यस्मादेतन्नियतं सत्सु नित्यं

तस्मात् सन्तो रक्षितारो भवन्ति ॥१०६॥

यथा यथा भाषसि धर्मसंहितं

मनोजुकुलं सुपदं महार्थवत् ।

तथा तथा मे त्वयि भक्तिरुत्तमा

वरं वृणीष्वप्रतिमं पतिव्रते ॥१०७॥

न तेऽपवर्गः सुकृताद् विनाकृत-

स्तथा यथान्येषु वरेषु मानद ।

वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं

यथा मृता ह्येवमहं पतिं विना ॥१०८॥

न कामये भर्तृविनाकृता सुखं

न कामये भर्तृविनाकृता दिवम् ।

न कामये भर्तृविनाकृता श्रियं

न भर्तृहीना व्यवसामि जीवितुम् ॥१०९॥

वरातिसर्गः शतपुत्रता मम

त्वयैव दत्तो ह्रियते च मे पतिः ।

वरं वृणो जीवन् सत्यवानयं

तवैव सत्यं वचनं भविष्यति ॥११०॥

तथेत्युक्त्वा तु तं पाशं मुक्त्वा वैवस्वतो यमः ।

धर्मराजः प्रहृष्टात्मा सावित्रीमिदमब्रवीत् ॥१११॥

एष भद्रे मया मुक्तो भर्ता ते कुलनन्दिनि ।

तोषितोऽहं त्वया साध्विवाक्यैर्धर्मार्थसंहितैः ।

अरोगस्तव नेयश्च सिद्धार्थः स भविष्यति ॥११२॥

चतुर्वर्षशतायुश्च त्वया सार्धमवाप्स्यति ।

इष्ट्वा यज्ञैश्च धर्मेण ख्यातिं लोके गमिष्यति ॥११३॥

सत्पुरुषों का प्रसाद व्यर्थ नहीं होता और किसी के स्वार्थ की हानि नहीं होती तथा मान-सम्मान भी नष्ट नहीं होता । प्रसाद, अर्थ और मान यह तीनों ही सन्तों में नित्य-निरन्तर बने रहने से वे सम्पूर्ण विश्व की रक्षा करते हैं । यमराज ने कहा—हे पतिव्रता सावित्री ! तू जैसे-जैसे गूढार्थ युक्त, श्रेष्ठ पदों से भूषित, मनोनुकूल धर्म-सङ्गत बात मुझसे कहती जा रही है, वैसे-वैसे ही मेरे मन में तेरी भक्ति बढ़ रही है । इस-लिये, तू मुझसे कोई और श्रेष्ठ वर माँग ले । सावित्री ने कहा—आपने मुझे जो वर पुत्र-प्राप्ति के लिये दिया है, उसका पवित्र दाम्पत्य संयोग के बिना सफल होना सम्भव नहीं है । यह अन्तिम वर अन्य वरों के समान नहीं है और उसकी सफलता के लिये मैं पुनः सत्यवान के जीवित होने का वर माँगती हूँ । क्योंकि इनके बिना मैं भी मृतक के समान ही हूँ । यदि कोई सुख पति के बिना ही मिलता हो तो उसकी मुझे इच्छा नहीं है । पति के बिना तो मैं स्वर्ग में भी नहीं जाना चाहती । उनके बिना, धन-सम्पत्ति भी मेरे किसी काम की नहीं है । तथा मैं अपने इन पति के बिना अब जीवन-धारण भी नहीं करना चाहती । भगवन् ! आपने ही मुझे सौ पुत्रों के होने का वर दिया है और आप ही मेरे पति को साथ लिये जा रहे हैं । इसलिये, जिससे आपका वचन

सत्य हो, वंसा ही वर मांगती हूँ कि यह सत्यवान जीवित हो जाय । मार्कण्डेयजी बोले कि हे युधिष्ठिर ! फिर सूर्यपुत्र धर्मराज ने 'तथास्तु' कह कर सत्यवान को बन्धन मुक्त कर, प्रसन्न होते हुए सावित्री से कहा । हे कल्याणि ! मैंने तेरे पति को मुक्त कर दिया । तूने अपने धर्म-अर्थ वाले श्रेष्ठ वचनों से मुझे पूरी तरह सन्तुष्ट कर दिया है । अब यह सत्यवान रोग-रहित, सफल मनोरथ हो गया है । तू इसे ले जा सकती है ॥१०६-११३॥

त्वयि पुत्रशतं चैव सत्यवाञ्जनयिष्यति ।

ते चापि सर्वे राजानः क्षत्रियाः पुत्रपौत्रिणः ॥११४

ख्यातास्त्वन्नामधेयाश्च भविष्यन्तीह शाश्वताः ।

पितुश्च ते पुत्रशतं भविता तव मातरि ॥११५

मालव्यां मालवानाम् शाश्वताः पुत्रपौत्रिणः ।

भ्रातरस्ते भविष्यन्ति क्षत्रियास्त्रिदशोपमाः ॥११६

एवं तस्यै वरं दत्त्वा धर्मराजः प्रतापवान् ।

निवर्तयित्वा सावित्रीं स्वमेव भवनं ययौ ॥११७

सावित्र्यपि यमे याते भर्तारं प्रतिलभ्य च ।

जगाम तत्र यत्रास्या भर्तुः शावं कलेवरम् ॥११८

सा भूमौ प्रेक्ष्य भर्तारमुपसृत्योपगृह्य च ।

उत्सङ्गे शिर आरोप्य भूमावुपविवेश ह ॥११९

तेरे साथ रहते हुए इसकी आयु चार सौ वर्ष की होगी और यज्ञों का अनुष्ठान करते हुए यह अपने धर्म के आचरण के कारण संसार भर में ख्याति प्राप्त करेगा । सत्यवान् के द्वारा तेरे गर्भ से सौ पुत्रों की उत्पत्ति होगी और वे सभी पुत्र राजा होंगे तथा पुत्र-पौत्रों वाले होंगे । उन सब की तेरे ही नाम से ख्याति होगी और तेरे पिता को भी तेरी माता के गर्भ से सौ पुत्र प्राप्त होंगे । तेरी माता मालवी से उत्पन्न वे पुत्र मालवा कहे जायेंगे और वे तेरे सभी भाई पुत्र पौत्रों से युक्त और देवताओं जैसे तेजस्वी होंगे । सावित्री को वरदान देकर प्रतापवान् धर्मराज ने उसे

लौटाया और स्वयं अपने लोक को चले गए । यमराज से अपने पति को पाकर और उनके चले जाने पर सावित्री अपने पति के मृतक शरीर के पास पहुंची । जहाँ उसके पति का शरीर पड़ा था, वहाँ जाकर सावित्री पृथिवी पर बैठी और पति के मस्तक को उठा कर अपनी गोद में रख लिया ॥११३-११६॥

संज्ञां च स पुनर्लब्ध्वा सावित्रीमभ्यभाषत ।
 प्रोष्यागत इव प्रेम्णा पुनः पुनरुदीक्ष्य वै ॥१२०
 सुचिरं बत सुप्तोऽस्मि किमर्थं नावबोधितः ।
 क चासौ पुरुषः श्यामो योऽसौ मां संचकर्ष ह ॥१२१
 सुचिरं त्वं प्रसुप्तोऽसि ममाङ्गे पुरुषर्षभ ।
 गतः स भगवान् देवः प्रजासंयमनो यमः ॥१२२
 विश्रान्तोऽसि महाभाग विनिद्रश्च नृपात्मज ।
 यदि शक्यं समुत्तिष्ठविगाढां पश्य शर्वरीम् ॥१२३
 उपलभ्य ततः संज्ञां सुखसुप्त इवोत्थितः ।
 दिशः सर्वा विनान्तांश्च निरीक्ष्योवाच सत्यवान् ॥१२४
 फलाहारोऽस्मि निष्क्रान्तस्त्वया सह सुमध्यमे ।
 ततः पाटयतः काष्ठं शिरसो मे रुजा भवत् ॥१२५
 शिरोऽभितापसंतप्तः स्थातुं चिरमशक्नुवन् ।
 तवोत्सङ्गे प्रसुप्तोऽस्मि इति सर्वं स्मरे शुभे ॥१२६
 त्वयोपगूढस्य च मे निद्रयापहृतं मनः ।
 ततोऽपश्यं तमो घोरं पुरुषं च महौजसम् ॥१२७

फिर, चेतना के पुनः प्राप्त होने पर परदेश में जाकर लौटे हुए पुरुष के समान बारम्बार सावित्री की ओर देखते हुए वह प्रेममय वचन कहने लगे । सत्यवान ने कहा—प्रिये ! मुझे सोते हुए बहुत देर होगई, तुमने मुझे जगा क्यों नहीं दिया । जिन कृष्ण वर्ण वाले पुरुष ने मुझे खींचा था, वे कहाँ हैं ? सावित्री बोली—हे पुरुषर्षभ ! आप मेरी गोद में देर तक सोते रहे । कृष्ण वर्ण के वे पुरुष प्रजा को अपने वश में रखने वाले

साक्षात् यमराज थे, वे भगवान् अब चले गये । हे राजकुमार ! हे महा-
भाग ! आपने विश्राम कर लिया और आपकी नींद भी खुल गयी । यदि
शक्ति हो तो उठिये । क्योंकि गहन अन्धकार वाली रात हो चुकी है ।
मार्कण्डेयजी बोले कि सत्यवान होश में आकर निद्रा से जगे हुए पुरुष के
समान उठे और वन प्रान्त में सब दिशाओं की ओर देखते हुए कहने
लगे—मैं फल लाने के लिये घर से तुम्हारे साथ चला था, फिर लकड़ी
चीरते में जोर से शिर-शूल होने लगा था । शिर की उस असह्य पीड़ा
से मैं इतना अशक्त हो गया कि तुम्हारी गोद में सिर रख कर सो गया ।
अब क्रमशः वह सब बातें याद आती जा रही हैं । तुम्हारे अङ्ग-स्पर्श
से मेरा मन निद्रा में खो गया । फिर मुझे अन्धकार दिखाई दिया और
तभी एक अत्यन्त तेजस्वी दिव्य पुरुष का दर्शन हुआ ॥१२८-१२९॥



—*—

१३-ईश्वर गीता

भवता कथितः सम्यक् सर्गः स्वायम्भुवःप्रभो ! ।
 ब्रह्माण्डस्याऽऽदिविस्तारो मन्वन्तरविनिश्चयः ॥१॥
 तत्रेश्वरेश्वरो देवी वर्णिभिर्धर्मतत्परैः ।
 ज्ञानयोगरतैर्नित्यमाराध्यः कथितस्त्वया ॥२॥
 तत्त्वश्चाशेषसंसारदुःखनाशमनुत्तमम् ।
 ज्ञानं ब्रह्मैकविषयं तेन पश्येम तत्परम् ॥३॥
 त्वं हि नारायणः साक्षात्कृष्णद्वैपायनात्प्रभो ।
 अवाप्ताखिलविज्ञानंस्तत्त्वां पृच्छामहे पुनः ॥४॥
 श्रुत्वामुनीनांतद्वाक्यं कृष्णद्वैपायनात्प्रभुः ।
 सूतःपौराणिकःश्रुत्वाभाषितुं ह्युपचक्रमे ॥५॥
 तथास्मिन्नन्तरेव्यासःकृष्णद्वैपायनःस्वयम् ।
 आजगाममुनिश्रेष्ठा यत्र सत्रंसमासते ॥६॥
 तं दृष्ट्वा वेदविद्धांसकालमेघसमद्युतिम् ।
 व्यासकमलपत्राक्षं प्रणमुद्विजपुङ्गवाः ॥७॥

ऋषिगण ने कहा—हे प्रभो ! श्रीमान् आपने स्वायम्भुव सर्ग का वर्णन बहुत ही अच्छी रीति से कर दिया है । आपने इस ब्रह्माण्ड का आदि विस्तार तथा मन्वन्तर का विनिश्चय भी कह सुनाया है ॥१॥ वहाँ पर ईश्वरेश्वर देव की वर्णी एवं धर्म में तत्पर रहने वाले—ज्ञान योग में निरत पुरुषों के द्वारा नित्य ही समाराधन करना चाहिये—यह भी आपने बतला दिया है ॥२॥ अमेष संसार में होने वाले दुःखों के नाश करने वाला उत्तम तत्त्व ब्रह्म के विषय वाला एक ज्ञान ही है । इस लिये हम लोग उसको ही परम देखते हैं । अर्थात् वही सर्वोपरि है—ऐसा

समझते हैं ॥३॥ हे प्रभो ! आप तो स्वयं साक्षात् नारायण हैं । आपने श्रीकृष्ण द्वैपायन से सम्पूर्ण विज्ञान की प्राप्ति की है । हम आप से ही पुनः पूछते हैं ॥४॥ मुनिवृन्द के इस वाक्य का श्रवण करके सूतजी ने जो परम पौराणिक थे श्रीकृष्ण द्वैपायन से श्रवण करके भाषण करने का उपक्रम किया था ॥५॥ तथा इस मन्वन्तर में कृष्ण द्वैपायन व्यासजी स्वयं ही हे मुनिश्रेष्ठो ! वहाँ पर समागत हो गये थे जहाँ पर यह सत्र हो रहा था ॥६॥ उस समय में वहाँ पर कालमेघ के समान द्युति वाले वेदों के महामनीषी प्रभु कमल के तुल्य नेत्रों वाले व्यास देव का दर्शन करके सब ने हे द्विजों में श्रेष्ठ वृन्द ! उनको प्रणाम किया था ॥७॥

पपात दण्डवद्भूमौदृष्ट्वाऽसौलोमहर्षणः ।

प्रणम्य शिरसाभूमौप्राञ्जलिर्वंशगोऽभवत् ॥८॥

पृष्ठास्तेऽनामयं विप्राः शौनकाद्या महामुनिम् ।

समासृत्याऽऽसनं(समाश्वासयासनं)तस्मैतद्योग्यंसमकल्पयन् ॥९॥

अथैतानब्रवीद्वाक्यं पराशरमुतः प्रभुः ।

कच्चिन्नहानिस्तपसःस्वाध्यायस्यश्रुतस्यच ॥१०॥

ततश्च सूतः स्वगुरुं प्रणम्याह महामुनिम् ।

ज्ञानं तद्ब्रह्मविषयं मुनीनां वक्तुमर्हसि ॥११॥

इमे हि मुनयः शान्तास्तापसा धर्मतत्पराः ।

शुश्रूषाजायते चैषांवक्तुमर्हसि तत्त्वतः ॥१२॥

ज्ञान विमुक्तिदं दिव्यं यन्मे साक्षात्त्वयोदितम् ।

मुनीनां व्याहृतं पूर्वं विष्णुना कूर्मरूपिणा ॥१३॥

श्रुत्वा सूतस्य वचनं मुनिः सत्यवतीसुतः ।

प्रणम्यशिरसारुद्रं वचःप्राहसुखावहम् ॥१४॥

यह लोमहर्षण सूतजी तो उनके चरणों में एक दण्ड की भाँति ही निपतित हो गये थे । जिस समय में उन्होंने वहाँ पर व्यास देव का दर्शन प्राप्त किया था । शिर केवल उनके चरणों में प्रणाम करके हाथ जोड़ कर उनके वंशगत हो गये थे ॥८॥ उन महामुनीन्द्र से शौनकादि समस्त विप्रों ने उनका कुशल समाचार पूछा था और फिर समाश्वासित होकर उनको

एक परमोचित आसन निवेदित किया ॥६॥ इसके अनन्तर पराशर मुनि के पुत्र ने इन लोगों से यह वाक्य बोला था—आप लोग मुझे यह तो बतलाइये कि यहाँ पर कोई आपकी तपश्चर्या में—स्वाध्याय में और श्रुत में हानि तो नहीं है । इसके उपरान्त सूतजी ने अपने गुरु देव को पुनः प्रणाम करके कहा—हे भगवन् ! आप स्वयं यहाँ पधार आये हैं तो इन समस्त मुनिगण को ब्रह्म के विषय का ज्ञान बताने की कृपा कीजिएगा ॥१०-११॥ ये सब मुनिगण परम शान्त स्वभाव वाले हैं—तपश्चर्या में अर्हतिश निरत रहा करते हैं और धर्म में परायण हैं । इन की शूश्रूषा होती है अतएव इनको यह तत्त्व पूर्वक आप बतलाने के योग्य हैं ॥१२॥ जो ज्ञान विमुक्ति के प्रदान करने वाला है और आपने साक्षात् मुझ से कहा था । पहिले कूर्म के स्वरूप धारण करने वाले भगवान् विष्णु ने मुनियों को कहा था ॥१३॥ इस प्रकार सूतजी के वचन का श्रवण करके सत्यवती के सुत मुनि ने शिर से भगवान् रुद्र को प्रणाम करके इस सुख के देने वाले वचन को कहा था ॥१४॥

वक्ष्ये देवो महादेवः पृष्ठो योगीश्वरैःपुरा ।

सनत्कुमारप्रमुखैः सस्वयं समभाषत ॥१५॥

सनत्कुमारः सनकस्तथैव च सनन्दनः ।

अङ्गिरा रुद्र सहितो भृगुः परमधर्मवित् ॥१६॥

कणादः कपिलो गगर्गो वामदेवो महामुनिः ।

शुक्रो वशिष्ठो भगवान्सर्व्वे सयतमानसाः ॥१७॥

परस्परं विचार्य्यैते सयमाविष्टचेतसः ।

तप्तवन्तस्तपो घोरं पुण्ये बदारिकाश्रमे ॥१८॥

अपश्यंस्ते महायोगमृषिधर्मसुतं मुनिम् ।

नारायणमनाद्यन्तं नरेण सहितं तदा ॥१९॥

सस्तूय विवधैः स्तोत्रैः सर्व्वे वेदसमुद्भवैः ।

प्रणमुर्भक्तिसंयुक्ता योगिनो योगवित्तमम् ॥२०॥

विज्ञाय वाञ्छितं तेषां भगवान् सर्व्ववित् ।

प्राह गम्भीरयावाचा किमर्थं तप्यते तपः ॥२१॥

व्यास देव ने कहा—पहिले समय में योगीश्वरों ने देवाधिदेव महादेव जी से पूछा था जिनमें सनत्कुमार आदि प्रमुख पूछने वाले थे । उस समय में भगवान् रुद्र ने स्वयं ही श्रीमुख से कहा था ॥१५॥ वहाँ पर सनत्कुमार—सनक—सनन्दन—आङ्गरा—रुद्र सहित भृगु जो परम धर्म के वेत्ता थे—कणाद—कपिल—गर्ग—महामुनि वामदेव—शुक्र—वसिष्ठ भगवान् ये सभी परम संयत मन वाले उपस्थित थे ॥१६-१७॥ इन सब ने परस्पर में भली-भाँति विचार करके सभी संयम में आविष्ट चित्त वाले होकर तप का तपन कर रहे थे जो परम घोर था और बदरिकाश्रम में किया जा रहा था । उन्होंने ऋषि धर्म सुत महायोग मुनि को देखा था उस समय में नर के सहित अनद्यन्त नारायण थे ॥१८-१९॥ समस्त वेदों से समुद्भूत विविध स्तोत्रों से उनका स्तवन करके भक्तिभाव से संयुक्त होकर योगियों ने योग के परम वेत्ता प्रभु को प्रणाम किया था ॥२०॥ सर्व वेत्ता भगवान् ने उनके हार्दिक वञ्छित को जान कर उन्होंने गम्भीर वाणी से कहा था कि आप लोग यह तपश्चर्या किस प्रयोजन की सिद्धि के लिये कर रहे हैं ॥२१॥

अब्रुवन् हृष्टमनसो विश्वात्मानंसनातनम् ।

साक्षान्नारायणं देवमागतं सिद्धिसूचकम् ॥२२

वयंसंयममापन्नाः सर्वेवैब्रह्मवादिनः ।

भवन्तमेकं शरणं प्रपन्नापुरुषोत्तमम् ॥२३

त्वंवेत्सि परमं गुह्यं सर्वन्तुमभवानृषिः ।

नारायणःस्वयंसाक्षात्पुराणोऽव्यक्तपूरुषः ॥२४

नह्यन्यो विद्यते वेत्ता त्वामृते परमेश्वरम् ।

सत्त्वमस्याकमचलं सशयं छेत्तुमर्हसि ॥२५

किं कारणमिदं कृत्स्नं को नु संसरते सदा ।

कश्चिदात्मा च का मुक्तिः संसारः किन्निमित्तकः ॥२६

कः संसार इतीशानः को वा सर्वप्रपश्यति ।

किं तत्परतरं ब्रह्म सर्वं नो वक्तुमर्हसि ॥२७

एवमुक्त्वा तु मुनयः प्रापश्यन् पुरुषोत्तमम् ।

विहाय तापसं वेषं सस्थितं स्वेन तेजसा ॥२८॥

उर समस्त मुनियों ने परम प्रहृष्ट मन वाले होकर उन सनातन विश्वात्मा साक्षात् नारायण जो सिद्धि के पूर्ण सूचक थे वहाँ पर समागत देव से कहा था ॥२२॥ हम सभी लोग परम संयम में समापन्न हो गये हैं और सभी लोग ब्रह्मवादी हैं । अब पुरुषोत्तम एक आपकी ही शरण में प्रपन्न हुए हैं ॥२३॥ आप तो भगवान् ऋषि हैं और सभी परम गोपनीय विषय को जानते हैं । आप तो स्वयं साक्षात् अव्यक्त पुरुष पुराण और नारायण हैं ॥२४॥ आप परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई भी इसका जानकार नहीं है । सो वही आप अब हमारे इस संशय का छेदन कर देने की कृपा करें क्योंकि आप ही इसके योग्य हैं ॥२५॥ इस सब का क्या कारण है—कौन सदा इस तरह से संसरण किया करता है ? आत्मा कौन है ? मुक्ति किसको कहा जाता है ? यह संसार किस निमित्त से होता है ॥२६॥ कौन संसार है और कौन सा ईशान सब को देखा करता है ? उस सब से परतर जो ब्रह्म कहा जाता है वह कौन—कैसा और क्या है—यह सभी कुछ आप हम सब को बताने के योग्य हैं । इस प्रकार से मुनिगण ने कहकर पुरुषोत्तम की ओर वे सब देखने लगे थे । जो तापस वेष का त्याग करके अपने ही तेज से वहाँ पर संस्थित थे ॥२७-२८॥

विभ्राजमानं विमलं प्रभामण्डलमण्डितम् ।

श्रीवत्सवक्षसं देवं तप्तजाम्बूनदप्रभम् ॥२९॥

शङ्खचक्रगदापाणिं शार्ङ्गहस्तं श्रियावृतम् ।

न दृष्टस्तक्षणादेव नरस्तस्यैव तेजसा ॥३०॥

तदन्तरे महादेवः शशाङ्काङ्कितशेखरः ।

प्रसादाभिमुखोरुद्रः प्रादुरासीन्मेहेश्वरः ॥३१॥

निरीक्ष्य ते जगन्नाथं त्रिनेत्रं चन्द्रभूषणम् ।

तुष्टुबुह्ंष्टमनसो भक्त्या तं परमेश्वरम् ॥३२॥

जयेश्वर ! महादेव ! जय भूतपते ! शिव ! ।

जयाशेषमुनीशान ! तपसाऽभिप्रपूजित ! ॥३३॥

सहस्रमूर्त्ते विश्वात्मन जगद्यन्त्रप्रवर्त्तक ! ।

जयानन्त ! जगज्जन्मत्राणसंहारकारक ! ॥३४

सहस्रचरणेशान शम्भो योगीन्द्रवन्दित ! ।

जयाम्बिकापते देव नमस्ते परमेश्वर ॥३५

वे विभ्राजमान, विमल, प्रभा के मण्डल से पण्डित, श्रीवत्स का चिह्न वक्षःस्थल में रखने वाले, तपे हुए सुवर्ण के समान प्रभा से युक्त, हाथों में शंख चक्र और गदा को धारण करने वाले तथा शाङ्ग धनुष-धारी, श्री से समावृत थे । उसी क्षण में कोई भी मनुष्य उनके तेज से दिखालाई नहीं दिया था ॥२६-३०॥ उसी अन्तर में शशाङ्क से अङ्कित मस्तक वाले महादेव महेश्वर रुद्र प्रसादाभिमुख होते हुए प्रादुर्भूत हुए थे ॥३१॥ जगत् के नाथ, तीन नेत्रों वाले, चन्द्र के भूषण से युक्त उन परमेश्वर का दर्शन करके परम प्रसन्न मन वाले होते हुए भक्ति से उनकी स्तुति की थी ॥३२॥ हे ईश्वर ! हे महादेव ! हे भूतपते ! हे शिव ! आपकी जय हो । हे अशेष मुनीशान ! हे तप से अभिपूजित ! आपकी जय हो ॥३३॥ हे सहस्र मूर्त्ते ! हे विश्वात्मन् ! हे जगत् के यन्त्र के प्रवर्त्तक ! हे अनन्त ! हे जगत् के जन्म-त्राण और संहार के करने वाले ! आपकी जय हो ॥३४॥ हे सहस्र चरणों वाले ईशान ! हे शम्भो ! आप तो योगीन्द्रों के द्वारा वन्दित हैं । हे अम्बिका पते ! हे देव ! हे परमेश्वर ! आपको हमारा नमस्कार है ॥३५॥

संस्तुतो भगवानीशस्त्रयम्बको भक्तवत्सलः ।

समालिङ्ग्य हृषीकेशं प्राह गम्भीरया गिरा ॥३६

किमर्थं पुण्डरीकाक्ष मुनीन्द्रा ब्रह्मवादिनः ।

इमं समागता देशं किन्नुकार्यमयाच्युत ॥३७

आकर्ण्य तस्य तद्वाक्यं देवदेवो जनादैनः ।

प्राह देवो महादेव प्रसादभिमुखं स्थितम् ॥३८

इमे हि मुनयो देवतापसाः क्षीणकल्मषाः ।

अभ्यागतानां शरणं सम्यग्दर्शनकांक्षिणाम् ॥३९

यदि प्रसन्नो भगवान्मुनीनां भावितात्मनाम् ।

सन्निधौ मम तज्ज्ञानं दिव्यं वक्तुमिहार्हसि ॥४०॥

त्वं हि वेत्सि स्वमात्मानं न ह्यन्यो विद्यते शिव ! ।

वद त्वमात्मनात्मानं मुनीन्द्रेभ्यः प्रदर्शय ॥४१॥

त्र्यम्बक भक्तों पर प्यार करने वाले भगवान् ईश इस प्रकार से संस्तुत हुए थे और फिर उनने हृषीकेश का समालिङ्गन करके गम्भीर वाणी से कहा ॥३६॥ हे पुण्डरीकाक्ष ! हे ब्रह्मवादी मुनीन्द्र मणो ! आप लोग इस देश में किस लिये समागत हुए हैं ? हे अच्युत ! मुझ से आपका क्या कार्य है ? ॥३७॥ देवों के देव जनार्दन ने उनके इस वचन का श्रवण करके देव ने प्रसाद के अभिमुख सामने अवस्थित महादेव से कहा था ॥३८॥ हे देव ! ये मुनिगण तरस्वी हैं और क्षीण कल्मष वाले हैं । आप भली-भाँति दर्शन प्राप्त करने की आकांक्षा वाले अभ्यागतों के रक्षक हैं ॥३९॥ यदि इन भावित आत्मा वाले मुनियों पर आप प्रसन्न हैं तो मेरी सन्निधि में आप उस दिव्य ज्ञान को बताने के योग्य होते हैं ॥४०॥ हे शिव ! आप ही अपनी आत्मा को जानते हैं अन्य कोई भी ज्ञाता विद्यमान नहीं है । आप वर्णन कीजिए और आत्मा से आत्मा को इन मुनीन्द्रों को दिखलाइये ॥४१॥

एवमुक्त्वा हृषीकेशः प्रोवाचमुनिपुङ्गवान् ।

प्रदर्शयन्योगसिद्धिनिरीक्ष्य वृषभध्वजम् ॥४२॥

सन्दर्शनान्महेशस्य शङ्करस्याथ शूलिनः ।

कृतार्थं स्वयमात्मानं ज्ञातुमर्हथ तत्त्वतः ॥४३॥

द्रष्टुमर्हथ देवेशं प्रत्यक्षं पुरतः स्थितम् ।

ममेव सन्निधाने स यथावद्वक्तुमीश्वरः ॥४४॥

निशम्य विष्णोर्वचनं प्रणम्य वृषभध्वजम् ।

सन्तकुमारप्रमुखाः पृच्छन्ति स्म महेश्वरम् ॥४५॥

अथास्मिन्नन्तरे दिव्यमासनं विमलशिवम् ।

किमप्यचिन्त्यं गगनादीश्वरार्थं समुद्बभौ ॥४६॥

तत्राऽऽससादयोगात्माविष्णुनासहविश्वकृत् ।

तेजसापुरयन्विश्वभातिदेवोमहेश्वरः ॥४७

ततो देवाधिदेवेशं शङ्करं ब्रह्मवादिनः ।

विभ्राजमानं विमले तस्मिन्ददृशुरासने ॥४८

तमासनस्थं भूतानामीशं ददृशिरेकिल ।

यदन्तरा सर्वमेतद्यतोऽभिन्नमिदं जगत् ॥४९

स वासुदेवमीशानमीशं ददृशिरे परम् ।

प्रोवाच पृष्ठो भगवान्मुनीनां परमेश्वरः ॥५०

निरीक्ष्य पुण्डरीकाक्षं स्वात्मयोगमनुत्तमम् ।

तच्छ्रुगुध्वं यथान्यायमुच्यमानं मयाऽनघाः ।

प्रशान्तमनसः सर्व्वे विशुद्धं ज्ञानमैश्वरम् ॥५१

हृषीकेश भगवान् ने इस प्रकार से कह कर फिर इन श्रेष्ठ मुनियों से कहा था और योग की सिद्धि का प्रदर्शन करते हुए वृषभध्वज का निरीक्षण किया था ॥४२॥ हे मुनिगण ! शूली महेश शंकर प्रभु के दर्शन से तात्त्विक रूप से अपने आपको स्वयं कृतार्थ जानने के योग्य हो ॥४३॥ अब आप लोग सब सामने में स्थित प्रत्यक्ष देवेश के दर्शन करने के योग्य हो गये हो । वह ईश्वर मेरी ही सन्निधि में यथावत् कहने के योग्य हैं ॥४४॥ सनत्कुमार जिनमें प्रमुख थे वे मुनिगण भगवान् विष्णु के वचन का श्रवण करके और प्रभु वृषभध्वज को प्रणाम करके महेश्वर से पूछने लगे थे ॥४५॥ इनके अनन्तर इसी अन्तर में दिव्य आसन अति विमल शिव—कुछ अचिन्तनीय ईश्वर के लिये गगन से समुद्भाषित हुआ था ॥४६॥ वहाँ पर योगात्मा विश्व का रचयिता विष्णु के ही साथ सम्प्राप्त हुए तेज से समस्त विश्व को पूरित करते हुए महेश्वर देव भासित हो रहे थे ॥४७॥ इसके उपरान्त ब्रह्मवादी गण ने देवों के अधिदेवेश शङ्कर को उस विमल आसन पर विभ्राजमान् देखा था ॥४८॥ भूतों के ईश उनको आसन पर स्थित सबने देखा । इसके बीच में यह सम्पूर्ण जगत् जिससे अभिन्न था ॥४९॥ उनसे ईशान ईश परम श्री वासुदेव को देखा था । पूछे जाने पर परमेश्वर भगवान् ने मुनियों से कहा था ॥५०॥ हे

अनघो ! स्वात्म योग सर्वोत्तम पुण्डरीकाक्ष का दर्शन कर मेरे द्वारा वर्णित यथा न्याय आप लोग सब श्रवण कीजिए । आप सब प्रशान्त मन वाले हो जाइये और इस विशुद्ध ईश्वरीय ज्ञान को सुनें ॥५१॥

अवाच्यमेतद्विज्ञानं ममगुह्यं सनातनम् ।

यन्न देवाविजानन्ति यतन्तोऽपि द्विजातयः ॥५२

इदं ज्ञानं समाश्रित्यब्राह्मीभूता द्विजोत्तमाः ।

न संसारं प्रपद्यन्तेपूर्वेऽपि ब्रह्मवादिनः ॥५३

गुह्याद्गुह्यतमं साक्षाद्गोपनीयं प्रयत्नतः ।

वक्ष्ये भक्तिमतामद्य युष्माकं ब्रह्मवादिनाम् ॥५४

आत्माय केवलः स्वच्छः शुद्धः सूक्ष्मः सनातनः ।

अस्ति सर्वान्तरः साक्षाच्चिन्मात्रस्तमसः परः ॥५५

सोऽन्तर्यामीसपुरुषः स प्राणःसमेश्वरः ।

स कालोऽत्रतदव्यक्तं सचवेदइतिश्रुतिः ॥५६

अस्माद्विजायतेविश्वमत्रंवप्रविलीयते ।

स मायीमाययाबद्धः करोतिविविधास्तनूः ॥५७

न चाप्ययं संसरति न संसारमयःप्रभुः ।

नायं पृथ्वी न सलिलं न तेजः पवनो नभः ॥५८

ईश्वर ने कहा—यह विज्ञान वस्तुतः न कहने के योग्य है । यह मेरा अतीव गोपनीय और सनातन है । जिसको हे द्विजाति गण ! देव-वृन्द बहुत यत्न करते हुए भी नहीं जानते हैं ॥५२॥ हे द्विजोत्तम ! इस ज्ञान का समाश्रय करके पहिले होने वाले ब्रह्मवादी गण भी इस संसार में ब्राह्मीभूत होकर नहीं आया करते हैं ॥५३॥ यह विषय गुह्य से भी अत्यन्त गुह्य है और प्रयत्न पूर्वक साक्षात् गोप न करने के योग्य है । क्योंकि आप सब लोग ब्रह्मवादी और भक्ति वाले हैं । इसी लिये आज मैं आपके सामने इसे कहूँगा ॥५४॥ यह आत्मा तो केवल है, स्वच्छ है, शुद्ध है, सूक्ष्म है और सनातन है । यह सबके अन्तर में है और साक्षात् चिन्मात्र (ज्ञान स्वरूप) है तथा यह तम से परे है ॥५५॥ वह अन्तर्यामी,

पुरुष, प्राण, महेश्वर, काल और अव्यक्त है वह वेद है—ऐसी श्रुति है ॥५६॥ यह विश्व इसी से समुत्पन्न होता है और अन्त में इसी में विलीन हो जाया करता है । वह मायी माया से बद्ध होकर विविध प्रकार के शरीरों को धारण किया करता है ॥५७॥ यह कभी भी संसरण नहीं किया करता है और प्रभु यह संसार मय भी नहीं होता है । यह पृथ्वी, जल, तेज, पवन और नभ भी नहीं है ॥५८॥

न प्राणो न मानोऽव्यक्तं न शब्दःस्पर्शएवच ।

न रूपरसगन्धाश्च नाहं कर्त्ता न वागपि ॥५९॥

न पाणिपादौ नो पायुर्न चोपस्थं द्विजोत्तमाः ।

नचकर्त्तानिभोक्तावानचप्रकृतिपुरुषौ ॥६०॥

न माया नैव च प्राणा न चैव परमार्थतः ।

यथा प्रकाशतमसोः सम्बन्धो नोपपद्यते ॥६१॥

तद्वदैक्यं न सम्बन्धः प्रपञ्चपरमात्मनोः ।

छायातपो यथा लोके परस्परविलक्षणौ ॥६२॥

तद्वत्प्रपञ्चपुरुषौ विभिन्नौपरमार्थतः ।

तथात्मामलिनःसृष्टो विकारीस्यात्स्वरूपतः ॥६३॥

न हि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपि ।

पश्यन्ति मुनयो मुक्ताः स्वात्मानं परमार्थतः ॥६४॥

विकारहीनं निद्वन्द्वमानन्दात्मानमव्ययम् ।

अहं कर्त्ता सुखी दुःखीकृशः स्थूलेति या मतिः ॥६५॥

यह आत्मा न प्राण है और न मन, अव्यक्त, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ही है । न मैं कर्त्ता हूं और न वाणी ही है । यह हाथ और चरण, पायु और उपस्थ भी हे द्विजोत्तमो ! नहीं है । न किसी कर्म का करने वाला है और न कर्मों के बुरे-भले फलों का भोगने वाला ही है । यह न प्रकृति है और न पुरुष ही है । न यह माया है और परमार्थ स्वरूप से यह प्राण भी नहीं होता है जिस तरह से प्रकाश और तम का एकत्र कभी भी सम्बन्ध उत्पन्न नहीं हुआ करता है । उसी भाँति इस प्रपञ्च का और परमात्मा का ऐसा ऐक्य सम्बन्ध नहीं होता है । यह इसी भाँति है

और सब से भिन्न ही है लोक में छाया और आतप परस्पर में एक दूसरे से विलक्षण ही होते हैं और कभी भी दोनों एकत्र नहीं रह सकते हैं उसी तरह यह समस्त प्रपञ्च और पुरुष परमार्थ से विभिन्न ही होते हैं। यही आत्मा जब मलिन हो जाता है तो संसार में सृष्ट होकर स्वरूप से विकारी हो जाया करता है। उसकी फिर सैकड़ों दूसरे दूसरे जन्मों में भी कभी मुक्ति नहीं हुआ करती है। मुनिगण ही परमार्थ स्वरूप से अपने आपको अर्थात् अपनी आत्मा को मुक्त देखा करते हैं वास्तव में विकारों से हीन, निर्द्वन्द्व, आनन्द रूप, अव्यय इस आत्मा को मैं करने वाला हूँ सुखी, दुखी कृश, स्थूल हूँ—ऐसी जो मति रखते हैं अर्थात् जो ऐसी बुद्धि आत्मा के विषय में किया करते हैं ॥ ६-६५॥

सा चाहङ्गारकर्तृत्वादात्मन्यारोपिताजनैः ।

वदन्ति वेदविद्वांसः साक्षिणं प्रकृतेः परम् ॥६६॥

भोक्तारमक्षरं बुद्धं सर्वत्र समवस्थितम् ।

तस्मादज्ञानमूलो हि संसारः सर्वदेहिनाम् ॥६७॥

अज्ञानादन्यथा ज्ञानात्तत्त्वं प्रकृतिसङ्गतम् ।

नित्योदितं स्वयं ज्योतिः सर्वगः पुरुषः परः ॥६८॥

अहङ्काराविवेकेन कर्त्ता हि मति मन्यते ।

पश्यन्ति ऋषयोऽव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ॥६९॥

प्रधानं पुरुषं बुद्ध्वा कारणं ब्रह्मवादिनः ।

तेनायं सङ्गतः स्वात्मा कूटस्थोऽपि निरञ्जनः ॥७०॥

स्वात्मानमक्षरं ब्रह्म नावबुद्ध्येत तत्त्वतः ।

अनात्मन्यात्मविज्ञानं तस्मादुःखं तथेतरत् ॥७१॥

रागद्वेषादयो दोषाः सर्वे भ्रान्तिनिबन्धनाः ।

कर्मणि स्य महान्दोषः पुण्यापुण्यमिति स्थितिः ॥७२॥

वह ऐसी मति अहंकार के कर्त्ता होने से ही हुआ करती है अर्थात् ऐसी बुद्धि के होने का कारण केवल अहङ्कार ही होता है। मनुष्य उसे आत्मा में आरोपित कर लिया करते हैं अर्थात् अहंकार की वस्तु को

आत्मा की वस्तु मान लेते हैं। वेद के विद्वान् लोग तो उस आत्मा को प्रकृति से सी परे मानते या समझते हैं। अक्षर, बुद्ध और सर्वत्र संभव-स्थित आत्मा को भोक्ता मानना अनुचित है। समस्त देह धारियों का यह सम्पूर्ण संसार ही अज्ञान के मूल वाला है। अर्थात् संसार का मूल ही पूर्ण अज्ञान होता है। अज्ञान से तथा अन्यथा ज्ञान से यह तत्त्व जब प्रकृति से सङ्गत होता है जो नित्योदित, स्वयं ज्योति, सर्वत्र गमन शील और पर पुरुष है अहंकार के कारण अविवेक से अपने आपको मैं सबके करने वाला कर्त्ता हूँ—ऐसा माना करता है। यह तो अहंकाराविवेक से मानी हुई बात है वास्तविक नहीं है। ऋषि लोग इस अव्यक्त, नित्य और सदसदात्मक को देखते हैं अर्थात् वास्तविक स्वरूप इसका वे लोग जानते हैं। प्रधान, पुरुष को भली भांति समझकर जो कि कारण है ब्रह्मावादी जन उससे सङ्गत यह आत्मा कूटस्थ भी निरञ्जन है। स्वात्मा को जो अक्षर ब्रह्म है इसे जो तात्त्विक रूप से नहीं जानता है और आत्मा में आत्म विज्ञान जिसको नहीं है इससे इतर दुःख होता है। राग और द्वेष ये दोष सब भ्रान्ति करने के निबन्धन ही होते हैं। इसके कर्म महान् दोष है और फिर पुण्य व अपुण्य (पाप) की स्थिति बना करती है ॥६६-७२॥

तद्वशादेव सर्वेषां सर्वदेहसमुद्भवः ।

नित्यं सर्वत्र गुह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः ॥७३॥

एकः सन्तिष्ठेशक्त्या मायया न स्वभावतः ।

तस्मादद्वैतमेवाहुर्मुनयः परमार्थतः ॥७४॥

भेदोऽव्यक्तस्वभावेन सा च मायात्मसंश्रया ।

यथा च धूमसम्पर्कान्नाऽऽकाशो मलिनो भवेत् ॥७५॥

अन्तःकरणजं भवैरात्मा तद्वन्नलिप्यते ।

यथा स्वप्रभयाभाति केवलः स्फटिकोपलः ॥७६॥

उपाधिहीनो विमलस्तथैवात्मा प्रकाशते ।

ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद्विचक्षणाः ॥७७॥

अर्थस्वरूपमेवाऽन्ये पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः ।

कूटस्थो निर्गुणो व्यापी चैतन्यात्मा स्वभावतः ॥७८॥

दृश्यते ह्यर्थरूपेण पुरुषज्ञानदृष्टिभिः ।

यथा स लक्ष्यते रक्तः केवलं स्फटिको जनैः ॥७६

इन्हीं के वश में होने से सबको सब प्रकार के देहों का समुद्भव हुआ करता है । वस्तुतः यह आत्मा तो नित्य, सर्वत्र गुह्य स्वरूप वाला, कूटस्थ और सभी दोषों से रहित होता है । यह एक ही शक्ति माया से संस्थित रहा करता है स्वभाव से इसकी संस्थिति नहीं होती है । इसीलिये मुनीन्द्रगण परमार्थ रूप से इसको अद्वैत ही कहा करते हैं । अव्यक्त स्वभाव से ही यह भेद होता है और वह माया आत्मा में संश्रय करने वाली है जिस तरह से निर्मल स्वभाव वाला भी आकाश धूम्र के सम्पर्क को प्राप्त कर मलिन हो जाया करता है । उसी भाँति आत्मा की भी मलिनता होती है । अन्तःकरण से सजात भावों से आत्मा भी उसी की भाँति लिस नहीं होता है क्योंकि यह तो अपनी प्रभा से ही केवल स्फटिक मणि भासित हुआ करता है । उपाधियों से जब यह रहित होता है तो विमल स्वरूप वाला यह आत्मा भी उसी भाँति प्रकाशमान हुआ करता है । विचक्षण लोग इस जगत् को भी ज्ञान स्वरूप वाला ही कहा करते हैं । अन्य लोग इसको अर्थ स्वरूप वाला कहते हैं जिनकी कूटस्थ होती है वे ही ऐसा इसे समझा करते हैं । स्वभाव से यह निर्गुण, कूटस्थ और व्यापी तथा चैतन्य स्वरूप वाला है । ज्ञान की दृष्टि वाले पुरुषों के द्वारा यह अर्थ रूप से दिखलाई दिया करता है जिस तरह से केवल स्फटिक मणि भी जिसका परम शुभ्र श्वेत वर्ण स्वाभाविक है मनुष्यों को रक्त लक्षित हुआ करता है ॥७६-७६॥

रक्तिकाद्युपधानेन तद्वत्परमपुरुषः ।

तस्मादात्माक्षरः शुद्धो नित्यः सर्वत्रगोऽव्ययः ॥८०

उपासितव्यो मन्तव्यः श्रोतव्यश्च मुमुक्षुभिः ।

यदा मनसि चैतन्यं भातिसर्वत्रसर्वदा ॥८१

य गिनः श्रद्धाधानस्य तदा सम्पद्यते स्वयम् ।

यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येवाभिपश्यति ॥८२

सर्वभूतेषु चात्मनं ब्रह्मा सम्पद्यते तदा ।

यदासर्वासर्वाणिभूतानि समाधिस्थोनपश्यति ॥८३

एकीभूतःपरेणासौतदाभवतिकेवलम् ।

यदासर्वेप्रमुंच्यन्ते कामायेऽस्यहृदिस्थिताः ॥८४

तदासावमृतीभूतः क्षेमंगच्छतिपण्डितः ।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ॥८५

तत एवच विस्तारं ब्रह्मा सम्पद्यते सदा ।

यदा पश्यति चात्मानं केवलं परमार्थतः ॥८६

मायामात्रं तदा सर्वं जगदावृतिः निर्वृतः ॥८७

यदि उस स्फटिक के साथ रक्तिका जिसका रक्त वर्ण होता है उप-
धान होने से वह लाल प्रतीत होती है उसी भांति यह परम पुरुष भी
रक्त दिखलाई दिया करता है । इनसे यही सिद्ध है कि यह आत्मा तो
स्वभाव से अक्षर, शुद्ध, नित्य, अव्यय और सर्वत्र गमन करने के स्वभाव
वाला है । मुमुक्षु जनों के द्वारा यह उपासना करने के योग्य, मन्तव्य और
सुनने के योग्य है । जिस समयमें मन में सर्वत्र और सर्वदा चैतन्य भासित
होता है । उस समय में श्रद्धा करने वाले योगी जन स्वयं सम्पद्यमान
होता है । जिस समय में समस्त प्राणी अपनी आत्मा में नहीं देखा करता
है । समस्त भूतों में उस समय आत्मा ब्रह्मा सम्पन्न होता है । जब समाधि
में स्थित हुआ भी सब भूतों को नहीं देखता है । उस समय में पर के
साथ एकीभूत होकर केवल रहता है । जिस समय में इसके हृदय में स्थित
समस्त काम प्रयुक्त हो जाया करते हैं । उसी समय में यह अमृती भूत
होकर पण्डित क्षेम को प्राप्त किया करता है । जब यह भूतों के पृथग्भाव
को एक में ही स्थित देखा करता है । इसी से ही सदा ब्रह्मा विस्तार को
प्राप्त हो जाता है । जिस समय में परमार्थ स्वरूप से केवल आत्मा को ही
देखता है । उस समय में समस्त जगत् माया मात्र होता है । यह निर्वृत
तभी होता है ॥८०-८७॥

यदा जन्मजरादुःख व्याधीनामेकभेषजम् ।

केवलं ब्रह्मविज्ञानं जायतेऽमौ तदाशिवः ॥८८

तथा नदीनदालोके सागरेणेकतांययुः ।
 तद्वादात्माक्षरेणासौ निष्कलेनैकतां व्रजेत् ॥८६
 तस्माद्विज्ञानमेवास्ति न प्रपञ्चो न संस्थितिः ।
 अज्ञानेनावृतं लोके विज्ञानं तेन मुह्यति ॥८७
 विज्ञानं निर्मलं सूक्ष्मनिर्विकल्पंतदव्ययम् ।
 विज्ञानमितरत्सर्वं विज्ञानमिति तन्मतम् ॥८८
 एतद्वः कथितं साङ्ख्यं भावितंज्ञानमुत्तमम् ।
 सर्ववेदान्तसारं हियोगस्तत्रैकचित्तता ॥८९
 योगात्सञ्जयाते ज्ञानंज्ञानाद्योगः प्रवर्त्तते ।
 योगज्ञानाभिभूयुक्तस्यनावाप्यविद्यतेक्वचित् ॥९०

जिस समय में जन्म-जरा-दुःख और व्याधियों की एक मात्र औषध केवल ब्रह्म का ही विज्ञान होता है उसी समय में यह शिव होते हैं । जिस प्रकार से लोक में नदी और नद सागर के साथ मिलकर एकता को प्राप्त हो जाया करते हैं उसी भाँति यह आत्मा भी उस अक्षर निष्फल के साथ मिलकर एकता को प्राप्त हुआ करता है । इसी लिये केवल विज्ञान ही है न तो प्रपञ्च है और न कोई भी संस्थिति ही है । लोक में अज्ञान से विज्ञान आवृत रहा करता है इसी कारण मोह को प्राप्त करता है । विज्ञान निर्मल-सूक्ष्म-निर्विकल्प और अव्यय होता है । इसके अतिरिक्त सभी अज्ञान ही होता है । ऐसा मेरा समस्त विज्ञान है । यह उत्तम सांख्य ज्ञान हमने आप सबके समक्ष में कह सुनाया है । यह सभी वेदान्त का साररूप है । उसमें जो योग है वह चित्त की एकाग्रता ही होता है । योग से ही ज्ञान की उत्पत्ति हुआ करती है और ज्ञान से ही योग प्रवृत्त होता है । जो योग ज्ञान से अभियुक्त होता है उसको कहीं पर भी अप्राप्य नहीं हुआ करता है ॥८८-९०॥

यदेव यागिनो यान्ति साङ्ख्येस्तदति गम्यते ।
 एक सांख्यश्च योगश्च यः पश्यति स तत्त्ववित् ॥९१
 अन्ये हि योगिनोविप्राह्यैश्चर्यासक्तचेतसः ।
 मज्जन्तितत्रतत्रैव येवान्ये कुण्ठबुद्धयः ॥९२

यत्तत्सर्वमतं दिव्यमैश्वर्यममलं महत् ।

ज्ञानयोगाभियुक्तस्तु देहान्ते तदवाप्नुयात् ॥६६

एष आत्माहमव्यक्तो मायावी परमेश्वरः ।

कीर्तितः सर्ववेदेषु सर्वात्मा सर्वतोमुखः ॥६७

सर्वरूपः सर्वरसः सर्वगन्धोऽजरोऽमरः ।

सर्वतः पाणिपादोऽहमन्तर्यामी सनातनः ॥६८

अचणिपादो जगवो (जवनो) ग्रहीता हृदि संस्थितः ।

अपाक्षुरपि पश्यामि तथाऽकर्णः शृणोम्यहम् ॥६९

वेदाहं सर्वमेवेदं न मां जानाति कश्चन ।

प्राहुर्महान्तं पुरुषं मामेकं तत्त्वदर्शिनः ॥१००

जिसको योगी लोग प्राप्त किया करते हैं उसी को सांख्य वाले प्राप्त करते हैं । यह सांख्य और योग दोनों एक ही हैं । इस तरह से जो सांख्य और योग को एक ही देखा करते हैं वही तत्त्व वेत्ता वस्तुतः देखा करता है । हे विप्रो ! अन्य योगी जन जो ऐश्वर्य से आसक्त चित्त वाले हैं वे वहीं वहीं पर मग्न होते रहते हैं और जो कुण्ठित बुद्धि वाले हैं वे भी निमज्जित होते रहते हैं । यह सर्व के द्वारा सम्मत मत है जो दिव्य, ऐश्वर्य, महत् और अमल है । जो ज्ञान योग का अभियुक्त होता है वही इस देह के अन्त में उसको प्राप्त किया करता है । यह आत्मा में अव्यक्त, मायावी, परमेश्वर कीर्तित किया गया है जो सब वेदों में सर्वात्मा और सर्वमुख बताया गया है । यह सर्वरूप, सर्वरस, सर्वगन्ध, अजर, अमर सभी ओर पाणि और पादों वाला मैं अन्तर्यामी और सनातन हूँ । बिना पाणि तथा पादों वाला—जवग, ग्रहीता, हृदय में संस्थित बिना चक्षुओं वाला भी मैं देखता हूँ तथा कर्णों से रहित होता हुआ भी मैं श्रवण किया करता हूँ । मैं ही वेद हूँ और यह सब भी हूँ । मुझे कोई भी नहीं जानता है । तत्त्वदर्शी जंग एक मुझको महान् पुरुष कहा करते हैं ॥६४-१००॥

पश्यन्ति ऋषयो हेतुमात्मनः सूक्ष्मदर्शिनः ।

निर्गुणामलरूपस्य यदैश्वर्यमनुत्तमम् ॥१०१

यन्न देवा विजानन्ति मोहितामममायया ।

वक्ष्ये समाहिता यूयं शृणुध्वंब्रह्मवादिनः ॥१०२

नाहं प्रशस्तः सर्वस्य मायातीतःस्वभावनः ।

प्रेरयामितथापीदं कारणं सरयोविदुः ॥१०३

यतो गुह्यतमं देहं सर्वगंतत्त्वदर्शिनः ।

प्रविष्टा मम सायुज्यंलभन्ते योगिनोऽव्ययम् ॥१०४

ये हि मायामतिक्रान्ताममायाविश्वरूपिणी ।

लभन्तेपरमंशुद्धं निर्वाणन्ते मयासह ॥१०५

न तेषां परमा वृत्तिः कल्पकोटिशतैरपि ।

प्रसादान्मम योगीन्द्रा एतद्वेदानुशासनम् ॥१०६

तत्पुत्रशिष्ययोगिभ्योदातव्यंब्रह्मवादिभिः ।

मदुक्तमेतद्विज्ञानं सांख्यं योगसमाश्रयम् ॥१०७

सूक्ष्म दर्शी ऋषि लोग आत्मा का हेतु देखते हैं । निर्गुण और अमल रूप वाले का जो उत्तम ऐश्वर्य है उसे ऋषिगण ही देखते हैं । मेरी माया से मोहित हुए देवगण भी जिसको नहीं जानते हैं । हे ब्रह्मवादियों ! आप लोग समाहित होकर श्रवण कीजिए मैं उसको आप लोगों को बतलाता हूँ । मैं भी स्वभाव से सब में प्रशस्त तथा माया से अतीत नहीं हूँ तो भी मैं इसकी प्रेरणा करता हूँ—इसके कारण को सूरि जन ही जानते हैं । जिससे तत्त्वदर्शी लोग इस सर्वत्र गमनशील गुह्यतम देह में प्रविष्ट होते हुए मेरे सायुज्य की प्राप्ति किया करते हैं वे इस अव्यय को प्राप्त करने वाले योगीजन ही होते हैं । जो लोग मेरी माया का अतिक्रमण करते हैं जो यह विश्व के मोहन करने वाली है वे ही लोग मेरे ही साथ परम और शुद्ध निर्वाण का लाभ लिया करते हैं । सैकड़ों करोड़ों कल्पों में भी उनकी परमा वृत्ति नहीं होता है । हे योगीन्द्रगण ! यह मेरे ही प्रमाद का कारण है और यही वेद का अनुशासन है । सो यह मेरे द्वारा वर्णित विज्ञान जो सांख्य और योग के आश्रय वाला है ब्रह्मवादियों के द्वारा पृथ्वा शिष्य और योगियों को ही देना चाहिए ॥१०१-१०७॥

अव्यक्तादभवत्कालः प्रधानं पुरुषः परः ।
 तेभ्यः सर्वमिदं जातं तस्माद्ब्रह्ममयस्तु गत् ॥१०८
 सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
 सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१०९
 सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
 सर्वाधारं सदानन्दमव्यक्तं द्वैतवर्जितम् ॥११०
 सर्वोपमानरहितं प्रमाणातीतगोचरम् ।
 निर्विकल्पं निराभासं सर्वावासं परामृतम् ॥१११
 अभिन्नं भिन्नसंस्थानं शाश्वतं ध्रुवमव्ययम् ।
 निर्गुणं परमं ज्योतिरज्ज्ञानं सूरयो विदुः ॥११२
 स आत्मा सर्वभूतानां स बाह्याभ्यन्तरः परः ।
 सोऽहं सर्वत्र गः शान्तो ज्ञानात्मा परमेश्वरः ॥११३
 मया ततमिदं विश्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
 मत्स्थानि सर्वभूतानि यस्तवेदविदो विदुः ॥११४

ईश्वर ने कहा—अव्यक्त से काल हुआ था—प्रधान और परपुरुष हुआ। उन्हीं से यह सभी कुछ हुआ है। इसीलिये यह जगत् ब्रह्ममय है। वही ब्रह्म जिसके सभी और हाथ और चरण हैं—सब ही तरफ आखें, शिर और मुख है—सब तरफ श्रुति वाला है वही लोक में सबको समावृत करके स्थित रहता है। समस्त इन्द्रियों से रहित भी है। वह सबका आधार है—सदा आनन्द स्वरूप वाला है—अव्यक्त है और द्वैत से रहित है। सभी उपमानों से रहित है अर्थात् उसकी समता रखने वाला अन्य कोई है ही नहीं। प्रमाणों से भी परे और गोचर भी है। निर्विकल्प, निराभास, सब में आवास बमाने वाला और वह परामृत है। वह अभिन्न है और भिन्न संस्थान वाला भी वह शाश्वत, ध्रुव और अव्यय है। उस में कोई भी गुण नहीं है—परम ज्योतिरस्वोति स्वरूप है। उसके यथार्थ ज्ञान को सूरि जन ही जानते हैं। वह सभी प्राणियोंकी आत्मा है। बाह्य आभ्यन्तर और पर है। वही मैं सर्वत्र गमन करने वाला—परमशान्त, ज्ञानात्मा और परमेश्वर हूँ। मैंने ही इस स्थावर और जङ्गम स्वरूप

विश्व जगत् का विस्तार किया है। मेरे ही अन्दर ये स्थित ये समस्त भूत हैं—ऐसा जो हूँ उसको वेदों के वेत्ता विद्वान् जन ही जानते हैं ॥१०८-११४॥

प्रधानं पुरुषश्चैव तद्वस्तु समुदाहृतम् ।
 तयोरनादिरुद्दिष्टः कालः संयोगजः परः ॥११५॥
 त्रयमेतदनाद्यन्तमव्यक्तं समवस्थितम् ।
 तदात्मकं तदन्यत्स्यात्तद्रूपं मामकं विदुः ॥११६॥
 महदाद्यविशेषान्तंसम्प्रसूतेऽखिलञ्जगत् ।
 या सा प्रकृतिरुद्दिष्टामोहिनीसर्वदेहिनाम् ॥११७॥
 पुरुषः प्रकृतिस्थो वै भुङ्क्ते यः प्राकृतान् गुणान् ।
 अहङ्कारविमुक्तत्वात्प्रोच्यते पञ्चविशकः ॥११८॥
 आद्यो विकारः प्रकृतेर्महानिति च कथ्यते ।
 विज्ञातृशक्तिविज्ञानात्सहङ्कारस्तदुत्थितः ॥११९॥
 एक एव महानात्मा सोऽहङ्कारोऽभिधीयते ।
 स जीवः सोऽन्तरात्मेति गीयते तत्त्वचिन्तकैः ॥१२०॥
 तेन वेदयते सर्वं सुखं दुःखञ्च जन्मसु ।
 स विज्ञानात्मकस्तस्य मनःस्यादुपकारकम् ॥१२१॥
 तेनाऽपि तन्मयस्तस्मात् संसारः पुरुषस्य तु ।
 स चाविवेकः प्रकृतौ सङ्गात्कालेन सोऽभवत् ॥१२२॥

उसकी वस्तु प्रधान को और पुरुष को कहा है। उन दोनों का यह पर संयोगज काल उद्दिष्ट किया गया है ये तीनों अनाद्यन्त हैं अर्थात् आदि और अन्त से रहित हैं और ये अव्यक्त में समवस्थित हैं। उसी स्वरूप वाला उससे अन्य मेरा रूप है—ऐसा जान लो। महत् से आदि लेकर विशेष के अन्त पर्यन्त इस सम्पूर्ण जगत् की प्रसूति किया करता है। वही यह प्रकृति है ऐसा कहा-कहा गया है। यही प्रकृति समस्त देह धारियों का मोहन करने वाली है। प्रकृति में स्थित यह पुरुष जो है वह प्राकृत गुणों का उपभोग किया करता है। अहङ्कार से विमुक्त होने से यह पञ्चविशक कहा जाया करता है। प्रकृति का

सबसे प्रथम जो विकार होता है—वही महान् (महत्त्व) इस नाम से कहा जाता है । विज्ञाता की शक्ति के विज्ञान से वह अहङ्कार के नाम से कहा गया है । वह महान् के स्वरूप वाला अहङ्कार एक ही कहा जाता है । तत्त्वों के चिन्तन करने वालों के द्वारा यह जीव ही अन्तरात्मा इस नाम से गाया जाता है उसके द्वारा जन्मों में सुख और दुःख का ज्ञान किया जाता है । वह तो विज्ञान के स्वरूप वाला है । मन ही उसका उपकार करने वाला हुआ करता है अर्थात् मन के योग से ही सुख दुःखादि का अनुभव किया जाता है इससे उसके द्वारा भी पुरुष का यह संसार तन्मय होता है । और वही अविवेक है । वह प्रकृति में काल के साथ सङ्ग से होता है ॥११५-१२२॥

कालःसृजति भूतानि कालः संहर्ते प्रजाः ।

सर्वेकालस्य वशगानकालः कस्याच द्वशे ॥१२३

सोऽन्तरा सर्वनेवेदं नियच्छति सनातनः ।

प्रोच्यते भगवान्प्राणः सर्वज्ञः पुरुषोत्तमः ॥१२४

सर्वेन्द्रियेभ्यः परमं मन आहुर्मनीषिणः ।

मनसश्चाप्यहंकारमहंकारान्महान्परः ॥१२५

महत्तः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।

पुरुषाद्भगवान् प्राणस्तस्य सर्वमिदञ्जगत् ॥१२६

प्राणात्परतरं व्योम व्योमतीतोऽग्निरीश्वरः ।

सोऽहं ब्रह्माऽव्ययः शान्तो मायातीतमिदञ्जगत् ॥१२७

नास्ति मत्तः परं भूतं माश्च विज्ञायमुच्यते ।

नित्यं नास्तीति जगति भूतं स्थावरजङ्गमम् ॥१२८

ऋते मामेवमव्यक्तं व्योमरूपं महेश्वरम् ।

सोऽहं सृजामि सकलं सहारामि सदा जगत् ॥१२९

मायी मायामयो देवः कालेन सह सङ्गतः ।

मत्सन्निधावेषकालः करोति सकलञ्जगत् ।

नियोजयत्यनन्तात्मा ह्येतद्वेदानुशासनम् ॥१३०

यह काल ही भूतों का सृजन किया करता है और यही संहार भी कर देता है जिसमें समस्त प्रजा नष्ट हो जाती है। सभी जो 'बुद्ध भी हैं एक इसी काल के वश में रहने वाले होते हैं। और यह काल किसी के भी वशगत नहीं होता है। वह अन्तरा सनातन इस सब को दिया करता है। वह प्राण—सर्वज्ञ—पुरुषोत्तम और भगवान् इस नाम से कहा जाता है। अन्य समस्त इन्द्रियों से परम प्रधान मन को ही महा मनीषीगण कहा करते हैं। मन से भी पर अहंकार है और उस अहङ्कार से पर महान् है। महत् से पर अव्यक्त है और उस अव्यक्त से परपुरुष होता है। पुरुष से भगवान् प्राण है और उसका ही यह समस्त जगत् है। प्राण से भी पर तर व्योम है। व्योम से भी अतीत ईश्वर अग्नि है। वही मैं परम शान्त—अव्यक्त—ब्रह्मा हूँ। यह जगत् माया से अतीत है। मुझ से पर कोई भूत नहीं है। मुझ को यथातथा रूप से जान कर यह मुक्त हो जाता है। इस जगत् में स्थावर और जङ्गम भूत नित्य नहीं है। केवल एक मुझ को छोड़ कर जो अव्यक्त व्योमरूप वाला और महेश्वर है अन्य सदा रहने वाला नहीं है। वही मैं इस सबका सृजन करता हूँ और सदा ही सम्पूर्ण जगत् का संहार भी किया करता हूँ। यह अजन्तात्मा ही नियोजन किया करता है—यही वेद का अनुशासन है ॥१२३-१३०॥

वक्ष्ये समाहिता यूयं शृणुध्वं ब्रह्मवादिनः ।

माहात्म्यं देवदेवस्य येन सर्वं प्रवर्तते ॥१३१

नाहं तपोभिर्विविधैर्नदानेन चेज्यया ।

शक्यो हि पुरुषैर्ज्ञातुमुते भक्तिमनुत्तमाम् ॥१३२

अहंहिसर्वभूतानामन्तस्तिष्ठामि सर्वतः ।

मांसर्वसाक्षिणंलोकोनजानातिमुनीश्वराः ॥१३३

यस्यान्तरा सर्वमिदं यो हि सर्वान्तकः परः ।

सोऽहं धाता बिधाता च कालोऽग्निविश्वतोमुखः ॥१३४

न मांपश्यन्ति मुनयः सर्वे पितृदिवौकसः ।

ब्रह्माचमनवःशक्रो येचान्येप्रथितौजसः ॥१३५

गृणन्ति सततं वेदा मामेकं परमेश्वरम् ।

यजन्ति विविधैर्यज्ञैर्ब्राह्मणा वैदिकैर्मखैः ॥१३६॥

सर्वे लोका न पश्यन्ति ब्रह्मा लोकपितामहः ।

ध्यायन्ति योगिनो देवं भूताधिपतिमीश्वरम् ॥१३७॥

ईश्वर ने कहा—हे ब्रह्मवादी जनो ! अब परम सावधान होकर श्रवण करिये मैं अब देवों के भी देव का माहात्म्य आप लोगों को बतलाता हूँ जिससे ही यह सब प्रवृत्त होता है । मैं तपश्चर्या से जो अनेक प्रकार की होती है—दान से—इज्या से पुरुषों के द्वारा जाना नहीं जा सकता हूँ केवल भक्ति से ही मेरा ज्ञान होता है इसके बिना अन्य सभी साधन व्यर्थ होते हैं । मैं सभी प्राणियों के मध्य में सभी ओर से स्थित रहता हूँ । हे मुनीश्वरो ! मुझ को सबका साक्षी (द्रष्टा) यह लोक सर्वथा नहीं जाना करता है । जिसकी अन्तरा में यह सभी कुछ है और जो पर तथा सबका अन्त करने वाला है वह मैं ही धाता विधाता-काल-अग्नि और विश्वतोमुख हूँ । मुझ को मनुगण—पितर और देवगण सभी नहीं देखते हैं । चाहे कोई भी ब्रह्मा हो—मनुगण हो या इन्द्र हो और जो कोई भी प्रथित आज वाले अन्य हों मुझ को नहीं देखते हैं । वेद ही सतत मुझ एक परमेश्वर का ग्रहण किया करते हैं । ब्राह्मण लोग नाना प्रकार के यज्ञों के द्वारा तथा वैदिक मखों के द्वारा मेरा यजन किया करते हैं । सब लोक नहीं देखते हैं कि ब्रह्मा लोकों का पितामह है । योगीजन भूतों के अधिपति ईश्वर का ध्यान किया करते हैं ॥१३६-१३७॥

अहं हि सर्वहविषां भोक्ता चैव फलप्रदः ।

सर्वदेवतनुर्भूत्वा सर्वात्मासर्वसंप्लुतः ॥१३८॥

मां पश्यन्तीह विद्वांसो धार्मिका वेदवादिनः ।

तेषां सन्निहितो नित्यं ये मां नित्यमुपासते ॥१३९॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या धार्मिकामामुपासते ।

तेषां ददामि तत्स्थानमानन्दं परमम्पदम् ॥१४०॥

अन्यऽपि ये स्वधर्मस्थाः शूद्राद्या नीचजातयः ।

भक्तिमन्तः प्रमुच्यन्ते कालेनापि हि सङ्गताः ॥१४१॥

मद्भुक्ता न विनश्यन्तिमद्भुक्ता वीतकल्मषाः ।

आदावेव प्रतिज्ञातं न मे भक्तःप्रणश्यति ॥१४२

योबैनिन्दतितंमूढोदेवदेवं स निन्दति ।

यो हि पूजयते भक्त्या स पूजयतिमांसदा ॥१४३

पत्रं पुष्पं फलं तोयं मदाराधनकारणात् ।

यो मे ददातिनियतं स मे भक्तप्रियोमम ॥१४४

मैं ही सब प्रकार के हवियों का भोक्ता हूं और फलों के भी प्रदान करने वाला हूं । मैं सब देवों का शरीर हो कर सर्वात्मा और सर्व संप्लुत होता हूं । मुझ को वेद वादी धार्मिक विद्वान् ही देखते हैं । मैं भी उनके नित्य ही सन्निहित रहा करता हूं क्यों कि वे मुझ को नित्य ही उपासना के द्वारा स्मरण किया करते हैं । ब्राह्मण क्षत्रिय-वैश्य जो भी धार्मिक होते हैं वे मेरी उपासना किया करते हैं । उनको मैं भी परमपद आनन्द भय स्थान प्रदान किया करता हूं । अन्य भी जो अपने धर्म में स्थित रहने वाले शूद्र आदि नीची जाती वाले हैं यदि वे भक्ति वाले होते हैं तो प्रमुक्त अवश्य ही हो जाया करते हैं और वे काल के साथ सङ्गत होते हैं । यहाँ पर भक्ति का महत्व और इसके करने का अधिकार सब को बताया गया मेरे भक्त कभी बिनष्ट नहीं होते हैं । मेरे भक्त सदा कल्मषों से रहित रहते हैं । मैंने यह सबके आदि में ही प्रतिज्ञा की थी कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं हुआ करता है । जो भी कोई मूढ़ मेरे भक्त की निन्दा किया करता है वह साक्षात् देवों के देव की निन्दा करने वाला होता है और जो मेरे सच्चे साधु भक्त की पूजा या सत्कार किया करता है वह सदा मेरी ही अर्चना किया करता है । मेरी पूजा से भी अधिक मेरे भक्त की पूजा है । पत्र-पुष्प-फल और जल जो मेरी समाराधना के कारण वश होकर मुझे समर्पित किया करता है और नियत रूप से देता है वह मेरा परम प्रिय भक्त है ॥१३८-१४४॥

अहं हि जगतामादौ ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ।

विदधौ दत्तवान्वेदानशेषामामात्मनिःसृतान् ॥१४५

अहमेवहिसर्वेषांयोगिनां गुरुरव्ययः ।

धार्मिकाणाञ्च गोप्ताहं निहन्ता वेदविद्विषाम् ॥१४६

अहं हि सर्वं संसारान्मचको योगिनामिह ।

संसारहेतुरेवाहं सर्वसंसारवर्जितः ॥१४७

अहमेव हि संहर्ता संस्रष्टा हरिपालकः ।

माया वैमामिकाशक्तिर्मायालोकविमोहनी ॥१४८

ममैव च परा शक्तिर्या स विद्येति गीयते ।

नाशयामि च तां मायां योगिनां हृदि संस्थितः ॥१४९

अहं हि सर्वशक्तीनां प्रवर्त्तकनिवर्त्तकः ।

आधारभूतः सर्वासां निधानममृतस्य च ॥१५०

एका सर्वान्तरा शक्तिः करोति विविधजगत् ।

(नाऽहं प्रेरयिता विप्राः परमं योगमाश्रिताः ॥)

आस्थाय ब्रह्मणो रूपं मन्मयो मदधिष्ठिता ॥१५१

मैंने ही इन समस्त जगतों का आदि स्वरूप परमेष्ठी ब्रह्मा की रचना की थी और मेरी आत्मा से निःसृत समस्त वेदों को उसको मैंने दिया था मैं ही समस्त योगिजनों का अव्यय गुरु हूँ । मैं जो धार्मिक जन हूँ उनका गोप्ता हूँ और वेदों के विद्वेषियों का मैं निहन्ता हूँ । मैं ही यहाँ पर योगियों का इस समस्त संसार से मोचन करने वाला हूँ । मैं इस सम्पूर्ण संसार से वर्जित होता हुआ भी इस संसार का हेतु हूँ । मैं ही संस्रष्टा पालक और संहर्ता हूँ । यह जो माया के नाम से प्रख्यात है यह भी मेरी ही एक शक्ति है । जो यह माया समस्त लोकों के विमोहन करने वाली है । मेरी ही पराशक्ति वह है जो विद्या इस नाम से गाई या पुकारी जाया करती है । मैं योगियों के हृदय में स्थित रह कर उस अपनी माया का नाश करा दिया करता हूँ । मैं ही सभी प्रकार की शक्तियों का प्रवर्त्तक और निवर्त्तक हूँ । मैं इन सब का आधार भूत हूँ और मैं अमृत का निधान हूँ एक सबके अन्तर में रहने वाली शक्ति इस विविध जगत् की रचना किया करती है । हे विप्रगण ! मैं प्रेरणा करने वाला नहीं हूँ । मैं तो परम योग

में आश्रित हूँ । वह मन्मयी और मुझ में ही अधिष्ठित रहने वाली ब्रह्म का रूप में समास्थित होती है ॥१४५-१५१॥

अन्याचशक्तिविपुलासंस्थापयतिमेजगत् ।

भूत्वानारायणोऽनन्तोजगन्नाथोजगन्मयः ॥१५२

तृतीया महती शक्तिर्निहन्ति सकलञ्जगत् ।

तामसी मे समाख्याता कालाख्या रुद्ररूपिणी ॥१५३

ध्यानेन मां प्रपश्यन्ति केचिज्ज्ञानेन चापरे ।

अपरे भक्तियोगेन कर्मयोगेन चापरे ॥१५४

सर्वेषामेव भक्तानामिष्टः प्रियतमो मम ।

यो हि ज्ञानेन मान्नित्यमाराधयति नान्यथा ॥१५५

अन्ये च हरये भक्ता मदाराधनकारिणः ।

तेऽपि मां प्राप्नुवन्त्येवनावत्तन्ते च वैपुनः ॥१५६

मया ततमिदं कृत्स्नं प्रधानपुरुषात्मकम् ।

मय्येव संस्थितं चित्तं मया सम्प्रेर्यते जगत् ॥१५७

अन्य भी एक विपुला शक्ति है जो मेरे इस जगत् की संस्थापना किया करती है । जो कि शक्ति अनन्त—जगन्मय—जगन्नाथ नारायण होकर ही करती है । तीसरी भी एक मेरी महती शक्ति है जो इस समस्त जगत् का निहनन किया करती है । वह मेरी शक्ति तामसी शक्ति के नाम से ही प्रख्यात है जो काल नाम वाली और रुद्र के स्वरूप से सम्पन्न होती है । कुछ लोग मुझ को ध्यान के द्वारा देखा करते हैं और दूसरे कुछ ज्ञान के द्वारा मेरा दर्शन किया करते हैं । कुछ केवल भक्ति योग के ही द्वारा मुझ को देख लेते हैं तथा अन्य कुछ कर्मयोग के द्वारा मुझे देखते हैं । सब ही भक्तों का मैं परम प्रियतम इष्ट हूँ । जो ज्ञान के द्वारा मेरी नित्य ही आराधना करता है अन्यथा नहीं करता है । अन्य लोग हरि के लिये भक्त होते हैं जो भी मेरे ही समाराधन के कारण से हुआ करते हैं । ये भी मेरी प्राप्ति अवश्य ही कर लिया करते हैं । मैंने ही यह सम्पूर्ण विस्तृत किया है जो प्रधान और पुरुषात्मा जगत् है । मुझ में चित्त संस्थित है मेरे द्वारा ही जगत् प्रेरित होता है ॥१५२-१५७॥

नाहं प्रेरयिताविभ्राः परमं योगमास्थितः ।
 प्रेरयामि जगत्कृत्स्नमेतद्योवेद सोऽमृतः ॥१५८
 पश्याम्यशेषमेवेदं वर्त्तिमानं स्वभावतः ।
 करोति कालो भगवान्महायोगेश्वरःस्वयम् ॥१५९
 योऽहं सम्प्रोच्यते योगी माया शास्त्रेषु सूरिभिः ।
 योगीश्वरोऽसौ भगवान्महायोगेश्वरः स्वयम् ॥१६०
 महत्त्वं सर्वसत्त्वानां वरत्वात् परमेष्ठिनः ।
 प्रोच्यते भगवान् ब्रह्मा महाब्रह्ममयोऽमलः ॥१६१
 यो मामेवं विजानाति महायोगेश्वरेश्वरम् ।
 सोऽविकल्पेन योगेन युज्यतेनात्र संशयः ॥१६२
 सोऽहं प्रेरयिता देवः परमानन्दमाश्रितः ।
 नृत्यामि योगी सततं यस्तद्वेद स योगवित् ॥१६३
 इति गुह्यतमं ज्ञानं सर्ववेदेषु निश्चितम् ।
 प्रसन्नचेतसेदेयं धार्मिकायाऽऽहिताग्नये ॥१६४

हे विप्रगण ! मैं वैसे प्रेरणा करने वाला नहीं हूँ क्योंकि मैं तो सदा परम योग में समास्थित रहा करता हूँ । मैं इस सम्पूर्ण जगत् को प्रेरित किया करता हूँ—ऐसा जो भी कोई जानता है वह अमृत ही होता है । मैं इस सब को जो वर्त्तिमान है स्वभाव से ही देखा करता हूँ । भगवान् महायोगेश्वर काल स्वयं ही सब कुछ करता रहता है । जो मैं शास्त्रों में सूरियों के द्वारा शास्त्रों में योगी और मायी कहा जाता हूँ । सो यह योगेश्वर भगवान् महा योगेश्वर स्वयं ही है । परमेष्ठी का समस्त सत्त्वों में श्रेष्ठ होने से ही इतना अधिक महत्त्व है । भगवान् ब्रह्म महान् ब्रह्ममय और अमल हैं—ऐसा ही कहा जाता है । जो मुझ को इस प्रकार से जानता है कि मैं महायोगेश्वरों का भी ईश्वर हूँ, वह अविकल्पक योग से युक्त हो जाया करता है—इसमें यहाँ पर कुछ भी संशय नहीं है । वह मैं प्रेरयिता देव परमानन्द में समाश्रित हूँ । मैं योगी निरन्तर ही नृत्य किया करता हूँ जो उसको जानता है वह योग का वेत्ता है । यह परम गुह्यतम ज्ञान है जो समस्त वेदों में निश्चित किया गया है । इस परम गोप-

नीय ज्ञान को उसी व्यक्तियों को देना चाहिए जो परम प्रसन्न चित्त वाला हो—परम धार्मिक हो और अहित अग्नि वाला हो ॥१५८-१६४॥

एतावदुक्त्वा भगवान्योगिनां परमेश्वरः ।

ननर्त्त परमं भावमेश्वरं सम्प्रदर्शयन् ॥१६५

तं ते ददृशुरीशानं तेजसां परमं निधिम् ।

नृत्यमानं महादेवं विष्णुना गगनेऽमले ॥१६६

यं विदुर्योगतत्त्वज्ञा योगिनो यतमानसाः ।

तमीशं सर्वभूतानामाकाशे ददृशुः किल ॥१६७

यस्य मायामवं सर्वं येनेदं प्रेर्यते जगत् ।

नृत्यमानः स्वयं विप्रैर्विश्वेशः खलु दृश्यते ॥१६८

यत्पादपंकजं स्मृत्वा पुरुषो ज्ञानजम्भयम् ।

जहाति नृत्यमानन्तं भूतेशं ददृशुः किल ॥१६९

केचिन्निद्राजितश्वासाः शान्ता भक्तिसमन्विताः ।

ज्योतिर्मयं प्रपश्यन्ति स योगी दृश्यते किल ॥१७०

योऽज्ञानान्मोचयेत् क्षिप्रं प्रसन्नो भक्तवत्सलः ।

तमेवं मोचनं रुद्रमाकाशे ददृशुः परम् ॥१७१

श्री व्यास देव ने कहा—योगियों के परमेश्वर भगवान् इतना कहकर परम ईश्वरीय भाव को भली-भाँति प्रदर्शित करते हुए नृत्य करने लगे थे । तेज के परम निधि उन ईशान को उन्होंने देखा था और निर्मल गगन में नृत्य करते हुए महादेव को भगवान् विष्णु ने भी देखा था । जिसको यत मानस वाले योग के तत्व के ज्ञाता योगी लोग ही जानते हैं उस समस्त प्राणियों के स्वामी को आकाश में देखा था । जिसके द्वारा माया से परिपूर्ण यह जिसका जगत् सम्पूर्ण प्रेरित किया जाना है वही विश्वेश स्वयं नृत्यमान होता हुआ विप्रों के द्वारा निश्चित रूप से देखा जाता है । जिनके चरण कमल का स्मरण करके पुरुष ज्ञानजम्भय का रत्न कर दिया करता है उस भूतों के ईश को नृत्य करते हुए देखा था कुछ लोग निद्रा से श्वेत के जीतने वाले—परम शान्त और भक्तिभाव से समन्वित थे वे भी ज्योतिर्मत को देखते हैं । वह योगी दिखलाई दे

रहा था । जो अपने भक्तों पर अत्यन्त ही प्यार करने वाला वत्सल है और प्रसन्न होकर जो अज्ञान से मोचन कर देने वाला है उसी इस प्रकार के मोचन करने वाले परमरुद्रदेव को आकाश में देखा था ॥१६५-१७१॥

सहस्रशिरसं देवं सहस्रचरणाकृतिम् ।

सहस्रबाहुं जटिलं चन्द्रार्द्धकृतशेखरम् ॥१७२

वसानं चैर्मवैयाघ्रं शूलासक्तमहाकरम् ।

दण्डपाणिं त्रयीनेत्रं सूर्य सोमाग्निलोचनम् ॥१७३

ब्रह्माण्डं तेजसा स्वेन सर्वमावृत्यधिष्ठितम् ।

दंष्ट्राकरालं दुर्धर्षं सूर्य्यकोटिसमप्रभम् ॥१७४

सृजन्तमनलज्वालं दहन्तमखिलञ्जगम् ।

नृत्यन्तन्ददृशुर्देवं विश्वकर्माणमीश्वरं ॥१७५

महादेवं महायोगं देवानामपि दैवतम् ।

पशूनां पतिमीशानं आनन्दं ज्योतिरव्ययम् ॥१७६

पिनाकिनं विशालाक्षं भेषजं भवरोगिणाम् ।

कालात्मानं कालकालं देवदेवं महेश्वरम् ॥१७७

उमापति विशालाक्षं योगानन्दमयं परम् ।

ज्ञानवैराग्यानिलयं ज्ञानयोगं सनातनम् ॥१७८

सहस्र शिरो युक्त—सहस्र चरणों की आकृति से सम्पन्न—सहस्र-बाहुओं से शोभित—जटाधारी और अर्द्धचन्द्र से शेखर को भूषित करने वाले—व्याघ्र के चर्म को धारण किये हुए—हाथ में शूल को धारण करने वाले—दण्डपाणि, तीन नेत्रों से संयुत—सूर्य—सोम और अग्नि के लोचनों वाले शिव को देखा था । जो अपने तेज से सम्पूर्ण इस ब्रह्माण्ड को समावृत करके अधिष्ठित है—जिसके अतीव कराल दंष्ट्राएँ हैं—जो अत्यन्त दुर्धर्ष और करोड़ों सूर्यों की प्रभा वाला है उसी महेश्वर को देखा था । अनल की ज्वालाओं का सृजन करने वाले—समस्त जगत् को दग्ध करते हुए उस विश्वकर्मा ईश्वर को यहाँ पर नृत्य करते हुए देखा था । महायोग वाले—महान् देव—देवों के भी दैवत—पशुओं के पति—आनन्द स्वरूप—ईशान—अव्यय—ज्योति स्वरूप—पिनाकधारी—विशाल नेत्रों

वाले—संसार के महा रोगियों के औषध रूप, कालात्मा, काल के भी काल, देवों के देव महेश्वर को वहाँ पर नृत्य करते हुए देखा था । उमा के स्वामी, विशाल नेत्रों वाले, परम योग के आनन्द से परिपूर्ण, ज्ञान और वैराग्य के सदन, ज्ञान योग वाले—सनातन प्रभु को नृत्यमान होते हुए देखा था ॥१७२-१७८॥

शाश्वतैश्वर्यविभवं धर्माधारं दुरासदम् ।

महेन्द्रोपेन्द्रनमितं महर्षिगणवन्दितम् ॥१७९

योगिनाहृदि तिष्ठन्तं योगमायासमावृतम् ।

क्षणो जगतो योनिं नारायणमनामयम् ॥१८०

ईश्वरेणैक्यमापन्नमपश्यन् ब्रह्मवादिनः ।

दृष्ट्वा तदैश्वरं रूपं रुद्रं नारायणात्मकम् ।

कृतार्थं मे निरे सन्तः स्वात्मानं ब्रह्मवादिनः ॥१८१

सनत्कुमारः सनको भृगुश्च सनातनश्चैव सनन्दनश्च ।

रैम्योऽङ्गिरा वामदेवोऽथ शुक्रो महर्षिरत्रिः कपिलो मरीचिः ॥१८२

दृष्ट्वाऽथ रुद्रं जगदीशितारं तं पद्मनाभाश्रितवामभागम् ।

ध्यात्वा हृदि स्थं प्रणिपत्य मूर्ध्ना कृताञ्जलिस्वेषु शिरः सुभूयः ॥१८३

ओंकारमुच्चार्य विलोक्य देवमन्तः शरीरं निहितं गुहायाम् ।

समस्तुवन् ब्रह्ममयैर्वचोभिरानन्दपूर्णं हितमानसा वै ॥१८४

परम शाश्वत ऐश्वर्य और विभव वाले—धर्म के आधार—दुरासद—महेन्द्र और उपेन्द्र के द्वारा प्रणमित—महर्षिगण के द्वारा वन्द्यमान—योगियों के हृदय में संस्थित—योगमाया से समावृत—क्षणमात्र में इस जगत् की रचना करने वाले योनि—अनामय—नारायण को उस ईश्वर के साथ ऐक्यभाव को प्राप्त हुए ब्रह्मवादियों ने देखा था । उस समय में उस ईश्वरीय रुद्र रूप को नारायणात्मक देख कर ब्रह्मवादियों ने अपने आपको परम कृतार्थ मान लिया था । सनत्कुमार—सनक—भृगु—सनातन—सनन्दन—रैम्य—अङ्गिरा—वामदेव—शुक्र—महर्षि—अत्रि—कपिल—मरीचि—इन सब ने जगत् के ईश—पद्म नाम से समाश्रित भाग भाग वाले उन रुद्र देव का दर्शन करके—हृदय में स्थित का ध्यान करके और मस्तक से

रहा था । जो अपने भक्तों पर अत्यन्त ही प्यार करने वाला वत्सल है और प्रसन्न होकर जो अज्ञान से मोचन कर देने वाला है उसी इस प्रकार के मोचन करने वाले परमरुद्रदेव को आकाश में देखा था ॥१६५-१७१॥

सहस्रशिरसं देवं सहस्रचरणाकृतिम् ।

सहस्रबाहुं जटिलं चन्द्रार्द्धकृतशेखरम् ॥१७२

वसानं चैर्मवैयाघ्रं शूलासक्तमहाकरम् ।

दण्डपाणिं त्रयीनेत्रं सूर्यं सोमाग्निलोचनम् ॥१७३

ब्रह्माण्डं तेजसा स्वेन सर्वमावृत्यधिष्ठितम् ।

दंष्ट्राकरालं दुर्धर्षं सूर्य्यकोटिसमप्रभम् ॥१७४

सृजन्तमनलज्वालं दहन्तमखिलञ्जगम् ।

नृत्यन्तन्ददृशुर्देवं विश्वकर्माणमीश्वरं ॥१७५

महादेवं महायोगं देवानामपि दैवतम् ।

पशूनां पतिमीशानं आनन्दं ज्योतिरव्ययम् ॥१७६

पिनाकिनं विशालाक्षं भेषजं भवरोगिणाम् ।

कालात्मानं कालकालं देवदेवं महेश्वरम् ॥१७७

उमापति विशालाक्षं योगानन्दमयं परम् ।

ज्ञानवैराग्यनिलयं ज्ञानयोगं सनातनम् ॥१७८

सहस्र शिरों युक्त—सहस्र चरणों की आकृति से सम्पन्न—सहस्र-बाहुओं से शोभित—जटाधारी और अर्द्धचन्द्र से शेखर को भूषित करने वाले—व्याघ्र के चर्म को धारण किये हुए—हाथ में शूल को धारण करने वाले—दण्डपाणि, तीन नेत्रों से संयुत—सूर्य—सोम और अग्नि के लोचनों वाले शिव को देखा था । जो अपने तेज से सम्पूर्ण इस ब्रह्माण्ड को समावृत करके अधिष्ठित है—जिसके अतीव कराल दंष्ट्राएँ हैं—जो अत्यन्त दुर्धर्ष और करोड़ों सूर्यों की प्रभा वाला है उसी महेश्वर को देखा था । अनल की ज्वालाओं का सृजन करने वाले—समस्त जगत् को दग्ध करते हुए उस विश्वकर्मा ईश्वर को यहाँ पर नृत्य करते हुए देखा था । महायोग वाले—महान् देव—देवों के भी दैवत—पशुओं के पति—आनन्द स्वरूप—ईशान—अव्यय—ज्योति स्वरूप—पिनाकधारी—विशाल नेत्रों

वाले—संसार के महा रोगियों के औषध रूप, कालात्मा, काल के भी काल, देवों के देव महेश्वर को वहाँ पर नृत्य करते हुए देखा था । उमा के स्वामी, विशाल नेत्रों वाले, परम योग के आनन्द से परिपूर्ण, ज्ञान और वैराग्य के सदन, ज्ञान योग वाले—सनातन प्रभु को नृत्यमान होते हुए देखा था ॥१७२-१७८॥

शाश्वतैश्वर्यविभवं धर्माधारं दुरासदम् ।

महेन्द्रोपेन्द्रनमितं महर्षिगणवन्दितम् ॥१७९

योगिनाहृदि तिष्ठन्तं योगमायासमावृतम् ।

क्षणेन जगतो योनिं नारायणमनामयम् ॥१८०

ईश्वरेणैक्यमापन्नमपश्यन् ब्रह्मवादिनः ।

दृष्ट्वा तदैश्वरं रूपं रुद्रं नारायणात्मकम् ।

कृतार्थं मे निरे सन्तः स्वात्मानं ब्रह्मवादिनः ॥१८१

सनत्कुमारः सनको भृगुश्च सनातनश्चैव सनन्दनश्च ।

रैम्योऽङ्गिरा वामदेवोऽथ शुक्रो महर्षिरत्रिः कपिलो मरीचिः ॥१८२

दृष्ट्वाऽथ रुद्रं जगदीशितारं तं पद्मनाभाश्रितवामभागम् ।

ध्यात्वा हृदि स्थं प्रणिपत्य मूढना कृताञ्जलिस्वेषु शिरः सुभूयः ॥१८३

ओंकारमुच्चार्य विलोक्य देवमन्तः शरीरं निहितं गुहायाम् ।

समस्तु वन् ब्रह्ममयैव चोभिरानन्दपूर्णं हितमानसा वै ॥१८४

परम शाश्वत ऐश्वर्य और विभव वाले—धर्म के आधार—दुरासद—महेन्द्र और उपेन्द्र के द्वारा प्रणमित—महर्षिगण के द्वारा वन्द्यमान—योगियों के हृदय में संस्थित—योगमाया से समावृत—क्षणमात्र में इस जगत् की रचना करने वाले योनि—अनामय—नारायण को उस ईश्वर के साथ ऐक्यभाव को प्राप्त हुए ब्रह्मवादियों ने देखा था । उस समय में उस ईश्वरीय रुद्र रूप को नारायणात्मक देख कर ब्रह्मवादियों ने अपने आपको परम कृतार्थ मान लिया था । सनत्कुमार—सनक—भृगु—सनातन—सनन्दन—रैम्य—अङ्गिरा—वामदेव—शुक्र—महर्षि—अत्रि—कपिल—मरीचि—इन सब ने जगतों के ईश—पद्म नाम से समाश्रित भाग भाग वाले उन रुद्र देव का दर्शन करके—हृदय में स्थित का ध्यान करके और मस्तक से

प्रणिपात करके दोनों हाथों को जोड़ कर मस्तकों पर लगा लिया था । उन्होंने ओङ्कार का उच्चारण किया था और गुहा में निहित शरीर के अन्तर में स्थित देव का ध्यान किया था । सब आनन्द से पूर्ण समाहित मन वालों ने ब्रह्ममय वचनों के द्वारा उन देवेश्वर का स्तवन किया था ॥१७६ १८४॥

त्वामेकमीशं पुरुषं पुराणं प्राणेश्वरं रुद्रमानन्तयोगन् ।
नमाम सर्वे हृदि सन्निविष्टं प्रचेतसं ब्रह्ममयं पवित्रम् ॥१८५॥
पश्यन्ति त्वां मुनयो ब्रह्मयोनिं दान्ताः शान्ता विमलं रुक्मावर्णम् ।
ध्यात्वाऽऽत्मस्वप्रचलं स्वे शरीरे कविं परेभ्यः परमं परञ्च ॥१८६॥
त्वत्तः प्रसूता जगतः प्रसूतिः सर्वानुभूस्त्वं परमाणुभूतः ।
अणोरणीयान्महतो महीयास्त्वामेव सर्वं प्रवदन्ति सन्तः ॥१८७॥
हिरण्यगर्भोजगदन्तरात्मा त्वत्तोऽस्ति जातः पुरुषः पुराणः ।
सञ्जायमानो भवता निसृष्टो यथाविधानं सकलं स सद्यः ॥१८८॥
त्वत्तो वेदाः सकलाः सम्प्रसूतास्त्वय्येवान्ते संस्थितिं ते लभन्ते ।
पश्याम्स्त्वाञ्जगतो हेतुभूतं नृत्यन्तं स्वेहृदये सन्निविष्टम् ॥१८९॥
त्वयैवेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रं मायावी त्वं जगताशेकनाथः ।
नमामस्त्वां शरणं सम्प्रपन्ना योगात्मानं नृत्यन्तं दिव्यनृत्यम् ॥१९०॥
पश्यामस्त्वां परमाकाशमध्ये नृत्यन्तं ते महिमानं स्मरामः ।
सर्वात्मानं बहुधा सन्निविष्टं ब्रह्मानन्दमनुभूयानुभूय ॥१९१॥
ओङ्कारस्ते वाचको मुक्तिबीजं त्वमक्षरं प्रकृतौ गूढरूपम् ।
तत्त्वां सत्यं प्रवदन्तीह सन्तः स्वयंप्रभं भवतो यत्प्रभावम् ॥१९२॥

मुनिगण ने कहा—एक ईश—पुराण पुरुष—अनन्त योग वाले—प्राणेश्वर रुद्र आपको हम सब नमन करते हैं जो आप हृदय में सन्निविष्ट प्रचेतस ब्रह्ममय और परम पवित्र हैं । जो परम दमनशील शान्त मुनिगण हैं वे ही विमल सुवर्ण के तुल्य कान्ति वाले आपका दर्शन किया करते हैं । अपने शरीर में आत्मस्वप्रचल—कवि परों से भी परतर एवं परम आपका ध्यान करके ही आपको देखते हैं । इस जगत् की यह प्रसूति

आप ही से प्रसूत हुई है। आप सबके अनुभू हैं और परमाणु भूत हैं। आप अणु से भी छोटे एक अणु के समान हैं तथा महान् से आप महान् हैं। सब संतजन आपको ही इस प्रकार के कहा करते हैं। यह हिरण्य गर्भ जगत् का अन्तरात्मा पुराण पुरुष भी आप से ही समुत्पन्न हुआ है। जब यह संजात हो गया तो आपने ही उसे तुरन्त सब का यथाविधान सृजन करने के लिये निसृष्ट किया था। आप से ही ये समस्त वेद सम्प्रसूत हुए हैं और अन्त समय में ये सब आपमें ही प्राप्त होकर संस्थिति पाया करते हैं। हम सभी इस जगत् के कारण स्वरूप आपको ही जानते हैं और इस समय में अपने हृदय में सन्निविष्ट आपको नृत्य करते हुए देखा है। आप के द्वारा ही यह ब्रह्मचक्र भ्रमित किया जाता है, आप परम मायावी हैं और जगत्ओं के आप नाथ हैं। हम सब आपकी शरणागति में प्रपन्न हुए दिव्य नृत्य को करके नाचने वाले योगात्मा आपको नमस्कार करते हैं। हम सब लोग परम आकाश के मध्य में नृत्य करते हुए आपका दर्शन कर रहे हैं और आपकी महिमा का भी स्मरण करते हैं। हे ब्रह्मानन्द का अनुभव करके अनुभव किये जाने वाले देव ! आपको सबकी आत्मा बहुधा सब में सन्निविष्ट देखते हैं। आपका वाचक और मुक्ति का बीज ओङ्कार है। आप अक्षर हैं और प्रकृति से ही गूढ़ रूप वाले हैं। इन ऐसे आपको यहाँ पर सन्म लोग सत्य स्वरूप कहा करते हैं। आपका ऐसा ही प्रभाव है कि आप स्वयं प्रभु हैं अर्थात् अपनी प्रभा से परिपूर्ण हैं ॥१८५-१८२॥

स्तुवन्ति त्वां सततं सर्ववेदा नमन्ति त्वामृषयः क्षीणदोषाः ।
 शान्तात्मानः सत्यसन्धं वरिष्ठं विशन्ति त्वां यतयो ब्रह्मनिष्ठाः ॥१८३
 (भुवो नाशोऽनादिमान् विश्वरूपो ब्रह्मा विष्णुः मरमेष्ठी वरिष्ठः ।
 स्वात्मानन्दमनुभूय विशन्ते स्वयं ज्योतिरचला नित्यमुक्ताः) ॥१८४
 एको रुद्रस्त्वं करोषीह विश्वं त्वं पालयस्य खिलं विश्वरूपम् ।
 त्वमेवान्ते निलयं विन्दतीदं नमामस्त्वां शरणं सम्प्रपन्नाः ॥१८५
 एको वेदो ब्रह्मशाखो ह्यनन्तस्त्वामेवैकं बोधयत्येकरूपम् ।
 वन्द्यं त्वां ये शरणं सम्प्रपन्ना मायामेतां ते तारन्तीह विप्राः ॥१८६

त्वामेकमाहुः कविमेकरुद्रं ब्रह्मं गृणन्तं हरिमग्निमीशम् ।
 रुद्रं नित्यमनिलं चेकितानं धातारमादित्यमनेकरूपम् ॥१६७
 त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्यपरं निधानम् ।
 त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषोत्तमोऽसि ॥१६८
 त्वमेवविष्णुश्चतुराननस्त्वं त्वमेव रुद्रो भगवानमीशः ।
 त्वं विश्वनाथःप्रकृतिःप्रतिष्ठा सर्वेश्वरस्त्वं परमेश्वरोऽसि ॥१६९

आपका समस्त वेद निरन्तर स्तवन किया करते हैं । ऋषिगण क्षीण दोष वाले होते हुए आपका गमन किया करते हैं । ब्रह्म में निष्ठा रखने वाले यति लोग जिनकी आत्माएँ परम शान्त हैं सत्य सन्ध वाले और वरिष्ठ आपके अन्दर ही प्रवेश कर जाया करते हैं । भू के नाश करने वाले—अनादिमान् विश्वरूप ब्रह्मा—विष्णु—वरिष्ठ परमेश्वी स्वात्मानन्द का अनुभव करके ही अचल और नित्य युक्त ज्योति में स्वयं ही प्रवेश कर जाया करते हैं । आप एक ही रुद्र हैं जो इस विश्व को किया करते हैं । आप ही इस सम्पूर्ण विश्वरूप का पालन भी किया करते हैं । इसका निलय भी अन्त में आप में ही होता है ऐसा सब जानते हैं । ऐसे आपकी शरणागति में प्रपन्न हुए हम सब आपकी सेवा में प्रणाम समर्पित करते हैं । एक ही वेद बहुत-सी शाखाओं वाला है और वह अनन्त है किन्तु वह आपको एक ही स्वरूप वाला एक ही बोधित किया करता है । हे विप्र-गण ! ऐसे वन्द्यमान आपकी शरण में प्रपन्न होने वाले लोग यहाँ पर माया से तर जाया करते हैं । आपको एक—कवि—रुद्र—ब्रह्म को गृणन करने वाले—हरि—अग्नि—ईश—नित्य—अनिल—चेकितान—धाता—आदित्य और एक रूप कहते हैं । आप अक्षर—परम वेदितव्य हैं । आप ही इस विश्व के परम निधान हैं । आप अव्यय हैं—आप शाश्वत धर्म की रक्षा करने वाले हैं । आप सनातन हैं और पुरुषोत्तम भी आप ही हैं । आप ही विष्णु हैं और चतुरानन भी आप हैं । आप ही रुद्र हैं तथा भगवान् ईश भी आप हैं । आप इस विश्व के नाथ हैं—आप ही प्रकृति—प्रतिष्ठा—सर्वेश्वर और परमेश्वर हैं ॥१६३-१६९॥

त्वामेकमाहुः पुरुषं पुराणमादित्वर्णतमसः परस्तात ।
 चिन्मत्रमव्यक्तमनन्तरूपं खं ब्रह्म शून्यं प्रकृतिगुणाश्च ॥२००
 यदन्तरा सर्वमिदं विभाति यदव्ययं निर्मलमेकरूपम् ।
 किमप्यचिन्त्यं तवरूपमेतत्तदन्तरा यत्प्रतिभाति तत्त्वम् ॥२०१
 योगेश्वरं भद्रमनन्तशक्तिं परायणं ब्रह्मतनुं पुराणम् ।
 नमामसर्वे शरणार्थिनस्त्वां प्रसीद भूताधिपते! महेश! ॥२०२
 त्वत्पादपद्मस्मरणादशेषसंसारबीजं निलयं प्रयाति ।
 मनोनियम्य प्राणिधायकाय प्रसादयामो वयमेकमीशम् ॥२०३
 नमो भवायाथ भवोद्भवाय कालाय सर्वाय हराय तुभ्यम् ।
 नमोऽस्तु रुद्राय कपर्दिने ते नमोऽग्नये देव नमः शिवाय ॥२०४
 ततः स भगवान्प्रीतः कपर्दीवृषवाहनः ।
 संहृत्य परम रूपं प्रकृतिस्थोऽभवद्भवः ॥२०५
 ते भवं भूतभव्येशं पूर्ववत्समवस्थितम् ।
 दृष्ट्वानारायणं देवं विस्मितं वाक्यमब्रुवन् ॥२०६

आपको पुराण पुरुष—आदित्य के तुल्य वर्ण वाला और तम से परे कहते हैं। आप ही एक को चिन्मात्र—अव्यक्त—अनन्त रूप वाला—आकाश—ब्रह्म—शून्य—प्रकृति और गुण कहा जाता है। जिसके अन्तरा में यह सब भासित होता है—जो अव्यय और निर्मल रूप वाला है। जो एक रूप है। आपका यह रूप कुछ अचिन्त्य सा है। यह तत्त्व उस उसके अन्तरा में ही प्रतिमान होता है। परम योगेश्वर—भद्र—अनन्त शक्ति संयुत—परायण—ब्रह्मतनु—पुराण आप हैं। ऐसे आपको हम सब प्रणाम करते हैं। हम आपकी शरण के अर्थी हैं। हे भूतों के अधिपति! हे महेश! आप हमारे सबके ऊपर प्रसन्न होइये। आपके पाद पद्मों के स्मरण करने से यह सम्पूर्ण संसार का बीज निलय को प्राप्त हो जाया करता है। मन को नियमित करके और काया का प्राणिधान करके हम एक ही ईश आपको प्रसन्न कर रहे हैं। भव—भव के उद्भव—काल—सर्व हर आपके लिये हमारा नमस्कार है। रुद्र—कपर्दी आपकी सन्निधि में प्रणाम समर्पित है। हे देव! अग्नि और शिव को हमारा नमस्कार अर्पित

त्वामेकमाहुः कविमेकरुद्रं ब्रह्मं गृणन्तं हरिमग्निमीशम् ।
 रुद्रं नित्यमनिलं चेकितानं धातारमादित्यमनेकरूपम् ॥१६७
 त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्यपरं निधानम् ।
 त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषोत्तमोऽसि ॥१६८
 त्वमेवविष्णुश्चतुराननस्त्वं त्वमेव रुद्रो भगवानमीशः ।
 त्वं विश्वनाथःप्रकृतिःप्रतिष्ठा सर्वेश्वरस्त्वं परमेश्वरोऽसि ॥१६९

आपका समस्त वेद निरन्तर स्तवन किया करते हैं । ऋषिगण क्षीण दोष वाले होते हुए आपका गमन किया करते हैं । ब्रह्म में निष्ठा रखने वाले यति लोग जिनकी आत्माएँ परम शान्त हैं सत्य सन्ध वाले और वरिष्ठ आपके अन्दर ही प्रवेश कर जाया करते हैं । भू के नाश करने वाले—अनादिमान् विश्वरूप ब्रह्मा—विष्णु—वरिष्ठ परमेश्वी स्वात्मानन्द का अनुभव करके ही अचल और नित्य युक्त ज्योति में स्वयं ही प्रवेश कर जाया करते हैं । आप एक ही रुद्र हैं जो इस विश्व को किया करते हैं । आप ही इस सम्पूर्ण विश्वरूप का पालन भी किया करते हैं । इसका निलय भी अन्त में आप में ही होता है ऐसा सब जानते हैं । ऐसे आपकी शरणागति में प्रपन्न हुए हम सब आपकी सेवा में प्रणाम समर्पित करते हैं । एक ही वेद बहुत-सी शाखाओं वाला है और वह अनन्त है किन्तु वह आपको एक ही स्वरूप वाला एक ही बोधित किया करता है । हे विप्र-गण ! ऐसे वन्द्यमान आपकी शरण में प्रपन्न होने वाले लोग यहाँ पर माया से तर जाया करते हैं । आपको एक—कवि—रुद्र—ब्रह्म को गृणन करने वाले—हरि—अग्नि—ईश—नित्य—अनिल—चेकितान—धाता—आदित्य और एक रूप कहते हैं । आप अक्षर—परम वेदितव्य हैं । आप ही इस विश्व के परम निधान हैं । आप अव्यय हैं—आप शाश्वत धर्म की रक्षा करने वाले हैं । आप सनातन हैं और पुरुषोत्तम भी आप ही हैं । आप ही विष्णु हैं और चतुरानन भी आप हैं । आप ही रुद्र हैं तथा भगवान् ईश भी आप हैं । आप इस विश्व के नाथ हैं—आप ही प्रकृति—प्रतिष्ठा—सर्वेश्वर और परमेश्वर हैं ॥१६३-१६९॥

त्वामेकमाहुः पुरुषे पुराणमादित्वर्णतमसः परस्तात ।
 चिन्मत्रमव्यक्तमनन्तरूपं खं ब्रह्म शून्यं प्रकृतिर्गुणाश्च ॥२००॥
 यदन्तरा सर्वमिदं विभाति यदव्ययं निर्मलमेकरूपम् ।
 किमप्यचिन्त्यं तवरूपमेतत्तदन्तरा यत्प्रतिभाति तत्त्वम् ॥२०१॥
 योगेश्वरं भद्रमनन्तशक्तिं परायणं ब्रह्मतनुं पुराणम् ।
 नमामसर्वे शरणार्थिनस्त्वां प्रसीद भूताधिपते! महेश! ॥२०२॥
 त्वत्पादपद्मस्मरणादशेषसंसारबीजं निलयं प्रयाति ।
 मनोनियम्य प्रणिधायकाय प्रसादयामो वयमेकमीशम् ॥२०३॥
 नमो भवायाथ भवोद्भवाय कालाय सर्वाय हराय तुभ्यम् ।
 नमोऽस्तु रुद्राय कपर्दिने ते नमोऽग्नये देव नमः शिवाय ॥२०४॥
 ततः स भगवान्प्रीतः कपर्दीवृषवाहनः ।
 संहृत्य परम रूपं प्रकृतिस्थोऽभवद्भवः ॥२०५॥
 ते भवं भूतभव्येशं पूर्ववत्समवस्थितम् ।
 दृष्ट्वानारायणं देवं विस्मितं वाक्यमब्रुवन् ॥२०६॥

आपको पुराण पुरुष—आदित्य के तुल्य वर्ण वाला और तम से परे कहते हैं। आप ही एक को चिन्मात्र—अव्यक्त—अनन्त रूप वाला—आकाश—ब्रह्म—शून्य—प्रकृति और गुण कहा जाता है। जिसके अन्तरा में यह सब भासित होता है—जो अव्यय और निर्मल रूप वाला है। जो एक रूप है। आपका यह रूप कुछ अन्विन्त्य सा है। यह तत्त्व उस उसके अन्तरा में ही प्रतिमान होता है। परम योगेश्वर—भद्र—अनन्त शक्ति संयुत—परायण—ब्रह्मतनु—पुराण आप हैं। ऐसे आपको हम सब प्रणाम करते हैं। हम आपकी शरण के अर्थी हैं। हे भूतों के अधिपति ! हे महेश ! आप हमारे सबके ऊपर प्रसन्न होइये। आपके पाद पद्मों के स्मरण करने से यह सम्पूर्ण संसार का बीज निलय को प्राप्त हो जाया करता है। मन को नियमित करके और काया का प्राणिधान करके हम एक ही ईश आपको प्रसन्न कर रहे हैं। भव—भव के उद्भव—काल—सर्व हर आपके लिये हमारा नमस्कार है। रुद्र—कपर्दी आपकी सन्निधि में प्रणाम समर्पित है। हे देव ! अग्नि और शिव को हमारा नमस्कार अर्पित

किया जाता है । इसके उपरान्त वह भगवान् कपर्दी वृष वाहन परम प्रसन्न हो गये थे और उन्होंने उस परम स्वरूप का संहार करके फिर वह अपनी प्रकृति में स्थित हो गये थे । उन सबने भूत भव्य के ईश भव प्रभु को पूर्व की ही भाँति संभवस्थित देखकर विस्मित देव नारायण से वे यह वाक्य बोले थे ॥२००-२०६॥

भगवान् ! भूतभव्येश ! गोवृपाङ्कितशासन ! ।

दृष्ट्वा ते परमं रूपं निवृत्ताः स्मः सनातन ॥२०७

भवत्प्रसादादमले परस्मिन्परमेश्वरे ।

अस्माकंजायतेभक्तिस्त्वय्येवाऽव्यभिचारिणी ॥२०८

इदानीं श्रोतुमिच्छामो माहात्म्यं तव शङ्कर ! ।

भूयोऽपि चैवं यन्नित्यं याथात्म्यं परमेश्विनः ॥२०९

स तेषां वाक्यमाकर्ण्य योगिनां योगसिद्धिदः ।

प्राह गम्भीरया वाचा समालोक्य च माधवम् ॥२१०

हे भगवन् ! हे भूतभव्येश ! हे गोवृष से अङ्कित शासन वाले ! हे सनातन !, आपके इस परम रूप को देखकर हम सब निवृत्त हो गये हैं । आपके ही प्रसाद से अमल पद परमेश्वर में हमारी भक्ति उत्पन्न हो गई और आप में भी अव्यभिचारिणी भक्ति समुत्पन्न हो गई है । हे शङ्कर ! अब इस समय में हम सब आपका माहात्म्य श्रवण करने की इच्छा वाले हैं । और पुनरपि परमेश्वरी का नित्य याथात्म्य श्रवण करना चाहते हैं । वह योगियों को योग की सिद्धि प्रदान करने वाले प्रभु ने उनके इस वाक्य को सुनकर माधव की ओर देखकर परम गम्भीर वाणी से यह कहा था ॥२०७-२१०॥

शृणुध्वमृषयः सर्वे यथावत्परमेश्विनः ।

वक्ष्यामीशस्य माहात्म्यं यत्तद्वेदविदो विदुः ॥२११

सर्वलोकैकनिर्माता सर्वलोकैकरक्षिता ।

सर्वलोकैकसंहर्ता सर्वात्माऽहं सनातनम् ॥२१२

सर्वेषामेव वस्तूनामन्तर्यामी महेश्वरः ।

मध्येचान्तः स्थितं सर्वनाहं सर्वत्रस्थितः ॥२१३

भवद्भिरद्भुतं दृष्टं यत्स्वरूपञ्च मामकम् ।

ममैषा ह्युपमा विप्रा माया वै दर्शिता मया ॥२१४

सर्वेषामेव भावानामन्तरं समवस्थितः ।

प्रेरयामि जगत्कृस्नं क्रियाशक्तिरियं मम ॥२१५

मयेदं चेष्टते विश्वं तद्वै भावानुवर्त्तिमे ।

सोऽहंकालोजगत्कृस्नंप्रेरयामिकलात्मकम् ॥२१६

एकांशेन जगत्कृस्नं करोमि मुनिपुङ्गवाः ।

संहाराम्येकरूपेणस्थितावस्था ममैव तु ॥२१७

ईश्वर ने कहा—हे ऋषिवृन्द ! आप सब लोग श्रवण करिये । मैं यथावत् परमेष्ठी ईश का माहात्म्य कहता हूँ जिसको वेदों के वेत्ता लोग ही जानते हैं । मैं समस्त लोकों एक ही निर्माण करने वाला हूँ । सब लोकों की रक्षा के करने वाला भी मैं ही एक हूँ तथा सम्पूर्ण लोकों का संहार भी मैं किया करता हूँ । मैं सर्वात्मा और सनातन हूँ । सभी वस्तुओं का मैं महेश्वर अन्तर्गामी हूँ । मध्य में, अन्त में सबमें मैं स्थित रहता हूँ और मैं सर्वत्र संस्थित नहीं रहता हूँ । आप लोगों ने जो यह मेरा परम अद्भुत स्वरूप देखा है हे विप्रगण ! यह भी मेरी ही उपमा माया है जिसको मैंने आप लोगों को दिखला दिया है । सब भावों के अन्तर में संभव स्थित हूँ और मैं सम्पूर्ण जगत् को प्रेरित किया करता हूँ—यही मेरी क्रिया की शक्ति है । मेरे द्वारा ही यह विश्व चेष्टा वाला होता है और मेरे भाव का अनुवर्त्ती है । वही मैं काल इस कलात्मक समस्त जगत् को प्रेरणा दिया करता हूँ । हे मुनिश्रेष्ठो ! मैं एक अंश से इस सम्पूर्ण जगत् को किया करता हूँ और एक दूसरे ही स्वरूप से इस सबका संहार किया करता हूँ । मेरे ही एक रूप से इसकी स्थिति की अवस्था हुआ करती है ॥२११-२१७॥

आदिमध्यान्तनिर्मुक्तो मायातत्त्वप्रवर्त्तकः ।

क्षोभयामि च सर्गादौ प्रधानपुरुषावुभौ ॥२१८

ताभ्यां सञ्जायते विश्वं संयुक्ताभ्यां परस्परम् ।

महदादिक्रमेणैव मम तेजो विजृम्भते ॥२१९

यो हि सर्वजगत्साक्षीकालचक्र प्रवर्त्तकः ।

हिरण्यगर्भोमार्त्तण्डः सोऽपि मद्देहसम्भवः ॥२२०

तस्मै दिव्यं स्वमैश्वर्यं ज्ञानयोगं सनातनम् ।

दत्तवानात्मवान्वेदान् कल्पादौचतुरो द्विजाः ॥२२१

समन्त्रियोगतो देवो ब्रह्मा मद्भावाभावितः ।

दिव्यतन्मामकैश्वर्यं सर्वदावगतः स्वयम् ॥२२२

स सर्वलोकनिर्माता मन्त्रियोगेन सर्ववित् ।

भूत्वा चतुर्मुखः सर्गं सृजत्येवात्मसम्भवः ॥२२३

योऽपि नारायणोऽनन्तो लोकानां प्रभवोऽव्ययः ।

ममैव च परा मूर्तिः करोति परिपालनम् ॥२२४

मैं आदि और मध्य से निर्मुक्त हूँ तथा माया तत्त्व का प्रवर्त्तक हूँ ।

मैं ही सर्ग के आदि में इन प्रधान पुरुष दोनों को शोभित किया करता हूँ । उन दोनों से संयुक्त होने पर उनसे ही परस्पर में संयोग प्राप्त हो जाने से यह विश्व समुत्पन्न हुआ करता है । महत् तत्त्व आदि के क्रम से मेरा ही तेज विजृम्भित हुआ करता है । जो इस समस्त जगत् का साक्षी और काल चक्र का प्रवर्त्तक है । जो यह हिरण्यगर्भ मार्त्तण्ड है वह भी मेरे ही देह से सम्भूत होने वाला है । उसके लिये मैंने अपना दिव्य ऐश्वर्य सनातन ज्ञान योग और आत्मवान् चार वेदों को कल्प के आदि में दे दिया था । मेरे वियोग से देव ब्रह्मा मेरे भाव से भावित होकर मेरे दिव्य ऐश्वर्य का वह सर्वदा स्वयं अवगत हो गया था । वह सब लोकों का निर्माता मेरे नियोग से सबका ज्ञाता होकर रुद्र आत्म सम्भव चतुर्मुख इस मार्ग का सृजन किया ही करता है । जो यह अनन्त नारायण हैं जो लोकों का प्रभाव है और अव्यय है । यह भी मेरी ही परामूर्ति है जो परिपालन किया करते हैं ॥२१८-२२४॥

यौऽन्तकः सर्वभूतानां रुद्रः कालात्मकः प्रभुः ।

मदाज्ञयाऽसौ सततं संहरिष्यति मेतनुः ॥२२५

हव्यं वहति देवानां कव्यं कव्याशिनामपि ।

शकश्च कुस्ते वह्निः सोऽपि मच्छक्तिनोदितः ॥२२६

भुक्तमाहारजातञ्च पचते तदहर्निशम् ।

बैश्वानरोऽग्निर्भगवानीश्वरस्य नियोगतः ॥२२७

योऽपि सर्वाम्भसां योनिर्वरुणो देवपुङ्गवः ।

सोऽपि सञ्जीवयेत्कृत्स्नमीश्वरस्य नियोगतः ॥२२८

योऽन्तस्तिष्ठतिभूतानांबहिर्देवःप्रभञ्जनः ।

मदाज्ञयाऽसौभूतानांशरीराणिबिभर्त्तिहि ॥२२९

योऽपि सञ्जीवन्नोन्नृणां देवानाममृताकरः ।

सोमः समन्त्रियोगेन नोदितःकिलवर्त्तत ॥२३०

यः स्वभासा जगत्कृत्स्नं प्रभासयति सर्वशः ।

सूर्यो वृष्टिं वितनुते स्वोस्त्रेणैव स्वयम्भुवः ॥२३१

जो समस्त प्राणियों का अन्तक है वह कलात्मक प्रभु रूद्र हैं। वह भी मेरी आज्ञा से निरन्तर संहार करेगा क्योंकि यह भी मेरा ही एक शरीर होता है। देवों के लिये समर्पित हव्य का वहन किया करता है और कव्य के अशन करने वालों के कव्य का जो वहन करता है तथा पाक की क्रिया भी करता है वह वह्नि भी मेरी ही शक्ति से प्रेरित हुआ करता है। मुक्त आहार मात्र का जो अहर्निश पाचन किया करता है वह वैश्वानर अग्नि है जो ईश्वर के ही नियोग से पाचन की क्रिया को करता है। जो सम्पूर्ण जलों की उत्पत्ति का स्थान देवों में श्रेष्ठ वरुण है वह भी ईश्वर के ही नियोग से सबको सञ्जीवित किया करता है। जो प्राणियों के अन्दर स्थित रहता है और जो बाहिर प्रभञ्जन देव है वह भी मेरी ही आज्ञा से भूतों के शरीर का भरण किया करता है। जो नरों का और देवों का सञ्जीवन एवं अमृत का आकर है वह सोम भी मेरे ही नियोग से प्रेरित होकर ही किया करता है। जो अपनी दीप्ति से सम्पूर्ण जगत् को पूर्ण रूप से सभी ओर प्रभासित कर देता है वह सूर्य अपने उल्लवण से ही स्वम्भुव वृष्टि का विस्तार किया करता है ॥२२५-२३१॥

योऽप्यशेषजगच्छास्ता शक्रः सर्वमरेश्वरः ।

यज्वनां फलदो देवो वर्त्ततिसमदाज्ञया ॥२३२

यः प्रशास्ता ह्यसाधूनां वर्तते नियमादिह ।

यमो वैवस्वतो देवो देवदेवनियोगतः ॥२३३

योऽपि सर्वधनाध्यक्षो धनानां सम्प्रदायकः ।

सोऽपीश्वरनियोगेन कुबेरो वर्ततेसदा ॥२३४

यःसर्वरक्षसां नाथस्तामसानां फलप्रदः ।

मन्नियोगादसौ देवोवर्तते निर्ऋतिःसदा ॥२३५

वेतालमणभूतानांस्वामी भोगफलप्रदः ।

ईशानः किलभक्तानांसोऽपितिष्ठेन्मदाज्ञया ॥२३६

यो वामदेवोऽङ्गिरसः शिष्यो रुद्रगणाग्रणीः ।

रक्षको योगिनां नित्यं वर्ततेऽसौ मदाज्ञया ॥२३७

यश्च सर्वजगत्पूज्यो वर्तते विघ्ननायकः ।

विनायको धर्मरतः सोपि मद्वचनात्किल ॥२३८

जो सम्पूर्ण जगत् का शास्त्र इन्द्र देव सब देवों का स्वामी है । वह यज्वाओं को फलों का दाता भी देव मेरी ही आज्ञा से दिया करता है । जो असत्कर्मकारी असाधुओं का प्रशासन करने वाला है और यहाँ पर नियम से वैवस्वत देव यमराज हैं वह भी देवों के देव के नियोग से ही प्रशास्ता होता है । जो भी समस्त धनों का स्वामी और धनों का प्रदायक है वह भी कुबेर सदा ईश्वर के नियोग से ही ऐसा किया करता है । जो समस्त राक्षसों का नाथ है और तामस जनों को फल देने वाला है वह निर्ऋति देव भी मेरे ही नियोग से सदा आने कर्म में वर्तमान रहा करता है । वेतालों के गण और भूतों का स्वामी जो भोगों के फलों का प्रदान करने वाला है वह भक्तों का ईशान मेरी ही आज्ञा से उपस्थित रहा करता है । जो वामदेव अङ्गिरा का शिष्य और रुद्र गणों का अग्रणी है वह भी मेरी आज्ञा से नित्य ही योगियों की रक्षा करने वाला होता है । जो सम्पूर्ण जगत् का पूज्य विघ्नों का नायक भगवान् विनायक हैं वह भी मेरे ही वचन से धर्म में रत रहा करते हैं ॥२३२-२३८॥

योऽपि ब्रह्मविदां श्रेष्ठो देवसेनापतिः प्रभुः ।

स्कन्दोऽसौ वर्तते नित्यं स्वयम्भूविधिनादितः ॥ ३६

ये च प्रजानां पतयो मरीच्याद्यामहर्षयः ।
 सृजन्ति विविधं लोकं परस्यैवनियोगतः ॥२४०॥
 याचश्रीःसर्वभतानां ददातिविपुलां श्रियम् ।
 पत्नीनारायणस्यासौवर्त्ततेमदनुग्रहात् ॥२४१॥
 वाचं ददाति विपुलां या च देवी सरस्वती ।
 सापीश्वरनियोगेन नोदितासप्रवर्त्तते ॥२४२॥
 याशेषपुरुषान् घोरात्तरकत्तारयिष्यति ।
 सावित्रीसंस्मृताचापिमदाज्ञानुविधायिनी ॥२४३॥
 पार्वती परमा देवी ब्रह्मविद्याप्रदायिनी ।
 यापि ध्याता विशेषेण सापिमद्वचनानुगा ॥२४४॥
 योऽनन्तमहिमानन्तः शेषोऽशेषामरप्रभुः ।
 दधाति शिरसालोकंसोऽपिदेवनियोगतः ॥२४५॥
 योग्निःसम्बर्त्तकोनित्यंवडवारूपसंस्थितः ।
 पिबत्यखिलमम्भोधिमीश्वरस्यनियोगतः ॥२४६॥

जो ब्रह्म वेत्ताओं में परम श्रेष्ठ देव सेना के अधिपति प्रभु हैं जिनका नाम स्कन्द है यह भी स्वयंभू नित्य ही विधि के द्वारा उदित होकर ही स्थित रहते हैं । और जो प्रजाओं के स्वामी मरीचि आदि महर्षिगण हैं जो अनेक प्रकार के लोक का सृजन किया करते हैं वे सब भी परात्पर देव के ही नियम को पाकर सब कुछ करते हैं । और जो सब भूतों की भी है जो विपुल श्री का प्रदान किया करती है । यह नारायण भगवान् की पत्नी भी मेरे ही अनुग्रह से वर्त्तमान रहती है । जो देवी सरस्वती विपुल वाणी को प्रदान किया करती है वह भी ईश्वर के ही नियोग से प्रेरित होकर ही संप्रवृत्त हुआ करती है । जो यज्ञेश पुरुषों को घोर नरक से तार देती है जबकि इसका संस्मरण किया जाता है वह सावित्री देवी भी मेरी ही आज्ञा की अनु विधायिनी है । पार्वती देवी परमा है जो ब्रह्म विद्या के प्रदान करने वाली है जब कि विशेष रूप से इसका ध्यान किया जाता है तो वह देवी मेरे ही वचनों की अनुगामिनी है । जो समस्त भूतों का प्रभु—अनन्त महिमा से अनन्त नामधारी भगवान् शेष हैं जो

शिर से सम्पूर्ण लोक को धारण किया करते हैं वह भी देव के ही नियोग से करता है । जो अग्नि नित्य सम्बर्त्तक है और बड़वा के रूप में संस्थित है और सम्पूर्ण सागर का पान कर जाती है यह कर्म भी ईश्वर के नियोग से उसके जल का पान किया करता है ॥२३६-२४६॥

ये चतुर्दश लोकेऽस्मिन्मनवः प्रथितौजसः ।

पालयन्ति प्रजाः सर्वास्तेऽपि तस्य नियोगतः ॥२४७

आदित्या वसवो रुद्रा मरुतश्च तथाऽश्विनौ ।

अन्याश्च देवताः सर्वाः शास्त्रेणवविनिर्मिताः ॥२४८

गन्धर्वा गरुडाद्याश्च सिद्धाः साध्याश्च चारणाः ।

यक्षरक्षः पिशाचाश्च स्थिताः सृष्टाः स्वयम्भुवा ॥२४९

कलाकाष्ठानिमेषाश्चमुहूर्त्तादिवसाःक्षपाः ।

ऋतवःपक्षमासाश्चस्थिताःशास्त्रेणप्रजापतेः ॥२५०

युगमन्वन्तराण्येव मम तिष्ठन्ति शासने ।

पराश्रव परार्द्धाश्च कालभेदास्तथापरे ॥२५१

चतुर्विधानि भूतानि स्थावराणिचराणिच ।

नियोगादेव वर्त्तन्ते देवस्यपरमात्मनः ॥२५२

जो चौदह लोकों में मनुगण प्रथित ओज वाले हैं और जो समस्त प्रजाओं का पालन किया करते हैं वे भी इस पालन के कर्म को उसी ईश्वर के आदेश को प्राप्त करके किया करते हैं । आदित्य-- वसुगण-- रुद्रगण--मरुद्गण तथा अश्विनीकुमार और अन्य समस्त देवगण जो शास्त्र से ही विनिर्मित हैं । गन्धर्व--गरुड़ आदि--सिद्ध--साध्य--चारण--यक्ष--राक्षस--पिशाच ये सब स्वयम्भू के द्वारा निःसृष्ट होकर ही स्थित रहा करते हैं । कला--काष्ठा--निमेष--मुहूर्त्त--दिवस क्षमा--ऋतु--पक्ष--मास ये सब प्रजापति के शास्त्र में स्थित हैं । युग और मन्वन्तर भी मेरे ही शासन में स्थित रहा करते हैं । परा--परार्द्ध तथा दूसरे काल के भेद भी मेरे शासन में स्थित होते हैं । स्थावर और चर प्राणी चार प्रकार के होते हैं जो सची परमात्मा देव के ही नियोग से ही वर्त्तमान रहा करते हैं ॥ ४७-२५२॥

पातालानि च सर्वाणि भुवनानि च शासनात् ।
 ब्रह्माण्डानि च वर्तन्ते सर्वाण्येव स्वयम्भुवः ॥२५३
 अतीतान्यप्यसंख्यानब्रह्माण्डानिममाज्ञया ।
 प्रवृत्तानि पदार्थौघैः सहितानिसमन्ततः ॥२५४
 ब्रह्माण्डनिभविष्यन्तिसहचात्मभिरात्मगैः ।
 करिष्यन्तिसदैवाज्ञांपरस्यपरमात्मनः ॥२५५
 भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च ।
 भूतादिरादिप्रकृतिनियोगे मम वर्तन्ते ॥२५६
 याशेषजगतां योनिर्मोहिनी सर्वदेहिनाम् ।
 मायाविवर्तन्ते नित्यं सापीश्वरनियोगतः ॥२५७
 यो वै देहभृतां देवः पुरुषः पठ्यते परः ॥२५८
 आत्मासौ वर्तन्ते नित्यमीश्वरस्य नियोगतः ॥२५९
 विधूय मोहकलिलं यया पश्यति तत्पदम् ।
 सापि बुद्धिर्महेशस्य नियोगवशवर्त्तिनी ॥२६०

सप्तस्त पाताल लोक और सम्पूर्ण भुवन तथा ब्रह्माण्ड सभी स्वयम्भुव के शासन से ही वर्तमान रहा करते हैं । असंख्य अतीत ब्रह्माण्ड भी मेरी ही आज्ञा से प्रवृत्त हुए थे जो सभी ओर में अनेक पदार्थों के समूहों के सहित हैं । अन्य भी बहुत-से ब्रह्माण्ड आत्मगों के द्वारा आत्माओं के साथ भविष्य में भी होंगे । वे सभी परात्पर परमात्मा की आज्ञा का ही सदैव पालन किया करेंगे । भूमि—जल—वायु—आकाश—अनल—मन—बुद्धि—भूतादि और प्रकृति मेरे ही नियोग में वर्तमान रहा करते हैं । जो सम्पूर्ण जगत् की योनि अर्थात् उद्भव स्थल है और सब देहधारियों का मोहन करने वाली है वह माया है वह भी नित्य ईश्वर के नियोग से ही अपना कर्म किया करती है । जो यह देहधारियों का देव है और पर पुरुष के नाम से ही पढ़ा जाया करता है वह यह आत्मा नित्य ही ईश्वर के नियोग से ही वर्तमान रहा करता है बिना उसके नियोगात्मक प्रेरणा के यह भी कुछ नहीं कर सकता है । मोह के कलिल

का विधूनन करके जिसके द्वारा उसके पद को देखा करता है वह बुद्धि भी महेश के नियोग के ही वश में वर्त्तन करने वाली होती है ॥२५३-२५६॥

बहुनाऽत्र किमुक्तेन मम शक्त्यात्मकं जगत्
मयैव प्रेर्यते कृस्त्नं मय्येव प्रलयं व्रजेत् ॥२६०

अहंहि भगवानीशः स्वयं ज्योतिः सनातनः ।

परमात्मापरं ब्रह्ममत्तो ह्यन्योनविद्यते ॥२६१

इत्येतत्परमं ज्ञानं युष्माकं कथितंमया ।

ज्ञात्वा विमुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात् ॥२६२

यहाँ पर अति अधिक कथन करने का कोई भी विशेष प्रयोजन नहीं होता है । बस यही इससे समझ लेना चाहिए कि यह सम्पूर्ण जगत् मेरी ही शक्ति के स्वरूप वाला है । मेरे ही द्वारा यह प्रेरित किया जाता है और यह सम्पूर्ण मुझ में ही प्रलय को प्राप्त होता है । मैं ही भगवान्—ईश—स्वयं ज्योति—सनातन—परमात्मा और अपर ब्रह्म हूँ । मुझ से अन्य कोई भी दूसरा नहीं है । यही इतना सब से परम प्रमुख ज्ञान है जिसे मैंने आप लोगों को वर्णन करके सुना दिया है । इस ज्ञान को प्राप्त करके जन्तु जन्म ग्रहण करने के सांसारिक बन्धन से विमुक्त हो जाया करता है ॥२६०-२६२॥

शृणुध्वमृषयः सर्वे प्रभावं परमेष्ठिनः ।

यं ज्ञात्वा पुरुषो मुक्तो न संसारे पतेत्पुनः ॥२६३

परात्परतरं ब्रह्म शाश्वतं ध्रुवमव्ययम् ।

नित्यानन्दं निर्विकल्पं तद्धाम परमं मम ॥२६४

अहं ब्रह्मविदां ब्रह्मा स्वयम्भूविश्वतोमुखः ।

मायाविनामहदेवः पुराणो हरिरव्ययः ॥२६५

योगिनामस्म्यहं शम्भुः स्त्रीणां देवी गिरीन्द्रजा ।

आदित्यानामहं विष्णुर्वसूनामिस्मपावकः ॥२६६

रुद्राणां शङ्करश्चाऽहं गरुडः पततामहम् ।

ऐरावतो गजेन्द्राणां रामः शस्त्रभृतामहम् ॥२६७

ऋषीणाञ्च वशिष्ठोऽहं देवानाञ्च शतक्रतुः ।

शिल्पिनां विश्वकर्माऽहं प्रह्लादः सुरविद्विषाम् ॥२६८

मुनीनामप्यहं व्यासो गणानाञ्च विनायकः ।

वीराणां वीरभद्रोऽहं सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६९

ईश्वर ने कहा—हे ऋषिगण ! आप सब लोग परमेष्ठी के प्रभाव का श्रवण करिये जिसका ज्ञान प्राप्त करके पुरुष मुक्त हो जाया करता है और फिर वह इस संसार में नहीं पतन किया करता है । पर से भी परतर ब्रह्म—शाश्वत—ध्रुव—अव्यय—नित्य ही आनन्द वाला—निर्विकल्प है और उसका धाम ही मेरा परम धाम होता है । मैं ब्रह्म वेत्ताओं में ब्रह्मा हूँ—स्वयम्भू—विश्वतोमुख—बिना माया वाला मैं देव हूँ—पुराण—हरि और अव्यय हूँ । योगियों में मैं ही शम्भू हूँ और स्त्रियों में मैं ही गिरीन्द्रजा देवी हूँ । आदित्यों में मैं विष्णु हूँ और वसुगण में मैं पावक हूँ । रुद्रों में शङ्कर मेरा ही स्वरूप है । पक्षियों में गरुड़ मैं ही हूँ । गजेन्द्रों में ऐरावत मेरा ही रूप समझना चाहिए तथा जो शस्त्रधारी हैं उनमें राम में ही हूँ । ऋषियों में मैं वसिष्ठ हूँ । देवों में शतक्रतु मेरा ही स्वरूप है । शिल्पियों में मैं विश्वकर्मा हूँ । जो सुरों के शत्रु असुर हैं उनमें प्रह्लाद मेरा ही स्वरूप होता है । मुनिगण में व्यास मैं ही हूँ । तथा गणों में विनायक मेरा ही रूप है । वीरों में मैं वीर-भद्र हूँ और सिद्धों में मैं कपिल मुनि हूँ ॥२६३-२६९॥

पर्वतानामहं मेरुर्नक्षत्राणाञ्च चन्द्रमाः ।

वज्रम्प्रहरणानाञ्च व्रतानां सत्यमस्म्यहम् ॥२७०

अनन्तो भोगिनां देवः सेनानीनाञ्च पावकिः ।

आश्रमाणां गृहस्थोऽहमीश्वराणां महेश्वरः ॥२७१

महाकल्पश्च कल्पानां युगानां कृतमस्म्यहम् ।

कुबेरः सर्वयक्षाणां तृणानाञ्च ववीरुधः ॥२७२

प्रजापतीनान्दक्षोऽहं निर्ऋतिः सर्वरक्षसाम् ।

वायुर्बलवतामस्मि द्वीपानां पुष्करोऽस्म्यहम् ॥२७३

मृगेन्द्राणाञ्चसिंहोऽहं यन्त्राणां धनुरेव च ।
 वेदानां सामवेदोऽहं यजुषां शतरुद्रियम् ॥२७४
 सावित्री सर्वजप्यानां गुह्यानां प्रणवोऽस्म्यहम् ।
 सूक्तानां पौरुषं सूक्तं ज्येष्ठसामाचसामसु ॥२७५
 सर्ववेदार्थविदुषां मनुः स्वायम्भुवोऽस्म्यहम् ।
 ब्रह्मावर्त्तस्तु देशानां क्षेत्राणामविमुक्तकम् ॥२७६

पर्वतों में मैं मेरु हूँ—नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ—प्रहरणों में वज्र—व्रतों में मैं सत्य हूँ । भोगियों में अनन्त, सेनानियों में देव पावाकि—आश्रमों में गृहस्थ—ईश्वरों में महेश्वर—कल्पों में महाकल्प—युगों में कृतयुग मैं ही हूँ । समस्त यक्षों में कुवेर—तृणों में वीरुध—प्रजापतियों में दक्ष तथा समस्त राक्षसों में निम्बृति मैं ही हूँ । बलवानों में वायु और ममस्त द्वीपों में मैं ही पुष्कर हूँ । मृगेन्द्रों में मैं सिंह हूँ—यन्त्रों में धनु-वेदों में सामवेद और यजाओं शतरुद्र मेरा ही स्वरूप होता है । समस्त जापों में मैं सावित्री हूँ । गुह्यों में प्रणव मेरा ही स्वरूप होता है । सूक्तों में पौरुष सूक्त मेरा स्वरूप है तथा मासों में ज्येष्ठ मास मैं ही हूँ । समस्त वेदार्थ के विद्वानों में स्वायम्भुव मनु मेरा स्वरूप है । देशों में ब्रह्मावर्त्त देश मैं ही । हूँ क्षेत्रों में अविमुक्त क्षेत्र मैं हूँ ॥२७०-२७६॥

विद्यानामात्मविद्याऽहं ज्ञानानामेश्वरं परम् ।
 भूतानामस्म्यहव्योमतत्त्वानामृत्युरेव च ॥२७७
 पाशानामस्म्यहं मायाकालः कलयतामहम् ।
 गतीनां मुक्तिरेवाहं परेषां परमेश्वरः ॥२७८
 यच्चान्यदपि लोकेऽस्मिन् सत्त्वं तेजोबलाधिकम् ।
 सत्सर्वं प्रतिजानीध्वं मम तेजोविजृम्भितम् ॥२७९
 आत्मानः पशवः प्रोक्तः सर्वे संसारवर्त्तिनः ।
 तेषां पतिरहं देव स्मृतः पशुपतिर्बुधैः ॥२८०
 मायापाशेन बध्नामि पशूनेतान् स्वलीलया ।
 मामेव मोचकं प्राहुः पशूनां वेदवादिनः ॥२८१

मायापाशेन बद्धानां मोचकोऽन्यो न विद्यते ।

मामृते परमात्मानं भूताधिपतिमव्ययम् ॥२८२

चतुर्विंशतितत्त्वानि माया कर्मगुणादिति ।

एते पाशाः पशुपतेः क्लेशाश्चपशुबन्धनाः ॥२८३

विद्याओं में आत्म विद्या—ज्ञानों में ईश्वरीय परम ज्ञान-भूतों में व्योम और तत्त्वों में मृत्यु मेरा ही रूप है । पाशों में मैं माया हूं और काल का स्वरूप कलम करने वालो में मेरा ही होता है । गतियों में मैं ही मुक्त हूं और परों में परमेश्वर मेरा ही स्वरूप है । और जो भी अन्य इस लोक में सत्त्व तथा तेज बल से अधिक है उस सभी में मेरा ही तेज विजृम्भित समझना चाहिए । संसार वर्त्ती सभी आत्माएँ हैं वे सब पशु कहे गये हैं । उन सब का पति मैं हूं और बुधों के द्वारा मैं देव पशुपति कहा गया हूं । अपनी लीला से माया रूपी पाश के द्वारा मैं इन समस्त पशुओं का बन्धन किया करता हूं । वेदवादी लोग मुझ को ही इन पशुओं का मोचन करने वाला कहा करते हैं । जो माया के पाश से जीव होते हैं उनके मोचन करने वाला मुझ से अन्य कोई भी नहीं है । मेरे सिवाय अन्य कोई नहीं है मैं जो कि परमात्मा— भूताधिपति और स्वाव्यय हूं वही मैं मोचन करने वाला हूं । चौबीस तत्त्व जो हैं वे माया के कर्म गुण हैं । ये ही पशुपति के पाश हैं जो पशुओं के बन्धन करने वाले क्लेशदायक होते हैं ॥२७७-२८३॥

मनो बुद्धिरहकारः खाऽनिलाग्निजलानि भूः ।

एताः प्रकृतयस्त्वष्टी विकाराश्च तथापरे ॥२८४

श्रोत्रन्त्वक् चक्षुषीजिह्वाघ्राणश्चैवतुपञ्चमम् ।

पायूपस्थकरौपादौवाक्चैवदशमीमता ॥२८५

शब्दः स्पर्शश्चरूपश्च रसोगन्धस्तथैव च ।

त्रयोविंशतिरेतानि तत्त्वानिप्राकृतानि च ॥२८६

चतुर्विंशकमव्यक्तं प्रधानंगुणलक्षणम् ।

अनादिमध्यनिधनं कारणं जगतःपरम् ॥२८७

सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयमुदाहृतम् ।
 साम्यावस्थितिमेतेषामव्यक्तां प्रकृति विदुः ॥२८८
 सत्त्वं ज्ञानं तमो ज्ञानं राजसंसमुदाहृतम् ।
 गुणानां बुद्धिवैषम्याद्वैषम्यं कवयोविदुः ॥२८९
 धर्माधर्मावितिप्रोक्तौ पाशौद्वौकर्मसंज्ञितौ ।
 मय्यापितानिकर्माणिनबन्धायविमुक्तये ॥२९०

मन—बुद्धि—अहङ्कार—आकाश—अनिल—अग्नि—जल—भूमि—
 ये आठ प्रकृतियाँ हैं और अन्य सब विकृति अर्थात् विकार हैं । श्रोत्र—
 त्वचा—चक्षु—जिह्वा—घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । पायु—उपस्थ,
 दोनों हाथ दो चरण, वाक् ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं इस तरह कुल दश हैं ।
 शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये कुल तेईस तत्त्व हैं जो प्राकृत हैं । चौबीसवाँ
 अव्यक्त है जो प्रधान है । और गुणों के लक्षण वाला है । आदि-मध्य
 और अन्त से रहित इस जगत् का परम कारण है । रजोगुण, तमोगुण और
 सत्वगुण ये तीन गुण कहे गये हैं । इन तीनों की जो साम्बावस्था है उसी
 को प्रकृति कहा जाता है । सत्व ज्ञान और तमोज्ञान इसी को राजस
 कहा गया है । गुणों के बुद्धि की विषमता को ही कविगण वैषम्य कहते
 हैं । धर्म और अधर्म ये दो कर्म की संज्ञा वाले पाश हैं । मेरे लिये ही
 किये हुए समस्त कर्म जब समर्पित कर दिये जाते हैं तो वे फिर जीवात्मा
 के बन्धन करने वाले नहीं होकर विमुक्ति के लिये ही होते हैं ॥२८४-
 २९०॥

अविद्यामस्मितां रागं द्वेषश्चाभिनवेशनम् ।
 बलेशाख्यांस्तान् स्वयं प्राह पाशानात्मनिबन्धनात् ॥२९१
 एतेषामेव पाशानां माया कारणमुच्यते ।
 मूलप्रकृतिरव्यक्ता सा शक्तिर्मयि तिष्ठति ॥२९२
 सएव मूलप्रकृतिःप्रधानंपुरुषोऽपि च ।
 विकारामहदादीनिदेवदेवःसनातनः ।
 सएव बन्धः स च बन्धकर्त्ता स एव पाशः पशुभृत्स एव ।
 स वेद सर्वज्ञ च तस्य वेत्ता तमाहुराद्यं पुरुष पुराणम् ॥२९३

अविद्या-अस्मिता (अहङ्कार)-राग-द्वेष और अभिनिवेश ये क्लेश नाम वाले आत्मा के निबन्धन हैं जिनको स्वयं ही कहा जाता है। इन्हीं पाशों का कारण जो है उसी को माया कहा जाता है। वह मूल प्रकृति अव्यक्ता है और वह शक्ति मुझ में ही स्थित रहती है। वह मूलप्रकृति—प्रधान और पुरुष भी महादादिक सब विकार हैं केवल देवदेव ही सनातन है। वह ही बन्ध है और वह ही उस बन्धन का कर्त्ता है—वह ही पाश और पशुभृत है। वही सबको जानता है, उसको जानने वाला कोई नहीं है। उसी को सब का आद्य पुराण कहते हैं ॥२६१-२६३॥

अन्यद्गुह्यतमं ज्ञनं वक्ष्ये ब्राह्मणपुङ्गवाः ।

येनासौ तरते जन्तुर्घोरं संसारसागरम् ॥२६४

अयं ब्रह्मा तमः शान्तः शाश्वतोनिर्मलोऽव्ययः ।

एकाकी भगवानुक्तः केवलः परमेश्वरः ॥२६५

मम योनिर्महद्ब्रह्म तत्र गर्भदधाम्यहम् ।

मूलमायाभिधानन्तं ततो जातमिदं जगत् ॥२६६

प्रधानं पुरुषोऽह्यात्मा महद्भूतादिरेव च ।

तन्मात्राणि मनोभूतानिन्द्रियाणि च जज्ञिरे ॥२६७

ततोऽण्डमभवद्धैममर्ककीटिसमप्रभम् ।

तस्मिञ्जज्ञे महाब्रह्मा मच्छक्त्या चोपबृंहितः ॥२६८

ये चान्ये बहवोजीवास्तन्मयाः सर्वस्वते ।

न मां पश्यन्ति पितरं माययामम मोहिताः ॥२६९

यासु योनिषु ताः सर्वा सम्भवन्तीह मूर्तयः ।

तां मातरं परां योनिं मामेव पितरं विदुः ॥३००

ईश्वर ने कहा—हे ब्राह्मण श्रेष्ठगण ! अब हम एक अन्य परम गोपनीय ज्ञान की चर्चा करेंगे जिससे यह जन्तु इस परम घोर संसार के सागर से पार होजाया करता है। यह ब्रह्मा तम-शान्त-निर्मल-—शाश्वत-अव्यय और एकाकी केवल परमेश्वर भगवान् कहे गये हैं। मेरी योनि महान् ब्रह्म है। उसी में मैं गर्भ को धारण किया करता हूं जो मूल माया भिधा अनन्त है उसी से यह सम्पूर्ण जगत् समुत्पन्न हुआ है। प्रधान—

पुरुष आत्मा—महत्—भूतादि—पंचतन्मात्राएँ—मन, भूत और इन्द्रियाँ सब उत्पन्न हुए हैं। इसके पश्चात् एक अण्ड समुत्पन्न हुआ था। जिसकी प्रभा सुवर्ण के समान तथा करोड़ों सूर्यों के तुल्य थी। उसी अण्ड में ब्रह्मा ने जन्म ग्रहण किया था जो मेरी शक्ति से उपवृद्धित था। जो अन्न बहुत—से जीव हैं वे सब भी तन्मय ही हैं। मेरी माया से मोहित हुए वे मुझ जन्मदाता परम पिता को नहीं देखते हैं। जिन योनियों में वे सब यहां मूर्त्तिमान् होकर समुत्पन्न होते हैं उस परा योनि माता को और पिता मुझ को ही जानते हैं ॥२९४-३००॥

योमामेवंविजानाति बीजनं पितरं प्रभुम् ।

सवीरः सर्वलोकेषु नमोहमधिगच्छति ॥३०१

ईशानः सर्वविद्यानां भूतानां परमेश्वरः ।

ओङ्कारमूर्त्तिर्भगवानहं ब्रह्मा प्रजापतिः ॥३०२

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥३०३

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।

न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परांगतिम् ॥३०४

विदित्वा सप्त सूक्ष्माणि षडङ्गानि महेश्वरम् ।

प्रधानविनियोगज्ञः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥३०५

सर्वज्ञतातृप्तिरनादिबोधः स्वच्छन्दता नित्यमलुप्तशक्तिः ।

अनन्तशक्तिश्च विभो विदित्वा षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥३०६

तन्मात्राणि मन आत्मा च तानि सूक्ष्मण्याहुः सप्त तत्त्वात्मकानि ।

यासाहेतुः प्रकृतिः सा प्रधानं बन्धः प्रोक्तो विनयेनापि तेन ॥३०७

जो कोई इस प्रकार से बीज वाला मुझको पिता प्रभु जानता है वही सब लोकों में वीर है और वह फिर मोह को प्राप्त नहीं हुआ करता है। समस्त विद्याओं का ईशान और सब भूतों का परमेश्वर ओंकार की मूर्त्ति वाला मैं ही भगवान् प्रजापति ब्रह्मा हूँ। समस्त भूतों में समान रूप से स्थित रहने वाले परमेश्वर को विनाश होने पर अपने को भी विनाश वाला जो देखता है वही वास्तव में देखने वाला है। जो सर्वत्र समान भाव से

स्थित ईश्वर को देखा करता है वह कभी भी आत्मा से आत्मा का हनन नहीं किया करता है और फिर वह परागति को प्राप्त हो जाता है। सात सूक्ष्मों का ज्ञान प्राप्त करके और षडङ्ग महेश्वर को जानकर प्रधान के विनियोग का ज्ञाता परब्रह्म को प्राप्त किया करता है सभी कुछ ज्ञान रखना—सदा तृप्ति रखना—अनादि बोध—स्वच्छन्दता—नित्यता—शक्ति का कभी भी लोप न होना और अनन्त शक्ति का रहना इन्हीं छै विभु के अङ्गों का ज्ञान होना चाहिए जो महेश्वर के ये छै अङ्ग हैं। पाँच तन्मात्रा—मन और आत्मा ये ही परम सूक्ष्म सात तत्त्व कहे जाते हैं। इन सब का जो हेतु है वही प्रकृति है और उसने इसी को विनय से प्रधान बन्ध कहा है ॥३ १-३०७॥

या सा शक्तिः प्रकृतौ लीनरूपा वेदेषूक्ता कारणं ब्रह्मयोनिः ।
तस्या एकः परमेशी पुरस्तान्माहेश्वरः पुरुषः सत्यरूपः ॥३०८॥
ब्रह्मायोगी परमात्मा महीयान् व्योमव्यासी वेदवेद्यः पुराणः ।
एको रुद्रो मृत्युमव्यक्तमेकं बीज विश्वं देव एकः स एव ॥३०९॥
तमेवैकं प्राहुरन्येऽप्यनेकं त्वामेवाऽऽत्मा केचिदन्यं तमाहुः ।
अणोरणीयात्महतो महीयान्महादेवा प्राच्यते विश्वरूपः ॥३१०॥
एवं हि यो वेद गुहाशयं परं प्रभुं पुराणां पुरुषं विश्वरूपम् ।
हिरंमयंबुद्धिमतांपराङ्गतिसबुद्धिमान्बुद्धिमतीत्यतिष्ठति ॥३११॥

जो शक्ति वह है वह प्रकृति में ही लीन रूप वाली है वेदों में उसी को कारण ब्रह्म योनि कहा गया। उसका एक परमेशी पुरस्तात् महेश्वर सत्य रूप वाला पुरुष है। ब्रह्म योगी—महीयान् परमात्मा व्योम में व्यापक, वेदों के द्वारा ही जानने के योग्य पुराण है, वही एक रुद्र है। अव्यक्त मृत्यु एक बीज है जो कि विश्व है किन्तु देव यह एक ही है। उसी एक को अन्य लोग अनेक कहा करते हैं—तुमको ही आत्मा और अन्य लोग उसे अन्य कहते हैं। वही अणु से भी बहुत ही छोटा अणु है और महान् से भी परम महान् वह महादेव इस विश्व के रूप वाले कहे जाते हैं। इस प्रकार से गुहा में आशय वाले उस परम प्रभु—पुराण पुरुष—विश्व रूप—हिरण्यमय तथा बुद्धिमानों की परागति के स्वरूप वाले को जो

जानता है वही वस्तुतः बुद्धिमान है और वह बुद्धि का अतिक्रमण करके ही स्थित रहा करता है ॥३०८-३११॥

निष्कलोनिर्मलोनित्यनिष्क्रयः परमेश्वरः ।

ततोवदमहादेवविश्वरूपः कथं भवान् ॥३१२

नाहं विश्वो न विश्वश्च मामृते विद्यते द्विजाः ॥

माया निमित्तमात्राऽस्ति सा चाऽऽमनि मयाश्रिता ॥३१३

अनादिनिधना शक्तिर्मायाव्यतितसमाश्रया ।

तन्निमित्तः प्रपञ्चोऽयमव्यक्ताज्जायते खलु ॥३१४

अव्यक्तं कारणं प्राहुरानन्दं ज्योनिरक्षरम् ।

अहमेव परं ब्रह्म मत्तोऽह्यन्यन्न विद्यते ॥३१५

तस्मान्मे विश्वरूपत्वं निश्चितं ब्रह्मवादिभिः ।

एकत्वे च पृथक्त्वे च प्रोक्त्वमेतन्निदर्शनम् ॥३१६

अहंतत्परमं ब्रह्म परमात्मा सनातनः ।

अकारणां द्विजाः प्रोक्ता न दोषो ह्यात्मनस्तथा ॥३१७

अनन्ता शक्तयोऽव्यक्ता मायया संस्थिता घ्रुवाः ।

तस्मिन्दिवि स्थितं नित्यमव्यक्तं भाति केवलम् ॥३१८

ऋषिगण ने कहा—निष्कल—निर्मल—नित्य—निष्क्रय और परमेश्वर हे महादेव ! यही बतलाइये कि आप विश्वरूप कैसे हो गये हैं ? ईश्वर ने कहा—हे द्विज वृन्द ! मैं स्वयं ही विश्व नहीं हूँ और यह विश्व मेरे बिना भी कुछ विद्यमान नहीं रहा करता है । इसका निमित्त मात्र माया ही है और वह माया आत्मा में मेरे द्वारा ही आश्रित रहती है यह माया आदि—अन्त से रहित हैं ऐसी शक्ति यह व्यक्ति के समाश्रय वाली है । उसी के निमित्त वाला यह प्रपञ्च है जो उस अव्यक्त से समुत्पन्न हुआ करता है । इस सबका कारण एक अव्यक्त ही होता है—ऐसा ही कहा जाता है और आनन्द स्वरूप—प्रकाशमय मैं ही परब्रह्म हूँ—मुझ से अन्य कोई भी नहीं है । इसी कारण से मेरा विश्वरूपत्व होना ब्रह्मवादियों ने निश्चित किया है । मेरे एकत्व होने में और मेरे पृथक्त्व के होने में यही

एक निदर्शन है। मैं ही वह परम ब्रह्म और सनातन परमात्मा हूँ। हे द्विज गण ! बिना कारण वाला जो कहा गया है उसमें आत्मा का कोई भी दोष नहीं है। अनन्त शक्तियाँ हैं जो अव्यक्त हैं और माया के द्वारा संस्थित हैं तथा ध्रुव हैं। उस दिव्य लोक में स्थित नित्य अव्यक्त ही केवल विभासित होता है ॥३१२-३१८॥

अभिन्नं वक्ष्यते भिन्नं ब्रह्माव्यक्तं सनातनम् ।

एकया मायया युक्तमनादिनिधनं ध्रुवम् ॥३१६

पुंसोऽन्याभूद्यथा भूतिरन्ययानतिरोहितम् ।

अनादिमध्यन्तिष्ठन्तंचेतेष्टविद्ययाकिल ॥३२०

तदेतत्परमव्यक्तं प्रभामण्डलमण्डितम् ।

तदक्षरं परं ज्योतिस्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥३२१

तत्र सर्वमिदं प्रोतमोतं चैवाखिलं जगत् ।

तदेवेदं जगत्कृत्स्नं तद्विज्ञाय विमुच्यते ॥३२२

यतो वाचो निवर्त्तन्तेअप्राप्य मनसा सह ।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्विभेतिनकुतश्चन ॥३२३

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमार्णदित्यव पुरुषं पुरस्तात् ।

तं विज्ञाय परिमुच्येत विद्वान्नित्यानन्दी भवति ब्रह्मभूत ॥३२४

अत्माप्परंनाऽपरमस्तिकिञ्चिच्चज्ज्योतिषांज्योतिरेकदिविस्थम्

तदेवात्मानंमन्यमानोऽथविद्वानात्मानन्दीभवतिब्रह्मभूतः ३२५

जो अभिन्न हैं उसको भिन्न कहा जाता है। ब्रह्म अव्यक्त और सना-

तन है। वह एक माया से युक्त है और आदि तथा अन्त से रहित ध्रुव

है। पुरुष की जिस तरह अन्या भूति है और अन्य से तिरोहित नहीं है

वह अनादि मध्य में स्थित विद्या के द्वारा चेष्टा किया करता है। सो यह

परम व्यक्त प्रभामण्डल से मण्डित है। वह अक्षर पर ज्योति है और वही

विष्णु का परम पद है। वहाँ पर उसमें यह सम्पूर्ण जगत् ओत-प्रोत है

अर्थात् बाहिर भीतर सर्वत्र ही विद्यमान है। वह ही यह समस्त जगत्

है। इसका ज्ञान भली भाँति करके मनुष्य विमुक्त हो जाया करता है।

जहाँ पर वाणी निवृत्त हो जाती है और मन की भी वहाँ पहुँच नहीं होती

है ऐसा ही ब्रह्म का आनन्दमय स्वरूप होता है । विद्वान् पुरुष कहीं भी भीत नहीं करता है । मैं ही वेद हूँ—महान् पुरुष हूँ तथा सूर्य के समान वर्ण वाला पुरस्तात् पुरुष हूँ उस मुझ को विद्वान् भली-भाँति जानकर परियुक्त हो जाता है और नित्य ही आनन्द वाला ब्रह्मभूत अर्थात् ब्रह्म के ही स्वरूप वाला हो जाया करता है । इससे परे दूसरा कोई भी नहीं है जो ज्योतियों का भी ज्योति एक ही दिवलोक में स्थित है । उसी को आत्मा को मानने वाला विद्वान् आनन्द से युक्त और भूत हो जाया करता है ॥३१६-३२५॥

तदप्यहं कलिलं गूढदेहं ब्रह्मानन्दममृतं विश्वधाम ।

वदन्त्येवं ब्राह्मणा ब्रह्मनिष्ठा यत्र गत्वा न निवर्तेत भूयः ॥३२६

हिरण्मये परमाकाशतत्त्वे यद्वै दिवि प्रतिभातीव तेजः ।

तद्विज्ञाने परिपश्यन्ति धीरा विभ्राजमानविमलं व्योम धाम ॥३२७

ततः परम्परिपश्यन्ति धीरा आत्मन्यानमनुभूय साक्षात् ।

स्वयं प्रभुः परमेष्ठी महीयान् ब्रह्मानन्दी भगवातीश एषः ॥३२८

एकोः देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

तमेवैकं ये ऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिशश्वतो नेतरेषाम् ॥३२९

सर्वायनशिरो ग्रीवः सर्वभूतगुहा शयः ।

सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मादन्यत्र विद्यते ॥३३०

इत्येतदीश्वरज्ञानमुक्तं वो मुनिपुङ्गवाः ।

गोपनीयं विशेषेण योगिनामपि दुर्लभम् ॥३३१

वही मैं कलिल—गूढ़ देह वाला—अमृत—विश्व का धाम ब्रह्मानन्द हूँ—ब्रह्म में निष्ठा रखने वाले ब्राह्मण इस प्रकार से कहा करते हैं कि वह ऐसा स्थान है जहाँ पर एक बार पहुँच कर यह जीवात्मा पुनः इस संसार में लौट कर नहीं आता है अर्थात् जन्म नहीं लेता है और मुक्त हो जाया करता है । हिरण्मय परमाकाश तत्त्व में जो दिवलोक में तेज-मान होता है उसके विज्ञान में धीर पुरुष विभ्राजमान—विमल व्योम के धाम को देखा करते हैं । इसके आगे धीर पुरुष साक्षात् आत्मा में आत्मा का अनुभव करके पर को देखा करते हैं । प्रभु तो स्वयं परमेष्ठी—महीयान्

ब्रह्मानन्दी—भगवान् यह ईश हैं। वह एक ही देव समस्त भूतों में व्यापी है और सब प्राणियों में गूढ़ हैं। तथा समस्त भूतों का अन्तरात्मा है। उसी एक को जो भली-भाँति देख लेते हैं अर्थात् उसका ठीक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं वे धीर हैं और उनको निरन्तर रहने वाली शान्ति हो जाती है अन्य जनों को नहीं हुआ करती है। सभी ओर अयन, शिर, ग्रीवा वाला—समस्त भूतों की गुहा में निवास करने वाला सर्वत्र व्यापक रहने वाला वह भगवान् है। इससे अन्य कोई नहीं है। हे मुनियों में श्रेष्ठ ! यह हमने आपको ईश्वर का ज्ञान बतला दिया है। इसको विशेष रूप से गोपनीय रखना चाहिए क्योंकि यह ऐसा ज्ञान है जो योगिजनों को भी महान् दुर्लभ होता है ॥३२६-३३१॥

अलिङ्गमेकमव्यक्तलिङ्गं ब्रह्मेति निश्चितम् ।

स्वयञ्ज्योतिः परन्तत्त्वपूर्वं व्याप्तिं व्यवस्थितम् ॥३३२

अव्यक्तं कारणं यत्तदक्षरं परमं पदम् ।

निर्गुणं सिद्धिविज्ञानं तद्वै पश्यन्ति सूरयः ॥३३३

तन्नष्टस्वान्तसङ्कल्पा नित्यंतद्भावभाविताः ।

पश्यन्तितत्परं ब्रह्मयत्तलिङ्गमिति श्रुतिः ॥३३४

अन्यथान हि मां द्रष्टुं शक्यैवमुनिपुङ्गवाः ।

न हि तद्विद्यते ज्ञानं येन तज्ज्ञायते परम् ॥३३५

एतत्तत्परं स्थानं केवलं कवयो विदुः ।

अज्ञानतिमिरं ज्ञानं यस्मान्मायामयं जगत् ॥३३६

यज्ज्ञानं निर्मलं शुद्धं निर्विकल्पन्निरञ्जनम् ।

ममात्मासौ तदैव नमिति प्राहुर्विपश्चितः ॥३३७

येऽप्यनेकं प्रपश्यन्तितत्परं परमं पदम् ।

आश्रिताः परमान्निष्ठांबुद्धवैक्यं तत्त्वमव्ययम् ॥३३८

ईश्वर ने कहा—अलिङ्ग—एक—अव्यक्त लिङ्ग—ब्रह्म इस नाम से निश्चित—स्वयं ज्योति—परम तत्त्व और पूर्व में व्योम में व्यवस्थित—जो अव्यक्त कारण है वह अक्षर और पर यह है, वह गुणों से रहित है इस सिद्धि के विज्ञान को सूरिगण ही देखा करते हैं अर्थात् जानते हैं। जिनके अन्तः

करण में संकल्प नष्ट हो गये हैं और जो नित्य ही उसी की भावना से भावित रहा करते हैं वे ही उस परमब्रह्म को देखते हैं क्योंकि यही उसका लिङ्ग है—ऐसा श्रुति ने प्रतिपादन किया है । हे मुनि पुङ्गवो ! अन्यथा मुझको नहीं देखा जा सकता है अर्थात् अन्य कोई भी साधन नहीं है जिसके द्वारा मुझे कोई जान सके । ऐसा और कोई भी ज्ञान नहीं है जिसके द्वारा वह पर जाना जा सकता है । कविगण इसी को केवल वह परम स्थान जाना करते हैं । अज्ञान रूपी तिमिर से पूर्ण ही ज्ञान है जिनसे यह मायामय जगत् होता है । जो ज्ञान निर्मल है—शुद्ध है—निर्विकल्प और निरञ्जन है वह मेरी आत्मा है उसी को विद्वान् लोग इसे बताया करते हैं । जो भी अनेक को देखते हैं वह भी पर परम पद है । परम निष्ठा का आश्रय ग्रहण किये हुए हैं क्योंकि उन्होंने अव्यय ऐक्य तत्त्व का ज्ञान जान लिया है ॥३३२-३३८॥

ये पुनः परमन्तत्त्वमेकं वानेकमीश्वरम् ।

भक्तामांसम्प्रपश्यन्ति विज्ञेयास्ते तदात्मकाः ॥३३९

साक्षाद्देवं प्रपश्यन्ति स्वात्मानं परमेश्वरम् ।

नित्यानन्दं निर्विकल्पं सत्यरूपमिति स्थितिः ॥३४०

भजन्ते परमानन्दं सर्वगजगदात्मकम् ।

स्वात्मन्यवस्थिताः शान्ताः परव्यक्तापरस्य तु ॥३४१

एषा विमुक्तिः परमा मम सायुज्यमुत्तमम् ।

निर्वाणं ब्रह्मणा चैक्यं केवल्यं कवयो विदुः ॥३४२

तस्मादनादिमध्यान्तं वस्त्वेकं परमं शिवम् ।

स ईश्वरो महादेवस्तं विज्ञाय प्रमुच्यते ॥३४३

न तत्र सूर्यः प्रतिभातीह चन्द्रो नक्षत्राणां गणो नीतविद्युत् ।

तदभासितह्यखिलम्भाति विश्वमतीव भासममलं तद्विभाति ॥३४४

विश्वोदितं निष्कलं निर्विकल्पं शुद्धः बृहत्परमं यद्विभाति ।

अत्रान्तरे ब्रह्मविदोऽथ नित्यं पश्यन्ति तत्त्वमचलं यत्स ईशः ॥३४५

जो उस परम तत्त्व को एक अथवा अनेक ईश्वर को मुझको भक्त लोग देखा करते हैं वे तत्स्वरूप वाले ही जानने चाहिए । अपनी आत्मा

परमेश्वर को ही साक्षात् देव को नित्यानन्द वाला—निर्विकल्प और सत्य रूप वाला देखते हैं यही स्थिति है। अपनी ही आत्मा में अवस्थित परम शान्त भाव वाले परमानन्द स्वरूप—सर्वत्र गमनशील और इस जगत् के आत्मरूप का सेवन किया करते हैं और दूसरे लोग अव्यक्त अपर का भजन करते हैं। यह परम विमुक्ति होती है और मेरा उत्तम सायुज्य है। ब्रह्म के साथ एकता ही निर्वाण है जिसको कविगण कैवल्य नाम से कहा करते हैं। इसलिये आदि मध्य और अन्त से रहित परम शिव एक ही वस्तु हैं। वही ईश्वर महादेव हैं जिनका विशेष ज्ञान प्राप्त करके जीव प्रमुक्त हो जाया करता है। वहाँ पर सूर्य प्रकाश नहीं करता है न चन्द्रमा ही है। वहाँ नक्षत्रों का समुदाय भी नहीं है और न विद्युत का ही प्रकाश है। वह तो इस सम्पूर्ण विश्व को अपनी ही या (दीप्ति) से भासित करके विभासित होता है और उसकी भासमानता अतीव अमल है इसी तरह वह दीप्ति युक्त भासित हुआ करता है। विश्व में उदित या जिससे यह विश्व उदित हुआ है—निष्कल—निर्विकल्प—शुद्ध—वृहत् और परम विभासित होता है। इस बीच में ब्रह्म वेत्ता लोग उस अचल नित्य तत्त्व को देखते हैं वही ईश है ॥३३६-३४५॥

नित्यानन्दममृतं सत्यरूपं शुद्धं वदन्ति पुरुषं सर्ववेदाः ।

प्राणानिति प्रणवेवेशितारध्यायन्तिवेदैरितिनिश्चितार्थाः॥३४६

न भूमिरापो न मनो न वह्निःप्रणोज्ज्वलितो गगनं नोतबुद्धिः ।

न चेतनोऽन्यत्परमाकाशमध्येविभातिदेवःशिवएककेवलः॥३४७

इत्येतदुक्तं परमं रहस्यं ज्ञानञ्चैवं सर्ववेदेषु गीतम् ।

जानाति योगी विजनेऽथदेशेयुञ्जीतयोगप्रयतोह्यजस्रम्॥३४८

नित्य ही आनन्द स्वरूप—अमृत—सत्यरूप वाला—शुद्ध पुरुष को सब वेद कहा करते हैं। प्रणव में विशिष्टा को प्राणान्—इस तरह ध्यान किया करते हैं। वेदों के द्वारा इसी प्रकार से निश्चित अर्थ वाले हैं। भूमि—जल—मन—वह्नि—प्राण—अनिल—गगन—बुद्धि और चेतन अन्य कोई भी इस परमाकाश के मध्य में प्रकाशमान नहीं होता है केवल

एक शिव देव ही विभासित हुआ करते हैं। हमने यह परम रहस्य ज्ञान आपके समक्ष में बतला दिया है जोकि समस्त वेदों में गाया गया है। जो कोई योगी होता है वही विज्ञान देश में इसका ज्ञान प्राप्त किया करता है जो निरन्तर प्रयत्न होकर योग में युक्त रहा करता है ॥३४६-३४८॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि योग परमदुर्लभम् ।

येनात्मानं प्रपश्यन्ति भानुमन्तमिवेश्वरम् ॥३४९

योगाग्निर्दहते क्षिप्रमशेषं पापपञ्जरम् ।

प्रसन्नं जायते ज्ञानं साक्षान्निर्वाणसिद्धिदम् ॥३५०

योगात्संजायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रवर्तते ।

योगज्ञानाभियुक्तस्य प्रसीदति महेश्वरः ॥३५१

एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव च ।

ये युञ्जन्ति महायोगं ते विज्ञेयामहेश्वराः ॥३५२

योगस्तु द्विविधो ज्ञेयो ह्यभावः प्रथमो मतः ।

अपरस्तु महायोगः सर्वयोगोत्तमोत्तमः ॥३५३

शून्यं सर्वनिराभासं स्वरूपं यत्र चिन्त्यते ।

अभावयोगः संप्रोक्तो येनात्मानं प्रपश्यति ॥३५४

यत्र पश्यति चाऽऽत्मानं नित्यानन्दं निरञ्जनम् ।

मयैक्यं स मया योगी भाषितः परमः स्वयम् ॥३५५

ईश्वर ने कहा—इसके आगे हम परम दुर्लभ योग का वर्णन करते हैं जिसके द्वारा ईश्वर आत्मा को भानुमान् की भाँति देखा करते हैं। योग की अग्नि अशेष पाप के पञ्जर को शीघ्र ही दग्ध कर दिया करती है। साक्षात् निर्वाण की सिद्धि को प्रदान करने वाला प्रसन्न ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। योग से ज्ञान की उत्पत्ति होती है और ज्ञान से ही योग प्रवृत्त हुआ करता है। योग और ज्ञान से अभियुक्त पुरुष से महेश्वर प्रसन्न होते हैं। एक काल में—दो कालों में अथवा तीनों कालों में औ महायोग का अभ्यास किया करते हैं उनको महेश्वर ही जानना चाहिए। यह योग दो प्रकार का जानना चाहिए। प्रथम योग तो अभाव माना गया है और दूसरा समस्त योगों में उत्तमोत्तम महायोग है। जिसमें शून्य और निरा-

भास स्वरूप का चिन्तन किया जाता है । अभाव योग वह कहा गया है जिसके द्वारा आत्मा को देख लेता है । जिसमें नित्यान्द—निरञ्जन आत्मा को देखता है । मेरे साथ जो ऐक्य है वह मैंने परम योग स्वयं भासित किया है ॥३४६-५५॥

ये चान्ये योगिनां योगाः श्रूयन्ते ग्रन्थविस्तरे ।

सर्वे ते ब्रह्मयोगस्य कलां नाहन्ति षोडशीम् ॥३५६

यत्र साक्षात्प्रपश्यन्ति विमुक्ताविश्वमीश्वरम् ।

सर्वेषामेव योगानां स योगः परमो मतः ॥३५७

ससस्त्रशोऽथ बहुशो ये चेश्वरबहिष्कृताः ।

न ते पश्यन्ति मामेकं योगिनो यतमानसाः ॥३५८

प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा ।

समाधिश्च मुनिश्चेष्टायामश्च नियमासने ॥३५९

मय्येकचित्तायोगः प्रत्यन्तरनियोगतः ।

तत्साधनानि चान्यानि युष्माकं कथितानि तु ॥३६०

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यपरिग्रहौ ।

यमाः सङ्क्षेपतः प्रोक्ताश्चित्तशुद्धिप्रदानृणाम् ॥३६१

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ।

अक्लेशजननं प्रोक्ता त्वहिंसा परमर्षिभिः ॥३६२

जो अन्य योग योगियों के ग्रन्थों के विस्तार में सुने जाते हैं वे सब ब्रह्म योग की सोलहवीं कला की भी योग्यता प्राप्त नहीं किया करते हैं । जिसमें विमुक्त लोग विश्व ईश्वर को साक्षात् देखा करते हैं । सभी योगों में वह योग परम श्रेष्ठ माना गया है । सहस्रों और बहुत-से जो ईश्वर के द्वारा बहिष्कृत हैं वे मुझ को नहीं देखते हैं । मुझको यत मन वाले योगि-जन ही देखा करते हैं । प्राणायाम—ध्यान—प्रत्याहार—धारणा और समाधि—यम—नियम और आसन हे मुनिश्रेष्ठो ! ये योग के आठ अङ्ग होते हैं । प्रत्यन्तर नियोग से मुझ में जो एक चित्ता है वही योग होता है । उसके अन्य साधन होते हैं जो सब आपको बतला दिये गये हैं । अहिंसा—सत्य—अस्तेय—ब्रह्मचर्य—परिग्रह और यम इन सब को संक्षेप से

बताया गया है जो मनुष्यों के चित्त की शुद्धि प्रदान करने वाले हैं। समस्त प्राणियों में सर्वदा कर्म-मन और वचन से बलेश का उत्पन्न न करना अहिंसा कही गयी है जिसको परमर्षियों ने बताया है ॥३५६-३६२॥

अहिंसायाः परो धर्मो नास्त्यहिंसापरं सुखम् ।
विधिना या भवेद्धिमा त्वहिंसैव प्रकीर्त्तिता ॥३६३
सत्येनसर्वमाप्नोतिसत्येसर्वप्रतिष्ठितम् ।
यथार्थकथनाचारः सत्यम्प्रोक्तं द्विजातिभिः ॥३६४
परद्रव्यापहरणं चौर्यादथ बलेन वा ।
स्तेयं तस्यानाचरणादस्तेयं धर्मसाधनम् ॥३६५
कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा ।
सर्वत्र मैथुनत्यागं ब्रह्मचर्यम्प्रचक्षते ॥३६६
द्रव्याणामप्यनादानमापद्यपि तथेच्छया ।
अपरिग्रहमित्याहुस्तं प्रयत्नेन पालयेत् ॥३६७
तपः स्वाध्यायसन्तोषौ शौचमीश्वरपूजनम् ।
समासान्नियमाः प्रोक्ता योगसिद्धिप्रदायिनः ॥३६८
उपवासपराकादिकृच्छ्रचान्द्रायणारिभिः ।
शरीरशोषणम्प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम् ॥३६९

अहिंसा से परम अन्य कोई भी धर्म नहीं है और अहिंसा से अधिक कोई सुख भी नहीं है। विधिपूर्वक यज्ञादि में जो हिंसा शास्त्रोक्त होती है उसे अहिंसा ही कहा गया है। सत्य से सभी कुछ की प्राप्ति हुआ करती है क्योंकि सत्य में सभी कुछ प्रतिष्ठित है। यथार्थ कथन का जो आधार है उसी को द्विजातियों के द्वारा सत्य कहा गया है। पराये द्रव्य का हरण करना चाहे वह चोरी से किया गया हो अथवा बलपूर्वक किया गया हो उसी को स्तेय कहा जाता है। उसका आचरण न करना ही अस्तेय है जो धर्म का साधन होता है। कर्म-मन और वचन से सर्वदा सभी अवस्थाओं में सर्वत्र मैथुन का त्याग करना ही ब्रह्मचर्य कहा जाता है।

बापत्ति के समय में भी तथा इच्छा से द्रव्यों का जो ग्रहण नहीं करता है उसे ही अपरिग्रह कहा जाता है। उसका प्रयत्न पूर्वक पालन करना चाहिए। तप—स्वाध्याय—सन्तोष—शौच—ईश्वर का अर्चन ये ही संक्षेप से नियम कहे गये हैं जो योग की सिद्धि के प्रदान करने वाले होते हैं। उपवास पराक आदि तथा कृच्छ्र चान्द्रायण आदि के द्वारा जो शरीर का पोषण किया जाता है उसी को तापस लोग उत्तम जप कहते हैं ॥३६३-३६६॥

वेदान्तशतरुद्रीयप्रणवादिजपम्बुधाः ।

सत्त्वसिद्धिकरं पुंसां स्वाध्याय परिचक्षते ॥३७०

स्वाध्यायस्यत्रयोभेदावाचिकोपाशुमानसाः ।

उत्तरोत्तरवैशिष्यं प्राहुर्वेदार्थवेदिनः ॥३७१

यः शब्दबोधजननः परेषां शृण्वतां स्फुटम् ।

स्वाध्यायो वाचिकः प्रोक्त्र उपांशोरथ लक्षणम् ॥३७२

ओष्ठयोः स्पन्दमात्रेण परस्याऽशब्दबोधकम् ।

उपांशुरेष निर्दिष्टः साध्वसौ वाचिकाज्जपात् ॥३७३

यत्पदाक्षरसङ्गत्या परिस्पन्दनवर्जितम् ।

चिन्तनं सर्वशब्दानां मानसं तञ्जपं विदुः ॥३७४

यदृच्छालाभतोवित्तं अलपुंसोभवेदिति ।

प्राशस्त्यमृषयः प्राहुः सन्तोषमुखलक्षणम् ॥३७५

बाह्यमाभ्यन्तरं शौचं द्विधा प्रोक्तं द्विजोत्तमाः ।

मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनः शुद्धिरथान्तरम् ॥३७६

वेदान्त—शतरुद्रीय और प्रणव आदि के जप को बुध लोग जप कहते हैं। स्वाध्याय पुरुषों को सत्त्व सिद्धि का करने वाला कहा जाता है। स्वाध्याय के भी तीन भेद हैं—वाचिक—पांशु और मानस ये उनके नाम हैं। इन तीनों की उत्तरोत्तर विशेषता मानी गयी है। ऐसा ही वेदार्थ के वादी जन कहते हैं। जो दूसरे सुनने वालों को शब्द का बोध उत्पन्न करने वाला अत्यन्त ही स्पष्ट होता है उसी स्वाध्याय की वाचिक स्वाध्याय कहा गया है। अब उपांशु का लक्षण बतलाते हैं। दोनों होटों के

स्पन्दन मात्र से दूसरे का अशब्द बोधक होता है यही उपांशु जप कहा गया है। यह वाचिक जप से साधु जप होता है। जो पद के अक्षरों की सङ्गति से परिस्पन्दन रहित होता है तथा मन्त्र के सब शब्दों का चिन्तन ही के बल होता है उसी जप को मानस जप कहते हैं। यह दृष्टा लाभ से जो वित्त पुरुषों को पर्याप्त होता है ऋषिवृन्द इसी को सन्तोष का प्रशस्त लक्षण कहते हैं। हे द्विजोत्तमो ! शौच—बाह्य और आभ्यान्तर दो प्रकार का कहा गया है। बाहिरी शौच तो मिट्टी और जल से बताया गया है और आन्तरिक शौच मन की शुद्धि से ही हुआ करता है ॥३७०-३७६॥

स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाङ्मनःकायकर्मभिः ।

सुनिश्चल।शिवेभक्तिरेतदीशस्यपूजनम् ॥३७७

यमाश्चनियमाःप्रोक्ताःप्राणायामन्निबोधत ।

प्राणः स्वदेहजोवायुरायामस्तन्निरोधनम् ॥३३८

उत्तमाधममध्यत्वात्रिधायं प्रतिपादितः ।

य एव द्विविधः प्रोक्तः सगर्भोऽगर्भएव च ॥३७९

मात्राद्वादशको मन्दश्चतुर्विंशतिमात्रकः ।

मध्यमः प्राणसरोधः षट्त्रिंशन्मात्रिकोऽन्तकः ॥३८०

यः स्वदेहकम्पनोच्छ्वासजनकत्वं यथाक्रमम् ।

संयोगश्च मनुष्याणामानन्दाच्चोत्तमोत्तमः ॥३८१

सुनफाख्यं हितैयोगंसगर्भविजयम्बुधाः ।

एतद्वै योगिनांप्राहुः प्राणायामस्यलक्षणम् ॥३८२

सव्याहृति सप्रणवांगायत्रीशिरसा सह ।

त्रिजपेदायतप्राणः प्राणायामोऽथ नामतः ॥३८३

बाणी—मन और शरीर के कर्मों से स्तवन—स्मरण और पूजा के द्वारा जो सुनिश्चल शिव में भक्ति की भावना होती है इसी को ईश का पूजन कहा जाता है। यम और नियम पहिले ही बतला दिये गये हैं। अब प्राणायाम को समझ लो। प्राण और अपनी देह में उत्पन्न वायु का नाम है उष्का आयाम अर्थात् निरोध जिसमें किया जाता है वही प्राणायाम उत्तम—मध्यम और तीन प्रकार का प्रतिपादन किया गया है। वह भी

फिर दो प्रकार का कहा गया है—एक सगर्भ होता है और दूसरा अगर्भ है । अट्श मात्राओं वाला मन्द होता है—चौबीस मात्राओं वाला मध्यम है और छत्तीस मात्राओं वाला उत्तम प्राणायाम होता है । जो स्वेद, कम्पन, उच्छ्वास का क्रम से जनन करने वाला होता है तथा मनुष्यों का आनन्द से संयोग होता है वह उत्तमोत्तम होता है । सुनफ नाम वाला—हित योग को ही बुध लोग सगर्भ विजय कहते हैं । यह योगियों का ही कहा गया है । प्राणायाम का यही लक्षण है । व्याहृतियों के सहित प्रणव से युक्त तथा सिर से समन्वित गायत्री मन्त्र का आयत प्राण होकर तीन बार जाप करे । इसी को नाम से प्राणायाम कहा गया है ॥३७७-३८३॥

रेचकः पूरकश्चैव प्राणायामोऽथ कुम्भकः ।

प्रोच्यते सर्वशास्त्रेषु योगिभिर्यत्मानसैः ॥३८४

रेचको वा ह्यनिश्वासः पूरकस्तन्निरोधनः ।

साम्येन संस्थितिर्यासाकुम्भः परिगीयते ॥३८५

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ।

निग्रहः प्रोच्यते सद्भिः प्रत्याहारस्तु सत्तमाः ॥३८६

हृत्पुण्डरीके नाम्नां वा मूर्ध्नि पर्वसु मस्तके ।

एवमादिषु देशेषु धारणा चित्ताबन्धनम् ॥३८७

देशावस्थितिमालम्ब्य ऊर्ध्वयावृत्तिसन्ततिः ।

प्रत्यन्तरैरसृष्टाया तद्विज्ञानसूरयो विदुः ॥३८८

एकाकारः समाधिः स्याद्देशालम्बनवर्जितः ।

पत्ययो ह्यर्थमात्रेण योगशासनमुत्तमम् ॥३८९

धारणा द्वाशायामा ध्यानं द्वादश धारणाः ।

ध्यानं द्वादशकं यावत्समाधिरभिधीयते ॥३९०

रेचक—पूरक और कुम्भक ये तीन प्रकार से प्राणायाम कहा जाता है जिसको यत मन वाले योगियों ने समस्त शास्त्रों में कहा है । बाह्य निश्वास को ही रेचक कहते हैं और उसका निरोध कर लेना ही पूरक होता है । साम्य से जो संस्थिति होती है उसे ही कुम्भक कहा जाता है ।

विषयों में स्वभाव से ही विचरण करने वाली इन्द्रियों का जो निग्रह होता है उसी को श्रेष्ठतम सत्पुरुषों के द्वारा प्रत्याहार कहा गया है। हृदय कमल में अथवा नाभि में—मूर्छा पर्वी में—मस्तक में एवमादि स्थलों में चित्त के बन्धन को धारणा कहते हैं। देश की स्थिति का अवलम्ब ग्रहण करके ऊपर की ओर जो वृत्ति की सन्तति है जोकि प्रत्यन्तरों में सृष्ट न हो वही ध्यान होता है जिसको सूरिगण जानते हैं। एकाकार समाधि होती है जोकि देश के अवलम्बन से वर्जित होती है। अर्थ मात्र से प्रत्यय उत्तम योग का शासन है। द्वादश यामा धारणा होती है और द्वादश धारणा वाला ध्यान होता है। द्वादश ध्यान जब तक हो उसे ही समाधि कहा जाता है ॥३८४-३९०॥

आसनं स्वस्तिकं प्रोक्तं पद्ममर्द्धासनं तथा ।
 साधनाञ्च सर्वेषामेतत्साधनमुत्तमम् ॥३९१॥
 ऊर्वोरूपरि विप्रेन्द्राः कृत्वा पादतले उभे ।
 समासीनात्मनः पद्ममेतदासनमुत्तमम् ॥३९२॥
 उभे कृत्वापादतले जानूर्वोरन्नरेण हि ।
 समासीनात्मनः प्रोक्तं मासनं स्वस्तिकं परम् ॥३९३॥
 एकपादमथैकस्मिन्विष्टभ्योरसि सत्तमाः ।
 असीनार्द्धासनमिदं योगसाधनमुत्तमम् ॥३९४॥
 अदेशकाले योगस्य दर्शनं न हि विद्यते ।
 अग्न्यभ्यासे जले वाऽपि शुष्कपर्णचये तथा ॥३९५॥
 जन्तुव्याप्ते श्मशाने च जीर्णगोष्ठे चतुष्पथे ।
 सशब्देसञ्चये वापिचैत्यवल्मीकसञ्चये ॥३९६॥
 अशुभेदुर्जनाक्रान्ते मशकादिसमन्विते ।
 नाचरेद्देहबाधेवादौर्मनस्यादिसम्भवे ॥३९७॥

आसन तीन प्रकार के कहे जाते हैं—स्वस्तिक—पद्म और अर्द्धासन समस्त साधनों में यह अति उत्तम साधन होता है। हे विप्रेन्द्रो दोनों पादतल ऊरुओं के ऊपर कर लेवे और समासीन स्वरूप में हो तो

इसी को पद्मासन उत्तम आसन कहा गया गया है । दोनों पादतलों को जानु और पद के अन्तर में रखे । ऐसे समासीनात्मा पुरुष का आसन परम स्वस्तिक कहा गया है । एक पाद को एक विष्टभ्य करके उर में रखे—ऐसे स्थित के आसन को अर्द्धासन कहते हैं । यह योग साधन के लिये उत्तम आसन है । अदेश काल में योग का दर्शन नहीं होता है । अग्नि के समीप में—जल में तथा शुष्कपत्तों के समूह में—जन्तु व्याप्त में श्मशान में—जीर्ण गोष्ठ में—चतुष्पथ में—सशब्द में—सञ्चय में—चैत्य और वल्मीक सञ्चय में—अशुभ, दुर्जना क्रान्त और मशक आदि समन्वित स्थल में नहीं करना चाहिए । देह की बाधा में दीर्घतय आदि के होने पर भी योग का साधन नहीं कहना चाहिए ॥३६१-३६७॥

सुगुप्ते सुशुभे देशे गुहायां पर्वतस्य च ।

नद्यास्तीरे पुण्यदेशे देवायतने तथा ॥३६८॥

गृहे वा सुशुभे देशे निज्जने जन्तुवर्जिते ।

युञ्जीत योगं सततमात्मानं तत्परायणः ॥३६९॥

नमस्कृत्याऽथ योगीन्द्राञ्छिष्यांश्चैव विनायकम् ।

गुरुश्चैव च मां योगी युञ्जीत सुममाहितः ॥४००॥

आसनं स्वस्तिकं बद्ध्वा पद्ममर्द्धमथापिवा ।

नासिकाग्रे समां दृष्टिमीषदुन्मीलितेक्षणः ॥४०१॥

कृत्वाथ निर्भयः शान्तस्त्यक्त्वा मायामयं जगत् ।

स्वात्मन्यवस्थितन्देवं चिन्तयेत्परमेश्वरम् ॥४०२॥

शिखाग्रे द्वादशाङ्गुल्ये कल्पयित्वाथ पङ्कजम् ।

धर्मकन्दसमुद्भूतज्ञाननालमुशोभनम् ॥४०३॥

ऐश्वर्ययाष्टदलं श्वेतं परं वैराग्यकर्णिकम् ।

चिन्तयेत्परमं कोशं कणिकायां हिरण्यम् ॥४०४॥

किसी भी भली भाँति गुप्त—सुशुभ—निर्जन—पर्वत की गुहा—नदी का तट—पुण्य स्थल—देवायतन—ग्रह—जन्तु वर्जित देश में योग का अभ्यास करना चाहिए और आत्मा को निरन्तर उसी में परायण करके करना चाहिए । योगीन्द्रों को नमस्कार करके—शिष्य गण—विनायक—गुरु

और मुझको नमन करके योगी को सुसमाहित होकर ही योगाभ्यास करना चाहिए स्वस्तिक—पद्म या अर्द्धासन को बाँध कर नासा के अग्र-भाग में समा दृष्टि करे नेत्र थोड़े उन्मीलित होने चाहिए। निर्भय और परम शान्त होकर अभ्यास करे तथा इस मायामयजगत् का त्याग कर देवे। अपनी आत्मा में अवस्थित देव परमेश्वर का चिंतन करना चाहिए शिखा के अग्रभाग में द्वादश अंगुल वाले एक पंकज की कल्पना करे जो कि धर्म के केन्द्र से समुद्भूत हुआ है और ज्ञान की नाल से परम शोभा वाला है। ऐश्वर्य के आठ दल उसमें हैं वैराग्य की ही परमोत्तम कणिका है। उस कणिका में हिरण्य परम कोश का चिंतन करना चाहिए ॥३६५-४०४॥

सर्वशक्तिमयं साक्षाद्यं प्राहुर्दिव्यमव्ययम् ।
 ओङ्कारवाच्यमव्यक्तं रश्मिज्वालासमाकुलम् ॥४०५॥
 चिन्तयेत्तत्र विमलं परं ज्योतिर्यदक्षरम् ।
 तस्मिञ्ज्योतिषि विन्यस्य स्वानन्दं मम भेदतः ॥४०६॥
 ध्यायीत कोशमध्यस्थमीशं परमकारणम् ।
 तदात्मा सर्वगो भूत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥४०७॥
 एतद्गुह्यतमं ज्ञानं ध्यानान्तरमथोच्यते ।
 चिन्तयित्वा तु पूर्वोक्तहृदयेपद्ममुत्तमम् ॥४०८॥
 आत्मानमथ कान्तारं तत्रानलसमत्विषम् ।
 मध्ये वह्निशिखाकारं पुरुषपञ्चविंशकम् ॥४०९॥
 चिन्तयेत्परमात्मानं तन्मध्ये गगनं परम् ।
 ओंकारबोधितं तत्त्वं शाश्वतं शिवमुच्यते ॥४१०॥
 अव्यक्तं प्रकृतौ लीनं परं ज्योतिरनुत्तमम् ।
 तदन्तः परमं तत्त्वमात्माधारंनिरञ्जनम् ॥४११॥

वह सर्व शक्तियों से परिपूर्ण—आद्य साक्षात् है जिसको दिव्य और अव्यय कहते हैं। वह ओङ्कार से वाच्य-अव्यक्त-तथा रश्मियों की ज्वाला से समाकुल है। वहीं पर जो अक्षर-विमल-पर ज्योति है उसका ही चिंतन करना चाहिए। उस ज्योति में मेरे भेद से स्वानन्दका विन्यास

करे। कोश के मध्य में स्थित परम कारण ईश का ध्यान करे। तदात्मा और सर्वगामी होकर अन्य कुछ भी नहीं चिन्तन करना चाहिए। यह परम गोपनीय ज्ञान है अब ध्यानान्तर कहा जाता है। पूर्वोक्त हृदय में उत्तम पद्म का चिन्तन करके आत्मा को—अनल के तुल्य कान्ति वाले वन को—मध्य में वह्नि की शिखा के आकार वाले पंच विश्वक पुरुष को परमात्मा को चिन्तन करे। उसके मध्य में परम गगन है। वहाँ पर ओङ्कार से बोधित शाश्वत तत्त्व शिव कहे जाते हैं। प्रकृति में अव्यक्त लीन है जो परम ज्योति उत्तम है। उसके मध्य में आत्मा का आधार—निरंजन परम तत्त्व विद्यमान है ॥४०५-४११॥

ध्यायीत तन्मयो नित्यमेकरूपं महेश्वरम् ।

विशोध्यसर्वतत्त्वानि प्रणवेनाथवा पुनः ॥४१२

संस्थाप्यमपि चात्मानं निर्मले परमे पदे ।

पावयित्वात्मनो देहं तेनैव ज्ञानवारिणा ॥४१३

मदात्मा मन्मना भस्म गृहीत्वा त्वाग्निहोत्रिकम् ।

तेनोद्धूलितसर्वाङ्गमग्निरादित्यमात्रतः ॥४१४

चिन्तयेत्स्वात्मनीशानं परं ज्योतिःस्वरूपिणम् ।

एष पाशुपतो योगः पशुपाशविमुक्तये ॥४१५

सर्ववेदान्तमार्गोऽयमत्याश्रममिति श्रुतिः ।

एतत्परतरं गुह्यं मत्सायुज्यप्रदायकम् ॥४१६

द्विजातीनान्तु कथितं भक्तानां ब्रह्मचारिणाम् ।

ब्रह्मचर्यमहिंसाचक्षमाशौचं तपोदमः ॥४१७

सन्तोषः सत्यमास्तिक्यव्रताङ्गानि विशेषतः ।

एकेनाप्यथ हीनेन व्रतमस्य न लुप्यते ॥४१८

इस प्रकार से तन्मय होकर नित्य ही एक रूप वाले महेश्वर का ध्यान करना चाहिए। समस्ततत्त्वों का विशेष शोधन करके अथवा पुनः प्रणव के द्वारा निर्मल परम पद में अपनी आत्मा को संस्थापित करके आत्मा के देह को उसी ज्ञान के वारि से पवित्र कराकर मेरेमें मन लगाने वाला होकर—महात्मा बनकर अग्नि होत्र की भस्म को ग्रहण करे।

उस भस्म से अपने सब अङ्गों को धूलित करे और यह भी अग्नि या आदित्य मन्त्र से करना चाहिए । फिर स्वात्मा में परिज्योति स्वरूपी ईशान का चिन्तन करे । यह पाशुपत योग है जो पशु पाश की विमुक्ति के लिये है । यह समस्त वेदान्त का मार्ग है यह अत्याश्रम है—ऐसा श्रुति का वचन है । यह परतर और परम गोपनीय है जो मेरे सायुज्य के प्रदान करने वाला है । जो द्विजाति ब्रह्मचारी एवं भक्त हैं उनके लिये कहा गया है । ब्रह्मचर्य—अहिंसा— क्षमा—शौच—दम—तप—संतोष—सत्य—आस्तिका—ये विशेष रूप व्रत के अङ्ग होते हैं । इनमें एक के भी हीन होने से इसका व्रत लुप्त नहीं होता है ॥४१२—४१८॥

तस्मादात्मगुणोपेतो मद्ब्रतं वोढुमर्हति ।

वीतरागभयक्रोधात्मन्यया मायुपाश्रिताः ॥४१९

बहवोऽनेन योगेन पूता मद्भावयोगतः ।

येयथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥४२०

ज्ञानयोगेन मां तस्माद्यजेत परमेश्वरम् ।

अथवाभक्तियोगेन वैराग्येण परेण तु ॥४२१

चेतसा बोधयुक्तेन पूजयेन्मांसदाशुचिः ।

सर्वकर्माणि सन्यस्य भिक्षाशीनिष्परिग्रहः ॥४२२

प्राप्नोति मम सायुज्यं गुह्यमेतन्मयोदितम् ।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रीकरण एव च ॥४२३

निर्ममो निरहङ्कारो यो मद्भक्तः समेप्रियः ।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ॥ २४

मर्यापितमनो बुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकाश्चोद्विजते च यः ॥४२५

इस लिये आत्म गुणों से युक्त मनुष्य ही मेरे व्रत का वहन करने के योग्य होता है । राग—भय और क्रोध को छोड़ देने वाले मुझ में ही मनु लगाने वाले मेरा उपाश्रय ग्रहण करके इस योग से बहुत से मेरे भाव योग से पवित्र हो गये हैं । मुझको जो भी जिस भावना से प्रपन्न होकर

प्राप्त करता है मैं भी उसे उसी भाव से भजता हूँ । इसलिये परमेश्वर मुझको ज्ञान योग से ही समर्पित करे अथवा भक्तियोग से तथा परम चैराग्य से मेरा भजन करे । सदा पवित्र होकर बोध से संयुत चित्त से ही मेरा पूजन करना चाहिये । अन्य समस्त कर्मों का त्याग करके भिक्षाटन से निर्वाह करे और परिग्रह से रहित रहे । वह व्यक्ति मेरा सायुज्य प्राप्त करता है —यह परम गुह्य विषय है जो हमने आपको बतला दिया है । समस्त भूलों से कभी भी किसी प्रकार का द्वेष न करने वाला तथा मैत्री भाव रखने वाला हो । ममता से हीन—अहङ्कार से रहित मेरा भक्त होता है वही मेरा परम प्रिय होता है । योगी निरन्तर सन्तुष्ट—यत् आत्मा वाला और दृढ़ निश्चय वाला होवे । जो मुझमें ही अपनी बुद्धि को अर्पित करा देता है वही मेरा प्रिय भक्त होता है जिससे कोई भी लोक उद्विग्न न हो और जो स्वयं भी लोक से उद्वेग वाला न हो—ऐसा ही मेरा भक्त होना चाहिये ॥४१६—४२५॥

हर्षामषभयोद्वेगैर्भुक्तोयः सहिमेप्रियः ।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ॥४२६

सर्वारम्भपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ।

तुल्यनिन्दास्तुतिमौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ॥४२७

अनिकेतः स्थिरमतिर्मदभक्तोमामुपैष्यति ।

सर्वकर्मण्यपि सदा कुर्वाणोमत्परायणः ॥४२८

मत्प्रसादादवाप्नोतिशश्वतं परमपदम् ।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्यमत्परः ॥४२९

निराशीर्निर्ममो भूत्वामामेकंशरणं व्रजेत् ।

त्यक्त्वाकर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ॥४३०

कर्मण्यपि प्रवृत्तोऽपि कर्मणा तेन बुध्यते ।

निराशीयतचित्तात्मात्यक्तसर्वपरिग्रहः ॥४३१

शारीरं केवलकर्मकुर्वन्नाप्नोति तत्पदम् ।

यदृच्छालाभतृप्तस्य द्वन्द्वातीतस्य चैव हि ॥४३२

हर्ष --अमर्ष--भय और उद्वेग से जो मुक्त होता है वही मेरा भक्त मेरा प्यारा होता है । जो किसी भी प्रदार्थ या व्यक्ति की अपेक्षा न करे शुचि-दक्ष-उदासीन और समस्त प्रकार की व्यथाओं का त्याग करने वाला हो एवं सब तरह के आरम्भों का त्याग करने वाला हो और मेरी भक्ति से युक्त हो वही मेरा परम प्रिय हुआ करता है । जिसके मन में अपनी निन्दा और स्तुति दोनों ही समान हों--मौन व्रत का धारण करने वाला तथा जो कुछ भी प्राप्त हो उसी में सन्तोष करने वाला हो वह मेरा प्रिय भक्त है । बिना कोई अपना निज का निकेत रखने वाला स्थिर मति से युक्त जो मेरा भक्त है वह मुझको प्राप्त करता है सभी कर्मों को भी करता हुआ जो मुझमें ही परायण रहता है और निराशी--निर्मम होकर एक मेरी ही शरण ग्रहण किया करता है । सब कर्मों के फलों में सङ्ग न करके नित्य ही तृप्त रहता है तथा चित्त से सब कर्मों को मुझ को ही समर्पित करके मेरे में तत्पर रहता है वह मेरे प्रसाद से परम शाश्वत मेरे पद को प्राप्त कर लेता है । कर्म में प्रवृत्त रह कर भी उस कर्म से बोध युक्त रहता है और निराशी--चित्त और आत्मा को यत्न रखने वाला--समस्त परिग्रह का त्याग करने वाला मेरा भक्त होता है । यहच्छा लाभ से तृप्ति प्राप्त करने वाला--द्वन्द्वों से परे अर्थात् सुख-दुःखादि को समभाव से समझने वालों के केवल शरीर सम्बन्धी कर्म करने पर वह मेरा पद उसे प्राप्त हो जाया करता है ॥४२६--४३२॥

कुर्वतो मत्प्रसादार्थं कर्म संसारनाशनम् ।

मन्मनामन्नमस्कारो मद्याजीमत्परायणः ॥४३३

मामुपास्यति योगीशो ज्ञात्वा मां परमेश्वरम् ।

मामेवाहुः परं ज्योतिर्बोधयन्तः परस्परम् ॥४३४

कथयन्तश्च मां नित्यंममसायुज्यमाप्नुयुः ।

एवंनित्याभियुक्तानामायेतंकर्मसात्त्वगम् ॥४३५

नाशयामि तमः कृस्त्नं ज्ञानदीपेन भास्वता ।

मद्बुद्धयो मां सततंपूजयन्तीहयेजनाः ॥४३६

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमंवहाम्यहम् ।

येचान्येभोगकर्मार्थतिजन्ते ह्यन्यदेवताः ॥४३७

तेषां तदन्तविज्ञेयं देवतानुगतं फलम् ।

ये चान्ये देवताभक्ताः पूजयन्तीह देवताः ॥४३८

मद्भवनासमायुक्ता मुच्यन्ते तेऽपि मानवाः ।

तस्माद्विनश्वरानन्यास्त्यक्त्वा देवानशेषतः ॥४३९

केवल मेरी प्रसन्नता प्राप्त करने के लिये ही कर्मों को संसार के नाश करने के लिये करता हुआ—मुझ को ही गमन करने वाला—मेरा ही यजन करने वाला और मुझ में ही परायण रहने वाला योगीश मुझ को परमेश्वर जानकर मेरी ही उपासना करता है—परस्पर में बोधन करते हुए मुझ को परम ज्योति कहते हैं । नित्य ही मेरे गुण-गणों का कथन करते हुए मेरे सायुज्य को प्राप्त किया करते हैं । इस प्रकार से जो मुझ में ही नित्य अभियुक्त होते हैं उनको यह मेरी माया कुछ भी प्रभाव नहीं करती है । मैं भासमान कर्मदीप के द्वारा समस्त तम का नाश कर देता हूँ । मेरे ही अन्दर बुद्धि रखने वाले जो मनुष्य यहाँ पर मेरी पूजा निरन्तर किया करते हैं उन नित्य अभियुक्त मेरे भक्तों का योग क्षेम से वहन किया करता हूँ । जो अन्य लोग भोग के कर्मों के प्रयोजन वाले हैं और अन्य देवों का यजन किया करते हैं उनका वैसा ही अन्त समझना चाहिए । उनको देवता के ही अनुगत फल मिलता है । जो अन्य लोग अन्य देवों के भक्त होते हैं और यहां पर देवताओं का पूजन किया करते हैं किन्तु मेरी भावना से समायुक्त होते हैं वे मनुष्य भी युक्त हो जाया करते हैं । इसी-लिये विनश्वर अन्य देवों का सब का त्याग करके मेरा ही आश्रय लेवे ॥४३३-४३९॥

मामेव संश्रयेदीशं सयाति परमं पदम् ।

त्यक्त्वापुत्रादिषुस्नेहंनिःशोकोनिष्परिग्रहः ॥४४०

यजेच्चामरणाल्लिङ्गं विरक्तःपरमेश्वरम् ।

येऽर्चयन्तिसदालिङ्गं त्यक्त्वाभोगानशेषतः ॥४४१

एकेन जन्मना तैर्षा ददामि परमम्पदम् ।

परात्मनः सदा लिङ्गं केवलं रजतप्रभम् ॥४४२॥

ज्ञानात्मकं सर्वगतं योगिनां हृदिसंस्थितम् ।

ये चान्ये नियता भक्ताभावयित्वा विधानतः ॥४४३॥

यत्र क्वचन तल्लिङ्गमर्चयन्ति महेश्वरम् ।

जले वा वह्निमध्ये वा व्योम्नि सूर्येऽप्यथान्यतः ॥४४४॥

रत्नादौ भावयित्वेशमर्चयेत् लिङ्गमेश्वरम् ।

सर्वलिङ्गमयं ह्येतत्सर्वलिङ्गे प्रतिष्ठितम् ॥४४५॥

तस्माल्लिङ्गेऽर्चयेद्दीशं यत्र क्वचन शाश्वतम् ।

अग्नौ क्रियावतामप्सु व्योम्नि सूर्ये मनीषिणाम् ॥४४६॥

जो केवल ईश मेरा ही संश्रय ग्रहण किया करता है वह परम पद को प्राप्त होता है । अपने पुत्रादि में स्नेह का त्याग करके—शोक से रहित होकर बिना परिग्रह वाला रह कर मरण पर्यन्त परम विरक्त हो परमेश्वर के लिङ्ग का यजन करे । जो सदा समस्त भोगों का त्याग करके मेरे लिङ्ग का अर्चन किया करते हैं उनको मैं एक जन्म में परम पद प्रदान कर देता हूँ । परमात्मा लिङ्ग सदा रजत की प्रभा से युक्त केवल ज्ञानात्मक—सर्वगत और योगियों के हृदय में समवस्थित है । जो अन्य भक्त नियत है और विधान से भावना करके महेश्वर के उस लिङ्ग का जहाँ कहीं भी यजन किया करते हैं । जल में—अग्नि के मध्य में—वायु—व्योम—सूर्य में तथा अन्य किसी भी रत्नादि में ईश्वरीय लिङ्ग की भावना करके उसका अर्चन करते हैं । यह सर्व लिङ्गमय है और सर्व लिङ्ग में प्रतिष्ठित है । इसलिये ईश का अर्चन लिङ्ग में ही करना चाहिए जहाँ कहीं भी हो यह शाश्वत है । क्रिया वालों का अग्नि में और मनीषियों का जल—व्योम और सूर्य में विद्यमान है ॥४४०-४४६॥

काष्ठादिष्वेव मूर्खाणां हृदि लिङ्गं तु योगिनाम् ।

यद्यनुत्पन्नविज्ञानो रिक्तः प्रीतिसंयुतः ॥४४७॥

यावज्जीवं जपेद्युक्तः प्रणवं ब्रह्मणो वपुः ।

अथवा शतरुद्रीयं जपेदामरणाद् द्विजः ॥४४८॥

एकाकी यतचित्ताऽऽत्मा स याति परमम्पदम् ।
 वसेच्चा मरणाद्विप्रा वाराणस्यां समाहितः ॥४४६
 सोऽपीश्वरप्रसादेन यातितत्परमम्पदम् ।
 तत्रोत्क्रमणकाले हि सर्वेषामेव देहिनाम् ॥४५०
 ददाति परमं ज्ञानं येनमुच्येत बन्धनात् ।
 वर्णाश्रमविधिकृत्स्नं कुर्वाणो मत्परायणः ॥४५१
 तेनैवः जन्मना ज्ञानंलब्ध्वा यातिशिवम्पदम् ।
 येऽपितत्रवसन्तीहनीचार्वापापयोनयः ॥४५२
 सर्वेतरन्तिसंसारमीश्वरानुग्रहाद्विजाः ।
 किन्तुविघ्नाभविष्यन्तिपापोपहतचेतसाम् ॥४५३

मूर्खों का लिङ्ग काष्ठ आदि में होता है और जो योगी हैं उनके हृदय में ही लिङ्ग रहता है । यदि विज्ञान के उत्पन्न न होने वाला विरक्त प्रीति से संयुक्त है तो उसे जब तक जीवित रहे ब्रह्म का वपु जो प्रणव है उसी का जप करना चाहिए अथवा मरणपर्यन्त शतरुद्रीय का द्विज को जप करना चाहिए । जो एकाकी—यतचित्त और आत्मा वाला है वह परम पद को प्राप्त होता है । हे विप्र ! मरणपर्यन्त वाराणसी में वास करे और समाहित होकर रहे । वह भी ईश्वर के प्रसाद से परम पद को प्राप्त कर लेता है । वहाँ पर उत्क्रमण के समय में समस्त देहधारियों को परम ज्ञान प्रदान कर देते हैं जिसके द्वारा वह बन्धन से मुक्त हो जाया करता है । वर्णों और आश्रमों को शास्त्र विहित विधि का सम्पादन करते हुए जो मुझ में ही परायण रहता है वह उसी जन्म में ज्ञान प्राप्त करके शिव के पद को प्राप्त कर लेता है । जो भी नीच तथा पाप योनि वाले लोग वहाँ पर निवास किया करते हैं । हे द्विजगण ! वे सभी ईश्वर के अनुग्रह से इस संसार सागर को पार कर जाया करते हैं किन्तु जो पापों से उपहत चित्त वाले होते हैं उनको विघ्न होंगे ॥४४७-४५३॥

धर्मान्समाश्रयेत्तस्तान्मुक्तये सततं द्विजाः ।
 एतद्रहस्यंवेदानां देयंयस्यकस्यचित् ॥४५४

धार्मिकार्यैव दातव्यं भक्ताय ब्रह्मचारिणे ! ।

इत्येतदुक्त्वा भगवान् शाश्वतो योगमुत्तमम् ॥४५५॥

व्यासहारसमासीनं नारायणमनामयम् ।

मयैतद्भाषितंज्ञानं हितार्थं ब्रह्मवादिनम् ॥४५६॥

दातव्यं शान्तचित्तेभ्यः शिष्येभ्यो भवता शिवम् ।

उक्तैवमर्थं योगीन्द्रानब्रवीद्भगवानजः ॥४५७॥

हिताय सर्वभक्तानां द्विजातीनां द्विजोत्तमाः ।

भवन्तोऽपि हि मज्ज्ञानं शिष्याणां विधिपूर्वकम् ॥४५८॥

उपदेक्ष्यन्ति भक्तानां सर्वेषां वचनान्मम ।

अयंनारायणोऽयोऽसावीश्वरो नात्रसंशयः ॥४५९॥

नान्तरं ये प्रपश्यन्ति तेषां देयमिदम्परम् ।

ममैषा परमामूर्तिर्नारायणसमाह्वया ॥४६०॥

हे द्विजगण ! इसीलिये मुक्ति के लिये निरन्तर धर्मों का समाश्रय करना चाहिए । यह वेदों का परम रहस्य है । इसे जिस किसी को कभी नहीं देना चाहिए । जो धार्मिक हो—भक्त हो और ब्रह्मचारी हो उसी को यह विज्ञान प्रदान करना चाहिए । व्यासजी ने कहा—शाश्वत भगवान् ने इस उत्तम योग को इतना ही कहा था । फिर अनामय नारायण से जो वहाँपर समासीन थे कहा था कि मेरे द्वारा भाषित यह ज्ञान ब्रह्मवादियों का हित सम्पादन करने के लिये है । इसको जो यतचित्त वाले शिष्य हों उन्हीं को आपको देना चाहिए । इस प्रकार से कह कर भगवान् अज योगीन्द्रों से बोले । हे द्विजोत्तमो ! आप सब लोग भी द्विजाति भक्तों के हित के लिये मेरे इस ज्ञान को विधि-पूर्वक शिष्यों को दें । मेरे वचन से आप भी सब भक्तों को इसका उपदेश करेंगे । यह नारायण साक्षात् ईश्वर हैं—इसमें तनिक भी संशय नहीं है । जो इनमें कोई भी अन्तर नहीं देखते हैं उनको ही यह ज्ञान देना चाहिए यह नारायण नाम धारण करने वाली एक दूसरी मेरी ही साक्षात् मूर्ति है ॥४५४-४६०॥

सर्वभूतात्मभूतस्था शान्ता चाक्षरसंस्थिता ।

येऽन्यथा मां प्रपश्यन्ति लोके भेददृशो जनाः ॥४६१॥

न ते मुक्तिं प्रपश्यन्ति जायन्ते च पुनः पुनः ।

येत्वेन णिगुमव्यक्तं माञ्चदेवं महेश्वरम् ॥४६२

एकीभावेन पश्यन्ति न तेषां पुनरुद्भवः ।

तस्मादनादिनिधनं विष्णुमात्मानमव्ययम् ॥४६३

मामेव सम्प्रपश्यध्वं पूजयध्वं तथैव च ।

येऽन्यथा सम्प्रपश्यन्ति मत्तैव देवतान्तरम् ॥४६४

ते यान्ति नरकान् घोराह्नाहतेषु व्यवस्थितः ।

मूर्खं वा पण्डितं वापि ब्राह्मणं वा मदाश्रयम् ॥४६५

मोचयामि श्वपाकं वा नारायणमनिन्दकम् ।

तस्मादेव महायोगीमदभक्तैः पुरुषोत्तमः ॥४६६

अर्च्यो नो यो नमस्कार्यो मत्प्रीतिजननाय वै ।

एवमुक्त्वा वासुदेवसालिङ्ग्य स पिनाकधृक् ॥४६७

समस्त भूतों के आत्म भूतस्थ—शान्त और अक्षर सस्थित जो मुझको अन्यथा देखते हैं तथा लोक में भेद देखने वाले जन हैं वे कभी भी मुक्ति का दर्शन नहीं किया करते हैं और बारम्बार पुनः पुनः इस संसार में जन्म लिया करते हैं । जो अव्यक्त इन विष्णु देव को और महेश्वर मुझको एकीभाव से ही देखा करते हैं । उनका फिर दुबारा इस संसार में जन्म नहीं होता है । इसीलिये अनादि निधन—अव्यय आत्मा भगवान् विष्णु को मुझको ही देखो और उसी भावना से पूजा भी करो । जो लोग दूसरा देव समझकर अन्य प्रकार से ही देखा करते हैं वे परम घोर नरकों में जाया करते हैं । उनमें मैं व्यवस्थित नहीं रहता हूँ । मूर्ख हो अथवा पण्डित हो या ब्राह्मण हो जो मेरा आश्रय ग्रहण करने वाला है । उस नारायण की निन्दा न करने वाले श्वपाक को भी मैं मुक्त कर देता हूँ । इसीलिये यह महायोगी पुरुषोत्तम प्रभु मेरे भक्तों के द्वारा अर्चना करने के योग्य होता है । इसका अर्चन करना चाहिए—इनको प्रणाम करना चाहिए और यह सब मेरी ही प्रीति के उत्पन्न करने के लिये करना चाहिए । इतना इस प्रकार से कहकर उन पिनाक धारी प्रभु शिव ने भगवान् वासुदेव का आलिङ्गन किया था ॥४६१-४६७॥

अन्तर्हितोऽभवत्तेषां सर्वेषामेव पश्यताम् ।
 नारायणोऽपि भगवांस्तापसवेषमुत्तमम् ॥४६८
 जग्राह योगिनः सर्वास्त्यक्त्वा वै परमं वपुः ।
 ज्ञानं भगद्भिरमलं प्रसादात्परमेष्ठिनः ॥४६९
 साक्षाद्देवमहेशस्य ज्ञानं संसारनाशनम् ।
 गच्छध्वं विज्वराः सर्वे विज्ञानं परमेष्ठिनः ॥४७०
 प्रवर्त्त्य ध्वंशिष्येभ्यो धार्मिकेभ्यो मुनीश्वराः ।
 इदं भक्ताय शान्ताय धार्मिकायाहिताग्नये ॥४७१
 विज्ञानमेश्वरं देयं ब्राह्मणाय विशेषतः ।
 एवमुक्त्वा स विश्वात्मा योगिनां योगवित्तमः ॥४७२
 नारायणो महायोगी जगामादर्शनं स्वयम् ।
 ऋषयस्तेऽपि देवेशं नमस्कृत्य महेश्वरम् ॥४७३
 नारायणञ्च भूतादिं स्वानि स्थानानि लेभिरे ।
 सनत्कुमारो भगवन्सम्बर्त्तयि महामुनिः ॥४७४

फिर भगवान् महेश्वर उन सबके देखते हुए अन्तर्धान हो गये थे ।
 भगवान् नारायण ने भी उत्तम तापस का वेष ग्रहण कर लिया था और
 योगियों से कहा हे योगिजनो ! आप सब लोग भी सबका त्याग करके
 परमेष्ठी के प्रसाद से परम वपु अमल ज्ञान को धारण करो । साक्षात् देव
 महेश का ज्ञान इस संसार का नाश करने वाला है । इसलिये सब विज्वर
 होकर परमेष्ठी के इस विज्ञान को ग्रहण करो । यह ईश्वर संबंधी विज्ञान
 भक्त—शान्त—धार्मिक—आहिताग्नि और विशेष रूप से ब्राह्मण को
 ही देना चाहिए । इस तरह कहकर योगियों में श्रेष्ठ योग के ज्ञाता विश्व-
 वात्मा महायोगी नारायण स्वयं भी अदर्शन को प्राप्त हो गये थे । उन
 समस्त ऋषियों ने भी देवेश महेश्वर को नमस्कार किया था । ऋषियों
 ने भूतों के आदि भगवान् को भी प्रणाम किया था और फिर अपने-अपने
 स्थानों को प्राप्त हो गये थे । महामुनि भगवान् सनत्कुमार ने सम्बर्त्त के
 लिये यह ईश्वरीय ज्ञान दिया था ॥४६८-४७४॥

दत्तवानैश्वरं ज्ञानं सोऽपिसत्यत्वमाययौ ।
 सनन्दनोऽपि योगीन्द्रः पुलहाय महषये ॥४७५
 प्रददौ गौतमायाथ पुलहोऽपि प्रजापतिः ।
 अङ्गिरावेदविदुषे भारद्वाजाय दत्तवान् ॥४७६
 जैगीषव्याय कपिलस्तथा पञ्चशिखाय च ।
 पराशरोऽपिसनकात्पितामेसर्वतत्त्वदृक् ॥४७७
 लेभेतत्परमं ज्ञानं तस्माद्वाल्मीकिराप्तवान् ।
 ममोवाच पुरा देवः सतीदेहभवाङ्गजः ॥४७८
 वामदेवो महायोगी रुद्रःकालपिनाकधृक् ।
 नारायणोऽपिभगवान्देवकीतनयो हरिः ॥४७९
 अर्जुनाय स्वयं साक्षाद्दत्तवानिदमुत्तमम् ।
 यदाहं लब्धवान् रुद्राद्वामदेवादमुत्तमम् ॥४८०
 विशेषाद्गिरीशे भक्तिस्तस्मादारभ्य मेऽभवत् ।
 शरण्यंगिरीशंरुद्रं प्रपन्नोऽहंविशेषतः ॥४८१

वह सम्बतं सनत्कुमार से ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करके सत्यत्व को प्राप्त हो गया था । योगीन्द्रि सनन्दन ने भी महर्षि पुलह के लिये यह ज्ञान प्रदान किया था । पुलह प्रजापति ने भी गौतम को दिया था । अङ्गिरा ने वेदों के महा विद्वान् भरद्वाज को यही ज्ञान प्रदान किया था । कपिल ने जैगीषव्य तथा पञ्च शिख को दिया था । पराशर मुनि ने जो सभी तत्त्वों के दर्शक मेरे पिता थे इस ज्ञान को सनक से प्राप्त किया था । उनसे उस परम ज्ञान वाल्मीकि ने प्राप्त किया था । पहिले सती के देह से समुत्पन्न देव ने मुझको कहा था । वामदेव महायोगी-रुद्र काल पिनाक के धारण करने वाले हैं और नारायण भी भगवान् देवकी के पुत्र हरि हैं । उन्होंने साक्षात् स्वयं इस उत्तम योग को अर्जुन के लिये दिया था । मैंने यह उत्तम ज्ञान नामदेव रुद्र से प्राप्त किया था विशेष रूप से गिरीश में भक्ति तभी से आरम्भ करके मेरी हुई थी । शरण्य गिरीश रुद्रदेव का मैं विशेष रूप से प्रपन्न हो गया था ॥४७५-४८१॥

भूतेशं गिरीशं स्थाणुं देवदेवं त्रिशूलिनम् ।
 भवन्तोऽपि हि तं देवं शम्भुं गोवृषवाहनम् ॥४८२
 प्रपद्यन्तां सपत्नीकाः सपुत्राः शरणं शिवम् ।
 वर्त्तध्वन्तत्प्रसादेनकर्मयोगेन शङ्करम् ॥४८३
 पूजयध्वं महादेवं गोपतिं व्यालभूषणम् ।
 एवमुक्ते पुनस्ते तु शौनकाद्या महेश्वरम् ॥४८४
 प्रणोमुः शाश्वतं स्थाणुं व्यासं सत्यवतीसुतम् ।
 • अब्रुवन् हृष्टमनसः कृष्णद्वैपायनं प्रभुम् ॥४८५
 साक्षाद्देवं हृषीकेशं शिवं लोकमहेश्वरम् ।
 भवत्प्रसादादचला शरण्ये गोवृषध्वजे ॥४८६
 इदानीं जायते भक्तिर्यादेवैरपि दुर्लभा ।
 कथयस्व मुनिश्रेष्ठ ! कर्मयोगमनुत्तमम् ॥४८७
 येनासौ भगवानीशः समाराध्योमुमुक्षुभिः ।
 त्वत्सन्निधौवेवसूतः शृणोति भगवद्वचः ॥४८८

भूतों के स्वामी—गिरीश—स्थाणु—देवों के देव—त्रिशूली गोवृष
 के वाहन वाले देव उस शम्भु की शरणागति में आप सब लोग भी
 पत्नियों के सहित तथा पुत्रों के सहित उस शरण शिव के प्रपन्न हो
 जाइये । उसके प्रसाद कर्म योग के द्वारा शङ्कर की सेवा में वर्त्तमान हो
 जाओ । व्यालों में भूषण वाले गोपति महादेव की पूजा करो । इस प्रकार
 से कहे गये शौनकादि उन मुनियों ने पुनः शङ्कर को प्रणाम किया था
 शाश्वत और स्थाणु हैं । फिर परम प्रसन्न मन वाले होते हुए सत्यवती के
 पुत्र प्रभु कृष्ण द्वैपायन व्यासजी से वे सब लोग बोले । लोक महेश्वर
 हृषीकेश देव शिव साक्षात् हुए हैं । आपके ही प्रसाद से शरण्य गोवृष की
 ध्वजा वाले शिव में अब भक्ति उत्पन्न होती है जो यादवों के द्वारा भी
 दुर्लभ है । हे मुनिश्रेष्ठ ! अब आप परमोत्तम कर्म योग वर्णन करिये जिसके
 द्वारा मुमुक्षुओं के द्वारा यह भगवान् ईश समाराधन के योग्य होते हैं ।
 आपकी सन्निधि में ही यह सूतजी भी भगवान् के वचन का श्रवण करते
 हैं ॥४८२-४८८॥

तद्वदालिलोकानां रक्षण धर्मसंग्रहम् ।

यदुक्तं देवदेवेन विष्णुना कूर्मरूपिणा ॥४८६

पृष्ठेन मुनिभिः सर्वं शक्रेणमृतमन्थने ।

श्रुत्वा सत्यवतीसूनुः कर्मयोग सनातनम् ॥४८७

मुनीनां भाषितं कृत्स्नं प्रोवाच सुसमाज्ञितः ।

य इमं पठते नित्यं सम्वादं कृत्तिवाससः ॥४८८

सनत्कुमारप्रमुखैः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

श्रावयेद्वा द्विजान् शुद्धान् ब्रह्मचर्यपरायणान् ॥४८९

यो वा विचारयेदर्थं स याति परमाङ्गतिम् ।

यश्चैतच्छृणुयान्नित्यं भक्तियुक्तो दृढव्रतः ॥४९०

सर्वपापविनिर्मुक्तो ब्रह्मलोके महीयते ।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन पठितव्यो मनोषिभिः ॥४९१

श्रोतव्यश्चानुमन्तव्यो विशेषाद् ब्राह्मणैः सदा ॥४९२

अब आप उसी को बतलाइये जो अखिल लोकों की रक्षा करने वाला धर्म संग्रह कूर्म रूपी देवों के देव भगवान् विष्णु ने कहा था । मुनियों के द्वारा पूछे गये इन्द्र से अमृत के मन्थन के समय में सत्यवती के पुत्र ने सनातन कर्म योग का श्रवण कर सुसमाहित होकर सम्पूर्ण मुनियों के भाषित को कह दिया था जो इस कृत्तिवासा के संवाद को नित्य ही पढ़ता है वह सनत्कुमार प्रमुखों के सहित समस्त पापों से प्रमुक्त हो जाता है। तथा ब्रह्मचर्य व्रत में परायणी शुद्ध द्विजों को श्रवण कराता है अथवा जो इसके अर्थ का विचार किया करता है वह भी परमगति को प्राप्त होता है । जो इसको भक्ति से युक्त होकर दृढ़ व्रत वाला नित्य ही श्रवण किया करता है वह सब पापों से छुटकारा पाकर ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित होता है । उसीलिये सब प्रकार के प्रयत्नों मनीषियों को इसका पाठ अवश्य ही करना चाहिए तथा ब्राह्मणों के द्वारा विशेष रूप से नित्य ही सदा इसका अनुमनन एवं श्रवण करना चाहिए ॥४८६-४९२॥



१४—व्यास गीता

शृणुध्वमृषयः सर्वे वक्ष्यमाणं सनातनम् ।
 कर्मयोगं ब्राह्मणानामात्यन्तिकफलप्रदम् ॥१॥
 आम्नायसिद्धमखिलं ब्राह्मणानांप्रदर्शितम् ।
 ऋषीणां शृण्वतांपूर्वमनुराह प्रजापतिः ॥२॥
 सर्वपापहरं पुण्यं ऋषिसङ्घं निषेवितम् ।
 समाहितधियो यूयं शृणुध्वगदतो मम ॥३॥
 कृतोपनयनो वेदानधीयीत द्विजोत्तमाः ।
 गर्भाष्टमेऽष्टमे वाब्दे स्वसूत्रोक्तविधानतः ॥४॥
 दण्डीचमेखलीसूत्रीकृष्णाजिनधरो मुनिः ।
 भिक्षाचारी ब्रह्मचारी स्वाश्रमे निवसन्मुखम् ॥५॥
 कार्पासमुपवीतार्थं निर्मितं ब्रह्मणापुरा ।
 ब्राह्मणानां त्रिवृत्सूत्रं कौशं वा वस्त्रमेव वा ॥६॥
 सदोपवीता चैव स्यात्सदाबद्धशिखाद्विजः ।
 अन्यथायत्कृतं कर्म तद्भवत्ययथाकृतम् ॥७॥

व्यास देव ने कहा—हे ऋषिगणो ! अब आप सब लोग श्रवण करो
 मैं सनातन कर्मयोग का वर्णन करता हूँ जो ब्राह्मणों को आत्यन्तिक
 फल के प्रदान करने वाला है । यह सम्पूर्ण आम्नाय से सिद्ध है और
 ब्राह्मणों का ही प्रदर्शित किया गया है । श्रवण करने वाले ऋषियों के आगे
 पहिले प्रजापति मनु ने कहा था । यह समस्त पापों के हरण करने वाला
 परम पुण्यमय है और ऋषि समुदायों के द्वारा निषेवित है । कहने वाले
 मुनि से अब आप लोग समाहित बुद्धि वाले होकर इसका श्रवण करिये ।
 हे द्विजोत्तमो ! उपनयन संस्कार से सम्पन्न होकर वेदों का अध्ययन

करना चाहिए । गर्भ से आठवें वर्ष में अथवा जन्म से आठवें वर्ष में अपने सूत्र में कथित विधान के अनुसार ही उपनयन संस्कार सम्पन्न होना चाहिए । दण्डधारी—मेखला पहिनने वाला—सूत्र का धारण कर कृष्ण मृग चर्म को धारण करे । ऐसा मुनि ब्रह्मचारी होकर भिक्षाचरण करे और अपने आश्रम में निवास करता हुआ सुख पूर्वक रहे । पहिले ब्रह्मा ने उपवीत के लिये कपास का निर्माण किया था । ब्राह्मणों का सूत्र तीन आवृत्ति वाला होता है । वह कौश हो अथवा वस्त्र ही होवे । ब्रह्मचारी को सदा उपवीत के धारण करने वाला ही होना चाहिए और सर्वदा उस की शिखा भी बँधी हुई रहनी चाहिए । इसके अभाव में जो भी कुछ कर्म कलाप किया गया है वह सभी अन्यथा कृत अर्थात् निष्फल हो जाया करता है ॥१-७॥

वसेदविकृतं वासः कार्पासं वा कषायकम् ।

तदेव परिधानायं शुक्लमच्छिद्रमुत्तमम् ॥८

उत्तरं तु समाख्यातं वासः कृष्णाजिनं शुभम् ।

अभावे दिव्यमजिनं रौरवं वा विधीयते ॥९

उद्धृत्य दक्षिणं बाहुं सव्ये वाहौ समर्पितम् ।

उपवीतं भवेन्नित्यं निवीतं कण्ठसज्जने ॥१०

सव्यं बाहुं समुद्धृत्य दक्षिणे तु धृतं द्विजाः ।

प्राचीनावीतमित्युक्तं पत्रे कर्मणि योजयेत् ॥११

स्वाध्याये गवांगोष्ठे होमे जप्यं तथैव च ।

स्वाध्याये भोजने नित्यं ब्राह्मणानाञ्च सन्निधौ ॥१२

उपासने गुरुणाञ्च सन्ध्यतोः साधुसंगमे ।

उपवीती भवेन्नित्यं विधिरेष सनातनः ॥१३

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला ।

कुशेन निर्मिता विप्रा ग्रन्थिना केन वा त्रिभिः ॥१४

एक ही वस्त्र चाहे वह कपास का बना हुआ हो अथवा कषायक हो किन्तु वह विकृत नहीं होना चाहिए ऐसा ही धारण करे । वह वस्त्र शुक्ल—छिद्र रहित और उत्तम होना चाहिए । उत्तरीय वस्त्र तो

शुभ काले मृग का चर्म ही बताया गया । इसके अभाव में दिव्य अजिन या रौरव धारण किया जा सकता है । दक्षिण बाहु को ऊपर उठाकर सव्य बाहु में उपवीत को नित्य समर्पित करना चाहिए । कण्ठ सज्जन में विनीत होता है । हे द्विजगण ! सव्य बाहु को समुद्धृत करके दक्षिण बाहु में धृत पाचीनावीत नाम से कहा गया है जिसका योजन पैत्र्य कर्म में ही करना चाहिए । अग्नि के आगार में—गौओं के गोष्ठ में—होम के समय में—जप्य काल में—स्वाध्याय में—भोजन करने के समय में—नित्य बाह्यणों की सन्निधि में—गुरुजन की सेवा में—दोनों सन्ध्याओं की उपासना के समय में—साधु पुरुषों के सङ्गम में उपवीत के धारण करने वाला होना ही चाहिए --यह परम सनातन विधि है । विप्र की मेखला मूँज की त्रिवृत्ति से युक्त और श्लक्ष्ण बनानी चाहिए । हे विप्रो ! कुशा से निर्मित हो और उममें एक ही ग्रन्थि लगी हुई हो अथवा तीन ग्रन्थियों से युक्त होनी चाहिए ॥८-१४॥

धारयेद्बैल्वपालाशौ दण्डौ केशान्तकौ द्विजः ।

यज्ञार्हवृक्षजं वाथ सौम्यमव्रणमेव च ॥१५

सायं प्रातर्द्विजः सन्ध्यामुपासीत समाहितः ।

कामाल्लोभाद्भयान्मोहात्यक्त्वैनां पतितो भवेत् ॥१६

अग्निकार्यं ततः कुर्यात्सायम्प्रातर्यथाविधि ।

स्नात्वा सन्तर्पयेद्दवानृषीन् पितृगणांस्तथा ॥१७

देवताभ्यर्चनं कुर्यात्पुष्पैः पत्रेण चाम्बुना ।

अभिवादनशीलः स्यान्नित्यं वृद्धेषु धर्मतः ॥१८

असावहं भो नामेति सम्यक् प्रणतिपूर्वकम् ।

आयुरारोग्यसन्निध्यं द्रव्यादिपरिवर्जितम् ॥१९

आयुष्मान् भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादाने ।

अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरप्लुतः ॥२०

न कुर्याद्योऽभिवादस्य द्विजः प्रत्यभिवादनम् ।

नाभिवाद्यः स विदुषायथाशूद्रस्तथैव सः ॥२१

द्विज को इतना लम्बा दण्ड करना चाहिए कि केशों के समीप तक पहुंच जावे । यह दण्ड विल्व और पलाश इनमें से किसी भी एक का होना चाहिए । यज्ञ के योग्य किसी भी अन्य वृक्ष का हो किन्तु वह परम सौम्य और व्रणों से रहित होना चाहिए । द्विज को प्रातःकाल और सायंकाल में परम समाहित होकर सन्ध्या की उपासना अवश्य ही करनी चाहिए । स्वेच्छा से—जोभ से—भय से और मोह से इस उपासना का त्याग करके द्विज पतित हो जाया करता है । इसके अनन्तर सायं और प्रातः काल में अग्नि कार्य अर्थात् हवन यथाविधि करना चाहिए । स्नान करके देवों तथा ऋषियों का तर्पण करना चाहिए और पोछे अपने पितृगण का भी तर्पण करे । इसके अनन्तर पत्र—पुष्प और जल के द्वारा देव का अभ्यर्चन करना चाहिए । धर्म के अनुसार नित्य ही अपने वृद्ध जनों के प्रति अभिवादन करने के स्वभाव वाला होना चाहिए । वृद्ध तथा गुरुजन को किस-को भी प्रणाम करे, सर्वप्रथम सम्बोधित करे फिर अमुक नामधारी मैं प्रणाम करता हूं—यह कहते हुए अभिवादन करना चाहिए । आयु—आरोग्य सान्निध्य—द्रव्यादि परिवर्जित प्रगति होनी चाहिए । अभिवादन करने पर विप्र को 'हे सौम्य ! आयुष्मान् होओ—इस प्रकार से आशीर्वाद बोलना चाहिए । इस नाम के अन्त में पूर्वाक्षर प्लुत आकार बोलना चाहिए । जो द्विज अभिवादन करने वाले का प्रत्यभिवादन नहीं किया करता है । ऐसे द्विज को विद्वान् के द्वारा कभी भी अभिवादन नहीं करना चाहिए क्योंकि वह शूद्र के समान हुआ करता है ॥१५-२१॥

विन्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणंगुरोः ।

सव्येन सव्यःस्पृष्टव्यो दक्षिणेननुदक्षिणः ॥२२

लौकिकवैदिकश्चापि तथाध्यात्मिकमेव वा ।

आददीत यतोज्ञानंतं पूर्वमभिवादयेत् ॥२३

नोदकधारयेद्भैक्ष्यं पुष्पाणि समिधं तथा ।

एवंविधानि चान्यानिन देवद्येषु कर्मषु ॥२४

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम् ।

वैश्यं क्षेमं समागत्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥२५

उपाध्यायः पिता ज्येष्ठो भ्राता चैव महीपतिः ।

मातुलः श्वशुरश्चैव मातामहपितामहौ ॥२६

वर्णज्येष्ठः पितृव्यश्च सर्वे ते गुरवः स्मृताः ।

मातामातामहीगुर्वी पितुर्मातृश्वसोदराः ॥२७

श्वश्रूःपितामहीज्येष्ठाभ्रातृजाया गुरुस्त्रियः ।

इत्युक्तो गुरुवर्गोऽयंमातृतःपितृतस्तथा ॥२८

हाथों को चरणों में विन्यास करके ही गुरु का उप संग्रहण करना चाहिए । सव्य कर से सव्य चरण का और दक्षिण कर से दक्षिण चरण का स्पर्श करे । लौकिक तथा वैदिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान जिससे भी ग्रहण करे उस को सर्वप्रथम अभिवादन करना चाहिए । देवादि कर्मों में उदक-भक्ष्य-पुष्प समिधा तथा इस प्रकार के अन्य पदार्थों को धारण नहीं करना चाहिए । ब्राह्मण से कुशल पूछना चाहिए । क्षत्रिय से अनामय पूछे-वैश्य से क्षेम पूछे और शूद्र से समागत होकर आरोग्य पूछना चाहिए । उपाध्याय-पिता—ज्येष्ठ भाई—राजा-मामा श्वशुर—मातामह—पितामह—वर्ण में ज्येष्ठ और पितृव्य ये सभी गुरुजन कहे गये हैं । माता—मातामही भी गुरुवत् सामान्य है । पिता की और माता की सोदरा भगिनी—सास—पितामही—ज्येष्ठ भ्रातृ जाया—गुरुपत्नी ये सभी गुरुस्थानीय ही होते हैं । यह माता और पिता से गुरु वर्ग वर्णित कर दिया गया है ॥२२-२८॥

अनुवर्त्तनमेतेषां मनोवाक्कायकर्मभिः ।

गुरुं दृष्ट्वा समुत्तिष्ठेदभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥२९

नैतैरुपविशेत्साद्धं विवदेतार्थकारणात् ।

जीवितार्थमपि द्वेषाद्गुरुभिर्नैवभाषणम् ॥३०

उदितोऽपि गुणैरन्यैर्गुरुद्वेषी पतत्यधः ।

गुरुणामपि सर्वेषां पूज्या पञ्च विशेषतः ॥३१

तेषामाद्यास्त्रयः श्रेष्ठास्तेषांमातासुपूजिता ।

यो भावयतियासूतेयेन विद्योपदिश्यते ॥३२

ज्येष्ठोभ्राता च भर्त्ता पञ्चते गुरवः स्मृता ।

आत्मनः सर्वयत्नेन प्राणात्यागेनवापुनः ॥३३

पूजनीया विशेषेणा पश्वर्ते भूतिमिच्छता ।

यावत्पिता च माता च द्वावेतौ निर्विकारिणौ ॥३४

तावत्सर्वं परित्यज्यपुत्रःस्यात्तत्परायणः ।

मातापिताचमुप्रीतौ स्यातां पुत्रगुणैर्यदि ॥३५

इस उपर्युक्त गुरुवर्ग का सर्वदा अनुवर्त्तन मन-वाणी और शरीर से करना चाहिए । गुरु को देख कर खड़ा हो जाना चाहिए और कृतान्जलि होकर उनको अभिवादन करना चाहिये । इनके साथ बराबर में कभी नहीं बैठना चाहिए और अर्थ के कारण से कभी इनके साथ विवाद भी नहीं करे । जीवित के लिए भी द्वेष से गुरुओं के साथ कभी भाषण नहीं करना चाहिए । अन्य गुणों से समुदित होता हुआ भी जो गुरु का द्वेषी होता है वह अधःपतन का अधिकारी हो जाया करता है । इन गुरु वर्गों के मध्य में भी पाँच विशेष रूप से पूजा के योग्य हुआ करते हैं । उनमें भी आदि के तीन परम श्रेष्ठ होते हैं । उनमें भी माता परम सुपूजित कही गयी है । जो जन्म देती है जो पालन करती है और जिसके द्वारा विद्या का उपदेश किया जाता है । ज्येष्ठ भाई और भर्त्ता ये पाँच गुरु कहे जाते हैं । अपनी आत्म के सभी प्रयत्नों से अथवा प्राणों के भी त्याग द्वारा ये पाँच विशेष रूप से भूति की इच्छा रखने वाले के द्वारा पूजा के योग्य होते हैं । जितने माता और पिता हूँ ये दोनो ही निर्विकारी होते हैं तब तक सब का परित्याग करके पुत्र को अपने माता-पिता की सेवा में सर्वदा परायण रहना चाहिए । यदि माता-पिता पुत्र के गुण गणों से परम प्रसन्न होते हैं तो उस पुत्र का पूर्ण धर्म सम्पन्न हो जाता है ॥२६-३५॥

स पुत्रः सकलं धर्माप्नुयात्तेन कर्मणा ।

नास्ति मातृसमो देवो नास्ति तातसमो गुरुः ॥३६

तयोः प्रत्युपकारो हि न कथञ्चन विद्यते ।

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यात्कर्मणामनसा गिरा ॥३७

न ताभ्यामननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ।

वर्जयित्वा मुक्तिफलं नित्यं नैमित्तिकं तथा ॥३८

धर्मः सारः समुद्दिदष्टः प्रेत्यानन्तफलप्रदः ।

सम्यगाराध्यवक्तारं विसृष्टस्तदनुज्ञया ॥३६

शिष्यो विद्याफलं भुङ्क्ते प्रेत्य या पूज्यते दिवि ।

यो भ्रातरं पितृसमं ज्येष्ठं मूर्खोऽवमन्यते ॥४०

तेन दोषेण स प्रेत्य निरयङ्घोरमृच्छति ।

पुंसां वर्त्मनि तिष्ठेत पूज्यो भर्त्ता च सर्वदा ॥४१

अपि मातरि लोकेऽस्मिन्नुपकाराद्धि गौरवम् ।

ये नरा भर्त्तापिण्डार्थं स्वान्प्राणान् सन्त्यजन्ति हि ॥४२

अपने माता-पिता को पूर्ण सन्तुष्ट रखने वाला पुत्र अपने इस कर्म से सम्पूर्ण धर्म की प्राप्ति कर लेता है। माता के समान इस संसार में अन्य कोई भी देवता नहीं है और पिता के तुल्य अन्य कोई गुरु भी नहीं है। उनका कोई भी प्रत्युपकार होता ही नहीं है। अतएव उनका नित्य ही मन, वाणी और कर्म के द्वारा सर्वदा प्रिय ही करना चाहिए। उनके द्वारा आज्ञा न पाये जाने पर अन्य धर्म का आचरण कभी नहीं करना चाहिए। चाहे वह कर्म नित्य हो या नैमित्तिक हो। केवल मुक्ति फल का इसमें वर्जन होता है अर्थात् मुक्ति फल बिना आज्ञा के प्राप्त करने में संलग्न हो जावे। धर्म को ही सबका सार कहा गया है जो मरने के पश्चात् आनन्द का प्रदान करने वाला है। वक्ता का भली भाँति समाराधना करके उस की अनुज्ञा से विसृष्ट हुआ शिष्य विद्या का फल भोगता है और मृत्यु के पश्चात् वह दिव लोक में पूजा जाया करता है। जो पिता के समान बड़े भाई का अपमान किया करता है वह महान् मूर्ख है। इसी दोष से वह मरने के पीछे परम घोर नरक में जाया करता है पुरुषों के मार्ग में पूज्य भर्त्ता सर्वदा स्थित रहा करता है। इस माता के लोक में उपकार से ही गौरव होता है, जो मनुष्य भर्त्तापिण्ड के लिये अपने प्राणों का त्याग कर देते हैं। उन लोगों के लिये भगवान् मनु ने अक्षय लोकों को कहा है ॥३६-४२॥

तेषामथाऽक्षयान्लोकान् प्रोवाच भगवान्मनुः ।

मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरुन् ॥४३

असावहमिति ब्रह्मयुः प्रत्युत्थाय यवीयसः ।
 अवाच्यो दीक्षितो नाम्नाय वीयावपियो भवेत् ॥४४
 भो भवत्पूर्वकत्वेन अभिभाषेत धर्मवित् ।
 अभिवाद्यश्च पूज्यश्च शिरसा वन्द्य एव च ॥४५
 ब्राह्मणः क्षत्रियाद्यैश्च श्रीकामैः सादरं सदा ।
 नाभिवाद्यास्तु विप्रेण क्षत्रियाद्याः कथञ्चन ॥४६
 ज्ञानकर्मगुणोपेता ये यजन्ति बहुश्रुताः ।
 ब्राह्मणः सर्ववर्णानां स्वस्तिकुर्यादिति श्रुतिः ॥४७
 सवर्णेषु सवर्णानां काम्यमेवाभिवादनम् ।
 गुरुरग्निद्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः ॥४८
 पतिरेव गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः ।
 विद्या कर्म तपो बन्धुवित्तं भवति पञ्चमम् ॥४९
 मान्यस्थानानि पञ्चाहुः पूर्वपूर्वगुरुत्तरात् ।
 एतानि त्रिषु वर्णेषु भूयांसि बलवन्ति च ॥५०

मामा—चाचा—श्वशुर—ऋषि और गुरु वर्ग से 'यह मैं हूँ'—ऐसा ही बोलना चाहिए चाहे ये युवा ही हों । जो दीक्षित हो वह यवीयान् भी क्यों न हो उसे नाम लेकर कभी नहीं बोलना चाहिए । भोमवान् अर्थात् आप शब्द के साथ ही धर्म के वेत्ता को अभिभाषण करना चाहिए यह अभिवादन करने के योग्य—अर्चन करने के योग्य और शिर से वन्दना करने योग्य ही है । जो श्री की कामना रखने वाले क्षत्रिय आदि हैं उनको सदा आदर के सहित ब्राह्मण को अभिवादन करना चाहिए और ब्राह्मण के द्वारा क्षत्रियादिक को किसी भी तरह से पहिले अभिवादन नहीं करना चाहिए । ज्ञान कर्म और गुणों से उपेत बहुश्रुत जो भोजन किया करते हैं ब्राह्मण सभी वर्णों का स्वस्तिक करे—ऐसा श्रुति का वचन है । सब वर्णों में सवर्णों का जो अभिवादन होता है वह काम्य (कामना) से युक्त ही हुआ करता है । द्विजातियों का गुरु अग्नि है और सब वर्णों का गुरु ब्राह्मण होता है । स्त्रियों का गुरु एक उसका पति ही होता है । अभ्यागत जो होता है वह सब का गुरु होता है । विद्या, कर्म, तप, बन्धु और

वित्त पांचवाँ होता है। ये पाँच ही मान्य स्थान हुआ करते हैं और इनमें जो पूर्व (पहिला) है वह उत्तर (पिछले) से गुरु होता है। ये तीनों वर्णों में अधिक होने पर बल वाले हुआ करते हैं ॥४३-५०॥

यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमी गतः ।

पन्था देयो ब्राह्मणाय स्त्रियै राज्ञे ह्यक्षुषे ॥५१

वृद्धाय भारभुग्नाय रोगिणो दुर्बलाय च ।

भिक्षामाहृत्य शिष्टानां गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥५२

निवेद्य गुरुवेऽस्नीयाद्वाग्यतस्तदनुज्ञया ।

भवत्पूर्वञ्चरेद्भूक्ष्यमुपनीतो द्विजोत्तमः ॥५३

भवन्मध्यन्तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ।

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम् ॥५४

भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं न विमानयेत् ।

स्वजातीयगृहेष्वेव सार्ववर्णिकमेव वा ॥५५

भैक्ष्यस्य चरणं युक्तं पतितादिषु वर्जितम् ।

वेदयज्ञैरहीनानां प्रपन्नानां स्वकर्मसु ॥५६

जहाँ पर ये उक्त वस्तु हैं वही यहाँ लोक में मान्य होता है। दशमी को गत शूद्र भी मान्य होता है। ब्राह्मण, सती, राजा और चक्षुर्हीन को स्वयं रुक कर मार्ग दे देना चाहिए। जो वृद्ध हैं, भार से पीड़ित हो, रोगी हो और दुर्बल हो उनको भी मार्ग पहिले दे देना चाहिए। शिष्टों के यहाँ से नित्य भिक्षा ग्रहण करके प्रपन्न रहे। जो भिक्षा लावे उसे ब्रह्मचारी को सर्व प्रथम अपने गुरुदेव की सेवा में समर्पित करना चाहिए। गुरु की आज्ञा प्राप्त करके ही उसका पीछे अशन करे तथा मौन होकर ही अशन करना चाहिये। जो द्विज उपनीत हो गया है उसे भवद् शब्द का प्रयोग करके ही भिक्षा करनी चाहिए अर्थात् 'भोमवति'—ऐसा भवस शब्द का पहिले प्रयोग कर 'भिक्षां देहि' इसे बोलना चाहिये। जो क्षत्रिय है उसे 'भवत्'—इस शब्द का प्रयोग मध्य में करना चाहिए यथा—'भिक्षा भो भवति देहि' यही कहना चाहिए। वैश्य को सब से अन्त में 'भवत्' कहना चाहिए। माता, स्वसा और माता की भगिनी से प्रथम भिक्षा ग्रहण करे

और इन सब का भी कर्त्तव्य है कि ब्रह्मचारी का अवमान न करें । स्वजाति के गृहों में अथवा सवर्णों के गृहों में ही भिक्षा करे । इनमें ही भिक्षा का समाचरण युक्त होता है । जो पतित आदि हों उनका त्याग कर देवे । जो वेद और यज्ञों से हीन हों तथा अपने ही कर्मों में प्रपन्न रहने वाले हों उनको भी वर्जित कर देवे ॥५१-५६॥

ब्रह्मचारी हरेद्भक्ष्यं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ।

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञाति कुलबन्धुषु ॥५७

अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ।

सर्वं वा विचरेद्ग्रामं पूर्वोक्तानामसम्भवे ॥५८

नियम्य प्रयतो वाचं दिशस्त्वनवलोकयन् ।

समाहृत्य तु तद्भक्ष्यं पचेदन्नममायया ॥५९

भुञ्जीत प्रयतो नित्यं वाग्यतोऽनन्यमानसः ।

भक्ष्येण वर्त्तयेन्नित्यमेकान्नादीभवेद् व्रती ॥६०

भक्ष्येण वृत्तिनो वृत्तिरूपवाससमास्मृता ।

पूजयेदनसं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् ॥६१

ब्रह्मचारी को प्रतिदिन प्रयत होकर ही भिक्षा का आहरण करना चाहिए । गुरु के कुल में और ज्ञाति कुल के बन्धुओं में भिक्षा नहीं करे । लाभ न होने पर अन्य गृहों के पूर्व-पूर्व को वर्जित कर देवे । पूर्व में कहे हुए यदि सम्भव न हों तो समस्त ग्राम में विचरण करना चाहिए । प्रयत होकर वाणी का नियम न करे और दिशाओं को न देखते हुए ही उस भिक्षा को लाकर अमाया से अन्न का पाचन करना चाहिये । अनन्य मन होकर प्रयत रहते हुए ही मौन व्रत से नित्य भोजन करे । नित्य ही भिक्षा कर के निर्वाह करे । एक ही अन्न को खाने वाला व्रती को होना चाहिए । भिक्षा से अपनी वृत्ति का चलना भी उपवास के ही समान बताया गया है । नित्य ही अन्न का पूजन करे और उसकी बुराई न करते हुए ही उसका अशन करना चाहिए ॥५७-६१॥

दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च ततो भुञ्जीतं वाग्यतः ।

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यञ्चातिभोजनम् ॥६२

अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ।

प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत सूर्याभिमुख एव वा ॥६३

नाद्यादुदङ्मुखो नित्यं विधिरेष सनातनः ।

प्रक्षाल्य पाणिपादौ च भुञ्जानो द्विरुपस्पृशेत् ॥६४

शुचौ देशे समासीनो भुक्त्वा च द्विरुपस्पृशेत् ॥६५

पहिले जो भोज्य पदार्थ सामने हो उसे देख कर हर्षित होना चाहिए और प्रसन्न होना चाहिए । इसके पश्चात् मौन रह कर ही उसका भोजन करे । जो भोजन आरोग्य न देने वाला, आयु न बढ़ाने वाला, स्वर्गीय सुख न देने वाला हो तथा अत्यधिक भोजन हो, अपुण्य, लोक के द्वारा विद्विष्ट हो उसका परिवर्जन कर देना चाहिए । पूर्व की ओर मुख करके अथवा सूर्य के सम्मुख होकर ही अन्नो का भोजन करे । उत्तर की ओर मुख करके कभी भी भोजन नहीं करे—यह ऐसा एक सनातन विधान है । हाथ और पैर को धोकर भोजन करने वाले को दो बार उप स्पर्शन करना चाहिए । किसी परम शुचि स्थल में समासीन होकर ही भोजन करके पुनः दो बार आचमन करे ॥६२-६५॥

भुक्त्वा पीत्वा च सुप्त्वा च स्नात्वा रथोपसर्पणे ।

ओष्ठौ विलोमकौ स्पृष्ट्वा वासो विपरिधाय च ॥६६

रेतोमूत्रपुरीषाणामुत्सर्गं युक्तभाषणे ।

ष्ठीवित्वाध्ययनारम्भे कासश्वासागमे तथा ॥६७

चत्वरं वा श्मशानं वा समागम्य द्विजोत्तमः ।

सन्ध्ययोरुभयोस्तद्वदाचान्तोऽप्याचमेत्पुनः ॥६८

चाण्डालम्लेच्छसंभाषे स्त्रीशूद्रोच्छिष्टभाषणे ।

उच्छिष्टं पुरुषं स्पृष्ट्वा भोज्यञ्चापि तथाविधम् ॥६९

आचामेदश्रुपातेवा लोहितस्य तथैव च ।

भोजने सन्ध्ययोः स्नात्वा त्यागे मूत्रपुरीषयोः ॥७०

आचान्तोऽप्याचमेत्सुप्त्वा सकृत्सकृदथाव्ययः ।

अग्नेर्गवामथालम्भे स्पृष्ट्वा प्रयतमेव च ॥७१

स्त्रीणामथात्मनः स्पृशेनीवीवापरिधाय च ।

उपस्पृशेज्जलञ्चान्तस्तृणंवाभूमिमेव च ॥७२

महर्षि व्यास देव ने कहा—भोजन करके, पान करके, सोकर, स्नान करके, गलो में उपस्पर्ण करके, विलोभक ओष्ठों का स्पर्श करके, वस्त्र पहिन करके, रेत(वीर्य), मूत्र और मल का त्याग करके, अयुक्त भाषण करने में, थूक कर, अध्ययन के आरम्भ में, कास और श्वास के आगम में, चत्वर या श्मशान में समागम करके द्विजोत्तम को दोनों सन्ध्याओं से उसी भाँति आचान्त होकर भी पुनः आचमन करना चाहिए । चाण्डाल और म्लेच्छ के साथ सम्भाषण करने पर—स्त्री और शूद्र के भाषण में उच्छिष्ट-उच्छिष्ट पुरुष का स्पर्श करके तथा उस प्रकार का भोज्य का भी स्पर्श करके आचमन करना चाहिए । अश्रुपात में तथा लोहितके पात में—भोजन में—दोनों सन्ध्याओंमें—स्नान करके—मूत्र और मल का त्याग करनेमें आचान्त होकर भी आचमन करना चाहिए । सुप्तोत्थित होकर एक बार आचमन करे । अग्नि के और गौओं के आलम्भ में स्पर्श करके प्रपत होते हुए आचमन करे । स्त्रियों का अपने से स्पर्श होने पर नीवी का परिधान करके जल के मध्य में जाकर उपस्पर्शन करे अथवा तृण और भूमिका स्पर्श करे ॥६६-७२॥

केशानाञ्चात्मनः स्पर्शं वाससोऽक्षालितस्य च ।

अनुष्णाभिरफेनाभिर्विशुद्धाद्भिश्च वाग्यतः ॥७३

शौचेप्सुः सर्वदाऽऽचामेदासीनः प्रागुदङ्मुखः ।

शिरः प्रावृत्य कण्ठं वा मुक्तकच्छशिखोऽपि वा ॥७४

अकृत्वा पादयोः शौचमाचान्तोऽप्यशुचिर्भवेत् ।

सोपानत्की जलस्थो वा नोष्णीषी चाऽऽचमेद्बुधः ॥७५

न चैव वर्षधाराभिर्हस्तोच्छिष्टे तथा बुधः ।

नैकहस्तापितजलैर्विना सूत्रेण वा पुनः ॥७६

नपादुकासनस्थोवाबपिर्जानुकरोऽपि वा ।

विट्शूद्रादिकरामुक्तैर्नचोच्छिष्टैस्तथैव च ॥७७

नचंवाङ्गुलिभिः शस्तं प्रकुर्वन्नन्यमानसः ।

नवर्णरसदुष्टाभिर्नचैवाप्रचुरोदकैः ॥७८

नपाणिक्षुभिताभिर्वानबहिष्कक्षएववा ।

हृद्गाभिःपूयतेविप्रःकण्ठचाभिःक्षत्रियःशुचिः ॥७६

प्राशिता भस्तथा वैश्यः स्त्रीशूद्रौ स्पशतोऽम्भसः ।

अङ्गुष्ठमूलरेखायां तीर्थं ब्राह्मचमिहोच्यते ॥८०

अपने ही केशों का स्पर्श तथा बिना धुले हुए वस्त्र का स्पर्श करके अनुष्या (शीतल) फेन से रहित और विशुद्ध जल से मौन होकर शौच की इच्छा रखने वाले को पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके बैठकर आचमन सर्वदा करना चाहिए । शिर को ढक कर अथवा कण्ठ को प्रावृत करके—कच्छ और शिखा को खोल कर तथा पैरों का शौच न करके आचान्त भी पुरुष अशुचि होता है । जूते पहिने हुए—जल में स्थित होकर उष्णीष (शिरोवेष्टन) को धारण करके बुध पुरुष को कभी आचमन नहीं करना चाहिए । बुध पुरुष को वर्षा की धाराओं से आचमन नहीं करना चाहिए तथा हाथ के उच्छिष्ट होने पर—एक ही हाथ में अर्पित जल से—सूत्र के न होने से—पादुका तथा आसन पर स्थित होकर—जातुओं के बाहिर हाथों को रखते हुए—विट् और शूद्र आदि के करों द्वारा छोड़े हुए तथा उच्छिष्ट जल से—अङ्गुलियों से शस्तन रहते हुए तथा अन्य मानस होकर कभी आचमन नहीं करना चाहिए । जो वर्ण और रस से दूषित जल हो या बहुत ही थोड़ा जल हो तथा जो पाणि से क्षुभित हो उससे बहिष्कक्ष न होकर ही आचमन करे । विप्रहृदय तक जल में पवित्र होता है और कण्ठ तक रहने वाले जल से क्षत्रिय शुचि होता है । वैश्य तो प्राशित जल से हो शुद्ध हो जाया करता है । स्त्री और शूद्र जल के स्पर्श मात्र से ही शुद्धि को प्राप्त कर लेते हैं । अङ्गुष्ठ के मूल की रेखा में ब्राह्म तीर्थ कहा जाता है ॥७३-८०॥

प्रदेशिन्याश्च यन्मूलं पितृतीर्थमनुत्तमम् ।

कनिष्ठामूलतः पश्चात्प्राजापत्यं प्रचक्षते ॥८१

अङ्गुल्यग्रे स्मृतं दैवं तद्देवार्थप्रकीर्तितम् ।

मूलेवादैवमादिष्टमाग्नेयमध्यतःस्मृतम् ॥८२

तदेव सौमिक तीर्थमेवंज्ञात्वा नमुह्यति ।

ब्राह्मेणैव तुतीर्थेन द्विजो नित्यमुपस्पृशेत् ॥८३

कायेन वाथ दैवेन चाथाचान्ते शुचिभवेत् ।

त्रिराचामेदप पूर्वं ब्राह्मणः प्रयतस्ततः ॥८४

संवृताङ्गुष्ठमूलेन मुखं वै समुपस्पृशेत् ।

अङ्गुष्ठानामिकाभ्यान्तु स्पृशेन्नेत्रद्वयं ततः ॥८५

तर्ज्जन्यङ्गुष्ठयोगेन स्पृमेन्नासानुद्वयम् ।

कनिष्ठाङ्गुष्ठयोगेन श्रवणे समुपस्पृशेत् ॥८६

प्रदेशिनी अङ्गुलि का जो मूल होता है उसे आम पितृ तीर्थ कहा गया है । कनिष्ठा के मूल से पीछे प्राजापत्य कहा जाता है । अङ्गुलि के अग्र-भाग में दैव तीर्थ होता है उसको देव के लिये कीर्तित किया गया है । अथवा मूल में देव आदिष्ट है और मध्य में आग्नेय कहा गया है । वह ही सौमिक तीर्थ है इस प्रकार से ज्ञान प्राप्त करके कभी भी मोह को प्राप्त नहीं होता है । ब्राह्मण को ब्रह्म तीर्थ से ही नित्य उपस्पर्शन करना चाहिए । कार्य अथवा दैव से भी उसी भाँति आचान्त होने पर शुचि होता है । ब्राह्मण को प्रपत होकर तीन बार आचमन करना चाहिए । संवृत अङ्गुष्ठ के मूल से मुख का समुपर्शन करना चाहिए । अङ्गुष्ठ और अनामिका से दोनों नेत्रों का स्पर्श करना चाहिए । तर्जनी और अङ्गुष्ठ के योग से दोनों नासिका के पुरों का स्पर्श करना चाहिए । कनिष्ठिका और अङ्गुष्ठ के योग से दोनों कानों का स्पर्श करे ॥८१-८६॥

सर्वाङ्गुलीभिर्बाहू च हृदयन्तु तलेन वा ।

नाभिः शिरश्च सर्वाभिरङ्गुष्ठेनाथवा द्वयम् ॥८७

त्रिः प्राश्नोयात्तादम्भस्तुसुप्रीतास्तेनदेवताः ।

ब्रह्मा विष्णुमहेशश्चभवंतीत्यनुशुश्रुम् ॥८८

गंगा च यमुना चैव प्रीयेतेपरिमार्ज्जनात् ।

संस्पृष्टयोर्लोचनयोः प्रीयेते शशिभास्करो ॥८९

नासत्यदक्षौ प्रीयेते स्पृष्टेनासापुटद्वये ।

श्रोत्रयोः स्पृष्टयोस्तद्बत्प्रीयेतेचानिलानली ॥९०

संसृष्टे हृदये वास्य प्रीयन्ते सर्वदेवताः ।

मूर्ध्नि संस्पर्शनादेव प्रीतस्तु पुरुषो भवेत् ॥६१

नोच्छिष्टं कुर्वते नित्यं विप्रुषोऽङ्गनयन्तियाः ।

दन्तान्तर्दन्तलग्नेषु जिह्वोष्ठरशुचिर्मवेत् ॥६२

स्पृशन्ति विन्दवः पादौ य आचामयतः परान् ।

भूमिकास्ते समाज्ञेया न तैरप्रयतो भवेत् ॥६३

अपनी समस्त अंगुलियों से दोनों बाहुओं और तल भाग में हृदय का स्पर्श करे । नाभि और शिर का स्पर्श सभी अंगुलियों से और अंगुष्ठ से या दोनों से स्पर्श करना चाहिए । उस जल को तीन बार प्राशन करे । इससे समस्त देवता परम प्रसन्न होते हैं । ब्रह्मा-विष्णु और महेश भी प्रसन्न होते हैं—ऐसा ही सुनते हैं । परिमार्जन करने से गङ्गा और यमुना प्रसन्न हुआ करती हैं लोचनों के संस्पर्श करने से सूर्य और चन्द्र देव प्रसन्न होते हैं । दोनों नासापुटों के स्पर्श करने से नासत्य और हस्त प्रसन्न हुआ करते हैं । दोनों श्रोत्रों के स्पर्श किये जाने पर अनिल और अनल देवता परम प्रसन्न हुआ करते हैं । हृदय के स्पर्श करने पर सभी देवगण प्रसन्न होते हैं । मस्तक पर स्पर्श करने से परम-पुरुष प्रसन्न हुआ करते हैं । जो छोटे-छोटे जलके कण अङ्ग पर लग जाते हैं वे नित्य ही उच्छिष्ट नहीं किया करते हैं । दाँतों के अन्दर और दाँतों में लगे हुआँ में जिह्वा और ओष्ठों से अशुचि हो जाता है दूसरों के आचमन करते हुए जो बिन्दु पादों का स्पर्श करते हैं उनको भूमिक ही मानना चाहिए । उनसे कभी भी अप्रयत नहीं होना चाहिए ॥६७-६३॥

मधुपर्के च सोमे च ताम्बूलस्य च भक्षणो ।

फले मूलेक्षुदण्डे च न दोषम्प्राह्वं मनुः ॥६४

प्रचुरान्नोदपानेषु यद्यच्छिष्टो भवेद्विजः ।

भूमौ निक्षिप्य तद्द्रव्यमाचम्याभ्युक्षिपेत्ततः ॥६५

तैजसं वा समादाय यद्यच्छिष्टो भवेद् द्विजः ।

भूमौ निक्षिप्य तद्द्रव्यमाचम्याह्नियते तु ततः ॥६६

यद्यमन्त्रं समादाय भवेदुच्छेषणान्वितः ।

अनिधायैव तद्द्रव्यमाचान्तःशुचितामियात् ॥६७

वस्त्रादिषु विकल्पः स्यान्नस्पृष्टाचैवमेव हि ।

अरण्येऽनुदके रात्रौ चौरव्याघ्राकुले पथि ॥६८

कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा द्रव्यहस्तो न दुष्यति ।

निधाय दक्षिणे कर्णे ब्रह्मसूत्रमुदङ्मुखः ॥६९

अह्निकुर्याच्छकृन्मूत्रं हात्रौ चेद्दक्षिणामुखः ।

अन्तर्द्वयमहीकाष्ठैः पत्रैर्लोष्ठैस्तुर्येण वा ॥१००

मधुपर्क में—सोम में और ताम्बूल के भक्षण करने में—फल में—मूल ईत्व के दण्ड में मनु ने कोई भी दोष नहीं कहा है । प्रचुर अन्न और उदक के पान में जो-जो द्विज शिष्ट हो उस द्रव्य को भूमि में निक्षिप्त कर के फिर आचमन करके अभ्युक्षेपण कर देना चाहिए । तेजस को ग्रहण करके यदि द्विज उच्छष्ट होता है तो भूमि में उस द्रव्य को डाल कर आचमन करके फिर उसका आहरण किया जाता है । यदि यमन्त्र का ग्रहण कर उच्छेषण से संयुत होवे तो इस द्रव्य को न रखकर ही आचान्त होने पर शुचिता को प्राप्त कर लेता है । वस्त्र आदि में विकल्प होता है इस प्रकार से स्पर्श न करके ही होता है । अरण्य में—विना जल वाले स्थल में—रात्रि में—चौर तथा व्याघ्र से समाकुलित मार्ग में मूत्र तथा मल को करके भी हाथ में द्रव्य रखने वाला दूषित नहीं होता है । दक्षिण कर्ण में ब्रह्म सूत्र को रखकर उत्तर की ओर मुख करके दिन में शकृत और मूत्र का त्याग करे और रात्रि में दक्षिणाभिमुख होकर त्याग करना चाहिए । उस भूमि को काष्ठ-पत्र-ओष्ठ और तृणों से ढक देवे ॥६४-१००॥

प्रावृत्य च शिरः कुर्याद्विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ।

छायाकूपनदीगोष्ठचैत्यान्तःपथि भस्मसु ॥१०१

अग्नी वेश्मश्मशाने च विण्मूत्रे न समाचरेत् ।

न गोपथे न कृष्टे वा महावृक्षे न शाड्वले ॥१०२

न तिष्ठन्वा न निर्वासा न च पर्वतमस्तके ।

न जीर्णदेवायतने न वाल्मीके कदाचन ॥१०३

न ससत्त्वेषु गर्तेषु नागच्छन्वा समाचरेत् ।
 तुषागारकपालेषु राजमार्गे तथैव च ॥१०४
 न शेत्रे विमले चापि न तीर्थे न चतुष्पथे ।
 नोद्याने च समीपे वानोषरे न पराशुचौ ॥१०५
 न सोपानत्पादुको वा गन्ता यानान्तरिक्षगः ।
 न चैवाभिमुखं स्त्रीणां गुरुब्राह्मणयोर्न च ॥१०६

शिर को प्रावृत करके ही विट्—मूत्र का विसर्जन करना चाहिए ।
 छाया—कूप—नदी—गोष्ठ—चैत्य के अन्दर—मार्ग—भस्म—अग्नि—
 वेश्म—श्मशान में कभी भी मल—मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए ।
 गोषक में—जुती हुई भूमि में—महा वृक्ष के नीचे—शाद्वल में खड़े होकर
 या बिना वस्त्र वाला होकर और पर्वत की चोटी पर—जीर्ण देवता के
 आयतन में—वल्मीक में—जीवों से युक्त गर्तों में—चलते हुए कभी भी
 मल—मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए । तुषाङ्गार—कपालों में तथा
 राज मार्गों में—विमल क्षेत्र में—तीर्थ में—चौराहे पर—उद्यान में—उषर
 भूमि में तथा परम अशुचि स्थल में भी मल—मूत्र का त्याग नहीं करना
 चाहिए । उपानहों को पहिने हुए तथा पादुका पहिने हुए—गमन करने
 बालान्धान में अन्तरिक्ष गामी होकर—स्त्रियों के सामने और गुरु ब्राह्मणों
 के समक्ष में भी मल—मूत्र का उत्सर्ग नहीं करे १०१-१०६॥

न देवदेवालययोर्नद्यामपिकदाचन ।

ज्योतीषिवीक्षित्वा न वार्यभिमुखीऽथवा ॥१०७

प्रत्यादित्यं प्रत्यनलं प्रतिसोमं तथैव च ।

आहृत्य प्रमृत्तिकां कूलाल्लेपगन्धापकर्षणात् ॥१०८

कुर्यादतन्द्रितः शौचं विशुद्धं रुद्धृतोदकैः ।

नाहरेन्मृत्तिकां विप्रः पाशुलान्नचर्द्दमात् ।

न मार्गान्नोषराद्देशाच्छौचोच्छ्रितात्तथैव च ॥१०९

न देवायतनात्कूपाद्ग्रामादन्तर्जालात्तथा ।

उपस्पृशेत्ततो नित्यं पूर्वोक्तेन विधानतः ॥११०

देवों के देवालयों में और नदियों में भी त्याग न करे । नदी और ज्योतियों को देख कर अथवा जल के सामने होकर—आदित्य—अग्नि और सोम की ओर मुख करके भी त्याग नहीं करना चाहिए । कल से मृत्तिका को लेकर जो लिप्त मल होता है उस का अपकर्षण करके अतन्द्रित होते हुए विशुद्ध जल से शौच करना चाहिए विप्र को पांशुल से और कर्दम से मृत्तिका का ग्रहण नहीं करना चाहिए । मार्ग से और ऊपर स्थल से तथा शौच से उच्छिष्ट स्थान से देवता के आयतन से—कूप से—ग्राम से और जल के अन्दर से भी कभी मृत्तिका का ग्रहण नहीं करना चाहिए । इसके पश्चात् नित्य ही पूर्व में कहे हुए विधान से उपस्पर्शन करना चाहिए ॥१०७-११०॥

एवं दण्डोदिभिर्युक्तः शौचचारसमन्वितः ।

आहूतोऽध्ययनं कुर्याद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥१११

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्सन्ध्याचार समन्वितः ।

आस्यतामिति चोक्तः सन्नाऽऽसीताभिमुखं गुरोः ॥११२

प्रतिश्रवणसम्भाषेशयानोनसमाचरेत् ।

आसीनो न च तिष्ठन्वाउत्तिष्ठन्वापराङ्मुखः ॥११३

न च शय्यासनञ्चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ।

गुरोश्च त्रक्षुर्विषये न यथेष्टासनाभवेत् ॥११४

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।

न चैवास्यानुकुर्वीत् गतिभाषितचेष्टितम् ॥११५

गुरोर्यत्र प्रतीवादो निन्दाचापिप्रवर्तते ।

कर्णौतत्रपिधातव्यौगन्तव्यंवाततोऽन्यतः ॥११६

दूरस्थो नाच्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिकं स्त्रिया ।

न चैवाऽस्योत्तरं ब्रूयात्स्थिते नासीत्सन्निधौ ॥११७

श्री व्यासदेव ने कहा—इस प्रकार से दण्ड मेखला आदि समान से युक्त ब्रह्मचारी को होना चाहिए और उसे शौच के आचार से समन्वित होकर उसे रहना चाहिए । जब उसे गुरुदेव आहूत करें तो गुरु के समीप में उपस्थित होकर ही अध्ययन करना चाहिए तथा अध्ययन करने

के समय में गुरु के मुख की ओर देखते रहना चाहिए । नित्य ही उद्धृत पाणि वाला होवे और सदाचार से समन्वित ब्रह्मचारी को रहना चाहिए जब ब्रह्मचारी से कहा जावे 'बैठ जाओ'—तभी गुरु के समक्ष में उसे बैठना चाहिए । शयन करते हुए प्रतिश्रवण के सम्भाष में समाचरण न करे । बैठे हुए—खड़े होकर—उठते हुए और पराङ्मुख होकर तथा शय्या और आसन पर स्थित होकर गुरु को सन्निधि में सर्वदा नहीं रहना चाहिए । गुरु के चक्षु के विषय में यथेष्ट रूप से आसन पर स्थिति करने वाला भी कभी नहीं रहना चाहिये । परोक्ष में भी गुरुदेव के नाम का उच्चारण केवल नहीं करना चाहिए । गुरु की गति—भाषित और चेष्टित का अनुकरण भी कभी नहीं करना चाहिए । गुरुदेव का जहाँ पर कोई भी प्रतिवाद अथवा निन्दा हो रही हो वहाँ पर उसे न सुनने के लिये दोनों कानों को बन्द कर लेना ही उचित है अथवा तुरन्त ही उस स्थान का त्याग करके अन्य किसी स्थान में चले जाना चाहिए । दूर में स्थित हो कर गुरु का अर्चन न करे तथा क्रुद्ध होकर अथवा स्त्री के समीह में रह कर भी गुरु की पूजा नहीं करनी चाहिए । गुरु के स्थित होने पर उसकी सन्निधि में कभी बैठना नहीं चाहिए । और गुरु के उत्तर को कभी नहीं बोलना चाहिए ॥१११-११७॥

उदकुम्भं कुशान्पुष्पं समिधोऽस्यातरेत्सदा ।

मार्जनं लेपनं नित्यमंगानां वा समाचरेत् ॥११८

नास्य निर्माल्यशयनं पादुकोपानहावपि ।

आक्रमेदासनंछायामासन्दी वा कदाचन ॥११९

साधयेद्दन्तकाष्ठादीन् कृत्यञ्चास्मं निवेदयेत् ।

अनापृच्छ्य न गन्तव्यं भवेत्प्रियहिते रतः ॥१२०

न पादौ सारयेदस्य सन्निधाने कदाचन ।

जम्भाहास्यादिकञ्चैव कण्ठप्रावरणं तथा ॥१२१

वर्जयेत्सन्निधौ नित्यमथास्फोटतमंवचः ।

यथाकालमधीयीत यावन्न विमना गुरुः ॥१२२

आसीताथ गुरोरुक्ते फलके वा समाहितः ।

आसने शयने याने नैकस्तिष्ठेत्कदाचन ॥१२३

धावन्तमनुधावत्तं गच्छन्तश्चानुगच्छति ।

गोऽश्वोऽष्ट्रयानप्रासादप्रस्तरेषु कटेषु च ॥१२४

जल का कलश—कुशाएँ—पुष्प और समिधाएँ गुरु के लिये सर्वदा आहरण करना चाहिए । मार्जन—लेपन—अङ्गों का नित्य ही करे । गुरु के निर्मात्य पर शयन नहीं करे और इनको तथा उपानहों को भी धारण नहीं करना चाहिए । आसन और छाया का आक्रमण न करे और किसी भी समय में आसन्दी नहीं होना चाहिए । दन्तकाष्ठ (दाँतुन) आदि का साधन करे और जो भी कृत्य हो उसे इनको निवेदन कर देना चाहिए । अपने गुरुदेव से बिना पूछे हुए ब्रह्मचारी शिष्य को कहीं भी नहीं जाना चाहिए । गुरुदेव के सन्निधान में कभी भी अपने पैरों को नहीं फैलाना चाहिए । जँभाई—हास्य आदिक तथा कण्ठ का प्रावरण और आस्फोटतम वचन का नित्य ही गुरु की सन्निधि में वर्जित रखना चाहिए । यथा समय पर अध्ययन करे जब तक गुरुदेव विमना न हों । गुरु के कथन करने पर ही समाहित होकर फलक (पट्टा) पर बैठ जावे । आसन—शयन और यान में कभी भी एक साथ नहीं बैठना चाहिये । गुरुदेव धावन करते हों तो स्वयं भी उनके पीछे दौड़ लगावे । गुरुदेव गमन करते हों तो उनके ही पीछे स्वयं भी शिष्य ब्रह्मचारी को गमन करना चाहिए । गो—अश्व—ऊँट—यान—प्रासाद और प्रस्तर पर तथा कट पर एक साथ गुरु के नहीं बैठे ॥१२३-१२४॥

नाऽसीत गुरुणा सार्द्धं शिलाफलकनौषु च ।

जितेन्द्रियः स्यात्सतत वश्यात्माऽक्रोधनः शुचिः ॥१२५

प्रयुञ्जीत सदा वाच मधुरां सितभाषिणीम् ।

गन्धमाल्य रसम्भव्यं शुक्लम्प्राणिविहिसनम् ॥१२६

अभ्यंगश्चाञ्जनोपानच्छत्रधारणमेव च ।

कामं लोभं भयं निद्रां गीतवादित्रनर्त्तनम् ॥१२७

द्युतंजनपरीवादं स्त्रीप्रेक्षालम्भनं तथा ।

परोपघातं पैशुन्यं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥१२८

उदकुम्भ सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकांकुशान् ।

आहरेद्यावदर्थानि भैक्ष्यन्वाहरसञ्चरेत् ॥१२९

कृतञ्च लवणं सर्वं वर्ज्यपर्युषितञ्च यत् ।

अनृत्यदर्शी सततं भवेद्गोदिनिस्पृहः ॥१३०

नाऽऽदित्यं वै समीक्षेत न चरेद्दन्तधावनम् ।

एकान्तमशुचिस्त्रीभिः शूद्रान्त्यैरभिभाषणम् ॥१३१

शिला के फलक पर और नाव में अपने गुरु के साथ में नहीं बैठना चाहिए । ब्रह्मचारी को निरन्तर इन्द्रियों को जीतने वाला—आत्मा को वश में रखने वाला—शुचि और क्रोध रहित होना चाहिए । सर्वदा हित का भाषण करने वाली मधुर वाणी का प्रयोग करना चाहिए । गन्ध—मातृ—भक्ष्य रस—शुक्ल—प्राणियों की विशेष हिंसा—अभ्यङ्ग—अञ्जन—उपानत—छत्र धारण—काम—क्रोध—लोभ—भय—निद्रा—गीत—वादित्र—नृत्य—द्युत—जनों का परीवाद—स्त्री की प्रेक्षा—आलम्भन—पर का उपघात—पैशुन्य इन सब का परिवर्जन ब्रह्मचारी को कर देना चाहिए । जल का कलश—पुष्प—गोबर—मृत्तिका—कुश आदि पदार्थ जितने भी आवश्यक हों लाने चाहिए और नित्य-प्रति भिक्षाचरण का समाचरण करे । कृत और सब प्रकार का लवण तथा पर्युषित का वर्जन करना चाहिए । सर्वदा नृत्य देखने वाला नहीं होवे और ब्रह्मचारी को गीत आदि स्पृहा नहीं रखनी चाहिए । सूर्य के सामने दृष्टि करके नहीं देखे और दन्त धावन नहीं करे । एकान्त में अशुचि स्त्रियों के साथ तथा शूद्र और अन्त्यजों के साथ अभिभाषण नहीं करे ॥१२५-१३१॥

गुरुप्रियार्थं सर्वं हि प्रयुञ्जीत न कामतः ।

मलापकर्षणं स्नानमाचरेद्वै कथञ्चन ॥१३२

न कुप्यन्मानसं विप्रो गुरोस्त्यागे कदाचन ।

मोहाद्वा यदि वा लोभात्यक्त्वेन पतितो भवेत् ॥१३३

लौकिकं वैदिकञ्चापि तथाध्यात्मिकमेव च ।

आददीतयतो ज्ञानं न तद्रुह्येत्कदाचन ॥१३४

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।

उत्पथप्रतिपन्नस्य मनुस्त्यागं समब्रवीत् ॥१३५

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्भक्तिमाचरेत् ।

नचातिसृष्टो गुरुणास्वामगुरुनभिवादयेत् ॥१३६

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्यावृत्तिःस्वयोनिषु ।

प्रतिषेधत्सुचाधर्माद्धितं त्रोपदिशत्स्वपि ॥१३७

श्रेयस्तु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत् ।

गुरुपुत्रेषु दारेषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥१३८

जो कुछ भी करे वह सब गुरुदेव की प्रियता के लिये ही करे अपनी इच्छा से कुछ भी न करे । मल का अपकर्षण और स्नान किसी प्रकार से करे । विप्र को गुरु का मानस त्याग भी कभी नहीं करना चाहिए । मोह के वश में होकर अथवा लोभ में फँस कर गुरु का त्याग करने से मनुष्य पतित हो जाया करता है । लोक से सम्बन्ध रखने वाला—वैदिक और आध्यात्मिक ज्ञान इनमें से जो भी जिससे ग्रहण करे उसको गुरु मानना चाहिए और कभी भी उससे द्रोह नहीं करे । यदि गुरु भी अत्यंत अवलिप्त (घमण्डी) हो तथा क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए—इसका तनिक भी ज्ञान न रखता हो तथा उत्पथ में प्रतिपन्न हो गया हो ऐसे गुरु के त्याग कर देने का वचन मनु ने कहा है । गुरु से भी गुरु के सन्निहित होने पर गुरु के समान ही भक्ति का समाचरण करना चाहिए । गुरु के द्वारा अति सृष्ट होता हुआ अपने गुरुओं का अभिवादन करना चाहिए । इसी प्रकार का व्यवहार विद्या गुरुओं के विषय में भी करना चाहिए—नित्यावृत्ति स्वयोनियों और अधर्म से प्रतिषेध करने वालों में और हित का उपदेश करने वाले में भी वैसा ही गुरु के तुल्य व्यवहार करना चाहिए । गुरु के पुत्रों में, गुरु की स्त्रियों में और गुरु के अपने बन्धुओं में नित्य ही गुरु के समान ही वृत्ति करनी चाहिए यही श्रेय की बात है ॥१३२-१३८॥

बालःसन्मानयन्मान्यान् शिष्योवायज्ञकर्मणि ।

अध्यापयन् गुरुसुतोगुरुवन्मानमर्हति ॥१३६

उत्सादनंचै गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने ।

न कुर्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोःशौचमेवच ॥१४०

गुरुवत्परिपूज्याश्चसवर्णागुरुर्योषितः ।

असवर्णास्तुसम्पूज्याःप्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥१४१

अभ्यञ्जनं स्नापनञ्च गावोत्सादनमेव च ।

गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानाञ्चप्रसाधनम् ॥१४२

गुरुपत्नी तु युवती नाभिवाद्येह पादयोः ।

कुर्वीत वन्दनं भूमावसावहमिति ब्रुवन् ॥१४३

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वसञ्चाभिवादनम् ।

गुरुदारेषु सर्वेषु सतां धर्ममनुस्मरन् ॥१४४

मातृष्वसा मातुलानाश्चश्वश्रूथपितृष्वसा ।

सम्पूज्यागुरुपत्नीचसमास्तागुरुभार्यया ॥१४५

यज्ञ कर्म में बाल शिष्य मान्यों का सम्मान करते हुए और अध्यापन करते हुए गुरु का पुत्र गुरु के समान ही सम्मान करने के योग्य होता है । गात्रों का उत्सादन—स्नायन—उच्छिष्ट भोजन और पादों का शौच गुरु-पुत्र का नहीं करना चाहिए । गुरु के समान ही सवर्ण गुरु की पत्नियाँ पूजा के योग्य होती हैं । जो असवर्णा पत्नियाँ हों वे भी प्रत्युत्थान और अभिवादनों के द्वारा सम्पूज्य होती हैं । अभ्यञ्जन—स्नापन और गात्रों-त्सादन तथा केशों का प्रसाधन गुरु की पत्तियों के कभी भी नहीं करने चाहिए । जो गुरु की पत्नी युवती हो तो उसके चरणों में अभिवादन नहीं करना चाहिए । यह मैं अमुक हूँ—ऐसा मुख से बोलते हुए केवल दूर से भूमि में ही प्रणाम करना चाहिए । विप्रोष्यपादों का ग्रहण और प्रतिदिन अभिवादन सब गुरु की पत्तियों में सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण करते हुए मातृष्वसा—मातुला—श्वश्रू—पितृष्वसा—गुरु पत्नी ये सभी गुरु की भार्या के समान भली-भाँति पूजा के योग्य होती हैं ॥१३६-१४५॥

भ्रातुर्भार्या (भार्याप) च संग्राह्या सवर्णाऽहन्यहन्यपि ।

विप्रस्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धयोषितः ॥१४६॥

पितुर्भगिन्या मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्गपि ।

मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी ॥१४७॥

एवमाचारसम्पन्नमात्मवन्तमदाम्भिकम् ।

वेदमध्यापयेद्धर्मं पुराणाङ्गानि नित्यशः ॥१४८॥

सम्बत्सरोषिते शिष्ये गुरुज्ञानमनिर्दिदशन् ।

हरते दुष्कृतं तस्य शिष्यस्यवसतो गुरुः ॥१४९॥

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानिदो धार्मिकः शुचिः ।

सूक्तार्थदोऽरसः साधुः स्वाध्यायादशधर्मतः ॥१५०॥

कृतज्ञश्च तथा द्राहीमेधावीतू पकृन्नरः ।

आप्तः प्रियोऽथ विधिवत् षडध्याप्या द्विजातयः ॥१५१॥

एतेषु ब्रा (ब्र)ह्मणो दानमन्यत्र च यथोदितान् ।

आचम्य संयतो नित्यमधीयीत ह्यदङ्मुखः ॥१५२॥

भाई की भार्या जो सवर्णा हो उसका भी संग्रहण करना चाहिए और दिन प्रति-दिन उसका भी अभिवादन करे । विप्र की ज्ञाति सम्बन्धी योषितों का उप संग्रह करना चाहिए । पिता की भगिनी तथा माता की भगिनी और बड़ी बहिन का भी माता की ही भाँति समादर करना चाहिए किन्तु माता वस्तुतः इन सब में अत्यधिक गौरव युक्त होती है । इस प्रकार के आचार से सुसम्पन्न—आत्मवान्—अदाम्भिक को वेद का अध्यापन कराना चाहिए और नित्य ही धर्म-पुराण तथा अङ्गों का भी अध्यापन करे । एक सम्बत्सर तक शिष्य के रहने पर गुरु ज्ञान का निदर्शन करते हुए वहाँ पर निवास करने वाले शिष्य का दुष्कृत गुरु हरण किया करते हैं । आचार्य का पुत्र—शुश्रूषा करने वाला—ज्ञान का दाता—धार्मिक—शुचि—सूक्त के अर्थ को देने वाला—अरस—साधु—स्वाध्याय वाला तथा दश लक्षणों वाले धर्म से युक्त—कृतज्ञ—अद्रोही—मेधावी—उपकारी आप्त—प्रिय—विधि का ज्ञाता ये छै द्विजाति अध्यापन करने योग्य हैं । इनमें ब्राह्मण दान ले और अन्यत्र यथोदितों को देवें । आचमन

करके संयत होकर उत्तर की ओर मुख करके नित्य ही अध्ययन करना चाहिए ॥१४६-१५२॥

उपसंगृह्य तत्पादौ वीक्षामाणो गुरोर्मुखम् ।

अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामस्त्विति नारभेत् ॥१५३

अनुकूलं समासीनः पवित्रैश्चैव पावितः ।

प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओङ्कारमर्हति ॥१५४

ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यादन्ते च विधिवद्विजः ।

कुर्यादध्ययनं नित्यं ब्रह्माञ्जलिकरस्थितः ॥१५५

सर्वेषामेव भूतानां वेदश्चक्षुःसनातनम् ।

अधीयीताप्ययं नित्यं ब्राह्मण्याच्च्यवतेऽन्यथा ॥१५६

योऽधीयीत ऋचो नित्यं क्षीराहुत्यासदेवताः ।

प्रीणाति तर्पयन्त्येनं कामैस्तृप्ताः सदैव हि ॥१५७

यजूंश्च धीते नियतं दध्ना प्रीणाति देवताः ।

सामान्यधीते प्रीणाति घृताहुतिभिरन्वहम् ॥१५८

अथर्वाङ्गिरसो नित्यमध्वाप्रीणाति देवताः ।

वेदाङ्गानि पुराणानि मांसैश्चर्पयेत्सुरान् ॥१५९

गुरु देव के चरणों का उप संग्रह करके गुरु के मुख को देखता हुआ ही जब-जो अध्ययन करो—ऐसा बोलना चाहिए । विराम ही—ऐसा कहने पर आरम्भ नहीं करना चाहिए । अनुकूल समासीन होते हुए पवित्रों से पावित तथा तीन प्राणायामों से पूत होकर फिर ओङ्कार के योग्य होता है । ब्राह्मण को प्रणव का जाप करना चाहिए और फिर अन्त में द्विज को विधि के साथ ब्रह्माञ्जलि करों से स्थित होकर नित्य ही अध्ययन करना चाहिए अन्यथा इसके अध्ययन न करने पर ब्राह्मणत्व से ही च्युत हो जाया करता है । जो नित्य ही ऋचाओं का अध्ययन किया करता है और क्षीर की आहुतियों से देवता को संतृप्त किया करता है उसको वे तृप्त हुए देवता कामनाओं से सदैव ही संतृप्त किया करते हैं । जो यजु-वेद का नियत रूप से अध्ययन करता है और दधि से देवों का तर्पण किया करता है तथा जो सामवेद का अध्ययन किया करता है और प्रतिदिन घृत

कीं आहुतियाँ देता है । अथर्व आङ्गिरस और वेदों के अङ्ग शास्त्र और पुराण का अध्ययन करने वाला खुरों का तर्पण किया करता है ॥१५३-१५६॥

अपांसमीपेनियतो नैत्यिकंविधिमाश्रितः ।

गायत्रीमप्यधीयीतगत्वारण्यंसमाहितः ॥१६०

सहस्रपरमादेवीं शतमध्यां दशावराम् ।

गायत्रीं वै जपेन्नित्यं जपयज्ञः प्रकीर्तितः ॥१६१

गायत्रीञ्चैव वेदांस्तु तुलयातोलयत्प्रभुः ।

एकतश्चतुरो वेदान् गायत्रीञ्च तथैकतः ॥१६२

ओङ्कारमादितः कृत्वा व्याहृतीस्तदनन्तरम् ।

ततोऽधीयीत सावित्रीमेकाग्रः श्रद्धयान्वितः ॥१६३

पुराकल्पे समुत्पन्नाभूभुवःस्वःसनातनाः ।

महाव्याहतयस्तिस्त्रः सर्वाःशुभनिबर्हणाः ॥१६४

प्रधानंपुरुषःकालोविष्णुर्ब्रह्मा महेश्वरः ।

सत्त्वरंजस्मस्तिस्त्रःक्रमाद्व्याहतयःस्मृताः ॥१६५

ओङ्कारस्तत्परं ब्रह्मसावित्री स्यात्तदक्षरम् ।

एषमन्त्रोमहायोगः सारात्सारउदाहृतः ॥१६६

किसी जलाशय के समीप में नियत होकर नैत्यिक विधि का आश्रय ग्रहण करने वाला अरण्य में जाकर पूर्ण समाहित होते हुए गायत्री का भी अध्ययन करे । गायत्री का एक सहस्र नित्य जाप सर्वोत्तम है—सो मंत्र का जाप मध्यम है और कम से कम दश ही बार जाप करना अवर श्रेणी का जप होता है । गायत्री का नित्य ही जप करना चाहिए । यही जप यज्ञ कहा गया है । गायत्री मन्त्र को और समस्त वेदों को प्रभु ने एक बार तुला में रखकर तोला था एक तरफ तो पलड़े में चारों वेद थे और एक ओर केवल एक गायत्री मन्त्र ही था । आदि में ओङ्कार करके उसके अनन्तर व्याहृतियाँ हैं इसके पश्चात् सावित्री है उसका एकाग्र चित्त वाला होकर ही श्रद्धा से समन्वित होकर जप करना चाहिए । पहिले कल्प में भूः भुवः स्वः ये सनातन समुत्पन्न हुई थीं । ये तीनों महाव्याहृतियाँ हैं ।

क्रम से ही ये व्याहृतियाँ कही गई हैं। ये सब शुभ की निर्वहण करने वाली हैं। प्रधान पुरुष, काल-ब्रह्मा-विष्णु महेश्वर—सत्त्व, रज, तम ये क्रम से व्याहृतियाँ पुकारी गयी हैं। ओङ्कार उससे पर वह अक्षर ब्रह्म सावित्री है। यह मन्त्र महायोग है जो सार से भी सार कह दिया गया है ॥१६०-१६६॥

योऽधीतेऽहन्येतां सावित्रीवेदमातरम् ।

विज्ञायार्थब्रह्मचारीसयातिपरमागतिम् ॥१६७

गायत्री वेदजननी गायत्री लोकपावनी ।

न गायत्र्याः परं जप्यमेतद्विज्ञाय मुच्यते ॥१६८

श्रावणस्व तु मासस्य पौर्णमास्यां द्विजोत्तमाः ।

अधीयीत शुचौदेशे ब्रह्मचारीसमाहितः ॥१६९

उत्सृज्य ग्रामनगरं मासान्विप्रोर्द्ध्वपञ्चमान् ।

अधीयीत शुचौदेशे ब्रह्मचारीसमाहितः ॥१७०

पुण्ये तु छन्दसांक्रूर्याद्वह्नित्सर्जनद्विजाः ।

माघशुक्लस्यवा प्राप्तेपूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥१७१

छन्दसां प्रीणनंकुर्यात्स्वेषुऋक्षेषुवैद्विजाः ।

वेदाङ्गानि पुराणानिकृष्णपक्षेच मानवः ॥१७२

इमान्नित्यमनध्यायधीयानो विवर्जयेत् ।

अध्यापनं च कुर्वाणो ह्यनध्यायन्विवर्जयेत् ॥१७३

जो पुरुष दिन प्रतिदिन इस वेद माता सावित्री देवी का अध्ययन किया करता है और ब्रह्मचारी इसके अर्थ को समझ कर इसका जो जाप करता है वह परम गति को प्राप्त होता है। यह गायत्री वेदों की जननी है और गायत्री लोकों को पावन करने वाली है। गायत्री से परम अन्य जाप ही नहीं है—यही विशेष रूप से जान कर मुक्त हो जाता है। श्रावण मास की पूर्णमासी में—आषाढ़ की अथवा भाद्रपद की पूर्णमासी में हे द्विजोत्तम ! वेद का उपकरण कहा गया है। हे विप्र ! ऊर्ध्व पाँच मासों तक ग्राम—नगर का त्याग करके किसी शुचि देश में ब्रह्मचारी को समाहित होकर पुष्य नक्षत्र में बाहिर छन्दों का उत्सर्जन करना चाहिए। हे

द्विजगण ! माघ शुक्ल के प्राप्त होने पर प्रथम दिन में पूर्वाह्न में छन्दों का प्राणन करे । अपने ही नक्षत्रों में वेदों के अङ्गों का करे तथा पुराणों का मानव को कृष्ण पक्ष में करना चाहिए । इन सब को नित्य करे किन्तु अध्ययन करने वालों को जो अनध्याय हों उनमें अध्ययन का वर्णन कर देवे जो अध्यापन का कार्य करता है उसको भी अध्यापन का कार्य वर्जित कर देना चाहिए ॥१६७-१७३॥

कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवापांशुसमूहने ।

विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानाञ्च सम्प्लवे ॥१७४

आकालिकमनध्यायमेते ष्वाह प्रजापतिः ।

निर्घातिभूमिचलने ज्योतिषाञ्चोपसर्जने ॥१७५

एतानाकालिकान्विद्यादनण्यायानृतावपि ।

प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनितनिस्वने ॥१७६

सज्योतिःस्यादनध्यायमनृतौ चात्रदर्शने ।

नित्येऽनध्याय एव स्याद्ग्रामेषु नगरेषु च ॥१७७

धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धेन नित्यशः ।

अन्तःशवगते ग्रामे वृषलस्य च सन्निधौ ॥१७८

अनध्यायोभुज्यमाने समवावेजनस्य च ।

उदके मध्यरात्रे च विण्मूत्रेचाविवर्जयेत् ॥१७९

उच्छिष्टः श्राद्धभुक् चैव मनसापि न चिन्तयेत् ।

प्रतिगृह्यः द्विजो विद्वानेकोद्दिदष्टस्य केतनम् ॥१८०

रात्रि में कर्णश्रव वायु में—दिन में पांशु के समूहन में—विद्युत—स्तनित और वर्षा में—महान् उल्काओं के संप्लव में प्रजापति ने इन अनध्यायों को आकालिक अनध्याय कहा है । निर्घाति में—भूमि कम्पन में—ज्योतियों के उपसर्जन में इन अनध्यायों को भी ऋतु में भी आकालिक ही समझना चाहिए । अग्नि के प्रादुष्कृत होने पर और विद्युत्स्तनित के होने पर वह ज्योति अनध्याय होती है बिनाऋतु के यहाँ पर दर्शन होने पर होता है । नित्य अनध्याय ग्रामों में और नगरों में ही होता है । धर्म ने पुण्य काम वालों का पूति गन्ध से नित्य ही होता है । ग्राम में अन्दर

शव के जाने पर—वृषल की सन्निधि में जनों के समवाय के युज्यमान होने पर अनध्याय होता है । उदक में मध्यरात्र में विट् और मूत्र को वर्जित कर देवे । उच्छिष्ट और श्राद्ध योगी को मन से भी चिन्तन नहीं करना चाहिए । विद्वान् द्विज प्रतिग्रहण करके एकोहिष्ठ का केतन होता है ॥१७४-१८०॥

अहं न कीर्त्तयेद्ब्रह्मराज्ञो राहोश्चसूत के ।
 यावदेकोऽनुद्दिष्टस्य स्नेहो लेपश्चतिष्ठति ॥१८१
 विप्रस्य विपुले[विदुषुः] देहे तावद्ब्रह्म न कीर्त्तयेत् ।
 शयानःप्रौढपादश्च कृत्वा वं चावसिक्थकाम् ॥१८२
 नाधीयीतामिषं जग्ध्वा मूतकाद्यन्नमेव च ।
 नीहारेबाणपाते च सन्ध्ययोरुभयोरपि ॥१८३
 अमावास्यां चतुर्दश्यां पूर्णमास्यष्ट मीषच ।
 उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षपणं स्मृतम् ॥१८४
 अष्टकासु अहोरात्रमृत्वन्तासुचरात्रिषु ।
 मार्गशीर्ष तथा पौषे माघमासे तथैव च ॥१८५
 तिस्रोऽष्टकाः समाख्याताः कृष्णपक्षे तु सूरिभिः ।
 श्लेष्मान्तकस्व च्छायायां शाल्मलेर्मधुकस्य च ॥१८६
 कदाचिदपिनाध्येयं कोविदारकपितृथयोः ।
 समानविद्ये च मृते तथा सब्रह्मचारिणि ॥१८७

राजा और राहु के सूतक में तीन दिन तक ब्रह्म कीर्त्तन नहीं करना चाहिए । जब तक अनुद्दिष्ट का एक स्नेह और लेप स्थित रहता है । विप्र के विपुल देह में तब तक ब्रह्म का कीर्त्तन नहीं होना चाहिए । शयन करते हुए—प्रौढपादों वाला होकर और अवसिक्थका को करके आमिष खाकर तथा सूतकादि के अन्न को खाकर अध्ययन नहीं करना चाहिए । नीहार में—वाणपात में और दोनों से सन्ध्याओं में भी—अमावस्या—पूर्णमासी—चतुर्दशी—अष्टमी तिथियों में—उपाकर्म में और उत्सर्ग में तीन रात्रि तक क्षपण कहा गया है । अष्टकाओं में अहोरात्र अनध्याय

रहता है । ऋतु को अन्तिम रात्रियों में—मार्गशीर्ष—पौष—माघ मासों में तीन अष्टका कही गयी हैं जो सूरियों ने कृष्ण पक्ष में बतलाई हैं । श्लेष्मान्तक—शात्मलि और मधुक की छाया में तथा को-विहार और कपित्थ की छाया में कभी भी अध्ययन नहीं करना चाहिए । किसी समान विद्या वाले पुरुष के मृत हो जाने पर तथा ब्रह्मचारी की मृत्यु होने पर भी अनाध्याय होता है ॥१८१-१८७॥

आचार्ये संस्थिते वापि त्रिरात्रं क्षपणं स्मृतम् ।

क्षिद्राण्येतानि विप्राणां येऽनध्ययाः प्रकीर्त्तिताः ॥१८८

हिसन्ति राक्षसास्तेषु तस्मादेतान्विस [व] जंयेत् ।

नैत्यिके नास्त्यनध्यायः सन्ध्योपासन एव च ॥१८९

उपाकर्मणि कर्मान्ते होममन्त्रेषु चैव हि ।

एकामृचमयं कं वा यजुःसामाथ वा पुनः ॥१९०

अष्टकाद्यास्वधीयीत मारुते चातिवायति ।

अनध्यायस्तुनाङ्गेषु नेतिहास पुराणयोः ॥१९१

न धर्मशास्त्रेष्वन्येषु पर्वाण्येतानिवर्जयेत् ।

एष धर्म समासेन कीर्त्तितो ब्रह्मचारिणाम् ॥१ २

ब्रह्मणाभिहितः पूर्वमृषीणां भावितात्मनाम् ।

योऽन्यत्र कुरुते यत्नमनधीत्य श्रुतिं द्विजाः ॥१९३

आचार्य के संस्थित होने पर भी तीन रात्रि का क्षपण कहा गया है ।

ये विप्रों के क्षिद्र हैं जो अनाध्याय कीर्त्तित किये गये हैं । उनमें राक्षस लोग हिंसन किया करते हैं इसीलिये इनका वर्णन कर देना चाहिए । नित्य होने वाले कर्म में कभी अनध्याय नहीं होता है और सन्ध्योपासन में ही अनाध्याय नहीं होता है । उपाकर्म में कर्म के अन्त में क्षेम के मंत्रों में एक ऋचा को अथवा एक यजुर्वेद के मन्त्र को अथवा सामवेद के मन्त्र को अष्टकाओं में तथा मारुत के अतिवायित होने पर भी अध्ययन करना चाहिए । वेद के अङ्ग शास्त्रों में तथा इतिहास पुराणों में अनध्याय नहीं होता है । अन्य धर्म शास्त्रों में भी इन पर्वों में वर्णन नहीं करना चाहिए । हमने यह ब्रह्मचारियों का धर्म संक्षेप से बतला दिया है । पहिले इसे

ब्रह्माजी ने भावित आत्मा वाले ऋषियों से कहा था । हे द्विजगण ! जो श्रुति का अध्ययन न करके अन्यत्र यत्न किया करता है ॥१८८-१८९॥

ससम्भूढोऽसम्भाष्यो वेदवाह्यो द्विजातिभिः ।

न वेद पाठमात्रेण सन्तुष्टो वै द्विजोत्तमः ॥१९४

एवमाचारहीनस्तु पङ्क्ते गौरिव सीदति ।

योऽधीत्य विधिवद्वदं वेदार्थनविचारयेन् ॥१९५

स चान्धशूद्रकलास्तु पदार्थं न प्रपद्यते ।

यदि चात्यन्तिकं वासं कर्तुं मिच्छति वै गुरौ ॥१९६

युक्तः परिचरेदेनमाशरीराभिघातनात् ।

गत्वा वनं वा विधिवज्जुहुयाज्जातवेदसम् ॥१९७

अभ्यसेत्स तदा नित्यं ब्रह्मनिष्ठः समाहितः ।

सावित्रीं शतरुद्रीय वेदाङ्गानि विशेषतः ।

अभ्यसेत्स ततं युक्तो भस्मस्नानपरायणः ॥१९८

एतद्विधानं परमं पुराणं वेदागमे [वेदांगतः] सम्यग्गिहेरितण्च ।

पुरा महर्षिप्रवरानुपृष्टः स्वायम्भुवो यन्मनुराह देवः ॥१९९

एवमीश्वरसमर्पितान्तरो योऽनुतिष्ठति विधिं विधानवि [व]त् ।

मोपजालमपहाय सोऽमृतं याति तत्पदमनामयं शिवम् ॥२००

वह परम सम्भूढ़ है और सम्भाषण करने के योग्य नहीं है तथा द्विजातियों के द्वारा वह वेद वहिष्कृत भी होने के योग्य ही होता है । द्विजोत्तम केवल वेद के पाठ से ही सन्तुष्ट नहीं होता है । इस प्रकार से जो आचार से हीन होता है वह मनुष्य पङ्क्त (दलदल) में फँसी हुई गौ की भाँति ही दुःखभागी हुआ करता है । जो विधिपूर्वक वेदों का अध्ययन करके भी वेद के अर्थों का विचार नहीं करता है वह तो एक प्रकार से अन्धा ही है और वह शूद्र के ही समान होता है क्योंकि उसके पास पदार्थ प्रपन्न नहीं हुआ करता है । यदि गुरु के समीप में ही आत्यन्तिक निवास करने की इच्छा करता है तो युक्त होकर गुरु की परिचर्या करनी चाहिए जब तक भी इस शरीर का अभियातन नहीं होता है अर्थात् मृत्यु पर्यन्त करना चाहिए । अथवा वन में जाकर अग्नि का विधि विधान के साथ

हवन करना चाहिए । उसे नित्य ही उस समय में ब्रह्म में निष्ठ होकर परम समाहित रहते हुए अभ्यास करना चाहिए । विशेष करके उसे सावित्री—शतरुद्रीय और वेदों के अङ्ग शास्त्रों का निरन्तर भस्म और स्नान में परायण होकर ही युक्त होकर अभ्यास करना चाहिए । यह विधान परम पुराण है वेदों में और आगम में भली भाँति कहा गया है । पहिले समय में महर्षि प्रवरों के द्वारा पूछे गये स्वायम्भुव मनु देव ने इसको कहा है । इस प्रकार से ईश्वर के ही लिये अपने अन्तर को समर्पित करने वाला जो विधान का ज्ञाता इस विधि को किया करता है वह सांसारिक मोह के जाल को काट कर वह अमृत पद को प्राप्त किया करता है जो वह पद अनामय और परम शिव होता है ॥१६४-२०॥

वेदं वेदौ तथा वेदान्विन्द्याद्वा चतुरो द्विजाः ।

अधीत्य चाभिगम्याथ ततः स्नायाद् द्विजोत्माः ॥२०१

गुरुवे तु धनंदत्त्वास्नायी ततदनुज्ञया ।

चीर्णव्रतोऽथयुक्तात्मा स शक्तः स्नातुमर्हति ॥२०२

वैष्णवीधारयेद्यष्टिमन्तर्वास तथोत्तरम् ।

यज्ञोपवीतद्वितयं सोदकञ्च कमण्डलुम् ॥२०३

छत्रं चोष्णीषममलं पादुके चाप्युपाहौ ।

रौक्मे च कुण्डलेवे दं वुप्तकेशनखः शुचिः ॥२०४

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्वहिर्मलियं न धारयेत् ।

अन्यत्र कांचनाद्विप्रः नरक्तां बिभृयात्सजम् ॥२०५

शुक्लाम्बरो नित्यं सुगन्धः प्रियदर्शनः ।

न जीर्णमलवद्वासा भवेद् वैभवे सति ॥२०६

नारक्तमुल्वणञ्चान्यधृतं वासो न कुण्डिकाम् ।

नोपान हौस्रजं वाथपादुकेन प्रयोजयेत् ॥२०७

श्रीव्यास देव ने कहा— हे द्विजगण ! एक ही वेद को, दो वेदों को अथवा चारों ही वेदों को प्राप्त करना चाहिए इन वेदों का अध्ययन कर के और उनके अर्थ को ज्ञान कर फिर ब्रह्मचारी को स्नान करना चाहिए । अपने गुरु देव को धन समर्पित करके उनकी आज्ञा से ही स्नान

करे। जो चीर्ण व्रत वाला हो गया है और युक्त आत्मा वाला है वह शक्त है और स्नान करने की योग्यता को प्राप्त करता है। फिर ब्रह्मचारी के दण्ड का त्याग करके उसे वैष्णवी दृष्टि धारण करनी चाहिए। उसके पास अन्तर्वास और उतरीय वस्त्र होना चाहिए। दूसरा यज्ञोपवीत और जल के सहित एक कमण्डलु होवे। छत्र—अमल उष्णीव—पादुका—अथवा उपानह—सुवर्ण के कुण्डल—वेद उसके पास हो और केश तथा नख व्युत्त होने वाला उसे होना चाहिए एवं शुचि होवे। स्वाध्याय में नित्य ही युक्त रहे तथा बहिर्मात्य को धारण नहीं करे। फिर विप्र को सुवर्ण की माला के अतिरिक्त अन्य किसी रक्त वर्ण की माला को धारण नहीं करना चाहिए। नित्य ही शुक्ल वस्त्रों को धारण करने वाला—सुन्दर गन्ध से युक्त और प्रिय दर्शन वाला हो जाना चाहिये। जीर्ण और मल वाले वस्त्र को कभी धारण करने वाला न होवे, वैभव के होते हुए भी ऐसी वेश भूषा से युक्त नहीं रहना चाहिए। रक्त—उल्बण और दूसरे के द्वारा धारण किया हुआ वस्त्र तथा कुण्डिका—उपानह—माला और पादुका का प्रयोग नहीं करना चाहिए ॥२०१-२०७॥

उपवीतकरान् दभन्तिथा कृष्णाजिनानि च ।

नापसव्यं परीदध्याद्वासो न विकृतण्व यत् ॥२०८

आहरेद्विधिवद्दारान्सदृशानात्मनःशुभाम् ।

रूपलक्षणसंयुक्तान्योनिदोषविवर्जितान् ॥२०९

अमातृगोत्रप्रभावमसमानर्षिगोत्रजाम् ।

आहरेद् ब्राह्मणो भार्य्या शील शौच समन्विताम् ॥२१०

ऋतुकालाभिगामीस्याद्यावत्पुत्रोऽभिजायते ।

वययेत्प्रतिषिद्धानिदिनानितुप्रयत्नतः ॥२११

षष्ठ्यष्टमीपञ्चदशीद्वादशीं च चतुर्दशाम् ।

ब्रह्मचारीभवेन्नित्यं ब्राह्मणः सयतेन्द्रियः ॥२१२

आदधीतावसथ्याग्निजुहुयाज्जातवेदसम् ।

व्रतानिस्नातकोनित्यं पावनानिचपालयेत् ॥२१३

वेदोदितं स्वकंकर्म नित्यंकुर्यादतन्द्रितः ।

अकुर्वाणः पतत्याशुनरकान्याति भीषणान् ॥२१४

उपवीत कर दर्भ और कृष्ण मृगचर्म को अपसव्य में कभी परिधान नहीं करे, तथा वस्त्र भी विकृत न पहिने । विधि पूर्वक पत्नी का आहरण करना चाहिए जो अपने ही सदृश और परम शुभ हों । पत्नी भी रूप के लक्षणों से युक्त और योनि के दोषों से वर्जित ही ग्रहण करनी चाहिए । पत्नी माता के गोत्र से रहित तथा असम्भव ऋषि गोत्र में जन्म ग्रहण करने वाली होनी चाहिए ब्राह्मण को ऐसी ही शील और शौच से समन्वित भार्या का आहरण करना उचित है । उस पत्नी का जिस समय में ऋतु काल उपस्थित हो तभी उसका गमन करे और वह भी तभी तक जब तक किसी पुत्र की उत्पत्ति न होवे । जो दिन शास्त्र में प्रतिषिद्ध बताये गये हैं उनको वर्जित करके ही ऋतुकाल में भी गमन करे और प्रयत्न पूर्वक वर्जित दिनों में भार्याभिगमन नहीं करना चाहिए । षष्ठी-अष्टमी-पञ्चदशी-द्वादशी और चतुर्दशी इन तिथियों में नित्य ही संयत इन्द्रियों वाले ब्राह्मण को बह्मचारी होना चाहिए । अवसथ्याग्नि का धारण करे और जातवेदा का हवन भी नित्य ही करना चाहिए । स्नातक को नित्य ही पावन व्रतों का पूर्ण परिपालन करना चाहिए । तन्द्रा से रहित होकर वेदों में कहे हुए हुए कर्मों को नित्य नियम से करना चाहिए । वेद विहित कर्मों को न करता हुआ शीघ्र ही परम भीषण नरकों में जाकर पतित हो जाया करता है ॥२०८-२१४॥

अभ्यसेत्प्रयतोवेदं महायज्ञाश्रभावयेत् ।

कुर्याद्गृह्याणि कर्माणिसन्ध्योपासनमेव च ॥२१५

सख्यंसमाधिकं कुर्याच्चयेदीश्वरसदा ।

दैवतान्यधिगच्छेत्कुर्याद्भार्याविभूषणम् ॥२१६

न धर्मं ख्यापयेद्विद्वान्न पापं गूहयेदपि ।

कुर्वीतात्महितं नित्यं सर्वभूतानुकम्पनम् ॥२१७

वयसः कर्मणोऽर्थस्यश्रतस्याभिजनस्य च ।

वेदवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरेद्विहरेत्सदा ॥२१८

श्रुतिस्मृत्युदितः सम्यक् साधुभिर्यश्च सेवितः ।

तमाचारं निषेवेत नेहेतान्यत्र कर्हिचित् ॥२१६

येनास्यपितरोयाता येनयाताःपितामहाः ।

तेनायायात्सतांमार्गतेन गच्छन्तरिष्यति ॥२२०

नित्यं स्वाध्यायशीलः स्यान्नित्यं यज्ञोपवीतवान् ।

सत्यवादी जितक्रोधो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२२१

प्रयत्न होते हुए वेदों का अभ्यास गृहस्थाश्रम में भी रह कर बराबर करते रहना चाहिए तथा महान् यज्ञों को भावित करे । जो गृह्य कर्म हैं उनका सम्पादन करे और सन्ध्योपासन किया करे । जो अपने अधिक गुणगण वाले सत्पुरुष हों उनके ही साथ सख्यभाव समुत्पन्न करना समुचित है और सर्वदा ईश्वर का गार्हस्थ्यमें अर्चन करना चाहिए । देवताओं का भी पूजन करे और अपनी भार्या विशेष को भूषित करना चाहिए । नन्दान् पुरुष को कभी भी अपने द्वारा किये धर्म का ख्यापन नहीं करना चाहिए और पाप कर्म का कभी गूहन भी न करे । समस्त भूत मात्र पर अनुकम्पा की मात्रा रखते हुए ही नित्य अपने हित का कार्य करना चाहिए । सदा अपनी अवस्था—कर्म—अर्थ—श्रुति—अभिजन—वेद वाणी और बुद्धि के समान ही सब कुछ करना तथा विहार करना चाहिए अर्थात् इन उपर्युक्त के विपरीत कर्म नहीं करे । जो आचार श्रुति और स्मृतियों में बताया गया है और जिस आचार का साधु पुरुषों ने सर्वदा सेवन किया है उसी आचार का समाचरण करना चाहिए । इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी कभी नहीं करना चाहिए । जिस मार्ग एवं आचार का परिपालन करते हुए इसके पितृगण आदि गये थे और जिस मार्ग से पितामह आदि गये हैं उसी सत्पुरुषों के मार्ग से स्वयं भी गमन करना चाहिए । उसी मार्ग से जाते हुए वह अवश्य ही तर जायगा अर्थात् सद्गति की प्राप्ति कर लेगा । नित्य ही स्वाध्याय करने के स्वभाव वाला होना चाहिए और नित्य ही यज्ञोपवीत के धारण करने वाला भी रहना चाहिए । सर्वदा सत्य ही भाषण करने वाला और क्रोध को जीत लेने वाला रहे । ऐसा ही गृहस्थाश्रमी ब्रह्मभूय होने के योग्य कल्पित किया जाता है ॥२१५-२२१॥

सन्ध्यास्नानपरो नित्यं ब्रह्मयज्ञपरायणः ।

अनसूयी मृदुर्दान्तो गृहस्थः प्रेत्य वर्द्धते ॥२२२

वीतरागभयक्रोधो लोभमोहविवर्जितः ।

सावित्रीजापिनरतः श्राद्धकृन्मुच्यते गृहो ॥२२३

मातापित्रोर्हिते युक्तो गोब्राह्मणहिते रतः ।

दान्तो यज्वा देवभक्तो ब्रह्मलोकेमहीयते ॥२२४

त्रिवर्गसेवी सततं देवतानाञ्च पूजनम् ।

कुर्यादहरहर्नित्यं नमस्येत्प्रयतः सुरान् ॥२२५

विभागशीलः सततं क्षायुक्तो दयालुकः ।

गृहस्थस्तु समाख्यातो न गृहेण गृही भवेत् ॥२२६

क्षमा दया च विज्ञानं सत्यञ्चैव दमः शमः ।

अध्यात्मनिरतज्ञानमेतद्ब्राह्मणलक्षणम् ॥२२७

एतस्मान्न प्रमाद्यन्तविशेषेण द्विजोत्तमः ।

यथाशक्तिचरेत्कर्मनिन्दितानि विवर्जयेत् ॥२२८

नित्य ही सन्ध्या वन्दना तथा स्नान करने में तत्पर रहे और ब्रह्म यज्ञ भी नित्य परायण होकर करे । किसी की भी असूया न करने वाला—कोमल स्वभाव से सुसम्पन्न एवं दमनशील गृहस्थ मृत्यु के पश्चात् भी वर्द्धनशील हुआ करता है । जिसके अन्दर से राग द्वेष—भय-और क्रोध निकल गया है तथा जो लोभ और मोह से शून्य रहता है—जिसकी रति सदा सावित्री के जाप करने में रहा करती है और जो श्राद्धों के करने वाला है वही गृही मुक्त होता है । अपने माता-पिता के हित में जो युक्त होता है तथा जिसकी रति सर्वदा गौ और ब्राह्मणों के हितकर कार्यों में रहा करती है जो दमनशील—यजन करने वाला—देवों का भक्त होता है । वही ब्रह्मलोक में मृत्यु के पश्चात् पहुँच कर प्रतिष्ठित हुआ करता है । निरन्तर त्रिवर्ग की सेवा करने वाला होकर देवों का पूजन अहर्निश नित्य ही करना चाहिए तथा प्रयत होकर सदा सुरगण को नमन करना चाहिए । गृहस्थी को सदा सम्यक् विभाजन करने के स्वभाव वाला होना चाहिए । क्षमा से युक्त और दयालु भी होवे । वही गृहस्थ उस गृह

से गृह वाला समाख्यात होता है। क्षमा--दया--विज्ञान--सत्य--दम--शम और अध्यात्म ज्ञान में सर्वदा विशेष रति का रखना ये ही सद्गुणों का होना ब्राह्मण का सच्चा लक्षण होता है। द्विजोत्तम को विशेष रूप से इन सद्गुणों से कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। जितनी भी अपने आप में करने की शक्ति हो उसी के अनुसार शास्त्रोक्त समुचित कर्मों का सम्पादन करना चाहिए। और जिनको वेद शास्त्रों ने निन्दित कर्म बतलाया है उनका सर्वदा त्याग ही कर देना चाहिए ॥२२२-२२८॥

विधूय मोहकलिलं लब्ध्वा योगमनुत्तमम् ।

गृहस्थो मुच्यते बन्धान्नात्र कार्य्या विचारणा ॥२२९

विगर्हातिक्रमाक्षेपहिंसाबन्धवधात्मनाम् ।

अन्यमन्युसमुत्थानां दोषानांमर्षणंक्षमा ॥२३०

स्वदुःखेष्विवकारुण्यंपरदुःखेषु सौहृदात् ।

दयेति प्रनयःप्राहुःसाक्षाद्धर्मस्यसाधनम् ॥२३१

चतुर्दशानां विद्यानां धारणं हि यथार्थतः ।

विज्ञानमिति तद्विद्याद्येन धर्मो विवर्द्धते ॥२३२

अधीत्य विधिवद्वेदानर्थञ्चैवोपलभ्य तु ।

धर्मकार्यान्निवृत्तश्चेन्न तद्विज्ञानमिष्यते ॥२३३

सत्येन लोकाञ्जयति सत्यं तत्परमं पदम् ।

यथाभूतप्रवादन्तु सत्यमाहुर्सनीषिणः ॥२३४

दमः शरीरोपरमः शमः प्रज्ञाप्रसादजः ।

अध्यात्ममक्षरं विद्याद्यत्र गत्वा न शोचति ॥२३५

इस सांसारिक मोह के कलिल का विधूनम करके उत्तम योग का लाभ करे। ऐसा करने से एक अच्छा गृहस्थ भी बन्धन से मुक्त अवश्य ही हो जाया करता है--इसमें तनिक भी विचार करने की या सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है। विगर्हा-अतिक्रम-आक्षेप-हिंसा-बन्ध और वध के स्वरूप वाले अन्य पर क्रोध से समुत्पन्न दोषों का मर्षण कर जाना ही क्षमा हुआ करती है। अपने हुए दुःखों के समान सौहार्द से मराये दुःखों में दया हुआ करती है--ऐसा ही मुनियों ने कहा है। यह

दया का भाव साक्षात् धर्म का लक्षण तथा साधन होता है। चौदह विधाओं का यथार्थ रूप से धारण करना ही विज्ञान होता है। इसीलिये उसका ज्ञान अवश्य ही प्राप्त करना चाहिए जिससे धर्म की वृद्धि हुआ करती है। विधि विधान के साथ वेदों का अध्ययन करके और अर्थ को भी प्राप्त करके यदि धर्म के कार्य से निवृत्त हो जाता है तो उसे विज्ञान नहीं माना जाता है। सत्य ही एक ऐसा उत्तम साधन है जिसके द्वारा लोकों को जीत लिया करता है और यह सत्य ही परम पद है। मनीषी-गण सत्य को यथाभूत प्रवाद वाला कहते हैं। दम-शरीर में उपरम होने वाला शम जो प्रज्ञा के प्रसाद से समुत्पन्न होता है। अध्यात्म को अक्षर जानना चाहिए जहाँ पर पहुँच कर किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं रहा करती है ॥२२६-२३५॥

ययासदेवो भगवान्विद्ययावेद्यते परः ।

साक्षाद्देवो महादेवस्तज्ज्ञानमिति कीर्तितम् ॥२३६॥

तन्निष्ठस्तत्परो विद्वान्नित्यमक्रोधनः शुचिः ।

महायज्ञपरो विद्वान्न भवेत्तदनुमुत्तमम् ॥२३७॥

धर्मस्यायतनं यत्नाच्छरीरं प्रतिपालयेत् ।

न च देह विना रुद्रो विद्यते पुरुषैः परः ॥२३८॥

नित्यधर्मार्थकामेषु युज्येत नियतो द्विजः ।

न धम्मवर्जितं काममर्थं वा मनसा स्मरेत् ॥२३९॥

सीदन्नपि हि धर्मेणन त्वधर्मं समाचरेत् ।

धर्मो हि भगवान्देवो गतिः सर्वेषुजन्तुषु ॥२४०॥

भूतानां प्रियकारी स्यान्न परद्रोहकर्मधीः ।

न वेददेवतानिन्दां कुर्यात्तश्च न सम्बदेत् ॥२४१॥

यस्त्विमनियतं विप्रो धर्माध्यायपठेच्छुचिः ।

अध्यापयेच्छ्रावयेद्वा ब्रह्मलोकेमहोयते ॥२४२॥

जिस विद्या से वह पर देव भगवान् जाना जाता है वह साक्षात् देव महादेव हैं और उसी का ज्ञान कीर्तित किया गया है। उसमें निष्ठा रखने

वाला—उसी में तत्पर विद्वान् नित्य ही क्रोध से रहित और शुचि होता है। वह महायज्ञ में परायण विद्वान् है और उत्तम ही है। यह शरीर भी एक धर्म का आयतन ही होता है इसकी सुरक्षा यत्न से करके इसका प्रति पालन करना चाहिए। इस देह के बिना पुरुषों के द्वारा पर पुरुष विद्यमान नहीं हुआ करता है। द्विज को नित्य ही नियत होकर धर्म-अर्थ और काम इस त्रिवर्ग युक्त होना चाहिए। जो अर्थ और काम धर्म से वर्जित हो उसका मन से भी कभी स्मरण नहीं करना चाहिए। धर्म के कर्म में दुःख भोगता हुआ भी रहे किन्तु अधर्म का समाचरण कभी भी नहीं करना चाहिए। धर्म ही साक्षात् देव भगवान् हैं और सभी जन्तुओं में धर्म ही परम गति है। द्विज गृहस्थ को समस्त भूतों के हित तथा प्रिय कर्मों का करने वाला होना चाहिए और कभी भी भूलकर पर जनों के साथ द्रोह करने की रति नहीं रखनी चाहिए तथा ऐसी बुद्धि भी नहीं करे। वेदों में कथित अथवा वेद स्वरूपी देवों की कभी भी निन्दा नहीं करनी चाहिए। जो निन्दक पुरुष हों उनके साथ कभी सम्वाद भी नहीं करे। जो कोई पुरुष विप्र इस धर्माध्याय का नियत रूप से शुचि होकर पाठ किया करता है या इसका दूसरों को श्रवण कराता है अथवा इसको पढ़ाता है वह अन्त समय में ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित हो जाया करता है ॥२३६-२४२॥

न हि स्यात्सर्वभूतानि नानृतं वा वदेत्क्वचित् ।

नाहितं नाप्रियं ब्रूयान्नस्तेनः स्यात्कथञ्चन ॥२४३

तृणं वा यदि वा शाकं मृदं वा जलमेव च ।

परस्यापहरञ्जन्तुर्नरकं प्रतिपद्यते ॥२४४

नराज्ञः प्रतिगृह्णीयान्न शूद्रात्पतितादपि ।

नान्यस्माद्याचकत्वञ्च निन्दिता द्वर्जयेद्बुधः ॥२४५

नित्यं याचनको न स्यात्पुनस्तत्रैव याचयेत् ।

प्राणानपहरत्येष याचकस्तस्य दुर्मतिः ॥२४६

न देवद्रव्यहारी स्याद्विशेषेण द्विजोत्तमाः ।

ब्रह्मस्वं वा नापहरेदापद्यपि कदाचन ॥२४७

न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते ।

देवस्वं चापि यत्नेन सदा परिहरेत्ततः ॥२४८

पुष्पे शाकोदके काष्ठे तथा मूले तृणे फले ।

अदत्तादानमस्तेय मनुः प्राह प्रजापतिः ॥२४९

श्री व्यास देव ने कहा—समस्त भूतों में किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए और कभी भी मिथ्या भाषण भी नहीं करना चाहिए । न तो किसी के अहित की बात बोले और न किसी भी समय में किसी को अप्रिय लगने वाली बात ही कहनी चाहिए । मनुष्य को स्तेन अर्थात् चोरी के कर्म करने वाला भी किसी भी प्रकार से नहीं होना चाहिए । तृण हो अथवा शाक हो, मिट्टी हो या जल ही क्यों न हो, जो वस्तु पराई है उसका अपहरण करने वाला जन्तु अवश्य ही नरक का गामी होता है । राजा का प्रतिग्रह कभी भी ग्रहण नहीं करे और शूद्र तथा जो पतित हो उसका भी दान नहीं ग्रहण करना चाहिए । जो भी कोई अन्य निन्दित पुरुष हो उसका याचक बुद्ध पुरुष को कभी भी नहीं होना चाहिए और ऐसी याचकता को वर्जित कर देवे । नित्य याचना करने वाला न होवे और फिर वहाँ पर ही याचना करे । यह याचक है ऐसी उसकी दुर्मति प्राणों का अपहरण किया करती है । विशेष रूप से द्विजोत्तमों को कभी भी देवों के द्रव्य का अपहरण करने वाला नहीं होना चाहिए । जो ब्राह्मण का धन ब्रह्मस्व है उसका तो आपत्ति के समय में भी कभी भी किसी तरह से अपहरण करना ही नहीं चाहिए । विष को विष नहीं कहा जाता है ब्रह्मस्व को ही विष कहते हैं । ब्रह्मस्व की भाँति ही देवस्व का भी सदा परिहरण कर देना चाहिए । पुष्प में, शाक, उदक, काष्ठ, मूल, तृण, फल इनका न दिया हुआ जो आदान है वही अस्तेय होता है—ऐसा प्रजापति मनु ने कहा है ॥२४३-२४९॥

गृहीतव्यानि पुष्पाणि देवार्चनविधौ द्विजैः ।

नैकस्मादेव नियतमननुज्ञाय केवलम् ॥२५०

तृण काष्ठं फलपुष्पं प्रकाशं वै हरेद्बुधः ।

धर्मार्थं केवलं ग्राह्यं ह्यन्यथा पतितोभवेत् ॥२५१

तिलमुद्गयवादानां मुष्टिर्ग्राह्या पथि स्थितैः ।

क्षुधात्तेर्नान्यथा विप्रा धर्मविद्धिरिति स्थितिः ॥२५२

सं धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वाव्रतं चरेत् ।

व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन् स्त्रीशूद्रलम्बनम् ॥२५३

प्रेत्येह चेदृशोविप्रो गह्यते ब्रह्मवादिभिः ।

छद्मना चरितं यच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति ॥२५४

अलिङ्गी लिङ्गिवेशनयो वृत्तिमुपजीवति ।

स लिङ्गिर्ना हरेदेनस्तिर्यग्योनौ चजायते ॥२५५

बैडालव्रतिनः पापलोके धर्मविनाशकाः ।

सद्यः पतन्ति पापेषु कर्मणस्तस्य तत्फलम् ॥२५६

द्विजों के द्वारा देवों की पूजा की विधि का सम्पादन करने के लिये पुष्पों का ग्रहण कर लेना चाहिए किन्तु यह पुष्पों का ग्रहण भी एक ही स्थल से नियत रूप से न करे और केवल अनुज्ञा प्राप्त न करके भी ग्रहण नहीं करने चाहिए । तृण, काष्ठ, फल और पुष्प बुध को प्रकाश में ही हरण करने चाहिए । वे भी जितने धर्म के कर्म के लिये आवश्यक हों उतने ही ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण करने पर पतित हो जायगा । तिल, मूँग और यव आदि की केवल एक मुट्ठी ही मार्ग में स्थित होने वाले लोगों के द्वारा ग्रहण करनी चाहिए, वह भी जब कि क्षुधा से जो लोग अत्यन्त आर्त हों उनको ही लेनी चाहिए । हे विप्रगण ! अन्यथा जो धर्म के ज्ञाता हैं उनको कभी भी नहीं लेनी चाहिए—ऐसी ही वास्तविक स्थिति है । धर्म के बहाने से पाप कर्म करके कभी भी व्रत का समाचरण नहीं करना चाहिए । व्रत से किये हुए पाप का प्रच्छादन करके स्त्री और शूद्र का समालम्बन करता हुआ जो इस प्रकार का विप्र होता है उसके मरने पर भी ब्रह्मवादियों के द्वारा वह गहित ही कहा जाया करता है । जो व्रत छद्म के साथ किया जाता है वह राक्षसों को चला जाया करता है । जो वास्तव में लिङ्गधारी न हो और लिङ्ग-वश से अपनी वृत्ति की उपजीविका करके जीवित रहा करता है वह लिंगियों के पाप का हरण किया करता है और फिर तिर्यक् योनि में जन्म ग्रहण किया करता है ।

इस लोक में ऐसे लोग बँडाल व्रत वाले पापी और धर्म के विनाश करने वाले ही होते हैं । उनके ऐसे कर्मों का फल यही होता है कि वे तुरन्त ही पापों में पतित हो जाया करते हैं ॥२५०-२५६॥

पाखण्डिनो विक्रमस्थान्वामाचारांस्तथैव च ।

पञ्चरात्रान् पाशुपतान् वाङ्मात्रेणापि नाऽर्चयेत् ॥२५७

वेदनिन्दारतान् मर्त्यान्देवनिन्दारतांस्तथा ।

द्विजनिन्दारतांश्चैव मनसापि न चिन्तयेत् ॥२५८

याजनं योनिसम्बन्धसहवासञ्च भाषणम् ।

कुर्वाणः पतते जन्तुस्तस्माद्यत्नेन वर्जयेत् ॥२५९

देवद्रोहाद् गुरुद्रोहः कोटिकोटिगुणाधिकः ।

ज्ञानापवादो नास्तिक्यं तस्मात्कोटि गुणाधिकम् ॥२६०

गोभिश्च दैवतैर्विप्रैः कृष्याराजोपसेवया ।

कुलान्यकुलतां यान्तियानिहीनानि धर्मतः ॥२६१

कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च ।

कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥२६२

अनुतात्पारदायच्च तथाऽभक्ष्यस्य भक्षणात् ।

अश्रौतधर्माचरणात्क्षिप्रं नश्यति वै कुलम् ॥२६३

जो पाषण्ड करने वाले हैं और विक्रमों में स्थित रहा करते हैं तथा वाम आचरण वाले होते हैं ऐसे पञ्चरात्र पाशु यज्ञों का वाणी मात्र से भी अर्चन नहीं करना चाहिए । जो वेदों की निन्दा करने में रति रखते हैं और जो मनुष्य देवों की निन्दा करने में निरत होते हैं तथा जो द्विजों की बुराई करने में रत रहते हैं उनका कभी मन से भी चिन्तन नहीं करना चाहिए याजन-योनिका सम्बन्ध-साथ में वास करना-सह सम्भाषण करता हुआ भी जन्तु पतित हो जाया करता है अतएव ऐसे महा पातकियों का दूर से ही प्रयत्न पूर्वक परिवर्जन कर देना ही उचित होता है । देवों के साथ द्रोह करने से गुरु के साथ किया हुआ द्रोह करोड़ों-करोड़ों अधिक गुण वाला होता है क्योंकि ज्ञान का अपवाद करना नास्तिकता है अतएव यह करोड़ों गुणा अधिक माना गया है । गोओं, देवताओं और विप्रों

के द्वारा कृषि से तथा राजा की उपसेवा से कुल के कुल आकुलता को प्राप्त हो जाया करते हैं क्यों कि ये सब धर्म से हीन होते हैं। बुरे विवादों से—क्रियाओं के लोपों से और वेदों के अध्ययन न करने से एवं ब्राह्मणों का अतिक्रमण करने, कुल दूषित कुल होकर अकुलता को प्राप्त हो जाया करते हैं, मिथ्या व्यवहार तथा भाषण से, पराई स्त्रियों के साथ सम्पर्क करने से, जो अभक्ष्य पदार्थ हैं उनके खाने से जो श्रुति के द्वारा प्रतिपादित नहीं हैं ऐसे धर्म के समाचरण से कुल बहुत ही शीघ्र विनष्ट हो जाया करता है ॥२५७-२६३॥

अश्रोत्रिवेषु वै दानाद्वृषलेषु तथैव च ।

विहिताचारहीनेषु क्षिप्रं नश्यति वै कुलम् ॥२६४

नाधार्मिकैर्वृते ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम् ।

न शूद्रराज्येनिवसेन्न पाखण्डजनैर्वृते ॥२६५

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये पूर्वपश्चिमयोः शुभम् ।

मुक्त्वा स मुद्रयोर्दशान्यत्र निनसेद्विजः ॥२६६

कृष्णो वा यत्र चरति मृगो नित्यं स्वभावतः ।

पुण्याश्च विश्रुता नद्यस्तत्र वा निवसेद्विजः ॥२६७

अर्द्धकोशान्नदीकूलवर्जयित्वा द्विजोत्तमः ।

नान्यत्र निवसेत्पुण्यां नान्त्यजग्रामसन्निधौ ॥२६८

न सम्वसेच्च पतितैर्न चण्डालैर्न पुक्कसैः ।

न मूर्खैर्न विलिप्तश्च नान्त्यावसायिभिः ॥२६९

एकशय्यासनम्पत्तिर्भाण्डपक्वान्नमिश्रणम् ।

याजनाध्यापनं योनिस्तथैव सहभोजनम् ॥२७०

सहाध्यायस्तु दशमः सहाजनमेव च ।

एकादशैते निर्दिष्टादोषाः साङ्ख्यसञ्ज्ञिताः ॥२७१

जो श्रोत्रिय नहीं हैं उनको दिया हुआ दान तथा वृषलों को और विदित आचार से हीनों को दिया हुआ दान शीघ्र ही कुल का नाश कर दिया करता है। जो ग्राम धर्म हीनों से समावृत हो और जो बहुत सी व्याधियों से अत्यन्त समाकुल हो उस ग्राम में और शूद्रों के राज्य में एवं

पाखण्डियों से संयुत ग्राम में कभी भी अपना निवास नहीं करना चाहिए हिमवान् और विन्ध्याचल मध्य में पूर्व और पश्चिम दिशाओं में परम शुभ स्थल हैं । समुद्रों के देश को छोड़ कर अन्यत्र द्विज को कहीं पर भी निवास नहीं करना चाहिए । जहाँ पर कृष्ण मृग नित्य ही स्वाभाविक रूप से विचरण किया करता है और जहाँ पर पुण्य एवं विश्रुत नदियाँ बहने लगी हैं वहाँ पर द्विज को निवास करना चाहिए । द्विजोत्तम को नदी के कूल से आधा कोश चलकर निवास करे । अन्य स्थान में पुण्या नदी पर भी वास नहीं करे । तथा अन्त्यजों के ग्राम की सन्निधि में भी कभी निवास नहीं करना चाहिए । पतित—चण्डाल—पुक्कसों के साथ कभी निवास नहीं करे । भूख अवलित—आन्त्य और अन्त्यावसायियों के साथ भी निवास तथा एक ही शय्या—एक ही आसन—पंक्ति—भाण्ड—पक्वान्न मिश्रण—याजन—अध्यापन—योनि तथा सह भोजन—साथ अध्ययन दशवाँ तथा सहायजन एकादश ये दोष निर्दिष्ट किये गये हैं जो साङ्कर्य की संज्ञा पाये होते हैं ॥२६४-२७१॥

समीपे वाप्यवस्थामात्पापं संक्रमते नृणाम् ।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सङ्करं वर्जयेद् बुधः ॥२७२

एकपङ्क्त्युपविष्टा ये नस्पृशन्ति परस्परम् ।

भस्मनाकृतमर्यादा नतेषांसङ्करोभवेत् ॥२७३

अग्निनाभस्मनाचैवसलिलेनविशेषतः

द्वारेणस्तम्भमार्गेणङ्भिपङ्क्तिर्विभिद्यते ॥२७४

नकुर्याद्दुःखवैराणिविवादं चैवपैशुनम् ।

परक्षेत्रे गां चरन्तींनचाचक्षीतकस्यचित् ॥२७५

न सम्बसेत्सुतकिना न कञ्चिन्मर्मणि स्पृशेत् ।

न सूर्यपरिवेशं वा नेन्द्रचापं शवाग्निकम् ॥२७६

परस्मै कथयेद्विद्वाञ्छशिनंवाकदाचन ।

न कुर्याद्बहुभिः साद्धं विरोधं वा कदाचन ॥२७७

समीप में अवस्थान से भी पाप एक से दूसरे पर सक्रमण किया करता है । इसलिये सभी प्रकार के प्रयत्नों के द्वारा बुध पुरुष को सङ्कर

को वजित कर देना चाहिए । जो एक ही पंक्ति में उपविष्ट होकर परस्पर में स्पर्श नहीं करते हैं और भस्म से मर्यादा किये हुए हैं उनको सङ्कर दोष नहीं होता है । अग्नि से—भस्म से—विशेष करके जल से—द्वार से स्तम्भ के मार्ग से—इन छँ उपायों से पंक्ति का भेद किया जाता है । दुःख बर कभी नहीं करने चाहिए—विवाद और पैशुन कर्म भी न करे । पराये खेत में चरती हुई गाय को किसी को भी न बतावे या दिखावे । सूतकी के साथ वास न करे और किसी के मर्मस्थल में स्पर्श नहीं करना चाहिए सूर्य के परिवेश को—इन्द्र धनुष को और शव की अग्नि को कभी नहीं देखना चाहिए । पर पुरुष से विद्वान् को चन्द्र कहना चाहिए और कभी भी बहुतों के साथ विरोध भाव नहीं करे ॥२७२-२७७॥

आत्मनः प्रतिकूलः निपरेषानसमाचरेत् ।
 तिथिं पक्षस्य न ब्रूयात् न क्षत्राणि विनिदिशेत् ॥२७८॥
 नोदक्यामभिभाषेत नाशुचिवा द्विजोत्तमः ।
 न देवगुरुविप्राणां दीयमानं तु वारयेत् ॥२७९॥
 न चात्मानं प्रशंसेद्वा परनिन्दाञ्च वर्जयेत् ।
 वेदनिन्दां देवनिन्दां प्रयेत् न न विवर्जयेत् ॥२८०॥
 यस्तु देवानृषीन् विप्रान् वेदान्वा निन्दति द्विजः ।
 न तस्य निष्कृतिर्दृष्टा शास्त्रेष्विह मुनीश्वराः ॥२८१॥
 निन्दयेद्वै गुरुन्देवान्वेदं वा सोपवृंहणम् ।
 कल्पकोटिशतं साग्नं रौरवे पच्यते नरः ॥२८२॥
 तूष्णीमासीत् निन्दायां न ब्रूयात् किञ्चिदुत्तरम् ।
 कणौ पिधाय गनतव्यं न चेतानवलोकयेत् ॥२८३॥
 वर्जयेद्वै रहस्यञ्च परेषां गूह्येद्बुधः ।
 विवादं स्वजनैः साध्वी न कुर्याद्वै कदाचन ॥२८४॥

जिस व्यवहार को अपने आपके प्रति किये जाने पर प्रतिकूल समझा जावे उस व्यवहार को दूसरों के प्रति कभी भी नहीं करना चाहिए । पक्ष की तिथि को तथा नक्षत्रों को नहीं बोलना चाहिए । अर्थात् विनि-

दिष्ट करना चाहिये । द्विजोत्तम को उदकी स्त्री से तथा अशुचि पुरुष से अभिभाषण नहीं करना चाहिये । देव—द्विज—और गुरुओं के दिये हुए को वारण नहीं करना चाहिये । अपने आपकी प्रशंसा कभी न करे और पराई निन्दा को वर्जित करे । वेदों की निन्दा और देवगण की निन्दा को प्रयत्न पूर्वक विशेष रूप से वर्जित कर देना चाहिये । जो द्विज देवों की ऋषियों की—विप्रों की और वेदों की निन्दा किया करता है उसकी कोई भी निष्कृति (प्रायश्चित्त) नहीं देखी गई है । हे मुनीश्वरो ! शास्त्रों में इस अपराध का कहीं भी प्रायश्चित्त नहीं बताया गया है । गुरु देव और वेद की जो उपवृंहण के साथ निन्दा किया करता है वह नर सैकड़ों करोड़ कल्पों तक नरक में अर्थात् रौरव नरक में पन्यमान होकर यातनाएं भोगा करता है यदि इनकी किसी भी स्थान पर निन्दा की जा रही हो तो स्वयं चुप रहना चाहिए और कोई भी उत्तर नहीं देना चाहिए । अथवा दोनों कानों को ढक कर ही वहाँ से चल देना चाहिए और इनका अवलोकन नहीं करे । बुध पुरुष को रहस्य को वर्जित करना चाहिए तथा दूसरों से इसे गुप्त रखना चाहिए । अपने मनुष्यों के साथ किसी भी समय में विवाद नहीं करना चाहिए ॥२७८-२८४॥

नपायपापिनं ब्रूयादपापं वा द्विजोत्तमाः ।

सतेन तुल्यदोषः स्यान्मिथ्यादि दोषवान् भवेत् ॥२८५॥

यानिमिथ्याभिज्ञस्तानां पतन्त्य श्रूणि रोदनात् ।

तानि पुत्रान् पशून् धनन्ति तेषां मिथ्याभिज्ञं सने ॥२८६॥

ब्रह्म हत्यासुरापाने स्तेयगुर्वङ्गनागमे ।

दृष्टं विशोधनं सद्भिर्नास्ति मिथ्याभिज्ञं सने ॥२८७॥

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं शशिनञ्चा निमित्ततः ।

नास्तं यातं न वारिस्थं नोपसृष्टं न मध्यगम् ॥२८८॥

तिरोहितं वाससा वा नादर्शान्तरगामिनम् ।

न नग्नांस्त्रयमीक्षेत पुरुषं वा कदाचन ॥२८९॥

न च मूत्रं पुरीषं वा न च संसृष्टमैथुनम् ।

नाशुचिः सूर्यसोमादीन् ग्रहानालोकयेद् बुधः ॥२९०॥

पतितव्यं गचण्डालानुच्छिष्टान्नावलोकयेत् ।

नाभिभाषेत च परमुच्छिष्टोवावर्गवितः ॥

न स्पृशेत्प्रेतसंस्पर्शं न क्रुद्धस्य गुरोर्मुखम् ।

न तैलोदकयोश्छायां न पत्नीं भोजने सति ॥२६१

हे द्विजोत्तमो ! पापी पुरुष का पाप नहीं बोलना चाहिए अथवा पापी को और पाप को कभी मुख से न कहे । बोलने से उसके तुल्य दोष हुआ करता है और मिथ्या दोष वाला हुआ करता है । मिथ्या रूप से अभिशस्तों के रोदन से जो अश्रु गिरा करते हैं वे अश्रु उन मिथ्या अभिशंसियों के पुत्रों का और पशुओं का हनन किया करते हैं । ब्रह्म हत्या—सुरापान—स्तेय—गुरु की अङ्गना का अभिगमन इन महापापों का विशोधन सत्पुरुषों ने देखा है किन्तु मिथ्या अभिशंसन में कोई भी विशोधन नहीं होता है । उदय होते हुए आदित्य को नहीं देखे और बिना किसी निमित्त विशेष के चन्द्रमा को भी नहीं देखना चाहिए । अस्त होते हुए, जल में स्थित प्रतिबिम्ब को—उपसृष्ट अर्थात् ग्रहण ग्रस्त को—मध्यकाल में गमन करते हुए को—वस्त्र से तिरोहित किये हुए को और दर्पण में गामी को कभी नहीं देखना चाहिए । किसी भी नग्न स्त्री को तथा नग्न पुरुष को भी नहीं देखना चाहिये । पुरीष (विष्टा) मूत्र और संसर्ग से होने वाला मैथुन को कभी नहीं देखे । अशुनि होते हुए सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहों को बुध पुरुष को कभी नहीं देखना चाहिए । पतित पुरुष—व्यङ्ग (अङ्गहीन या विशेष अङ्गयुक्त)—चण्डाल और उच्छिष्टों का कभी अवलोकन न करे । उच्छिष्ट या अवर्गवित होते हुए दूसरे से सम्भाषण नहीं करना चाहिए । प्रेत से जिसका संस्पर्श हुआ हो उसका स्पर्श न करे और क्रोधित हुए गुरु के मुख को भी नहीं देखे । तेल या जल में अपनी छाया को और भोजन करती हुई पत्नी को भी कभी नहीं देखना चाहिये ॥२८५-२६१॥

नियुक्तबन्धनांगां वा नोन्मत्तं मत्तमेववा ॥२६२

नाऽश्नीयाद् भार्यया साद्धं नैनामीक्षेत मेहनीम् ।

ध्रुवन्तीजृम्भमाणां वा ासनस्थां यथामुखम् ॥२६३

नोदकेचात्मनो रूपं कूलं श्वभ्रमेव वा।

नलङ्घयेच्च मूत्रं वा नाधितिष्ठेत्कदाचन ॥२६४

न शूद्राय मतिदद्यात्कृशरंपायसंदधि ।

नोच्छिष्टं वा घृतमधु नचकृष्णाजिनं हविः ॥२६५॥

नचैवास्मै व्रतंदद्यान्न च धर्मं वदेद्बुधः ।

न च क्रोधवशंगच्छेद्द्वेषं रागश्चवर्जयेत् ॥२६६

लोभंदम्भं तथावर्जयेत्तथाविज्ञानकृत्सनम् ।

मानं मोहं तथाक्रोधं द्वेषश्चपरिवर्जयेत् ॥२६७

न कुर्यात्कस्यचित्पीडां सुतं शिष्यश्च ताडयेत् ।

न हीनानुपसेवेत न च तीक्ष्णमतीन् क्वचित् ॥२६८

नियुक्त बन्धन में रहने वाली गौ को—उन्मत्त को—मत्त को भी नहीं देखना चाहिये । भार्या के साथ ही एक ही थाली या पात्र में कभी भोजन नहीं करना चाहिये और मेहन करती हुई भी अपनी भार्या का अवलोकन नहीं करना चाहिये । छींक लेती हुई—जँभाई लेती हुई और आसन पर सुख पूर्वक बैठी पत्नी को (साधारणतया स्त्री मात्र को) नहीं देखना चाहिये । जल में अपना रूप नहीं देखे तथा कूल और श्वभु को भी नहीं देखना चाहिये । मूत्र का कभी उत्लंघन न करे और न कभी इस पर अधिष्ठित ही होना चाहिए । नीच को मति न देवे तथा कृशर—पायस और दधि भी नहीं देवे । उच्छिष्ट घृत और मधु और कृष्णाजिन तथा हवि नहीं देना चाहिये । नीच को कोई व्रत नहीं देवे तथा बुध पुरुष कोई धर्म की बात भी शूद्र को नहीं बतानी चाहिये । मनुष्य को कभी भी क्रोध के वशवर्ती न होना चाहिए तथा द्वेष और राग का वर्जन कर देना ही उचित है । लोभ—दम्भ—यात्रा विज्ञान कृत्सन—यान—मोह क्रोध और द्वेष को वर्जित कर देवे । कहीं पर भी किसी को पीड़ा नहीं देवे । सुत और शिष्य को ताड़ना देनी चाहिये, हीन जनों का उपसेवन नहीं करे और तीक्ष्ण मति वालों को भी कहीं पर भी उपसेवित न करे ॥२६३-२६८॥

नात्मानञ्चावमन्येतदन्यं यत्नेनवर्जयेत् ।

न चाशिष्यंनसत्कुर्यान्नात्मानंशंसयद्बुधः ॥२९६

न नखैर्विलिखेद्भूमिं गां चसम्वेशयेन्न हि ।

न नदीषुर्नदीब्रूयात्पर्वते न च पर्वतान् ॥३००

आवसेत्तेन नैवापि न त्यजेत्सहयायिनम् ।

नावगाहेदपो नग्नो वह्निञ्चापि ब्रजेत्पदा ॥३०१

शिरोऽभ्यङ्गावशिष्टेनतैलेनाङ्गलेपयेत् ।

नशस्त्रसर्पैः क्रीडेतनस्वानिखानिचस्पृशेत् ॥३०२

रोमाणि च रहस्यानि नाशिष्टेन सव्रजेत् ।

न पाणिपादावग्नौचचापलानिसमाश्रयेत् ॥३०३

न शिश्नोदरयोर्नित्यं न चश्रवणयोःक्वचित् ।

नचाङ्गनखवादं वे कुर्यान्नाञ्जलिनापिवेत् ॥३०४

नाभिहन्याञ्जलंपदभ्यां पाणिना वा कदाचन ।

न शातयेदिष्टकाभिः फलानि सफलानि [न फलेन] च ॥३०५

अपने आपका कभी अवमान नहीं करना चाहिए । दीनता के भाव को यत्न पूर्वक वर्जित करे । जो शिष्य नहीं हो उसका सत्कार नहीं करे और अपने आपको कभी भी बुध पुरुष को संशय में नहीं डालना चाहिए । अपने नखों से भूमि पर लिखना नहीं चाहिए और पृथ्वी पर शयन भी न करे । नदियों में नदी और पर्वत नहीं बोले । उसके साथ आवास कभी नहीं करे तथा जो सहपायी हो उसका त्याग भी न करे । बिल्कुल नंगा होकर अवगाहन नहीं करना चाहिये । अग्नि को भी पद में गमन न करे मस्तक में किये हुए से जो शेष बच गया है उससे फिर अङ्ग में लेपन न करे । सर्पों से और शस्त्रों से कभी क्रीड़ा न करे । अपनी खानियों का स्पर्श नहीं करे । ये रोम रहस्य हैं । अशिष्ट पुरुष के साथ कहीं पर भी गमन नहीं करे । हाथ पैरों में और अग्नि में चपलता के कर्म नहीं करे । शिश्न और उदर में भी चपलता का कर्म नित्य नहीं करना चाहिये और श्रवणों में नखाङ्ग और नखवाद न करे तथा अञ्जलि से कभी जल का पान नहीं करे । पैरों से जल में हनन नहीं करे और हाथों

से भी न करे । जो फल वाले वृक्ष हैं उन पर तथा फलों पर इटों के द्वारा शासन नहीं करना चाहिए ॥२६६-३०५॥

न म्लेच्छभाषणं शिक्षेन्नाकर्षेच्चपदासनम् ।

न भेदेनमधिस्फोटं छेदनं वा विलेखनम् ॥३०६

कुर्याद्विमर्दनं धीमान्नाकस्मादेव निष्फलम् ।

नोत्सङ्गे भक्षयेद्भक्ष्यान् वृथाचेष्टाञ्च नाऽऽचरेत् ॥३०७

ननृत्येदथवागायेन्नवादित्राणिवादयेत् ।

नसंहताभ्यांपाणिभ्यांकण्डूयेदात्मनःशिरः ॥३०८

नलौकिकैस्तवैर्देवांस्तोषयेद्भेषजैरपि ।

नाक्षैःक्रीडेन्नधावेतनाप्सुविण्मूत्रमाचरेत् ॥३०९

नोच्छिष्टः सम्बिशेन्नित्यं न नग्नः स्नानमाचरेत् ।

न गच्छन्नपठेद्वापि न चैव स्वशिरः स्पृशेत् ॥३१०

न दन्तैर्नखरोमाणि छिन्द्यात्सुप्तं न बोधयेत् ।

न बालातपमासेवेत् प्रेतधूमं विवर्जयेत् ॥३११

नैकः सुप्याच्छून्यगृहेस्वयंनोपानहौहरेत् ।

नाकारणाद्वानिष्ठीवेन्नबाहुभ्यांनदींतरेत् ॥३१२

म्लेच्छों के भाषण को कभी नहीं सीखे और पदासन का आकर्षण न करे । अधिस्फोट का भेदन-छेदन अथवा विलेखन नहीं करना चाहिए । धीमान् पुरुष को अचानक निष्फल विमर्दन नहीं करना चाहिए । अपनी गोद में रख कर भक्ष्य पदार्थों का भोजन नहीं करना चाहिए । कभी भी वृथा चेष्टाओं का समाचरण नहीं करना चाहिए । अर्थात् ऐसी कोई भी चेष्टा न करे जिसका कोई भी प्रयोजन न हो । नृत्य न करे--गायन न करे और वाद्यों का वादन नहीं करे । दोनों हाथों को संहत अर्थात् मिलाकर अपने शिर को न खुजावे । लौकिक स्तवों से तथा भेषजों से देवों को सन्तोषण नहीं करना चाहिए अक्षों के द्वारा कभी क्रीड़ा न करे अर्थात् द्यूत न खेले—कभी धावन न करे और जल में कभी भी मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए । उच्छिष्ट होकर ही शयन नहीं करे तथा नित्य ही नग्न होकर स्नान नहीं करना चाहिए । जाते हुए अर्थात् मार्ग में गमन करते हुए पठन न करे

तथा अपने सिर का स्पर्श न करे । अपने ही दाँतों से नखों को और रोमों को छिन्न नहीं करना चाहिए । जो कोई सो रहा हो उसको जगाना भी नहीं चाहिए । बालातप का सेवन न करे और प्रेत अर्थात् मुर्दे की धुँआ को वर्जित कर देना चाहिए । किसी भी सूने घर में अकेला शयन न करे । स्वयं उपानहों (जूतों) का हरण[लेकर चलना] न करे । बिना ही कारण के कभी थूक न थूके और अपनी बाहुओं के सहारे अर्थात् तैर कर नदी को पार न करे ॥३०६-३१२॥

न पादक्षालनं कुर्यात्पादेनैव कदाचन ।

नाग्नौ प्रतापयेत्पादौ न कांस्ये धावयेद्बुधः ॥३१३

नातिप्रसारयेद्देवं ब्राह्मणान् गामथापिवा ।

वाय्वग्निगुरुविप्रान्वासूर्यवाशशिनम्प्रति ॥३१४

अशुद्धः शयनं यानं स्वाध्यायं स्नानभोजनम् ।

बहिर्निष्क्रमणञ्चैव न कुर्वीत कथञ्चन ॥३१५

स्वप्नमध्ययनं यानप्रमुञ्चार्भोजनं गतिम् ।

उभयोः सन्ध्ययोनित्यं मध्याह्ने तु विवर्जयेत् ॥३१६

न स्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टो विप्रो गोब्राह्मणाऽनलान् ।

न चैवान्नं पदा वापि न देवप्रतिमां स्पृशेत् ॥३१७

नाशुद्धोऽग्निं परिचरेन्न देवान्कीर्तयेद्दृषीन् ।

नावगाहेदगाधाम्बु धारयेन्नाग्निमेकतः ॥३१८

न वामहस्तेनोद्धृत्यपिबेद्वक्त्रेण वा जलम् ।

नोत्तरेदनुपस्पृश्य नाप्सुरेत् समुत्सृजेत् ॥३१९

अपने पाद से ही पाद का क्षालन न करे और अपने पैरों को अग्नि की ज्वाला में कभी नहीं तपावे तथा बुध पुरुष को काँस्य पात्र में धावन नहीं करना चाहिए । देव को—ब्राह्मणों को और गौ को—वायु—अग्नि—गुरु विप्र—सूर्य और चन्द्र के प्रति अतिप्रसारण न करे अर्थात् पैरों को न फैलाए । अशुद्ध शयन—स्नान—यान—स्वाध्याय—भोजन और बाहिर निष्क्रमण किसी भी प्रकार से नहीं करना चाहिए । स्वप्न(शयन करना)

अध्ययन—यान—उच्चार—भोजन और गति अर्थात् गमन ये कर्म नित्य ही दोनों सन्धिकालों में और ठीक मध्याह्न के समय में नहीं करने चाहिये । उच्छिष्ट होकर अपने ही हाथ से विप्र को गौ—ब्राह्मण और अग्नि का स्पर्श नहीं करना चाहिए । पैर से कभी अन्न का तथा देव की प्रतिमा का स्पर्श नहीं करे । जिस समय में स्वयं अशुद्धि की दशा में वर्तमान हो तो उस समय में अग्नि की परिचर्या तथा देवों और ऋषियों का कीर्त्तन नहीं करना चाहिए । जो जल कहीं भी जलाशय में अगाध हो वहाँ पर अवगाहन करना चाहिए । अकेला अग्नि को धारण कभी न करे । कभी भी बाँये हाथ से उठा कर मुख से जल का मान नहीं करे । उपस्पर्शन किये बिना कभी भी जल में उत्तरण नहीं करना चाहिए । जल में रेत का समुत्सर्जन कभी नहीं करे ॥३१३-३१६॥

अमेध्यलिप्तमन्यद्वालोहितंवाविषाणि वा ।

व्यतिक्रमेन्नस्त्रवन्तीनाप्सुमैथुनमाचरेत् ॥३२०

चैत्यं वृक्षं न वै छिन्द्यान्नाप्सु क्षीवनमुत्सृजेत् ।

नास्थिभस्मकपालानि न केशान्तं च कण्टकान् ।

ओषाङ्गारकरीषं वा नाधितिष्ठेत्कदाचन ॥३२१

न चाग्निं लङ्घयेद्धीमान्नोपदध्यादधःक्वचित् ।

न चैनं पादतः कुर्यान्मुखेन न धमेद्बुधः ॥३२२

न कूपमवरोहेत् नाऽऽवक्षीताशुचिः क्वचित् ।

न ग्नौ न प्रक्षिपेदग्निं नाद्भिः प्रशयेत्तथा ॥३२३

सुहृन्मरणमार्त्तिं वा न स्वयं श्रावत्रयेत्परान् ।

अपण्यमथपण्यम्वा विक्रयेन प्रयोजयेत् ॥३२४

न वह्निं मुखनिश्वासेज्वालयेन्नाशुचिर्बुधः ।

पुण्यस्नानोदकस्नानेसीमान्तं वा कृषेन्नतु ॥३२५

न भिन्द्यात्पूर्वसमयं सत्योपेतं कदाचन ।

परस्परं पशून् व्यालान् पक्षिणो नावबोधयेत् ॥३२६

अपवित्र पदार्थ से लिप्त अन्य को—लोहित अथवा विषों का कभी व्यतिक्रमण न करे । स्रवण करती हुई से जल में कभी मैथुन न करे ।

चैत्य वृक्ष का छेदन न करे और जल में ष्ठीवन (थूकना) न करे ।
 अस्थि—भस्म—कपाल केश—कंटक—ओषाङ्गार करीष इन पर कभी
 भी अधिष्ठित नहीं होना चाहिए । जो बुद्धिमान है उसका कर्तव्य है कि
 अग्नि का समुल्लंघन नहीं करे और कहीं पर भी नीचे की ओर उपध्यान
 न करे । अग्नि को पैर से न छूए और बुध नर को अग्नि का धमन मुख
 से फूँक मारकर कभी भी नहीं करना चाहिये । कूप में कभी भी अवतरण
 न करे और अशुचि होकर कहीं पर भी नहीं देखे । अग्नि में अग्नि का
 प्रक्षेप नहीं करना चाहिये तथा जल से प्रशमन भी नहीं करे । अपने किसी
 मित्र की मृत्यु का समाचार तथा पीड़ा को दूसरों को स्वयं ही कभी
 श्रवण नहीं कराना चाहिए । अपण्य अथवा पण्य के विक्रय में प्रयुक्त न
 करे । बुध पुरुष को अशुचि रहते हुए अपने ही मुख के निश्वासों के द्वारा
 अग्नि का ज्वालन नहीं करना चाहिए । पुण्य स्नान और उदक स्नान
 अथवा सीमान्त न करे । सत्य से उपेत पूर्व समय को कभी भी भेदन
 नहीं करना चाहिए । परस्पर में पशुओं—व्यालों और पक्षियों का कभी
 भी अवबोधन नहीं कराना चाहिए ॥३२०-३२६॥

पनवाधां न कुर्वीतजलपानायनादिभिः ।

कारयित्वासुकर्माणिकारुन्पश्चान्नवर्जयत् ।

सायं प्रातर्गृहद्वारान् भिक्षार्थं नाऽवघाटयेत् ॥३२७

बहिर्माल्यं बहिर्गन्धं भार्यया सह भोजनम् ।

विगृह्य वादं कुद्वारप्रवेशश्चविवर्जयेत् ॥३२८

न खादन्ब्राह्मणस्तिष्ठैश्चजल्पन्नहसन् बुधः ।

स्वमग्निर्नवहस्तेनस्पृशेन्नाप्सुचिरंवसेत् ॥३२९

न पक्षकेणोपधमेन्न शूर्पेण न पाणिना ।

मुखेनैव धमेदग्निं मुखादग्निरजायत ॥३३०

परस्त्रियं न भाषेतनायाज्यं याजयेद्द्विजः ।

नैकश्चरेत्सभांविप्र समवायश्चवर्जयेत् ।

देवतायतनं गच्छेत्कदाचिन्नाप्रदक्षिणम् ॥३३१

न वीजयेद्वा वस्त्रेण न देनायतने स्वपेत् ।

नैकोऽध्वानं प्रपद्येत नाधार्मिकजनैः सह ॥३३२

न व्याधिदूषितैर्वापि न शूद्रैः पतितैर्न वा ।

नोपानर्द्धजितोऽध्वानं जलादिरहितस्तथा ॥३३३

जलपान और अयन आदि के द्वारा दूसरों को बाधा कभी नहीं करनी चाहिए । अच्छे कर्मों को कराकर जो उन कर्मों के करने वाले काह अर्थात् कारीगर हैं पीछे कभी वर्जित नहीं करना चाहिए । सायं काल में और प्रातःकाल में घर के द्वारों को भिक्षा के लिये कभी बन्द नहीं करना चाहिए । वहिमर्त्य—वहिरिगन्ध—भार्या के साथ में एक साथ एक ही पात्र में भोजन करना—विग्रह करके वार और कुद्वार से प्रवेश करना—इन सब कर्मों को वर्जित कर देना चाहिए । ब्राह्मण को कुछ भी खड़े होकर नहीं खाना चाहिए । और बुध पुरुषों को वातचीत करते हुए तथा हास्य हंसते हुए भी कभी भोजन नहीं करना चाहिए । अपनी अग्नि को हाथ से स्पर्श नहीं करे और चिरकाल पर्यन्त जल में भी वास नहीं करे किसी पक्षक (परेवा) के द्वारा—शूर्प से तथा हाथ से अग्नि का धमन नहीं करे । मुख से ही किसी साधन के द्वारा अग्नि का धमन करे क्योंकि यह अग्नि मुख से ही समुत्पन्न भी हुए हैं । जो स्त्री किसी दूसरे पुरुष की है उससे कभी भी भाषण नहीं करना चाहिए । द्विज को जो कोई भी यजन करने की योग्यता से शून्य है उस से याजन नहीं कराना चाहिये । विप्र को एकाकी सभामें सञ्चरण नही करना चाहिए और अधिक समवाय को भी वर्जित कर देना चाहिए । बिना प्रदक्षिणा के किसी भी देवता के आयतन में कभी नहीं जाना चाहिए । वस्त्र से वीजन न करे और देवायतन में कभी शयन भी नहीं करना चाहिए । मार्ग में भी कभी अकेला नहीं गमन करे तथा जो जन अधार्मिक हों उनके साथ भी कभी मार्ग में गमन न करे । किसी भी व्याधि से दूषित हों—शूद्र अथवा पतित हों उनके साथ भी मार्ग में गमन नहीं करे । मार्ग गमन कभी जूतों से रहित अर्थात् नंगे पैरों से नहीं करे और जलपात्र आदि से रहित होकर भी मार्ग गमन नहीं करना चाहिए ॥३२७-३३३॥

न रात्रावरिणासाद्धं न विना कमण्डलुम् ।
 नाग्निगो ब्राह्मणादानामन्तरेण ब्रजे त्ववचित् ॥३३४
 निवत्स्यन्तीं न वनितामतिक्रामेद् द्विजोत्तमाः ।
 न निन्देद्योगिनः सिद्धान् गुणिनो वा यतींस्तथा ॥३३५
 देवतायतने प्राज्ञो न देवानाञ्च सन्निधौ ।
 नाक्रामेत्कामतश्छायां ब्राह्मणानांगवामपि ॥३३६
 स्वां तु नाऽऽक्रमयेच्छायां पतिताद्यैर्न रोगिभिः ।
 नाङ्गारभस्मकेशादिष्वधितिष्ठेत्कदाचन ॥३३७
 वर्जयेन्मार्जनीरेणुं स्नानवस्त्रघटोदकम् ।
 न भक्षयेदभक्ष्याणि नापेयञ्चपिबेद्द्विजाः ॥३३८

रात्रि के समय में और किसी शत्रु के साथ में तथा बिना कमण्डल
 आदि जल पात्र के भी यात्रा अर्थात् मार्ग में गमन नहीं करना चाहिए ।
 अग्नि—गौ—ब्राह्मण आदि के अन्तर से कहीं भी गमन न करे । हे
 द्विजोत्तमो ! निवास करती हुई वनिता का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए
 जो योगी पुरुष हों—सिद्ध हों—गुणवान् हों अथवा यति हों उनकी
 निन्दा कभी नहीं करनी चाहिए । प्राज्ञ पुरुष को किसी भी देवता के
 आश्रयतन में तथा देवताओं की सन्निधि में स्वेच्छा से ब्राह्मणों की और
 गौओं की भी छाया का आक्रमण नहीं करना चाहिए अपनी छाया को
 भी पतित आदि पुरुषों के तथा रोग युक्तों के द्वारा आक्रान्त न होने देना
 चाहिए । अङ्गार—भस्म और केश आदि पर कभी भी अधिष्ठित नहीं
 होना चाहिए । मार्जनी (बुहारी) की धूलि है उसको और स्नान वस्त्र के
 घटोदक को भी वर्जित कर देवे । हे द्विजगण ! जो पदार्थ शास्त्र में
 अभक्ष्य बताया गये हैं उनको कभी नहीं खाना चाहिए । जो अपेय हो
 उसका पान भी कभी न करे ॥३३४-३३८॥

नाऽद्याच्छूद्रस्य विप्रोऽन्नं मोहाद्वा यदि वाऽन्यतः ।
 स शूद्रयोनिं व्रजति यस्तु भुङ्क्ते ह्यनापदि ॥३३९
 षण्मासान्यो द्विजो भुङ्क्ते शूद्रस्यान्नं विगहितम् ।
 जीवन्नेव भवेच्छूद्रो मृत (मृतःश्वा) एवाभिजायते ॥३४०

ब्राह्मणक्षत्रियाविशंशूद्रस्यचमुनीश्वराः ।

यस्यान्नेनोदरस्थेनमृतस्तद्योनिमाप्नुयात् ॥३४१॥

नटान्नं तर्त्तिकानश्च तक्षणोऽन्नं कर्मकारिणः ।

गणान्नंगणिकान्नश्चषडन्नानिच वर्जयेत् ॥३४२॥

चक्रोपजीविरजकतस्करध्वजिनां तथा ।

गन्धर्वलोहकारान्नं सूतकान्नश्च वर्जयेत् ॥३४३॥

कुलार्चित्रकम्मन्निं वाद्धुषेः पतितस्यच ।

सुवर्णकारशैलूषव्याधबद्धातुरस्य च ॥३४४॥

चिकित्सकस्य चैवान्नं पुंश्चल्या दण्डकस्य च ।

स्तेननास्तिकयोरन्नं देवतानिन्दकस्य च ॥३४५॥

महर्षि प्रवर श्रीव्यास देव ने कहा—विप्र को शूद्र का अन्न मोह के बश में आकर अन्य लोभादि के कारण कभी भी नहीं खाना चाहिए । जो बिना ही किसी आपत्ति के समय के शूद्र का अन्न खाता है वह शूद्र की ही योनि को प्राप्त किया करता है । कोई विशेष आपत्ति का समय ही उपस्थित हो भले ही विप्र शूद्रान्न का सेवन कर लेवे अन्यथा जो द्विज छै मास पर्यन्त विगर्हित शूद्र के अन्न का सेवन करता है अर्थात् खाता है वह जीवित रहते हुए ही शूद्र हो जाता है और मर कर तो कुत्ता हुआ करता है । हे मुनिश्वरो ! ब्राह्मण—क्षत्रिय—वैश्य के तथा शूद्र के अन्दर जिस किसी का भी अन्न उदर में रखते हुए मनुष्य मृत होता है उसी की योनि में जन्म ग्रहण किया करता है—यह अन्न का महान् प्रभाव होता है । नट का अन्न—नृत्य करने वाले का अन्न—तक्षा (बढ़ई) का अन्न—कर्मकारी का अन्न—गण का अन्न और वेश्या का अन्न ये छै लोगों के अन्नो को वर्जित कर देना चाहिए अर्थात् इन छै का अन्न अत्यन्त निषिद्ध अन्न होता है । चक्र (चाक) के द्वारा उपजीविका करने वाला (कुम्हार) —रजक—तस्कर—ध्वजी—गन्धर्व—लोहकार (लुहार) का अन्न तथा सूतक जिसको भी हो चाहे जातक या मृतक कैसा ही हो उसका अन्न—इन समस्त अन्नो को वर्जित कर देना चाहिए । कुलाल—चित्र कर्मों के करने वाला—वाद्धुषि—पतित—सुवर्णकार—शैलूष—व्याध

—वद्ध—आतुर—चिकित्सा करने वाला—पुंश्चली स्त्री—दण्डक—
—स्तेन—नास्तिक और देवों की निन्दा करने वाला—इन सबके अन्न
का विप्र को वर्जित कर देना चाहिए ॥३३६-३४५॥

सोमविक्रयिणश्चान्नं श्वपाकस्य विशेषतः ।

भार्याजितस्य चैवान्नं यस्य चोपपत्तिर्गृहे ॥३४६

उच्छिष्टस्य कदर्यस्य तथैवोच्छिष्टभोजिनः ।

अपङ्क्तयन्नश्च संधान्नं शस्त्रजीवस्य चैव हि ॥३४७

क्लीवसन्न्यासिनश्चान्नं मत्तोन्मत्तस्य चैव हि ।

भीतस्य रुदितस्यान्नमवकृष्टं परिग्रहम् ॥३४८

ब्रह्मद्विषः पापरुचेः श्राद्धान्नं सूतकस्य च ।

वृथापाकस्य चैवान्नं शठान्नं चतुरस्य च ॥३४९

अप्रज्ञानान्तु नारीणां भृतकस्य तथैव च ।

कारुकान्नं विशेषेण शस्त्रविक्रयिणस्तथा ॥३५०

शौण्डान्नं धातिकान्नश्च भिषजामन्नमेव च ।

विद्धप्रजनस्यान्नं परिवेत्रन्नमेव च ॥३५१

पुनर्भुवो विशेषेण तथैव दिधिषूपतेः ।

अवज्ञातं चावधूतं सरोषं विस्मयान्वितम् ॥३५२

गुरोरपि न भोक्तव्यमन्नं संस्कारवर्जितम् ।

दुष्कृतं हिमनुष्यस्य सर्वमन्नेव्यवस्थितम् ॥३५३

जो सोम का विक्रय किया करता है उसका अन्न और विशेष रूप
में श्वपाक का अन्न—जो अपनी भार्या से जीत लिया गया हो उसका
अन्न, जिसके घर में ही कोई भार्या का उपपत्ति रहता हो वर्जित करे।
उच्छिष्ट—कदर्य—उच्छिष्ट भोगी का अन्न तथा पत्ति से हीन अन्न—
संध का अन्न और जो शस्त्रों के द्वारा ही जीविका चलाता हो उसका
अन्न भी विप्र को वर्जित कर देना चाहिए। क्लीव—सन्न्यासी—मत्त—
उन्मत्त—भीत रुदित का अन्न अवकृष्ट परिग्रह अन्न को वर्जित करे।
ब्राह्मण से द्वेष करने वाले—पाप कर्म में रुचि रखने वाले का अन्न—

श्राद्ध का अन्न—सूतक से संयुक्त का अन्न—वृथापाक का अन्न—शठ और चतुर का अन्न भी वर्जित अन्न कहा गया है। जिन स्त्रियों के कोई भी सन्तान न हो उन नारियों का अन्न, मृतकों का अन्न, कारुओं का अन्न और विशेष करके शास्त्रों के विक्रय करने वाले का अन्न भी वर्जित अन्न होता है। शौण्डान्न, घातिक का अन्न, भिषजों का अन्न, विद्ध प्रजनन का अन्न, परिवेष्ट का अन्न, विशेष करके पुनर्भू का अन्न, दिधि-पूपस्व का अन्न, अवज्ञात, अवधूत, रोषसहित विस्मय से अन्वित, गुरु का अन्न और संस्कार से वर्जित अन्न कभी नहीं खाना चाहिए। मनुष्य का सारा दुष्कृत अन्न में ही व्यवस्थित होता है ॥३४६-३५३॥

यो यस्यान्नं समश्नाति स तस्याश्नाति किल्बिषम् ।

आद्विकः कुलमित्रश्च स्वगोपालश्च नापितः ॥३५४

कुशीलवः कुम्भकारः क्षेत्रकर्मक एव च ।

एते शूद्रेषु भोज्यान्नं दत्त्वा स्वल्पं पणं बुधैः ।

पायसं स्नेहपक्वं यत् गोरसञ्चैव सक्तवः ॥३५५

पिण्याकञ्चैव तैलञ्च शूद्रादग्रह्यं तथैव च ।

वृन्ताकञ्जालिकाशाकं कुसुम्भाश्मन्तकं तथा ॥३५६

पलाण्डुं लशुनं निर्यासञ्चैव वर्जयेत् ।

छत्राकं विड्वराहञ्च शैलं पीपूषमेव च ॥

विलयं सुमुखञ्चैव कवकानि च वर्जयेत् ।

गृञ्जनं निशुकञ्चैव कुक्कुटं च तथैव च ॥३५७

उदुम्बरमलाबुं च जग्धवा पतित वै द्विजः ।

वृथाकृशरसयावं पायसापूपमेव च ॥३५८

जो जिसका अन्न खाता है वह उसके किल्बिष को खा लेता है ।

आद्विक—कुलमित्र—अपना गोपाल—नापित—कुशीलव—कुम्भकार—क्षेत्र पर कर्म करने वाला—इन शूद्रों को भोज्यान्न देकर बुधों के द्वारा स्वल्प पण देकर पायस—स्नेह (घृतादि) से पक्व—गोरस—सतुआ—पिण्याक और तैल शूद्र से भी ग्रहण कर लेना चाहिए । वृन्ताक—जालिका शाक—कुसुम्भाश्मन्तक—पलाण्डु (प्याज)—लशुन—सूत और निर्यास

(गौं०) इन सबको वर्जित कर देना चाहिए । गाजर—किशुक—उदुम्बर—अलाबु को खाकर द्विज पतित हो जाया करता है । वृथा कृशरसंयाव—पायसा पूष को भी वर्जित कर देवे ॥३५४-३५८॥

नीपं कथित्थं प्लक्षं च प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥३५९॥

पिण्याकं चोद्धृतस्नेहं दिवाधानास्तथैव च ॥३६०॥

रात्रोचलिसम्बद्धं प्रयत्नेन दधित्यजेत् ।

नाश्नीयापयसातक्रं न बीजान्युपजीवयेत् ॥३६१॥

क्रियादुष्टं भवादुष्टमसत्सङ्गं विवर्जयेत् ।

केशकीटावपन्नं च स्वभूर्लेखं च नित्यशः ॥३६२॥

श्राघ्रातं च पुनः सिद्धं चण्डालावेक्षितं तथा ।

उदकयया च पतितैर्गवा चाऽऽघ्रातमेव च ॥३६३॥

अनर्चितं पर्युषितं पर्याभ्रान्तं च नित्यशः ।

काककुक्कुटसंस्पृष्टं कृमिभिश्च वसंयुतम् ॥३६४॥

मनुष्यैरथवा घ्रातं कुष्ठिना स्पृष्टमेव च ।

न रजस्वलादत्तं न पुंश्चल्या सरोषकम् ॥३६५॥

नीप—कथित्थ—प्लक्ष को प्रयत्न पूर्वक वर्जित कर देना चाहिए ।

पिण्याक—उद्धृत स्नेह—दिवाधान—रात्रि में तिलों से सम्बन्ध पदार्थ का भी परिवर्जन कर देना चाहिए । तथा दधि का भी रात्रि में त्याग कर देवे । पायस और तक्र एक ही बार में कभी नहीं खाने चाहिए और बीजों को कभी उपजीवित नहीं करे । जो भोज्य पदार्थ क्रिया से दुष्ट हो—भाव से दूषित हो और असत्सङ्ग वाला हो उसको विवर्जित कर देना चाहिए । केश और कीटों से अवपन्न—नित्य स्वभूर्लेख—कुत्ते के द्वारा आघ्रात—पुनः सिद्ध—चण्डाल के द्वारा अवेक्षित—उदकी (रजस्वला स्त्री) के द्वारा—पतितों से और गौ के द्वारा आघ्रात—अनर्चित—पर्युषित—नित्य ही पर्याभ्रान्त—काक तथा कुक्कुट के द्वारा संस्पर्श किया हुआ तथा कृमियों से समन्वित—मनुष्य अथवा कुष्ठि के द्वारा स्पर्श किया हुआ—रजस्वला के द्वारा दिया हुआ—पुंश्चली स्त्री के द्वारा दिया हुआ और

रोष पूर्वक दिया हुआ भी भोज्य पदार्थ अभक्ष्य हो जाता है और उसे व्रजित कर देना चाहिए ॥३५६-३६५॥

अहन्यहनिकर्तव्यं ब्राह्मणानां महामुने ! ।

तदाचक्ष्वाखिलं कर्म येन मुच्येत् बन्धनात् ॥३६६

वक्ष्ये समाहिता यूयं शृणुध्वंगदतो मम ।

अहन्यहनि कर्तव्यं ब्राह्मणानां क्रमां द्विधिम् ॥३६७

ब्राह्मे मुहूर्त्ते तूत्थाय धर्ममर्थञ्च चिन्तयेत् ।

कायक्लेशञ्च यन्मूलं ध्यायेय मनसे श्वरम् ॥३६८

उषःकाले च सम्प्राप्ते कृत्वा चावश्यकं बुधः ।

स्नायान्नदीषु शुद्धा मुशौचं कृत्वा यथाविधि ॥३६९

प्रातःस्नानेन पूयन्ते येऽपि पाकृतो जनाः ।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रातःस्नानं समाचरेत् ॥३७०

प्रातःस्नानं प्रशंसन्ति दृष्टादृष्टकरं हि तत् ।

ऋषीणां मृषितानित्यं प्रातःस्नानान्न संशयः ॥३७१

मुखे सुप्तस्य सततं लाला याः संस्रवन्ति हि ।

ततो नैवाचरेत्कर्म अकृत्वा स्नानमादितः ॥३७२

ऋषिगण ने कहा—हे महामुने ! दिन प्रतिदिन ब्राह्मणों का जो भी कर्तव्य कर्म हो उसे सम्पूर्ण को आप हमको बतलाइये जिसके द्वारा प्रिय सांसारिक बन्धन से विमुक्त हो जाया करता है । महर्षि श्री व्यास देव ने कहा—आप लोग पूर्णतया समाहित हो जाइये मैं सब बतलाऊँगा आप लोग कहते हुए मुझसे श्रवण कीजिए कि नित्य प्रति ब्राह्मणों का क्या कर्तव्य होता और क्रम से उसकी क्या विधि है । ब्राह्मणों को ब्रह्म-मुहूर्त्त में ही शय्या का त्याग कर उठ जाना चाहिए और उठकर उसे सर्व प्रथम धर्म तथा अर्थ का चिन्तन करना चाहिए । काया के क्लेश का जो मूल कारण है उस मन से ईश्वर का ध्यान करना चाहिए । जब उषा काल सम्प्राप्त हो जावे तो बुध पुरुष को शौचादि शरीर के अत्यावश्यक कर्म करने चाहिए । फिर शुद्ध नदी में यथाविधि शौच का सम्पादन कर के स्नान करना चाहिए । प्रातःकाल के समय में स्नान करने से पाप कर्म

करने वाले भी मनुष्य पवित्र हो जाया करते हैं । इसलिये सब प्रकार के प्रयत्न से प्रातःकाल में ही स्नान करना चाहिए । प्रातःकाल के स्नान की बहुत अधिक महिमा है । प्रातः काल में किये गये स्नान की सब अत्यधिक प्रशंसा किया करते हैं क्योंकि यह दृष्ट और अदृष्ट का सम्पादन करने वाला होता है । अर्थात् इससे ही अदृष्ट का निर्माण होता है । ऋषिगणों का जो ऋषित्व है वह भी प्रातः स्नान के कारण से ही है — इसमें कुछ भी संशय नहीं है । सोये हुए मनुष्य के मुख में जो लाला (लार) स्रवण किया करती है । आदि में स्नान न करके फिर कोई भी कर्म नहीं करना चाहिए ॥३६६-३७२॥

अलक्ष्मको जलं किञ्चित् दुःस्वप्नं दुर्विचिन्तितम् ।

प्रातःस्नानेन पापानि पूयन्ते नात्र संशयः ॥३७३

अतः स्नानं विना पुंसां पावनं (पापित्वं) कर्म सुस्मृतम् ।

होम जप्ये विशेषेण तस्मात्स्नानं समाचरेत् ॥३७४

अशक्तावशिरस्कं वा स्नानमस्य विधीयते ।

आर्द्रेण वा ससावाथमार्जनं पावनं स्मृतम् ॥३७५

आयत्ये वै समुत्पन्ने स्नानमेव समाचरेत् ।

ब्राह्मादीनामथाशक्तौ स्नानान्याहुर्मनीषिणः ॥३७६

ब्राह्ममाग्नेयमुद्दिष्टं वायव्यं दिव्यमेव च ।

वारुणं यौगिकं यच्चाषाढा स्नानं समासतः ॥३७७

ब्राह्मं तु मार्जनं मन्त्रैः कुशैः सोदकविन्दुभिः ।

आग्नेयं भस्मना पादमस्तकाद् हृद् धूलनम् ॥३७८

गवां हि रजसा प्रोक्तं वायव्यं स्नानमुत्तमम् ।

यत्तु सातपवर्षेण स्नानं तद्दिव्यमुच्यते ॥३७९

अलक्ष्मक जल—कोई भी दुःस्वप्न और दुर्विचिन्तित ये सब प्रातः स्नान करने से पाप पवित्र हो जाया करते हैं—इसमें कुछ भी संशय नहीं है । इसीलिये स्नान के बिना मनुष्यों का पावन (पापित्व) कर्म सुस्मृत किया गया है । विशेष रूप से होम—जाप में इसीलिये स्नान अवश्य ही करना चाहिए । यदि सर्वाङ्ग स्नान करने में असमर्थता हो तो शिर के

ऊपर जल न देकर ही इसके स्नान का विधान किया जाता है । और इसके भी करने की शक्ति न हो तो गीले वस्त्र से सर्वांग का मार्जन करना ही पावन बताया गया है । आगत्य के समुत्पन्न होने पर तो स्नान ही करना चाहिए । ब्राह्मण आदि वर्णों की अशक्ति होने पर मनीषियों ने अन्य स्नान भी बतलाये हैं । संक्षेप से छै प्रकार के स्नान बताये गये हैं । उनके नाम—ब्राह्म—आग्नेय—वायव्य—दिव्य—वारुण और योगिक ये छै उन स्नानों के नाम हैं । ब्राह्म स्नान वह होता है जिसमें मन्त्रों से उदक की बिन्दुओं के सहित कुशाओं से मार्जन किया जाता है । आग्नेय वह स्नान कहा जाता है जिसमें भस्म से मस्तक से लेकर पाद पर्यन्त सम्पूर्ण देह को धूलित कर लिया जाता है । वायव्य स्नान वह होता है जिसमें गौओं के खुरों से समुत्थित धूलि से उत्तम स्नान किया जाता है । जो सूर्यातप के होते हुए वर्षा की बूँदें पड़ा करती हैं उनसे ही स्नान किया जाता है वही दिव्य स्नान कहा जाया करता है ॥३७३-३८१॥

वारुणश्चावगाहस्तु मानसं स्वात्मवेदनम् ।

योगिनां स्नानमाख्यातं योगे विश्वादिचिन्तनम् ॥३८०॥

आत्मतीर्थमितिख्यातंसेवितंब्रह्मवादिभिः ।

मनःशुद्धिकरं पुं सान्तिव्यंतस्नानमाचरेत् ॥३८१॥

शक्तश्चेद्धारुणं विद्वान् प्रायश्चित्तेतथैव च ।

प्रक्षाल्य दन्तकाष्ठं वै भक्षयित्वाविधानतः ॥३८२॥

आचम्य प्रयतो नित्यं स्नानं प्रातः समाचरेत् ।

मध्याह्नं लिसमस्थौल्यं द्वादशाह्णं लसम्मितम् ॥३८३॥

सत्त्वचं दन्तकाष्ठं स्यात्तदग्रेण तु धावयेत् ।

क्षीरवृक्षसमुद्भूतं मालतीसम्भवं शुभम् ।

अपामार्गश्च विल्वश्च करवीरं विशेषतः ॥३८४॥

वर्जयित्वा निन्दितानिगृहीत्वैकं यथोदितम् ।

परिहृत्य दिनं पापं भक्षयेद्द्वं विधानवित् ॥३८५॥

नोत्पादयेद्दन्तकाष्ठं नांगुल्यग्रेण धारयेत् ।

प्रक्षाल्य भक्त्वा तज्जह्याच्छुचौ देशे समाहितः ॥३८६॥

स्नात्वा सन्तर्प्येद्देवानृषीन् पितृगणांस्तथा ।

आचम्य मन्त्रविन्नित्यं पुनराचम्य वाग्यतः ॥३८७

वारुण स्नान वह होता है जिसमें अपनी आत्मा का ज्ञान स्वरूप अव-
गाहन किया जाता है । योगियों का यौगिक स्नान हुआ करता है और
यह स्नान उन्हीं का बतलाया गया है जो योगाभ्यास में विश्व आदि का
चिन्तन किया जाता है । आत्मा को तीर्थ कहा गया है जो आत्मतीर्थ
नाम से विश्रुत है और ब्रह्मवादियों के द्वारा सेवित होता है । यह पुरुषों
के मन की शुद्धि करने वाला स्नान है अतएव नित्य ही इस स्नान को
करना चाहिए । यदि शक्ति सम्पन्न हों तो वारुण स्नान करे तथा प्राय-
श्चित्त में भी करे । दन्तकाष्ठ (दाँतुन) को प्रक्षालित करके विधान से
उसका भक्षण करे । फिर प्रयत्न होकर नित्य ही आचमन करे और फिर
प्रातः स्नान करना चाहिए । दाँतुन मध्यमा अंगुलि के समान स्थूल होनी
चाहिए और बारह अंगुल बड़ी होनी चाहिए । त्वचा के सहित ही दन्त
काष्ठ होना चाहिए । उसके अग्रभाग से उसके द्वारा धावन करे । जो वृक्ष
ऐसे हैं कि जिनमें दूध निकलता है उन वृक्षों से समुत्पन्न—मालती लता
की शुभ—अपामार्ग—वित्त्व—विशेष रूप से करवीर को । निन्दितों का
वर्णन करके जैसा भी बताया गया है एक का ग्रहण करे । दिन के पाप
का परिहार करके विधान के वेत्ता को भक्षण करना चाहिए । दन्त काष्ठ
का उत्पादन नहीं करे और अंगुलि के अग्र भाग से धारण नहीं करना
चाहिए । भक्षण करके प्रक्षालन करे और समाहित होते हुए किसी शुचि
देश में उसका त्याग करे । स्नान करके देवों को—ऋषियों को—पितृगणों
को तर्पण करे । मन्त्रवेत्ता को आचमन करके नित्य ही मौन व्रत में स्थित
रह कर पुनः आचमन करना चाहिए ॥३८०-३८७॥

सम्मार्ज्जर्यं मन्त्रैत्मानं कुशैः सोदकबिन्दुभिः ।

आपोहिष्ठाव्याहृतिभिः सावित्र्या वारुणैः शुभैः ॥३८८

ओङ्कारव्याहृतियुतां गायत्रीवेदमातरम् ।

जप्त्वा जलाञ्जलिदद्याद्भास्करं प्रतितन्मनाः ॥३८९

प्राक्कल्पेषु ततः स्थित्वा दर्भेषु सुसमाहितः ।
 प्राणायामत्रयं कृत्वा ध्यायेत्सन्ध्यामिति स्मृतिः ॥३६०॥
 या च सन्ध्या जगत्सूतिर्मायातीता हि निष्कला ।
 ऐश्वरी केवला शक्तिस्तत्त्वत्रयसमुद्भवा ॥३६१॥
 ध्यात्वाऽर्कमण्डलगतां सावित्रीं वै जपेद् बुधः ।
 प्राङ्मुखः सततं विप्रः सन्ध्योपासनमाचरेत् ॥३६२॥
 सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकमसु ।
 यदन्यत्कुरुते किञ्चिन्नतस्य फलमाप्नुयात् ॥३६३॥

उदक की बिन्दुओं के सहित कुशाओं से मन्त्रों के द्वारा अपने आपका मार्जन करके जोकि “आपोहिष्ठा भयो भुवः” इत्यादि व्याहृतियों से हो-सावित्री मन्त्र से या शुभ वारुण मन्त्रों से मार्जन करना चाहिए । ओङ्कार और व्याहृतियों से युक्त वेद माता गायत्री का जाप करके तन्मना होकर भास्कर देव के प्रति जलाञ्जलि देनी चाहिए । प्राक्कल्पों में तथा दर्भों में सुसमाहित होकर स्थित होवे और तीन प्राणायाम करके सन्ध्या का ध्यान करना चाहिए—ऐसा स्मृति का आदेश या वचन है । जो सन्ध्या इस जगत् की प्रसूति है माया से अतीत और निष्कला है । वह केवल ईश्वरीय शक्ति ही है जिसका समुद्भव तीन तत्त्वों से ही होता है । बुध पुरुष उस सावित्री देवी को सूर्य मण्डल में संस्थित हुई का ध्यान करना चाहिए और फिर उसका जाप करे । विप्र को सर्वदा पूर्व दिशा की ओर मुख करके सन्ध्या की उपासना करनी चाहिए । जो पुरुष सन्ध्या वन्दन से हीन होता है वह नित्य ही अशुचि और समस्त कर्मों में अनर्ह होता होता है । इसके अतिरिक्त अन्य जो भी वह कर्म करता है उसका फल उसको नहीं मिला करता है ॥३६०-३६३॥

अनन्यचेतसः शान्ता ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
 उपास्य विधिवत्सन्ध्यां प्राप्ताः पूर्वेऽपराङ्गतिम् ॥३६४॥
 योऽन्यत्र कुरुते यत्नधर्मकार्ये द्विजोत्तमः ।
 विहाय सन्ध्याप्रणतिसयाति नरकायुतम् ॥३६५॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सन्ध्योपासनमाचरेत् ।

उपासितो भवेत्तेन देवो योगतनुः परः ॥३६६

सहस्रपरमानित्यंशतमध्यांशवरात् ।

सावित्रीवैजपेद्विद्वान्प्रांगमुखःप्रयतःस्थितः ॥३६७

अथोपतिष्ठेदादित्यमुद्यन्तवैसमाहितः ।

मन्त्रैस्तुविविधैःसौरैःऋग्यजुः सामसम्भवैः ॥३६८

उपस्थाय महायोगं देवदेवं दिवाकरम् ।

कुर्वीत प्रणतिं भूमौ मूर्ध्ना तेनैव मन्त्रवः ॥३६९

ओंखखोलकाय शान्ताय कारणत्रयहेतवे ।

निवेदयामिचात्मानं नमस्ते विश्वरूपिणे ॥४००

अनन्यचित्त वाले, परम शान्त—वेदों के पारगामी विद्वान् ब्राह्मण विधि पूर्वक सन्ध्या की उपासना करके पहिले परागति को प्राप्त हुए हैं । जो द्विजोत्तम अन्यत्र धर्म कार्य में यत्न किया करता है और सन्ध्या की प्रणति का त्याग कर दिया करता है वह दश हजार वर्ष पर्यन्त नरकों की यातनायें सहन किया करता है । इसलिये सभी प्रयत्नों के द्वारा सन्ध्या की उपासना अवश्य ही करनी चाहिए । उसकी उपासना से युक्त उसके कारण ही योग के शरीर बाल पर देव हो जाता है । एक सहस्र सावित्री का जाप सर्वश्रेष्ठ नैतिक जाप है—एक सौ मध्यम श्रेणी का है और कम से कम दश बार ही जाप करना अधम कोटि में आता है । विद्वान् पुरुष को इस सावित्री का जाप पूर्वाभिमुख होकर प्रयत समवस्थित रह कर ही करना चाहिए । समाहित होकर आदित्य देव का जबकि वह उदय हो रहे हों उपस्थान करना चाहिए । इस उपस्थान के अनेक मन्त्र हैं जो सौर है तथा ऋग्—यजु और सामवेद के हैं । महान् योग वाले देवों के देव भगवान् भुवन भास्कर देव का उपस्थान करके उसी मन्त्र के द्वारा मस्तक से भूमि में प्रणाम करना चाहिए । उसका प्रणति करने का यह मन्त्र है जिसका अर्थ है ओम ख के उल्फा—परम शान्त स्वरूप तीनों कारणों के हेतु विश्वरूपी आपकी सेवा में मैं अपने आपको समर्पित करता हूँ और आपके लिये मेरा प्रणाम अर्पित है ॥३६४-४००॥

नमस्ते धृणिने तुभ्यं सूर्याय ब्रह्मरूपिणे ।
 त्वमेव ब्रह्म परममापोज्योतीरसोऽमृतम् ॥
 भूर्भुवः स्वस्त्वमोङ्कारः शर्वो रुद्रः सनातनः ॥४०१
 पुरुषः सन्महोऽन्तस्थं प्रणमामि कपर्दिनम् ।
 त्वमेव विश्वम्बहुधा जातं यज्जायते च यत् ॥
 नमो रुद्राय सूर्याय त्वामहं शरणं गतः ॥४०२
 प्रचेतसे नमस्तुभ्यं नमो मोदुष्टमाय च ।
 नमो नमस्ते रुद्राय त्वामहं शरणं गतः ।
 हिरण्यवाहवे तुभ्यं हिरण्यपतये नमः ॥४०३
 अम्बिकापतये तुभ्यमुमायाः पतये नमः ।
 नमोऽस्तु नीलग्रीवाय नमस्तुभ्यं पिनाकिने ॥४०४
 विलोहिताय भगयि सहस्राक्षाय ते नमः ।
 तमोपहाय ते नित्यमादित्याय नमोऽस्तुते ॥४०५
 नमस्ते वज्रहस्ताय त्र्यम्बकाय नमो नमः ।
 प्रपद्ये त्वां विरूपाक्षं महान्तं परमेश्वरम् ॥४०६
 हिरण्यगृहे गुप्तात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
 नमस्यामि परं ज्योतिर्ब्रह्माणं त्वां परामृतम् ॥४०७

धृणी ब्रह्म रूपी सूर्य आपके लिये मेरा प्रणाम है । आप ही परम ब्रह्म हैं और आप ही आप-ज्योति रस और अमृत हैं । भू भुवः स्वः आप ओङ्कार हैं । तथा शर्व रुद्र और सनातन हैं । पुरुष होते हुए मद के अन्दर स्थित कपर्दी आपको मैं प्रणाम करता हूँ आप से ही बहुधा विश्व समुत्पन्न हुए हैं और उत्पन्न होते भी हैं । अथवा जो कुछ भी होता है वह आप ही हैं । रुद्र देव सूर्य के लिये नमस्कार है । मैं आपकी शरणागति में प्रपन्न हो गया हूँ । प्रचेता आपके लिये नमस्कार है—मोदुष्टम के लिये अभिवादन है । रुद्र आपको बारम्बार नमस्कार समर्पित है । मैं आपकी शरण में आ गया हूँ । हिरण्यबाहु और हिरण्यपति आपके लिये नमस्कार है । अम्बिका के पति और उमा के पति आपको प्रणाम है । नील ग्रीवा वाले को नमस्कार है । पिनाकधारी आपके लिये नमस्कार अर्पित है । विलो-

हित-भर्ग—सहस्राक्ष आपको नमस्कार है । तम के अपहरण करने वाले आपको नित्य ही नमन करता हूँ तथा आदित्य आपकी सेवा में प्रणाम है । हाथ में वज्र रखने वाले—त्र्यम्बक आपको बारम्बार नमस्कार है । विरूपाक्ष आपकी शरण में प्रपन्न होता हूँ । आप परम महान् और परमेश्वर हैं । समस्त देहधारियों के हिरण्मय गृह में गुप्त आत्मा—परं ज्योति—परामृत ब्रह्मा आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥४०१-४०७॥

विश्वं पशुपतिं भीमं नरनारीशरीरिणम् ।

नमः सूर्याय रुद्राय भास्वते परमेश्विने ॥४०८

उग्राय सर्वतक्षाय त्वां प्रपद्ये सदैव हि ।

एतद्वै सूर्यहृदयं जप्त्वा स्तवमनुत्तमम् ॥४०९

प्रातःकालेऽथ मध्याह्ने नमस्कुर्व्याद्विवाकरम् ।

इदं पुत्राय शिष्याय धार्मिकाय द्विजातये ॥४१०

प्रदेयं सूर्यहृदयं ब्राह्मणा तु प्रदर्शितम् ।

सर्वपापैः प्रशमनं वेदसारसमुद्भवम् ॥

ब्राह्मणानां हितं पुण्यमृषिसङ्घैर्निषेवितम् ॥४११

अथागम्यगृहं विप्रः समाचम्य यथाविधि ।

पृज्ज्वालयवह्निविधिज्जुहुयाज्जातवेदसम् ॥४१२

ऋत्विक्पुत्रोऽथ पत्नी वा शिष्यो वापि सहोदरः ।

प्राप्याऽनुज्ञां विशेषेण ह्यध्वर्युर्वा यथाविधि ॥४१३

पवित्रपाणिः पूतात्मा शुक्लाम्बरधरः शुचिः ।

अनन्यमनसा नित्यं जुहुयात्संयतेन्द्रियः ॥४१४

विश्व—पशुपति—भीम—नर और नारी के शरीर वाले को प्रणाम है । सूर्य—रुद्र—भास्वान् और परमेश्वरी की सेवा में नमस्कार है । उग्र—सर्व तक्ष आपका सदा ही प्रपन्न होकर नमन करता हूँ । इस सूर्य हृदय का जाप करके जो परम सूर्य का स्तव है प्रातःकाल में—मध्याह्न में दिवाकर भगवान् को नमस्कार करना चाहिए । इस परमोत्तम स्तव सूर्य हृदय की दीक्षा या तो अपने पुत्र को देवे या शिष्य को और किसी परम धार्मिक को ही द्विजगत को देनी चाहिए । यह सूर्य हृदय किसी परम

योग्य को ही देना चाहिए यह ब्रह्मा के द्वारा प्रदर्शित किया गया है । यह स्तव समस्त पापों के प्रशमन करने वाला तथा वेदों के सार से समुत्पन्न हुआ है । यह ब्राह्मणों का बहुत हितकर है और परम पुण्यमय है इसको ऋषियों के संघों ने सेवित किया है । इसके उपरान्त विप्र को अपने घर में आकर यथाविधि भली-भाँति आचमन करके वह्नि का ज्वालन करना चाहिए और जातिवेदा का विधि के साथ हवन करना चाहिए । ऋत्विक् का पुत्र—पत्नी—शिष्य अथवा सहोदर अथवा अध्वर्यु अनुज्ञा यथा विधि प्राप्त करके विशेष रूप से हवन करे । हाथों को पवित्र करने वाला तथा पवित्री हाथों में धारण करने वाला—पूत आत्मा से युक्त शुक्ल वस्त्र धारी—शुचि और संयत इन्द्रियों वाला होकर ही अनन्य मन के द्वारा नित्य ही हवन करना चाहिए ॥४०८-४१४॥

विना दर्भेण यत्कर्म विना सूत्रेण वा पुनः ।

राक्षसं तद्भवेत्सर्वन्नामुत्रेह फलप्रदम् ॥४१५॥

दैवतानि नमस्क्रुयादुपहारान्निवेदयेत् ।

दद्यात्पुष्पादिकं तेषां वृद्धांश्चैवाभिवादयेत् ॥४१६॥

गुरुश्चैवाप्युपासीत हितञ्चास्य समाचरेत् ।

वेदाभ्यासं ततः कुर्यात्प्रयत्नाच्छक्तितो द्विजाः ॥४१७॥

जपेदध्यापयेच्छिष्यान्धारयेद्वै विचारयेत् ।

अवेक्ष्यतच्चशास्त्राणि धर्मादीनिद्विजोत्तमाः ॥४१८॥

वैदिकांश्चैव निगमान्वेदाङ्गानि च सर्वशः ।

उपेयादीश्वरं वाथ योगक्षेमप्रसिद्धये ॥४१९॥

साधयेद्विविधानर्थान् कुटुम्बार्थेततोद्विजः ।

ततो मध्याह्नसमयेस्नानार्थं मृदमाहरेत् ॥४२०॥

पुष्पाक्षतान् कुशतिलान् गोशकृच्छुद्धमेव वा ।

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसुच ॥

स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्त्तप्रस्रवणेषु च ॥४२१॥

बिना दर्भ के तथा बिना सूत्र के जो भी कुछ कर्म किया जाता है वह सब किया कराया बर्म के फल को राक्षस ग्रहण कर लिया करते है

अतएव राक्षस कर्म ही हो जाता है और इस लोक परलोक में कहीं भी कुछ फलप्रद नहीं होता है । फिर देवताओं को नमस्कार करे तथा कुछ उपहार भी उनको समर्पित करना चाहिए । उन देवों को गन्धाक्षत पुष्प आदि देवे तथा फिर जो भी अपने वृद्ध हों उनका अभिवादन करना चाहिए । फिर अपने गुरुदेव की भी उपासना करे और उनका जो भी कुछ हित हो उसका समाचरण करे । हे द्विजगण ! इसके अनन्तर प्रयत्न पूर्वक अपनी शक्ति के अनुसार वेदों का अभ्यास करना चाहिए । स्वयं जप करे—शिष्यों को अध्यापन करे—धारण करे और विचार करना चाहिए । हे द्विजोत्तमो ! फिर धर्मादि के शास्त्रों का अवेक्षण करना चाहिए । अथत् धर्मशास्त्र आदि अनेक शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए । जो निगम वैदिक हैं उनको और वेदों के अंग शास्त्रों को पढ़े और योग क्षेम की सिद्धि के लिये ईश्वर की शरण में प्राप्त होवे । इसके उपरान्त द्विज को कुटुम्ब के लिये विविध अर्थों का साधन करना चाहिए और मध्याह्न के समय में स्नान के लिये मृत्तिका आहरण करे । पुष्प—अक्षत—कुश—तिल—गोमय शुद्ध—आदि समस्त उपचारों का संग्रह करे और मध्याह्न समय में नदी—देवखात—तड़ाग और सरोवर तथा गर्त प्रस्रवण में नित्य स्नान करना चाहिए ॥४१५-४२१॥

परकीयनिपानेषु न स्नायाद्वै कदाचन ।

पञ्चपिण्डान्समुद्धृत्य स्नायाद्वासम्भवे पुनः ॥४२२

मृदैक्या शिरः क्षात्यं द्वाभ्यां नाभेस्तथोपरि ।

अधस्तु तिसृभिः कायः पादौ षड्भिस्तथैव च ॥४२३

मृत्तिका च समुद्दिष्टासाद्रामलकमात्रिका ।

गोमयस्य प्रमाणन्तुतेनांगलेपयेत्पुनः ॥४२४

लेपयित्वा तीरसंस्थं तल्लिङ्गं रेव मन्वतः ।

प्रक्षाल्याचम्य विधिवत्ततः स्नायात्समाहितः ॥४२५

अभिमन्त्र्य जलमन्त्रैस्तल्लिङ्गं वारुणैः शुभैः ।

भावपूतस्तदव्यक्तं धारयेद्विष्णुमव्ययम् ॥४२६

आपो नारायणोद्भूतास्ता एवाऽस्याऽयनं पुनः ।

तस्मान्नारायणं देवं स्नानकाले स्मरेद् बुधः ॥४२७

प्रेक्ष्य सोङ्कारमादित्यं त्रिनिमज्जेज्जलाश्रये ॥४२८

जो परकीय निपान हों उनमें कभी भी स्नान नहीं करे । यदि ऐसा सम्भव ही न हो तो पाँच पिण्डों को समुद्धृत करके ही वहाँ पर स्नान करना चाहिए । एक बार मिट्टी से शिर का क्षालन करे—नाभि के ऊपरी भाग में दो बार मिट्टी लगाकर क्षालन करे—नाभि के नीचे तीन बार और पादों को छै बार मिट्टी लगाकर धोना चाहिए । मिट्टी जो आर्द्र होती है वही अमल करने वाली कही गयी है । गोमय का उतना प्रमाण ग्रहण करे जिससे सम्पूर्ण अङ्ग का लेपन हो जावे । लेपन करके तीर पर संस्थित हो तस्मिन् मन्त्रों के ही द्वारा प्रक्षालन कर आचमन करे और विधिवत् समाहित हो कर ही वहाँ पर इसके पश्चात् स्नान करना चाहिए । उसी लिङ्ग वाले परम शुभ वारुण मन्त्रों के द्वारा जल को अभिमन्त्रित करे । इसके अनन्तर भावना से ही पवित्र होकर उस अव्यय—अव्यक्त भगवान् विष्णु को धारण करे । ये जल नारायण से ही समुद्भूत हुए हैं । इसीलिये भगवान् नारायण देव का स्नान करने के समय में बुध पुरुष को स्मरण अवश्य ही करना चाहिए । ओङ्कार के सहित आदित्य देव का प्रेक्षण करके तीन बार जलाशय में निमज्जन करे ॥४२२-४२८॥

आचान्तःपुनराचामेत् मन्त्रेणानेन मन्त्रवित् ॥४२९

अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः ।

त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कार आपो ज्योती रसोऽमृतम् ॥४३०

द्रुपदां वा त्रिरभ्यस्येद्व्याहृतिम्प्रणवान्विताम् ।

सावित्रीं वा जपेद्विद्वांस्तथा चैवाऽघमर्षणम् ॥४३१

ततःसम्मार्जनं कुर्यात्(कार्यं)आपो हिष्ठामयो भुवः ।

इदमापः प्रवहतां व्याहृतिभिस्तथैव च ॥४३२

तथाभिमन्त्र्यतत्तोयमापोहिष्ठादिभिस्त्रैः ।

अन्तर्जलगतोमग्नोजपेत्त्रिरघमर्षणम् ॥४३३

द्रुपदां वाथ सावित्रीं तद्विष्णोः परमम्पदम् ।

आवर्त्तयेच्च प्रणवं देवं वा संस्मरेद्धरिम् ॥४३४

द्रुपदादिव यो मन्त्रो यजुर्वेदे प्रतिष्ठितः ।

अन्तर्जले त्रिरावर्त्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥४३५

मन्त्र वेत्ता को आचान्त होकर भी पुनः इसी मन्त्र से आचमन करना चाहिए । मन्त्र यह है जिसका अर्थ है—विश्वतोमुख प्रभु गुहा में अन्दर चरण भूतों में किया करते हैं आप ही यज्ञ—वषट्कार—आप—ज्योति—रस और अमृत हैं । अथवा “द्रुपदिव मुमुचान्”—इत्यादि मन्त्र का तीन बार अभ्यास करे जो व्याहृति और प्रणव से समन्वित हो । अथवा विद्वान् को सावित्री का जाप करना चाहिए तथा अधमर्षण करे । इसके उपरान्त ‘आपोदिष्टा मयो भुवः’—इत्यादि मन्त्रों से सम्मार्जन करना चाहिए । तथा ‘इदमापः प्रवहतः’ इससे एवं व्याहृतियों से मार्जन करे । उस जल को ‘आपोदिष्टा’ इत्यादि त्रिकों के अभिमन्त्रित करके जल के अन्तर्गत होकर मग्न होते हुए ही तीन बार अधमर्षण मन्त्र का जाप करना चाहिए । ‘द्रुपदाम्’—‘सावित्री’—‘तद्विष्णोः परमं पदम्’ अथवा प्रणव की आवृत्ति करे तथा देव हरि का संस्मरण करना चाहिए । जो ‘द्रुपदादिव’ यह मन्त्र यजुर्वेद में प्रतिष्ठित है उसको जल के अन्दर तीन बार आवृत्ति करके मनुष्य समस्त पापों से प्रमुक्त हो जाया करता है ॥४२६-४३५॥

अपः पाणौ समादाय जप्त्वा वै मार्जने कृते ।

विन्यस्य मूर्ध्नि तत्तोयं मुच्यते सर्वपातकैः ॥४३६

यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः ।

तथाधमर्षणम्प्रोक्तं सर्वपापापनोदनम् ॥४३७

अथोपतिष्ठेदादित्यमूर्द्ध्वं पुष्पाक्षतान्वितम् ।

प्रक्षिप्याऽऽलोकायेद् देवमूर्द्ध्वं यस्तमसः परः ॥४३८

उदुत्यं चित्रमित्येते तच्चक्षुरिति मन्त्रतः ।

हंसः शुचिषदन्तेन सावित्र्यासविशेषतः ॥४३९

अन्यैश्च वैदिकैर्मन्त्रैः सौरैः पापप्रणाशनैः ।

सावित्रीवैजपेत्पश्चाज्जपयज्ञः स वै स्मृतः ॥४४०

विविधानि पवित्राणि गुह्यविद्यास्तथैव च ।

शतरुद्रीयं शिरसं सौरान्मन्त्रांश्च सर्वतः ॥४४१॥

प्राक्कूलेषु समासीनः कुशेषु प्रांगमुखः शुचिः ।

तिष्ठंश्च वीक्षमाणोऽर्कं जप्यं कुर्यात्समाहितः ॥४४२॥

हाथ में जल लेकर जाप करके मार्जन करने पर उस जल को मस्तक पर विन्यस्त करने पर मानव सम्पूर्ण पातकों से मुक्ति पा जाया करता है । जिस तरह अश्वमेध यज्ञ सब यज्ञों का राजा कहा जाता है और वह सभी प्रकार के पापों का अपमोदन करने वाला होता है उसी भाँति यह अधमर्षण मन्त्र भी कहा गया है जो सभी पातकों को दूर हटाने वाला है । इसके अनन्तर भगवान् आदित्य देव का ऊपर की ओर पुष्प-अक्षत आदि उपस्थान करना चाहिए तथा पुष्पाक्षतों को आदित्य की ओर ऊपर प्रक्षिप्त करके ऊपर की ओर देव का समालोकन करे जो तुम से पर है । उपस्थान के मन्त्र 'उदुत्यम्' 'चित्रम्' और-तच्चक्षुः' इत्यादि होते हैं । 'हंसः शुचि षद्'—इस अन्त वाले मन्त्र से और विशेष कर सावित्री मन्त्र से करे । और भी अन्य वैदिक मन्त्रों के द्वारा तथा पापों के नाशक सौर मन्त्रों के द्वारा उपस्थान करना चाहिए । इसके पीछे सावित्री का जाप करे । यह जप यज्ञ कहा गया है ! विविध पवित्र मन्त्र तथा गुह्य विद्याएँ हैं—शत रुद्रीव—शिरस-और सौर मन्त्र हैं उनको प्राक्कूल तथा समासीन होकर पूर्व की ओर मुख वाला कुशासन पर संस्थित और शुचि स्थिति होते हुए सूर्य को देखते हुए परम समाहित होकर जाप करना चाहिये ॥४३६-४४२॥

स्फाटिकेन्द्राक्षरुद्राक्षैः पुत्रजीवसमुद्भवैः ।

कर्त्तव्यात्वक्षमालास्यादुत्तरादुत्तमास्मृता ॥४४३॥

जपकाले न भाषेत व्यंगानप्रक्षयेद् बुधः ।

न कम्पयेच्छिरोग्रीवांदन्तान्न वप्रकाशयेत् ॥४४४॥

गुह्यकाराक्षसाःसिद्धाहरन्तिप्रसभं यतः ।

एकान्तेषुशुचौदेशेत्स्माज्जप्यंसमाचरेत् ॥४४५॥

चण्डालाशौचपतितान् दृष्ट्वाचैवपुनर्जपेत् ।

तैरेव भाषणंकृत्वास्नात्वाचैवपुनर्जपेत् ॥४४६॥

आचम्यप्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने ।

सौरान्मन्त्रान्शक्तितो वै पावमानीस्तु कामतः ॥४४७॥

यदि स्यात् क्लिन्न(खिन्न)वासा वै वारिमध्यं गतोऽपि वा ।

अन्यथा तु शुचौ भूम्यां दर्भेषु सुसमाहितः ॥४४८॥

प्रदक्षिणं समावृत्य नमस्कृत्य ततः क्षितौ ।

आचम्यच यथाशास्त्रं भक्त्वा(शक्त्या)स्वध्यायमाचरेत् ॥४४९॥

जाप की माला स्फटिक से निर्मित हो—इन्द्राक्ष—रुद्राक्ष और पुत्र जीव से समुत्पन्नों की हो । ऐसी अक्षमाला का निर्माण करना चाहिए । इनमें जो भी उत्तर में हैं वह पहिली मालाओं से उत्तम मानी गयी हैं । जाप करने के समय में भाषण बिल्कुल भी नहीं करना चाहिए और बुद्ध पुरुष को कोई भी व्यङ्ग्य वचनों का भी प्रक्षेप नहीं करना चाहिए । जप के समय शिर और ग्रीवा को भी कम्पित न करे तथा दांतों को न दिखावे । ऐसा निषिद्ध जाप करने पर उस जप के सम्पूर्ण फल को गुह्यक—राक्षस और सिद्ध लोग बल पूर्वक हरण कर लिया करते हैं । इसलिए यह जाप का कर्म परम एकान्त पवित्र स्थल में ही समाचरित करना चाहिए । चण्डाल और अशौच में पतितों को देख पुनः जाप करे । अगर उनके साथ भाषण कर लेवे तो फिर दूसरी बार स्नान करके पुनः जप का समारम्भ करना चाहिए । नित्य ही आचमन करके प्रयत्न हो जप करे । अशुचि के दर्शन करने पर सौर मंत्रों को शक्ति से, पावमानी मंत्रों को स्वेच्छा से जाप करना चाहिए । यदि भीगे हुए वस्त्रों से हो तो वारि के मध्य में ही स्थित होकर जाप करे अन्यथा तो किसी परम शुचि भूमि में दर्भासन पर स्थित होकर ही अति समादित होकर जप करना चाहिए । फिर जप के प्रदक्षिणा करे और भूमि में नमस्कार करे तथा फिर आचमन करके शास्त्र के अनुसार ही भक्ति की भावना से अपनी शक्ति के अनुरूप स्वाध्याय करना चाहिए ॥४४३-४४९॥

ततः सन्तर्पयेद्देवान् नृषीन् पितृगणान् तथा ।

आदावोङ्कारमुच्चार्य नामान्ते तर्पयामिवः ॥४५०॥

देवान् ब्रह्म ऋषींश्चैव तर्पयेदक्षतोदकैः ।

तिलोदकैः पितृन् भक्त्या स्वसूत्रोक्तविधानतः ॥४५१॥

अन्वारब्धेन सव्येन पाणिना दक्षिणेन तु ।

देवर्षींस्तर्पयेद्धीमानुदकाञ्जलिभिः पितृन् ।

यज्ञोपवीतो देवानां निवीती ऋषितर्पणे ॥४५२॥

प्राचीनावीती पैव्येन स्वेन तीर्थेन भावितः ।

निष्पीड्य स्नानवस्त्रन्तु समाचम्य च वाग्यतः ।

त्वैर्मन्त्रैरर्चयेद् देवान् पुष्पैः पत्रैरथाम्बुभिः ॥४५३॥

ब्रह्माणं शङ्करं सूर्यं तथैव मधुसूदनम् ।

अन्यांश्चाभिमतान् देवान् भक्त्या चारो नरोत्तमः ॥४५४॥

प्रदद्याद्वाथ पुष्पाणि सूक्तेन पौरुषेण तु ।

आपो वा देवताः सर्वास्तेन सम्यक् समाक्षिताः ॥४५५॥

ध्यात्वा प्रणवपूर्ववै देवतानि समाहितः ।

नमस्कारेण पुष्पाणि विन्यसेद्वै पृथक् पृथक् ॥४५६॥

इस सम्पूर्ण कर्म के समाप्त करने पर फिर देव, ऋषि और पितृगणों का तर्पण करना चाहिए । आदि में ओङ्कार का उच्चारण करके फिर जिसका भी तर्पण करे उसके नाम के अन्त में “वः तर्पयामि”—यह बोलना चाहिए अर्थात् मैं आपको तृप्त करता हूँ । देवगण और ब्रह्म ऋषिगण का तर्पण तो अक्षतों के सहित जल से ही करना चाहिए । तिलों के सहित जल से भक्ति के साथ स्वसूत्र के उक्त विधान से पितृगण का तर्पण करे । अन्वारब्ध सव्य से दक्षिण पाणि से देवर्षियों का तर्पण करे । धीमान् को उदकाञ्जलियों से पितृगणों का तर्पण करना चाहिए । देवों के तर्पण में यज्ञोपवीत रहे और ऋषिगण के तर्पण में निवीती हो जावे । अपने तीर्थ से भावित होकर जब पितृगण का तर्पण करे तो उस समय में प्राचीनावीती होकर करना चाहिए । स्नान से वस्त्र का निस्पीडन करके—आचमन करे और मीन होकर ही अपने मंत्रों द्वारा पुष्प-पत्र

और जल से देवों का समर्चन करना चाहिए । भगवान् शङ्कर-ब्रह्मा-सूर्य-मधुसूदन प्रभु इनका तथा अन्य भी जो अपने अभिमत देव हों उनका अर्चन भक्ति के आचार वाले नरोत्तम को करना चाहिए । पुरुष सूक्त के द्वारा पुष्पों का समर्पण करे । अथवा जल से ही सर्व देवों को भली भाँति समर्चित करे । परम समाहित होकर प्रणव को पहिले लेकर ही देवगण का ध्यान करे । जब नमस्कार करे तो पुष्पों को पृथक्-पृथक् विन्यस्त करना चाहिए ॥४५०-४५६॥

विष्णोराराधनात्पुण्यं विद्यते कर्म वैदिकम् ।

तस्मादनादिमध्यान्तं नित्यमाराधयेद्धरिम् ॥४५७

तद्विष्णोरिति मन्त्रेण सूक्तेनसुसमाहितः ।

न ताभ्यांसदृशोमन्त्रोवेदेषूक्तश्चतुष्टयपि ॥

तदात्मा तन्मनाः शान्तस्तद्विष्णोरिति मन्त्रतः ॥४५८

अथवा देमीशानं भगवन्तं सनातनम् ।

आराधयेन्महादेवं भावपूतो महेश्वरम् ॥४५९

मन्त्रेण रुद्रगायत्र्या प्रणवेनाथ वा पुनः ।

ईशानेनाथवा रुद्रंस्त्र्यम्बकेन समाहितः ॥४६०

पुष्पैःपत्रैरथादिभवाचिन्दनाद्यैर्महेश्वरम् ।

उक्त्वा नमः शिवायेतिमन्त्रेणानेन वाजपेत् ॥४६१

नमस्कुर्यान्महादेवंतंमृत्युञ्जयमीश्वरम् ।

निवेदयीत स्वात्मानंयोब्राह्मणमितीश्वरम् ॥४६२

प्रदक्षिणं द्विजाकुर्यात्पञ्चवर्षाणि वैबुधः ।

ध्यायीतदेवमीशानंव्योममध्यगतंशिवम् ॥४६३

भगवान् विष्णु के समाराधन से वैदिक कर्म का सम्पादन हुआ करता है इसलिये आदि और अन्त से रहित श्रीहरि का आराधन नित्य ही करना चाहिए । “तद्विष्णोः” इस मन्त्र से और सूक्त से सुसमाहित होकर करे । इन दोनों मन्त्रों के समान चारों वेदों में भी कोई अन्य मन्त्र नहीं है । विष्णुमय आत्मा वाला, उसी प्रभु में मन को लगाने वाला और परम शान्त होकर “तद्विष्णोः” इत्यादि मन्त्र के द्वारा भगवान् की आराधना

करनी चाहिए। अपना सनातन भगवान् ईशान देव महेश्वर महादेव की भक्ति के भाव से पूत होकर आराधना करनी चाहिए। रुद्र गायत्री मन्त्र से, प्रणव से अथवा ईशान मन्त्र से, रुद्रों से, अथवा त्र्यम्बक मन्त्र से सुसमाहित होकर आराधना करे। पत्र-पुष्प, जल और चन्दनाक्षत आदि से महेश्वर प्रभु का 'नमः शिवाय' इस मन्त्र का उच्चारण करके समाराधन करे और इसी मन्त्र का जापभी करना चाहिए। उन प्रभु मृत्युञ्जय ईश्वर महादेव को नमस्कार करे फिर "ब्रह्माणम्" इस मन्त्र से ईश्वर की सेवा में अपनी आत्मा को निवेदित करना चाहिए। बुध पुरुष द्विज को पाँच वर्ष पर्यन्त प्रदक्षिणा करनी चाहिए। व्योम के मध्य में समवस्थित ईशान देव शिव का ध्यान करना चाहिए ॥४५७-४६३॥

अथावलोकयेदर्कं हंसः शुचिषदित्यूचा ।

कुर्वन् पञ्च महायज्ञान् गृह्णत्वासमाहितः ॥४६४

देवयज्ञं पितृयज्ञम्भूतयज्ञं तथैव च ।

मानुषं ब्रह्मयज्ञञ्च पञ्च यज्ञान्प्रचक्षते ॥४६५

यदिस्यात्तर्पणादवक्त्रिह्ययज्ञःकृतोनहि ।

कृत्वातनुष्ययज्ञं वै ततःस्वाध्यायमाचरेत् ॥४६६

अग्नेःपश्चिमतोदेशे भूतयज्ञान्तएव च ।

कुशपुञ्जे समासीनः कुशपाणिःसमाहितः ॥४६७

शालाग्नौलौकिके वाथ जले भूम्यामथापिवा ।

नैश्वदेवश्च कर्त्तव्यो देवयज्ञः स वै स्मृतः ॥४६८

यदिस्यात्लौकिके पक्षे तपोऽन्नं तत्रहूयते ।

शालाग्नौ तत्पचेदन्नं विधिरेषसनातनः ॥४६९

देवेभ्यश्च हुतादन्नाच्छेषाद्भूतवलिं हरेत् ।

भूतयज्ञः स विज्ञेयोभूतिदः सर्वदेहिनाम् ॥४७०

इसके उपरान्त "हंसःशुचि षत्" इस ऋचा से भगवान् सूर्य का अवलोकन करे। इस प्रकार इन पाँच महायज्ञों को करके समाहित होकर घर को गमन करे। ये पाँच यज्ञ देवयज्ञ, पितृ यज्ञ, भूत यज्ञ, मानुष यज्ञ और ब्रह्म यज्ञ इन नामों से कहे जाते हैं। यदि तर्पण से पहिले ब्रह्म यज्ञ

नहीं किया हुआ हो तो मनुष्य यज्ञ करके इसके पश्चात् ही स्वाध्याय का समाचरण करना चाहिए। अग्नि के पश्चिम देश में भूत यज्ञ के अन्त में ही कुशाओं के पुञ्ज पर समासीन होकर हाथ में कुशा ग्रहण करके सुसमाहित होना चाहिए। लौकिक अग्निशाला में, जल में अथवा भूमि में वैश्वदेव करना चाहिए। यही देव यज्ञ इस नाम से कहा गया है। यदि लौकिक पक्ष में हो तो वहाँ पर अन्न का हवन किया जाता है। उस अन्न को शालाग्नि में पाचन करे, यही एक परम सनातन विधि है। देवों के लिये जो अन्न का हवन किया जावे उसमें जितना भी शेष रहे उसी से भूत बलि का हरण करना चाहिए। इसी को भूत यज्ञ समझना चाहिए। यह सब देहधारियों को भूत के प्रदान करने वाला है ॥४६४-४७०॥

श्वभ्यश्च श्वपचेभ्यश्च पतितादिभ्य एव च ।

दद्याद् भूमौ बहिश्चान्नम्पक्षिभ्यो द्विजसत्तमाः ॥४७१॥

सायश्चान्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्नं बलिं हरेत् ।

भूतयज्ञस्त्वयं नित्यं सायम्प्रातर्यथाविधि ॥४७२॥

एकन्तु भोजयेद्विप्रं पितृनुद्दिश्य सन्ततम् ।

नित्यश्चाद्धं तदुच्छिष्टं पितृयज्ञो गतिप्रदः ॥४७३॥

उद्धृत्य वा यथाशक्ति किञ्चिदन्नं समाहितः ।

वेदतत्त्वार्थविदुषे द्विजायैवोपपादयेत् ॥४७४॥

पूजयेदतिथिं नित्यं नमस्येदर्चयेद्विभुम् ।

मनोवाक्कर्मभिः शान्तः स्वागतं स्वगृहं गतः ॥४७५॥

अन्वारब्धेन सव्येन पाणिना दाक्षणेन तु ।

हन्तकारमथाग्रं वाभिक्षां वाशक्तितो द्विजः ॥४७६॥

दद्यादतिथये नित्यम्बुध्येत परमेश्वरम् ।

भिक्षामाहुर्ग्रासमात्रामग्रं तत्स्याच्चतुर्गुणम् ॥४७७॥

हे द्विज श्रेष्ठो ! श्वपचों को, कुत्तों को, पतित आदि को और पक्षियों को भूमि में बाहिर अन्न देना चाहिए। सायंकाल में सिद्ध पत्न्यम्न से बलि का हरण करना चाहिए। यह भूतयज्ञ नित्य ही यथाविधि सायंकाल और प्रातःकाल में करना चाहिए। एक विप्र को निरन्तर पितृगण का

उद्देश्य करके भोजन कराना चाहिए । तदुच्छिष्ट नित्य श्राद्ध पितृयज्ञ होता है जो सद्गति के प्रदान करने वाला है अथवा समाहित होकर यथाशक्ति कुछ थोड़ा सा अन्न निकाल कर वेदों के तत्त्वार्थ के ज्ञाता विद्वान द्विज के लिये उपपादित कर देवे । अतिथि का नित्य ही पूजन करे । नमस्कार करे और विभु का अर्चन करे । परम शान्त होकर अपने घर में गये हुए का मन, वाणी, कर्म से स्वागत करना चाहिए । अनवारब्ध सव्य पाणि दक्षिण से हन्तकार देवे और द्विज की शक्ति से अतिथि के लिये अन्न अथवा भिक्षा देनी चाहिए तथा उस अतिथि को परमेश्वर ही समझना चाहिये, जो ग्रास मात्र होती है उसे भिक्षा कहते हैं तथा अन्न चौगुना होता है ॥४७१-४७१॥

पुष्कलं हन्तकारन्तुतच्चतुर्गुणमुच्यते ।

गोदोहकालमात्रं वै प्रतीक्ष्यो ह्यतिथिः स्वयम् ॥४७८

अभ्यागतान्यथाशक्तिपूजयेदतिथीन्सदा ।

भिक्षां वै भिक्षवे दद्याद्विधिवद्ब्रह्मचारिणो ।

दद्यादन्नं यथाशक्ति ह्यर्थिभ्यो लोभवर्जितः ॥४७९

सर्वेषामप्यलाभे हि त्वन्नं गोभ्यो निवेदयेत् ।

भुञ्जीत बहुभिः सार्द्धं वाग्यतोऽन्नमकुत्सयन् ॥४८०

अकृत्वा तु द्विजः पञ्चमहायज्ञान्द्विजोत्तमाः ।

भुञ्जीत चेत्स मूढात्मा तिर्यग्योनिं स गच्छति ॥४८१

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञः क्रियाक्षमा ।

नाशयन्त्याशु पापानि देवताभ्यर्चनं तथा ॥४८२

योमोहादथवाज्ञानादकृत्वा देवतार्चनम् ।

भुङ्क्ते स याति नरकं सूकरं नात्र संशयः ॥४८३

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कृत्वा कर्माणि वै द्विजाः ।

भुञ्जीत स्वजनः सार्द्धं स याति परमां गतिम् ॥४८४

हन्तकार पुष्कल होता है तथा उससे चौगुना होता है । जितने समय में गाय का दोहन होता है उतने ही समय तक अतिथि को स्वयं प्रतीक्षा

करनी चाहिए । जो अभ्यागत अतिथि हों उनकी सदा यथा शक्ति पूजा करनी चाहिए । जो भिक्षु हो उस ब्रह्मचारी भिक्षुक को विधिपूर्वक भिक्षा देनी चाहिए । जो याचक हो उनके लिये यथाशक्ति लोभ से रहित होते हुए अन्न देना चाहिए । यदि इन सभी का लाभ न होवे तो अन्न गौओं के लिये दे देना चाहिए । बहुतसों के साथ मौन होकर अन्न की बुराई न करते हुए ही भोजन करे । हे द्विजोत्तमवृन्द ! द्विज पाँच महायज्ञों को न करके यदि भोजन कर लेता है तो वह मूढ़ आत्मा वाला तिर्यग् योनि में जाकर जन्म ग्रहण किया करता है। वेदों का अभ्यास प्रतिदिन करना, शक्ति पूर्वक महायज्ञों का करना और क्रिया की क्षमता तथा देवों का अभ्यर्चन ये शीघ्र ही पापों का नाश कर दिया करते हैं । जो मोह से अथवा अज्ञान से देवों का अर्चन न करके स्वयं भोजन कर लेता है वह सूकर नरक में जाकर गिरा करता है, इसमें तनिक भी संयश नहीं है । हे द्विजगण ! इसलिये सभी प्रकार के पूर्ण प्रयत्नों से कर्मों को करके अपने जनों के साथ भोजन करे—ऐसा करने वाला पुरुष परम गति को प्राप्त हुआ करता ॥४७८-४८४॥

प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत सूर्याभिमुख एव वा ।

आसीनः स्वासने शुद्धे भूम्यां पादौ निधाय च ॥४८५॥

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्य दक्षिणामुखः ।

श्रियम्प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते उदङ्मुख ॥४८६॥

पञ्चाद्रो भोजनं कुर्याद् भूमौ पात्रं निधाय च ।

उपवासेन तत्तुल्य मनुराह प्रजापतिः ॥४८७॥

उपलिप्ते शुचौदेषोपादौ प्रक्षाल्य वै करौ ।

आचम्याद्रानिनोऽक्रोधः पञ्चाद्रो भोजनञ्चरेत् ॥४८८॥

महाव्याहृतिभिस्त्वन्नं परिधायोदकेन तु ।

अमृतोपस्तरणमसीत्यापोऽज्ञानक्रियाञ्चरेत् ॥४८९॥

स्वाहाप्रणवसंयुक्तां प्राणायामाहृतिं ततः ।

अपानायततोभुक्त्वाव्यानाय तदनन्तरम् ॥४९०॥

उदानाय ततःकुर्यात्समानायेति पञ्चमम् ।

विज्ञायतत्त्वमेतेषां जुहुयादात्मनिद्विजः ॥४६१॥

श्री व्यासदेव ने कहा—पूर्व दिशा की ओर मुख करके अथवा सूर्य की ओर मुख वाला होकर ही अन्न का भोजन करे । अपने आसन पर स्थित होकर जो कि परम शुद्ध हो और भूमि में पैरों को रख कर भोजन करना चाहिए । जो प्राङ्मुख होकर भोजन करता है वह आयुष्य होता है और दक्षिण की ओर मुख करके भोजन करना यशस्य अर्थात् यश के बढ़ाने वाला होता है । प्रतीची (श्चिम) की ओर मुख करके जो भोजन करता है वह श्री का भोजन करता है और उत्तर की ओर मुख करके भोजन करने वाला ऋतु को ही खाता है । पञ्चाद्र होकर भूमि में पात्र रखकर भोजन करना चाहिए प्रजापति मनु ने इस प्रकार से भोजन को उपवास के तुल्य बतलाया है । उपलिप्त हुए शुचि देश में अपने दोनों पैर और हाथों का प्रक्षालन करके आचमन करे और आर्द्र मुख वाला होकर क्रोध से रहित पञ्चाद्र होता हुआ भोजन करना चाहिए । महाव्याहृतिग्रों से उदक से अन्न का परिधान करे । ‘अमृतो पस्तरण मसि’ इससे आपोशान क्रिया करे । स्वाहा और प्रणव से संयुत प्राणाय—इत्यादि आहुति देवे । इसके पश्चात् ‘ओं अपानाय स्वाहा’—यह उच्चारण करके भोजन करे । इसके पश्चात् “ओं व्यानाय स्वाहा” इसे बोल कर ग्रास ग्रहण करे । इसके उपरान्त उदानाय और समानाय बोलते हुए पूर्वोक्त विधि से चौथा और पाँचवाँ ग्रास ग्रहण करे । द्विज को इनका तत्त्व समझ कर ही आत्मा में हवन करना चाहिये ॥४८५-४६१॥

शेषमन्नं तथाकामंभुञ्जीत व्यञ्जनैर्युतम् ।

ध्यात्वा तन्मनसादेवानात्मानं वै प्रजापतिम् ॥४६२॥

अमृतापिधानमसीत्युपरिष्ठादपः पिबेत् ।

आचान्तःपुनराचामेदयंगौरिति मन्त्रतः ॥४६३॥

द्रुपदां वा त्रिरासृत्य सर्वपापप्रणाशनीम् ।

प्राणानां ग्रन्थिरसीत्यलभेदुदरंततः ॥४६४॥

आचम्यांगुष्ठमात्रेण पादांगुष्ठेन दक्षिणे ।

निस्त्रावयेद्वस्तजलमूर्द्धहस्तः समाहितः ॥४६५

कृतानुमन्त्रणं कुर्यात्सन्ध्यायामितिमन्त्रतः ।

अथाक्षरेण स्वात्मानं योजयेद् ब्राह्मणंति हि ॥४६६

सर्वेषामेवयोगानामात्मयोगःस्मृतःपरः ।

योजनेनविधिन।कुर्यात्सकविर्ब्राह्मणःस्वयम् ॥४६७

यज्ञोपवीती भुञ्जीत स्नग्गन्धाल्लङ्कृतः शुचिः ।

सायम्प्रातर्नान्तरा वै सन्ध्यायां तु विशेषतः ॥४६८

इस तरह पाँच आहुतियाँ उक्त विधि से ग्रहण करके फिर शेष अन्न को इच्छा पूर्वक व्यञ्जनों युत भोजन करे । तन्मना होकर देवों का, आत्मा का और प्रजापति का ध्यान करके भोजन करना चाहिये । पुनः “अमृता-पिधानमसि”--इसे बोल कर ऊपर से जल का पान करना चाहिये आचान्त होकर भी पुनः “अयं गौ”--इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करके आचमन करना चाहिये । समस्त पापों के नाश करने वाली “द्रुपदाम्” इत्यादि ऋचा की तीन आवृत्ति करके फिर “प्राणानां ग्रन्थिरसि”—इत्यादि मन्त्र के द्वारा उदर का आलभन करना चाहिए । आचमन करके अंगुष्ठमात्र पादांगुष्ठ से दक्षिण भाग में हाथ के जल का स्त्रावण करना चाहिये । फिर ऊपर को हाथ करके समाहित होवे “सन्ध्या याम्”, इस मन्त्र से कृतानुमन्त्रण करे । इसके अनन्तर ‘अक्षरेण’ और ‘ब्राह्मण’ इत्यादि मन्त्रों से अपनी आत्मा का भोजन करना चाहिये । सब योगों में जो आत्मयोग होता है वह सब से पर अर्थात् शिरोमणि माना गया है । जो इस विधि से किया करता है वह ब्राह्मण स्वयं कवि होता है । यज्ञोपवीती को स्नग् गन्ध से अलंकृत होकर तथा परम शुचि होकर भोजन करना चाहिये । सायंकाल और प्रातः काल में कोई भी अन्तर नहीं है । सन्ध्या में तो विशेषता होती है ॥४६२-४६८॥

नाद्यात्सूर्यग्रहात्पूर्वप्रतिसायंशशिग्रहात् ।

ग्रहकालेनचाशनीयात्स्नात्वाशनीयाद्विमुक्तये ॥४६९

मुक्तेशशिनि चाशनीयाद्यदि न स्यान्महानिशा ।
 अमुक्तयोरस्तगयोरद्याद् दृष्ट्वा परेऽहनि ॥५००
 नाशनीयात्प्रेक्षमाणानामप्रदाय च दुर्मतिः ।
 यज्ञावशिष्टमद्याद्वा न क्रुद्धो नान्यमामसः ॥५०१
 आत्मार्थं भोजनं यस्य रत्यर्थं यस्य मैथुनम् ।
 वृत्त्यर्थं यस्य चाधोतं निष्फलं तस्य जीवितम् ॥५०२
 यद्भुक्ते वेष्टितशिरा यच्च भुङ्क्ते उदंमुखः ।
 सोपानत्कश्च यो भुङ्क्ते सर्वं विद्यात्तदासुरम् ॥५०३
 नाद्धं रात्रे न मध्याह्ने नाजीर्णेनाद्र्वस्त्रधृक् ।
 न च भिन्नासनगतोनयानसंस्थितोपिवा ॥५०४
 न भिन्नभाजने चैव न भूम्यांनच पाणिषु ।
 नोच्छिष्टोघृतमादद्यात्तनमूर्द्धानंस्पृशेदपि ॥५०५

सूर्य ग्रह से पूर्व प्रातः भोजन न करे और सायं काल में शशि ग्रह से पूर्व भोजन नहीं करना चाहिए । ग्रह काल में अनशन नहीं करना चाहिए स्नान करके विमुक्ति के लिये अशन करे । शशि के मुक्त हो जाने पर ही भोजन करे यदि महानिशा का काल उस समय वर्त्तमान न होवे । अमुक्त होते हुए ही सूर्य और चन्द्र दोनों अस्त हो जावें तो दूसरे दिन उनके शुद्ध स्वरूप का दर्शन करके ही भोजन करना चाहिए । प्रेक्षमाणों को न देकर दुर्गति को भोजन नहीं करना चाहिए । अथवा यज्ञावशिष्ट को क्रुद्ध हो कर तथा अन्य मानस न होकर खा लेना चाहिये । जिसका भोजन आत्मा के लिये ही होता है और जिसका मैथुन केवल रति प्राप्त करने के लिये ही है तथा जिसका अध्ययन केवल वृत्ति के लिये ही है उस पुरुष का जीवन ही निष्फल होता है। जो अपने शिर को वेष्टित करके भोजन किया करता है और जो उत्तर की ओर मुख करके भोजन करता है तथा जूते पहिने हुए जो भोजन करता है उन सबको आसुर भोजनही समझना चाहिए अर्थात् उसका रस असुरगण ही ग्रहण कर लेते हैं । अद्धं रात्रि में, मध्याह्न में, अजीर्ण में तथा भोगे हुए वस्त्र धारण करके एवं भिन्न आसन पर स्थित होकर और

यान में बैठकर भोजन नहीं करना चाहिए । भिन्न पात्र में, भूमि में, हाथों में भोजन न करे । उच्छिष्ट होकर भी भोजन नहीं करना चाहिये और मूर्द्धा का भी स्पर्श नहीं करे ॥४९६-५०५॥

न ब्रह्मकीर्त्तयेच्चापिननिःशेषं न भार्यया ।

नान्धकारे न सन्ध्यायां न चदेवालययादिषु ॥५०६

नैकवस्त्रस्तु भुञ्जीत न यानशयनस्थितः ।

न पादुकानिर्गतोऽथ न हसन्विलपन्नपि ॥५०७

भुक्त्वा वै सुखमास्थाय तदन्नम्परिणा मयेत् ।

इतिहास पुराणाभ्यां वेदार्थानुपबृंहयेत् ॥५०८

ततः सन्ध्यामुपासीत पूर्वोक्तविधिना शुचिः ।

आसीनश्च जपेद्देवीं गायत्रीं पश्चिमाम्प्रति ॥५०९

न तिष्ठति तु यः पूर्वानास्ते(पूर्वानापीति)सन्ध्यानुपश्चिमाम् ।

स शूद्रेण समो लोके सर्वकर्मविवर्जितः ॥५१०

हुत्वाऽग्निं विधिवन्मन्त्रैर्भुक्त्वा यज्ञावशिष्टकम् ।

सभृत्यबान्धवजनः स्वपेच्छुष्कपदो निशि ॥५११

नोत्तराभिमुखः स्वप्यात्पश्चिमामभिमुखो न च ।

न चाऽऽकाशे न नग्नो वा नाशुचिर्नासने क्वचित् ॥५१२

ब्रह्म का कीर्त्तन नहीं करना चाहिए—निःशेष भी भोजन न करे तथा अपनी भार्या के साथ में बैठकर भी कभी अशन नहीं करना चाहिए । अन्धकार में—सन्ध्या के समय में और देवालय आदि स्थलों में भोजन नहीं करे । एक वस्त्र धारण करके भी कभी भोजन नहीं करे । यान और शयन में संस्थित होकर भी भोजन नहीं करे । पादुका से निर्गत होकर, हँसते हुए और विलाप करते हुए भी भोजन नहीं करना चाहिए । भोजन करके सुख पूर्वक समास्थित होवे और उस अन्न का परिणाम करना चाहिए । इतिहास और पुराणों से वेदों के अर्थ की उपवृंहित करना चाहिए । इसके उपरान्त पूर्वोक्त विधि से सन्ध्या की उपासना करनी चाहिए और शुचि होकर बरे । प्रतीची दिशा की ओर समासीन होकर गायत्री देवी का जाप करे । जो पहिली और पिछली सन्ध्याओं की

उपासना नहीं करता है वह द्विज लोक में एक शूद्र के ही समान है और सभी कर्मों से विवर्जित होता है । विधि पूर्वक अग्नि में हवन करके और मन्त्रों से यज्ञावशिष्ट को खाकर भृत्य और बान्धव जनों के सहित रात्रि में शुष्क पद वाला होकर शयन करे । न तो उत्तर की तरफ मुख करके सोवे और न पश्चिमाभिमुख होकर शयन करे—न आकाश में—न भग्न—न अशुचि और न कहीं पर भी आसन पर शयन करना चाहिए ॥५०६-५१२॥

न शीर्णयांतु खट्वायांशून्यागारे न चैव हि ।

नानुवंशेन पालाशे शयने वा कदाचन ॥५१३

इत्येतदखिलेनोक्तमहन्यहनि वै मया ।

ब्राह्मणानाङ्कृत्यजातमपवर्गफलप्रदम् ॥५१४

नास्तिक्यादथवालस्यद् ब्राह्मणो न करोति यः ।

स याति नरकान्धोरान् काकयोनौ च जायते ॥५१५

नाऽन्यो विमुक्तये पन्था मुक्त्वाऽऽश्रमविधिं स्वकम् ।

तस्मात्कर्मणि कुर्वीत तुष्टये परमेष्ठिनः ॥५१६

जो खाट अत्यन्त शीर्ण हो उस पर भी नहीं सोना चाहिये तथा शून्य घर में न सोवे एवं अनुवंश से पलाश की शय्या पर भी कभी शयन नहीं करना चाहिए । यह मैंने दिन प्रतिदिन में पूर्ण ही ब्राह्मणों का कृत्य जात बतला दिया है जो अपवर्ग के फल का प्रदान करने वाला है । जो ब्राह्मण नास्तिक्य भाव से अथवा आलस्य से यह नहीं करता है वह ब्राह्मण घोर नरकों में जाता है और फिर कौआ की योनि में समुत्पन्न हुआ करता है । अपनी आश्रम की विधि का त्याग करके अन्य कोई भी विमुक्ति का मार्ग ही नहीं है । इसलिये भगवान् परमेष्ठी की संतुष्टि के लिये ब्राह्मण को अपने कर्म अवश्य करने चाहिए ॥५१३-५१६॥

एष वोऽभिहितः कृत्स्नो गृहस्थाश्रमवासिनः ।

द्विजातेः परमो धर्मो वर्त्तनानि निबोधत ॥५१७

द्विविधस्तु गृहीज्ञेयः साधकश्चाप्यसाधकः ।
 अध्यापनं याजनञ्च पूर्वस्याहुः प्रतिग्रहम् ।
 कुसीदकृषिवाणिज्यम् प्रकुर्वन्तः स्वयं कृतम् ॥५१८
 कृषेरभावे वाणिज्यं तदभावे कुसीदकम् ।
 आपत्कल्पस्त्वयं ज्ञेयः पूर्वोक्तो मुख्य इष्यते ॥५१९
 स्वयं वा कर्षणाकुर्याद्वाणिज्यं वा कुसीदकम् ।
 कष्टा पापीयसी वृत्तिः कुसीदं तद्विवर्जयेत् ॥५२०
 क्षात्रवृत्तिम् पराम्प्राहुर्न स्वयं कर्षणं द्विजैः ।
 तस्मात्क्षेत्रेण वर्त्तेत वर्त्ततेऽनापदि द्विजः ॥५२१
 तेन चावाप्यजीवस्तु वैश्यवृत्तिः कृषिव्रजेत् ।
 न कथञ्चन कुर्वीत ब्राह्मणः कर्म कर्षणम् ॥५२२
 लब्धलाभः पितृन् देवान् ब्राह्मणांश्चापापूजयेत् ।
 ते तृप्तास्तस्य तं दोषं शमयन्ति न संशयः ॥५२३

महामहिम महर्षि व्यास देव ने कहा—यह हमने सम्पूर्ण गृहस्थाश्रम
 वासी का धर्म आप लोगों को बतला दिया है जो कि द्विजाति का परम
 धर्म होता है अब वर्त्तमान को भी समझ लो । यह गृही भी दो प्रकार
 होता है—एक साधक गृही है और दूसरा असाधक गृही होता है । अध्या-
 पन—याजन और प्रतिग्रह पहिले का ही अर्थात् साधक गृही का ही
 बताया गया है । कुसीद—कृषि—वाणिज्य को स्वयं ही करने वाले होते
 हैं । कृषि के अभाव में वाणिज्य और वाणिज्य के भी अभाव में कुसीदक
 वृत्ति करे । किन्तु यह आपत्ति के समय में किये जाने वाला कल्प है—
 ऐसा ही समझ लेना चाहिए जो पूर्व में कहा गया है वही मुख्य अभीष्ट
 है । स्वयं ही कर्षण करे, वाणिज्य अथवा कुसीदक करे । पापीयसी वृष्टि
 बड़ी ही कष्टकर होती है अतएव कुसीद को विवर्जित कर देना चाहिये ।
 क्षात्र वृत्ति को परा कहते हैं । द्विजों को स्वयं कर्षण नहीं करना चाहिए
 इसीलिये क्षात्र वृत्ति से नर्त्तन करना चाहिए । अनापत्तिकाल में द्विज को
 वर्त्तना चाहिए । उसके द्वारा अवाप्य जीवन होते हुए वैश्य वृत्ति कृषि को
 करे । किन्तु किसी भी प्रकार से ब्राह्मण को कर्षण का कर्म (खेत की

जुताई) नहीं करना चाहिए । लाभ प्राप्त करने वाले को पितृगण-देवगण ब्राह्मणों का पूजन करना चाहिए । वे जब तृप्त हो जाते हैं परम सन्तुष्ट होकर उस कर्म के उस दोष का वे अवश्य ही गमन कर दिया करते हैं— इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥५१७-५२३॥

देवेभ्यश्चपितृभ्यश्चदद्याद्भ्रातृविशकम् ।

त्रिशद्भागंब्राह्मणानां कृषिं कुर्वन्न दुष्यति ॥५२४

वाणिज्येद्विगुणंदद्यात् कुसीदीत्रिगुणपुनः ।

कृषिपालान्नदोषेणयुज्यते नात्रसंशयः ॥५२५

शिलोञ्छंवाप्याददीतगृहस्थःसाधकःपुनः ।

विद्याशिल्पादयस्त्वन्येवहवोवृत्तिहेतवः ॥५२६

असाधकस्तु यः प्रोक्तो गृहस्थाश्रमसंस्थितः ।

शिलोञ्छे तस्य कथिते द्वे वृत्ती परमर्षिभिः ॥५२७

अमृतेनाथवा जीवेन्मृतेनाप्यथवा दयि ।

अयाचितं स्यादमृतं मृतम्भेक्षन्तुयाचितम् ॥५२८

कुशूलधान्यकोवा स्यात्कुम्भीधान्यकएव च ।

त्र्याह्नकोवापिचभवेदश्वस्तनिकएव च ॥५२९

चतुर्णामप वे तेषां द्विजानांगृहमेधिनाम् ।

श्रेयान्परःपरोज्ञेयोधर्मतोलोकजित्तमः ॥५३०

देवों और पितृगणों के लिये बीसवाँ भाग देवे । तीस भाग ब्राह्मणों को देवे तो कृषिकर्म करते हुए भी कोई दोष नहीं होता है । वाणिज्य में दुगना देवे और कुसीदजीवी को तिगुना देना चाहिए । कृषिपाल के अन्न दोष से युक्त होता है—इस में संशय नहीं है । अथवा स्तधृक गृहस्थ को शिलोञ्छ का आदान करना चाहिए । अन्य शिल्प आदि की बहुत-सी विद्याएँ हैं जो वृत्ति के हेतु होती हैं । जो असाधक है और गृहस्थाश्रम में संस्थित होता है—ऐसा कहा गया है उसकी शिलोञ्छ ये ही वृत्तियाँ परम ऋषियों ने बताई हैं । अमृत वृत्ति से जीवन यापन करे अथवा मृत से करे । जो अयाचित होता है वही अमृत होता है और जो भैक्ष्य याचना के द्वारा प्राप्त किया जावे वही मृत कहलाता है । कुशूल धान्यक होवे या

कुम्भीधान्यक हो अथवा वल्लिक (तीन दिन का) होवे तथा अश्वस्तनिक ही हो—इन चारों प्रकार के गृहमेधी द्विजों के अन्तों में जो पर से पर हो उसी को श्रेयस्कर समझना चाहिए और धर्म से लोक जित्तम होता है ॥५२४-५३०॥

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि दानधर्ममनुत्तमम् ।

ब्रह्मणाभिहितं पूर्वमृषीणां ब्रह्मवादिनाम् ॥५३१

अर्थानामुचिते पात्रे श्रद्धया प्रतिपादनम् ।

दानमित्यभिनिर्दिष्टं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥५३२

यददाति विशिष्टेभ्यः श्रद्धयायुतः ।

तद्विचित्रमहम्मन्ये शेषं कस्यापिरक्षति ॥५३३

नित्यं नैमित्तिककाम्यं त्रिविधं दानमुच्यते ।

चतुर्थं विमलम्प्रोक्तं सर्वदानोत्तमोत्तमम् ॥५३४

अहन्यहनियत्किञ्चोद्दीयतेऽनुपकारिणे ।

अनुद्दिश्य फलं तस्माद्ब्राह्मणाय पुनित्यकम् ॥५३५

यत्तपापोपशान्त्यर्थं दीयते विदुषांकरे ।

नैमित्तिकं दाकन्तदुद्दिष्टं न सद्भिर्भरनुष्ठितम् ॥५३६

आपत्यविजयं श्रय्यं स्वर्गार्थं यत्प्रदीयते ।

दानं तत्काम्यमाख्यातमृषिभिर्द्धमंचिन्तकैः ॥५३७

महामहिम श्री व्यासजी ने कहा —इसके उपरान्त अब मैं दान के धर्मों के विषयों में वर्णन करता हूँ । जिसके पहिले ब्रह्मवादी ऋषियों को ब्रह्माजी ने कहा था । बहुत अर्थों का अमुचित पात्र अर्थात् योग्य अधिकार मनुष्य में श्रद्धा पूर्वक जो प्रतिपादन करना है उसी को दान इस नाम से अभिनिर्दिष्ट किया गया है । मुक्ति (सांसारिक सभी उत्तमोत्तम पदार्थों का उपभोग) और मुक्ति अर्थात् निरन्तर जीवन—मरण के बन्धन से छुटकारा पाजाना—इन दोनों ही के फल को वह दिया हुआ दान प्रदान किया करता है । जो दान विशेषता से सम्पन्न शिष्टों को श्रद्धा से युक्त होकर दिया जाता है—मैं ऐसा मानता हूँ कि वह तो एक परम अद्भुत ही दान होता है शेष किसी की रक्षा करता है । यह दान भी नित्य—

नैमित्तिक—काम्य तीन प्रकार का हुआ करता है। इसका एक चौथा भेद भी है जो “विमल” कहा गया है। यह सभी उत्तम से भी उत्तम दानों में से एक है। दिन प्रति दिन उपकार न करने वाले ब्राह्मण के लिये उससे किसी फल का उद्देश्य न करके जो कुछ भी दिया जाता है यही नित्य दान कहलाता है। जो पापों की उपशान्ति करने के लिये जो विद्वान् पुरुषों को दान दिया करता है उस दान को नैमित्तिक दान निर्दिष्ट किया गया है उसका सत्पुरुषों ने अनुष्ठान किया है। सन्तान—विजय—ऐश्वर्य और स्वर्ग की प्राप्ति के लिये जो कुछ भी दिया जाता है उसी दान को काम्य कहा गया है जिसका प्रति धर्म के चिन्तन करने वाले ऋषिगण ने किया है ॥५३१-५३७॥

यदीश्वरप्रीणनार्थं ब्रह्मवित्सु प्रदीयते ।

चेतसाधर्मयुक्तेन दानं तद्विमलं शिवम् ॥५३८

दानधर्म निषेवेत पात्रमासाद्य शक्तिः ।

उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयति सर्वतः ॥५३९

कुटुम्बभक्तवसनाद्देयं यदतिरिच्यते ।

अन्यथा दीयते यद्धि तद्दानं फलप्रदम् ॥५४०

श्रोत्रियाय कुलीनाय विनीताय तपस्विने ।

व्रतस्थाय दरिद्राय यद्देयं भक्तिपूर्वकम् ॥५४१

यस्तुदद्यान्महोम्भक्त्या ब्राह्मणायाहिताग्नये ।

सयातिपरमं स्थानं यत्र गत्वानशोचति ॥५४२

इक्षुभिः सन्ततां भूमिं यवगोधूमशालिनीम् ।

ददाति वेदविदुषे यः स भूयोन जायते ॥५४३

गोचर्ममात्रामपि वा यो भूमिसम्प्रयच्छति ।

ब्राह्मणाय दरिद्राय सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥५४४

ईश्वर के प्रसन्नता के लिये जिसको ब्रह्म के ज्ञाता जनों में दिया जाता है और धर्म से युक्त चित्त से ही वह दान किया जाया करता है उसी को ऋत्व इस नाम से परम शिव दान बताया गया है। उचित पात्र को प्राप्त करके शक्ति के अनुसार धन के धर्म का निषेवन करना चाहिए

ऐसा ही पात्र उत्पन्न होगा जो सभी को तार दिया करता है। कुटुम्ब को भोजन—वस्त्र से देने के पश्चात् जो भी कुछ अतिरिक्त होता है उसी का दान भी करना चाहिए। जो अन्यथा दिया जाता है वह दान फल तो प्रदान करने वाला नहीं होता है। श्रोत्रिय—कुलीन—विनीत—तपस्वी—व्रत में स्थित और दरिद्र के लिये उस दान को भक्ति की भावना से देना चाहिए। जो कोई भक्ति पूर्वक किसी आहित अग्नि वाले ब्राह्मण को भूमि का दान करता है वह भूमि का दानदाता पुरुष उस परम स्थान को अन्त में प्राप्त होता है कि जहाँ पर पहुँच कर किसी भी प्रकार शोक चिन्ता ही नहीं रहा करती है। ईख से सन्तत और यव तथा गेहूँ से षोभा सम्पन्न भूमि को जो कोई किसी वेदों के विद्वान् ब्राह्मण को दान में देता है वह फिर दूसरा जन्म ग्रहण नहीं किया करता है। गौ का चर्म जितनी दूरी में बिछाकर फैलता है उतनी भूमि भी यदि दान में प्रदान कोई करता है और वह भी किसी अत्यन्त गरीब धन हीन दरिद्र ब्राह्मण को दी जावे तो वह दाता समस्त पापों से छूट जाया करता है ॥५३८-५४४॥

भूमिदानात्परं दानं विद्यते नेह किञ्चन ।

अन्नदानं तेन तत्तुल्यं विद्यादानं ततोऽधिकम् ॥५४५॥

यो ब्राह्मणाय शुचये धर्मशीलाय शीलिते ।

ददाति विद्यां विधिना ब्रह्मलोके महीयते ॥५४६॥

दद्यादहरहस्त्वन्नं श्रद्धया ब्रह्मचारिणे ।

सर्वपापविनिर्मुक्तो ब्राह्मणं स्थानमाप्नुयात् ॥५४७॥

गृहस्थायाऽन्नदानेन फलम् प्राप्नोति मानवः ।

आगमे चास्य दातव्यं दत्त्वाऽऽप्नोति परां गतिम् ॥५४८॥

वैशाख्यां पौर्णमास्यां तु ब्राह्मणान्सप्त पञ्च वा ।

उपोष्य विधिना शान्ताञ्छुचीन् प्रयतमानसः ॥५४९॥

पूजयित्वा तिलैः कृष्णैर्मधुना च विशेषतः ।

गन्धादिभिः समभ्यर्च्य वाचयेद्वा स्वयं वदेत् ॥५५०॥

प्रीयतां धर्मराजेति यद्वा मनसि वर्तते ।

यावज्जीवं कृतम्पापं तत्क्षणदेव नश्यति ॥५५१॥

इस संसार में भूमि के दान की बहुत बड़ी महिमा है इस दान से पर अर्थात् बड़ा दान लोक में कोई नहीं है । अन्न दान भी बहुत बड़ा दान है किन्तु उसके दान से भी यह बड़ा दान है । विद्या का दान इससे भी अधिक होता है । जो किसी पवित्र—धर्मशील और शील सम्पन्न ब्राह्मण को विद्या का दान देता है वह ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित हुआ करता है । श्रद्धा से प्रतिदिन ब्रह्मचारी को अन्न देना चाहिए । अन्नदाता सभी पापों से छूट कर ब्राह्मण स्थान को प्राप्त किया करता है । मनुष्य गृहस्थाश्रमी को अन्न के दान से फल की प्राप्ति किया करता है । आगम में इसके दान का पुण्य लिखा है कि अवश्य अन्न का दान करना चाहिए और इस को देकर परागति को प्राप्त किया करता है । वैशाखी पूर्णमासी को पाँच या सात ब्राह्मणों को उपवास करा कर जो परम शान्त स्वभाव वाले और शुचि हों, प्रयत्न मन वाला होकर कृष्ण तिलों से और विशेष रूप से मनु के द्वारा पूजन करके तथा गन्धाक्षत आदि के द्वारा भली भाँति अर्चन करके वाचन करावे वा स्वयं ही बोले—‘धर्मराज प्रसन्न होंगे’ अथवा मन में वर्तमान होता है । जीवन भर में जितना भी पाप किया है वह उसी समय में क्षण मात्र में नष्ट हो जाया करता है ॥५४५-५५१॥

कृष्णाजिनेतिलान्दत्त्वाहरिष्यमधुसर्पिषी ।

ददातियस्तु विप्राय सर्वतरतिदुष्कृतम् ॥५५२॥

कृतान्नमुदकुम्भञ्च वंशाख्याञ्च विशेषतः ।

निर्दिश्यधर्मराजयविप्रेभ्योमुच्यतेभयात् ॥५५३॥

सुवर्णतिलयुक्तैस्तु ब्राह्मणान् सप्त पञ्च वा ।

तर्पयेदुदपात्राणि ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥५५४॥

(माघमासेतु विप्रस्तु द्वादश्यां समुरोषितः ।)

शुक्लाम्बरधरः कृष्णंस्तिलैर्हुत्वा हुताशनम् ।

जन्मप्रभृति यत्पापं सर्वं तरति वै द्विजः ॥५५५॥

अमावास्यामनुप्राप्य ब्राह्मणाय तपस्विने ।

यत्निश्चिद्देवदेवेशं दद्याद्वोद्दिश्यशङ्करम् ॥५५६

प्रीयतामीश्वरः सोमो महादेवः सनातनः ।

सप्तजन्मकृतं पापं तत्क्षणादेवः नश्यति ॥ ५५७

यस्तु कृष्णचतुर्दश्यां स्नात्वा देवं पिनाकिनम् ।

आराधयेद् द्विजमुखे न तस्याऽस्ति पुनर्भवः ॥५५८

कृष्ण मृग चर्म में तिलों को देकर सुवर्ण—मधु और घृत जो कोई ब्राह्मण के लिये दान करता है वह सभी दुष्कृतों से तर जाया करता है । कृतान्न—जल का कलश वैशाखी पूर्णिमा में विशेष रूप से धर्मराज के लिये निर्देश करके विप्रों को दान देता है वह भय से मुक्त हो जाता है । सुवर्ण तिल युक्तों के द्वारा सात या पाँच ब्राह्मणों को जल के पात्र से जो तृप्त किया करता है वह ब्रह्महत्या के पाप को भी दूर कर दिया करता है । माघ मास में द्वादशी तिथि में समुपोषित विप्र शुक्ल वस्त्रों के धारण करने वाला तिलों से अग्नि को हुत करके सुसमाहित होकर विप्र ब्राह्मणों को दान करे । वह द्विज जन्म से लेकर जो भी कुछ पाप हो उस सब से मुक्त हो जाया करता है । अमावस्या तिथि को प्राप्त करके किसी परम तपस्वी ब्राह्मण के लिये देवों के भी देव भगवान् शङ्कर का उद्देश्य करके जो कुछ भी दान किया करता है और यह कह कर कि सनातन ईश्वर सोम महादेव प्रसन्न हों तो सात जन्मों के किये हुए भी पाप उसी क्षण में तुरन्त ही नष्ट हो जाया करते हैं । जो कोई कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी तिथि में स्नान करके पिनाकधारी देव की आराधना करता है और वह भी द्विज मुख में करे तो उसका संसार में पुनर्जन्म नहीं होता है ॥५५२-५५८॥

कृष्णाष्टम्यां विशेषेण धार्मिकाय द्विजातये ।

स्नात्वाऽभ्यर्च्य यथान्यायं पादप्रक्षालनादिभिः ॥५५९

प्रीयतामेमहादेवोदद्याद्द्रव्यंस्वकीयकम् ।

सर्वपापविनिर्मुक्तः प्राप्नोति परमांगतिम् ॥५६०

द्विजः कृष्णचतुर्दश्यां कृष्णाष्टम्यां विशेषतः ।

अमावास्यांतु वै भक्तैः पूजनीयस्त्रिलोचनः ॥५६१

एकादश्यां निराहारोद्वादश्यांपुरुषोत्तमम् ।

अर्चयेद्ब्राह्मणमुखेस गच्छेत्परमम्पदम् ॥५६२

एषा तिथिवैष्णवी स्याद्द्वादशीशुक्लपक्षके ।

तस्यामाराधद्देवम्प्रयत्नेन जनार्दनम् ॥५६३

यत्किञ्चिद्देवमीशानमुद्दिश्य ब्राह्मणे शुचौ ।

दायते विष्णवे वापि तदनन्तफलप्रदम् ॥५६४

यो हि यां देवतामिच्छेत्समाराधयितुन्नरः ।

ब्राह्मणान् पूजयेद्विद्वान् स तस्यास्तोषहेतुतः ॥५६५

कृष्ण पक्ष की अष्टमी में विशेष रूप से धार्मिक द्विजाति के लिये स्नान करके यथा न्याय पादों के प्रक्षालन आदि के द्वारा अभ्यर्चन करके यह कहते हुए महादेव मुख पर प्रसन्न होवें अपना द्रव्यदान करे तो वह सभी प्रकार के पापों से विनिर्मुक्त होकर परम गति को प्राप्त किया करता है । भक्त द्विजों को कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी में—विशेष रूप से कृष्णाष्टमी में और अमावस्या में भगवान् त्रिलोचन की पूजा अवश्य ही करनी चाहिये । एकादशी तिथि में निराहार व्रत करके द्वादशी तिथि में ब्राह्मण मुख में भगवान् पुरुषोत्तम का समर्चन करे तो वह परम पद को चला जाया करता है । शुक्ल पक्ष में द्वादशी तिथि वैष्णवी होती है । उस में प्रयत्न पूर्वक जनार्दन देव का समाराधन करना चाहिये । जो कुछ भी किसी शुचि ब्राह्मण को ईशान देव का उद्देश्य करके अथवा विष्णु के लिये दान किया जाता है उसका अनन्त फल हुआ करता है । जो कोई जिस देवता की भी आराधना करना चाहता है तो उसका कर्तव्य है कि उस देवता के तोष करने लिये विद्वान् पुरुष को सर्व प्रथम ब्राह्मणों का पूजन करना चाहिए ॥५५६-५६५॥

द्विजानां वपुरास्थाय नित्यं तिष्ठन्ति देवताः ।

पूज्यन्ते ब्राह्मणालाभे प्रतिमादिष्वपि क्वचित् ॥५६६

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन तत्तत्फलमभीप्सुभिः ।

द्विजेषु देवता नित्यं पूजनीया विशेषतः ॥५६७

विभूतिकामः सततं पूजयेद्ब्रह्मपुरन्दरम् ।

ब्रह्मवर्चसकामस्तु ब्रह्माणं ब्रह्मकामुकः ॥५६८

आरोग्यकामोऽथर विधेनुकामो हुताशन् ।

कर्मणांसिद्विकामस्तु पूजयेद्ब्रह्मविनायकम् ॥५६९

भोगकामस्तु शशिनं बलकामः समीरणम् ।

मुमुक्षुः सर्वसंसारप्रयत्नेनाच्चयेद्भरिम् ॥५७०

यस्तु योगंतथामोक्षमिच्छेत्तज्ज्ञानमैश्वरम् ।

सोऽर्चयेद्ब्रह्मविरूपाक्षं प्रयत्नेन महेश्वरम् ॥५७१

यो वाञ्छति महायोगाज्ज्ञानानि च महेश्वरम् ।

ते पूजयन्ति भूतेशं केशवञ्चापि भोगिनः ॥५७२

द्विजों के शरीर में देवगण समास्थित होकर नित्य ही स्थित रहा करते हैं। ब्राह्मणों का लाभ न हो तो कहीं पर प्रतिमा आदि में भी देवों का पूजन किया जाता है। इसलिये उस देवार्चन के फल की इच्छा रखने वालों को सब प्रकार के प्रयत्न से द्विजों में ही नित्य विशेष रूप से देवों का पूजन करना चाहिए। जो कोई पुरुष वैभव की कामना रखता हो उसे निरन्तर पुरन्दर का पूजन करना चाहिए। जो ब्रह्म कामुक ब्रह्म वर्चस के प्राप्त करने की कामना रखता है उसे ब्रह्माजी का आराधन करना उचित है। जो अपने आरोग्य को स्थिर और सार्वदिक रखना चाहता है उसको भुवनभास्कर सूर्य देव का अर्चन करना चाहिए धेनु की कामना वाले को अग्नि देव का आराधना करना चाहिए। जो अपने किये गये कर्मों को सिद्धि की कामना रखता है उसे भगवान् विनायक का पूजन करना चाहिए। भोगों की कामना वाले को शशि—बल की कामना वाले को वायु—तथा इस संसार से सभी प्रकार से छुटकारा पाने की इच्छा वाले को प्रयत्न पूर्वक भगवान् श्रीहरि का ही समर्चन करना चाहिए। जो योग तथा मोक्ष और उसका ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करना चाहता है उसे प्रयत्न के साथ विरूपाक्ष महेश्वर का ही अर्चन करना उचित है।

जो महायोगों की तथा ज्ञानों की इच्छा करता है उसको महेश्वर प्रभु का पूजन उचित होता है, जो भूतेश हैं और भोगी लोग केशव प्रभु का पूजन किया करते हैं ॥५६६-५७२॥

वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यन्नदः ।

तिलप्रदःप्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम् ॥५७३

भूमिदःसर्वमाप्नोतिदीर्घमायुर्हिरण्यदः ।

गृहदोऽग्राणिवेश्मानिरूप्यदोरूप्यमुत्तमम् ॥५७४

वासोदश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः ।

अनुदुहः श्रियं पुष्टां गोदो ब्रध्नस्य विष्टपम् ॥५७५

यानशय्याप्रदो भार्यामैश्वर्यमभयप्रदः ।

धान्यदःशाश्वतंसौख्यंब्रह्मदोब्रह्मसात्म्यताम् ॥५७६

धान्यान्यपियथाशक्तिविप्रेषुप्रतिपादयेत् ।

वेदवित्सु विशिष्टेषु प्रेत्यस्वर्गं समश्नुते ॥५७७

गवां वा सम्प्रदानेन सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

इन्धनानां प्रदानेन दीप्ताग्निर्जायते नरः ॥५७८

फलमूलानि शाकानि भोज्यानि विविधानि च ।

प्रदद्याद्ब्राह्मणोभ्यस्तु मुदा युक्तः स्वयम्भवेत् ॥५७९

जब वारिद होता है अर्थात् जल का दान करता है तृप्ति की प्राप्ति करता है तो वह अक्षय सुख और अन्न को देने वाला होता है । तिलों का प्रदान करने वाला अभीष्ट प्रजा पाता है । दीप का दाता उत्तम चक्षु प्राप्त किया करता है । भूमि का दाता सभी कुछ की प्राप्ति किया करता है । सुवर्ण का दाता दीर्घ आयु की प्राप्ति करता है । गृह का दान करने वाला उत्तम घरों की प्राप्ति किया करता है । वस्त्रों का दाता पुरुष चन्द्र का सालोक्य पाता है और अश्व का दान करने वाला पुरुष अश्व की सलोकता की प्राप्ति किया करता है । अनुदुह (वृषभ) का दान करने वाला पुरुष परम पुष्ट श्री की प्राप्ति करता है और गौ का दाता विष्टप (स्वर्ग) की प्राप्ति करता है । पान और शय्या का दान करने वाला भार्या को पाता है और अभय का दान करने वाला पुरुष ऐश्वर्य का लाभ

किया करता है। जो धान्य का दान करता है उसे शाश्वत सुख मिलता है तथा ब्रह्मज्ञान का दाता ब्रह्मा की ही सात्यता का लाभ पाता है। इस लिये अपनी शक्ति के अनुसार धान्यों का दान विप्रों को अवश्य ही प्रतिपादित करना ही चाहिए। जो वेदों के विद्वान् हों और विशेषता से सुसम्पन्न हों उन्हीं विप्रों को दान देने से मनुष्य मर कर फिर स्वर्ग के वास को प्राप्त करता है। गौओं के भली-भाँति दान देने से मनुष्य सभी पापों से मुक्त हो जाया करता है। ईंधनों के दान से मनुष्य दीप्त अग्नि वाला हो जाता है। फल-मूल शाक-विविध भाँति के भोज्य पदार्थ ब्राह्मणों को दान में देने चाहिए—इसका फल यह होता है कि मनुष्य स्वयं आनन्द से युक्त हुआ करता है ॥५७३-५७६॥

औषधं स्नेहमाहार रोगिणे रोगशान्तये ।

ददानो रोगरहितः सुखो दीर्घायुरेव च ॥५८०

असिपत्रवनं मार्गं क्षुरधारासमन्वितम् ।

तीव्रतापञ्च तरति छत्रोपानत्प्रदो नरः ॥५८१

यद्यदिष्टतमं लोके यच्चापि दयितं गृहे ।

तत्तद्गुणवते देयं तदेवाक्षयमिच्छता ॥५८२

अयने विषुवे चैव ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ।

संक्रान्त्यादिषु कालेषु दत्तम्भवति चाक्षयम् ॥५८३

प्रयागादिषु तीर्थेषु पुण्येष्वायतनेषु च ।

दत्त्वाचाक्षयमाप्नोति नदीषु च वनेषु च ॥५८४

दानधर्मात्परोधर्मोभूतानानेह विद्यते ।

तस्माद्विप्रायदातव्यं श्रोतियाय द्विजातिभिः ॥५८५

स्वर्गायुर्भूतिकामेन तथा पापोपशान्तये ।

मुमुक्षुणा च दातव्यं ब्राह्मणेभ्यस्तथान्वहम् ॥५८६

औषध—स्नेह (घृतादि) और आहार रोगी पुरुष को उसके रोग की शान्ति के लिये दान करने वाला पुरुष स्वयं रोग से रहित—सुखी और दीर्घ आयु वाला होता है। छाता और जूतों का प्रदान करने वाला पुरुष क्षुर के समान महा कठिन एवं कष्ट प्रद असिपत्र वन नामक नरक

के मार्ग को तथा तीव्रतम ताप को तर जाया करता है । जो-जो भी इस लोक में इष्टतम हो और जो भी गृह में परम प्रिय पदार्थ हो उसके अक्षय होने की इच्छा से वही-वही किसी गुणशाली पुरुष को दान में देने ही चाहिए । अयन में—विषुव में और चन्द्र सूर्य के ग्रहण की बेला में, संक्रान्ति आदि कालों में जो भी कुछ दान किया जाता है वह अक्षय होता है । प्रयाग आदि तीर्थों में तथा पुण्यमय आयतनों में पवित्र नदी और पुष्प पूर्ण वनों में जो भी कुछ दान किया जाता है वही क्षय से रहित हो जाया करता है । इस संसार में दान के धर्म का बस अधिक महत्व है और इससे बड़ा कोई भी अन्य धर्म नहीं है । इसलिये द्विजातियों के द्वारा श्रोत्रिय विप्र को दान अवश्य ही देना चाहिये । स्वर्ग—आयु—वैभव के प्राप्त करने की कामना वाले तथा पापों की उपशान्ति के लिये मुमुक्षुओं को प्रतिदिन ही ब्राह्मणों को दान अवश्य की करना चाहिए ।

॥५८०-५८६॥

दीयमानन्तुया मोहाद्गोविप्राग्निपुरेषु च ।
 निवारयतिपापात्मातिर्यग्योनिव्रजेत्तु सः ॥५८७
 यस्तु द्रव्यार्जनं कृत्वा नार्चयेद् ब्राह्मणान् सुरान् ।
 सर्वस्वमपहत्येनं राष्ट्राद्विप्रतिवासयेत् ॥५८८
 यस्तु दुर्भिक्षवेलायामन्नाद्यं न प्रयच्छति ।
 अन्नयमाणेषुसत्त्वेषु ब्राह्मणः स तु गर्हितः ॥५८९
 तस्मिन्नप्रतिगुल्लियान्नवै देयञ्चतस्यहि ।
 अङ्कयित्वास्वकाद्राष्ट्रात्तं राजाविप्रवासयेत् ॥५९०
 यस्तु सद्भ्यो ददातीह न द्रव्यधर्मसाधनम् ।
 सपूर्वाभ्याधिकःपापीनरकेपच्यतेनरः ॥५९१
 स्वाध्यायवन्तो ये विप्रा विद्यावन्तो जितेन्द्रियाः ।
 सत्यसंयमसंयुक्तास्तेभ्यो दद्याद् द्विजौत्तमः ॥५९२
 सुभुक्तमपिविद्वांसंधामिकम्भोजयेद् द्विजम् ।
 न तु मूर्खमवृत्तस्थंदशरात्रमुपोषितम् ॥५९३

जो कोई गौ—विप्र—अग्नि और सुरों को दीपमान दान का मोह के वश में होकर निवारण किया करता है वह पापात्मा तिर्यक् योनि में जाया करता है । जो पुरुष धन की खूब खासी आमदनी करके भी ब्राह्मणों और देवों का समर्चन नहीं किया करता है वह सर्वस्व का अपहरण करा कर राष्ट्र से विप्रति वासित हुआ करता है । जो द्रुभिक्ष के समय में भी अन्न आदि का दान नहीं किया करता है और जब जीव म्रियमाण होते हैं तो वह ब्राह्मण अत्यन्त गहित हो जाता है । इस प्रकार के ब्राह्मण से प्रतिग्रह नहीं लेना चाहिए और उसको कुछ दान भी नहीं देना चाहिए । राजा का कर्त्तव्य है कि उसे पकड़ कर अपने देश से बाहर निकाल देवे । जो पुरुष यहाँ पर सत्पुरुषों को दान नहीं दिया करता है उसका द्रव्य धर्म का साधन नहीं होता है वह पहिले से भी अत्यधिक पापी है और वह मनुष्य नरक में जाकर अनेक यातनाओं को सहन किया करता है । जो विप्र स्वाध्याय वाले हैं तथा विद्या से सम्पन्न हैं इन्द्रियों को जीतने वाले हैं तथा सत्य और संयम से समन्वित हैं, हे द्विजश्रेष्ठो ! ऐसे ही ब्राह्मणों को सर्वदा दान देना चाहिए । भली भाँति मुक्त भी हो किन्तु विद्वान् और धार्मिक हो तो उसी ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिए अर्थात् विद्वान् और धार्मिक चाहे भूखा भी न हो तो भी भोजन उसको ही कराना कल्याणकर होता है और जो मूर्ख तथा असत् चरित्र वाला हो वह चाहे दश दिन का भूखा भी क्यों न हो उसे कभी भी दान का धान्य नहीं देना चाहिए क्योंकि मूर्ख और चरित्र हीन को देने से पुण्य तो होता ही नहीं प्रत्युत पाप ही हुआ करता है ॥५८७-५९३॥

सन्निकृष्टमतिक्रम्य श्रोत्रियं यः प्रयच्छति ।

स तेन कर्मणापापी दहत्यासप्तमंकुलम् ॥५९४॥

यदि स्यादधिको विप्रः शीलविद्यादिभिः स्वयम् ।

तस्मै यत्नेन दातव्यमतिक्रम्याऽपि सन्निधिम् ॥५९५॥

योऽर्चितम्प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेववा ।

तावुभौगच्छतः स्वर्गं नरकन्तु विपर्यये ॥५९६॥

न वायपि प्रयच्छेत नास्तिके हेतुकेऽपि च ।

पाषण्डेषु च सर्वेषु नाऽवेदविदि धर्मवित् ॥५६७

अपूपञ्च हिरण्यञ्च गामश्च पृथिवीतिलान् ।

अविद्वान्प्रतिगृह्णानो भस्मो भवति काष्ठवत् ॥५६८

द्विजातिभ्यो धनं लिप्सेत्प्रशस्तेभ्यो द्विजोत्तमः ।

अपि वा जातिमात्रेभ्यो न तु शूद्रात्कथञ्चन ॥५६९

वृत्तिसङ्कोचमन्विच्छेत् नेहेतधनविस्तरम् ।

धनलोभे प्रसक्तस्तु ब्राह्मण्यादेव ह्योयते ॥६००

समीप में संस्थित श्रोत्रिय विप्र को अतिक्रान्त करके जो दूर स्थित अन्य को दान दिया करता है वह उस कर्म से पापी होता है और सात कुलों तक को दग्ध करता है । यदि कोई भी विप्र स्वयं शील और विद्या आदि के द्वारा अत्यधिक हो तो सन्निधि में स्थित रहने वाले का भी अतिक्रमण करके प्रयत्न पूर्वक उस अधिक योग्य को ही दान देना चाहिए । जो समर्चित पुरुष से प्रतिग्रह लेता है और समर्चित पुरुष को ही दान देता है वे दोनों ही स्वर्ग को गमन किया करते हैं और इसके विपरीत करने वाले नरक में जाकर पड़ा करते हैं । जो धर्म का वेत्ता पुरुष है उसको नास्तिक और हेतुक का जल भी नहीं देना चाहिए । जो भी पाषण्ड करने वाले तथा वेदों के ज्ञाता न हों उन सब को ही कुछ भी दान नहीं देना चाहिए । अपूप-सुवर्ण-गौ-अश्व-पृथिवी-तिल-इनको अविद्वान् प्रतिग्रह के रूप में ग्रहण करके एक काष्ठ की भाँति ही भस्मीभूत हो जाता करता है । द्विजोत्तम को प्रशस्त द्विजातियों के लिये धन की इच्छा करनी चाहिए । जाति मात्रों से भी ग्रहण करे किन्तु शूद्र से किसी प्रकार से भी ग्रहण नहीं करे । वृत्ति के सङ्कोच की इच्छा करे और धन के विस्तार की इच्छा कभी नहीं करनी चाहिए । धन के लोभ में प्रसक्त होने वाला द्विज ब्राह्मणत्व से ही अवहीन हो जाया करता है ॥५६४-६००॥

वेदानधीत्य सकलान् यज्ञांश्चावप्य सर्वशः ।

न तां गतिमवाप्नोति सङ्कोचाद्यामवाप्नुयात् ॥६०१

प्रतिग्रहरुचिर्न स्याद्यात्रार्थन्तु धनं हरेत् ।

स्थित्यर्थादधिकं गृह्णन् ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ॥६०३॥

यस्तुस्याद्याचकोनित्यनसस्वर्गस्यभाजनम् ।

उद्वेजयतिभूतानियथाचौरस्तथैवसः ॥६०३॥

गुरुन् भृत्यांश्चोजिहीर्षन् अर्चिष्यन्देवतातिथीन् ।

सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्न तु तृप्येत्स्वयं ततः ॥६०४॥

एवं गृहस्थो युक्तात्मा देवतातिथिपूजकः ।

वर्त्तमानः संयतात्मायातितत्परमम्पदम् ॥६०५॥

समस्त वेदों का अध्ययन करके और सभी यज्ञों का अवाप्त करके उस गति को द्विज प्राप्त नहीं होता है जिसको सङ्कोच में प्राप्त कर लिया करता है । तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण को कम से कम आवश्यकतानुसार ही धन एवं परिग्रह का विस्तार करने में ही श्रेय का सम्पादन होता है ब्राह्मण को कभी भी प्रतिग्रह लेने की अभिरुचि नहीं रखनी चाहिए । केवल अपने जीवन की यात्रा का निर्वाह करने के लिये ही धन का अर्जन या प्राप्ति करना चाहिए । स्थिति के अर्थ से अधिक ग्रहण करने वाला ब्राह्मण अधोगति को ही प्राप्त हुआ करता है । जो नित्य ही याचना करने का अभ्यासी होता है वह स्वर्ग का पात्र तो कदापि हो ही नहीं सकता है । ऐसी याचना वृत्ति वाला ब्राह्मण सर्वदा जीवों को उद्वेग ही करता रहता है जिस तरह चोर होता है वैसा ही वह भी होता है । गुरु और भृत्यों की उज्जिहीर्ष करते हुए तथा देवता और अतिथियों का अर्चन करते हुए सभी ओर से प्रतिग्रह ग्रहण करे तो भी स्वयं तृप्त न होवे । इस प्रकार से युक्तात्मा गृहस्थ देवगण और अतिथियों का पूजन करने वाला वर्त्तमान होते हुए संयत आत्मा वाला परम पद को प्राप्त कर लिया करता है ॥६०१-६०५॥

-- --

: युगऋषि पं. श्रीराम शर्मा आचार्य- संक्षिप्त परिचय :



ज्यादा जानकारी यहाँ से प्राप्त करें :
http://hindi.awgp.org/about_us

- **विचारक्रान्ति अभियान के प्रणेता** : विचारों को परिष्कृत और ऊँचा उठाने में समर्थ 3000 से भी अधिक पुस्तकों के लेखन के माध्यम से विश्वव्यापी विचार क्रान्ति अभियान की शुरुआत की ।
- **वेद, पुराण, उपनिषद के प्रसिद्ध भाष्यकार** : जिन्होंने चारों वेद, 108 उपनिषद, षड् दर्शन, 20 स्मृतियाँ एवं 18 पुराणों का युगानुकूल भाष्य किया, साथ ही 19 वाँ प्रज्ञा पुराण की रचना भी की ।
- **3000 से अधिक पुस्तकों के लेखक** : मनुष्य को देवता समान, घर-परिवार को स्वर्ग, समाज को सभ्य और समग्र विश्वराष्ट्र को श्रेष्ठ बनाने में समर्थ हजारों पुस्तकें लिखकर समयानुकूल समर्थ मार्गदर्शन प्रदान किया ।

- **युग-निर्माण योजना के सूत्रधार** : जिन्होंने शतसूत्री युग निर्माण योजना बनाकर नये युग की आधार शिला रखी ।
- **वैज्ञानिक-अध्यात्मवाद के प्रणेता** : जिन्होंने धर्म और विज्ञान के समन्वय की प्रथम प्रयोगशाला 'ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान' स्थापित कर सिद्ध किया कि "धर्म और विज्ञान विरोधी नहीं, पुरक है" ।
- **'२१ वीं सदी : उज्ज्वल भविष्य' के उद्घोषक** : जिन्होंने '२१ वीं सदी : उज्ज्वल भविष्य' का नारा दिया तथा युग विभीषिकाओं से भयग्रस्त मनुष्यता को नये युग के आगमन का संदेश दिया ।
- **स्वतंत्रता संग्राम के कर्मठ सेनानी** : जिन्होंने महात्मा गाँधी, मदन मोहन मालवीय, गुरुवर रविन्द्रनाथ टैगोर के साथ राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया एवं स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी "श्रीराम मत्त" के रूप में प्रख्यात हुए ।
- **गायत्री के सिद्ध साधक** : जिन्होंने गायत्री और यज्ञ को रुढ़ियों और पाखण्ड से मुक्त कर जन-जन की उपासना का आधार तथा सद्बुद्धि एवं सतकर्म जागरण का माध्यम बनाया ।
- **तपस्वी** : जिन्होंने गायत्री की कठोरतम साधना कर २४-२४ लाख के २४ महापुरश्चरण २४ वर्षों में सम्पन्न किया । प्रकृति प्रकोप को शांत कर अनिष्टों को टाला, सृजन सम्भावनाओं को साकार किया ।
- **अखिल विश्व गायत्री परिवार के जनक** : जिन्होंने अपने जीवनकाल में ही अपने साथ करोड़ों लोगों को आत्मियता के सूत्र में बाँधकर विश्व व्यापी 'युग निर्माण परिवार' - 'गायत्री परिवार' का गठन किया ।
- **समाज सुधारक** : जिन्होंने नारी जागरण, व्यसन मुक्ति, आदर्श विवाह, जाति-पाँति प्रथा तथा परंपरागत रुढ़ियों की समाप्ति हेतु अद्भुत प्रयास किए एवं एक आदर्श स्वरूप समाज में प्रस्तुत किया ।
- **ऋषि परम्परा के उद्धारक** : जिन्होंने इस युग में महान ऋषियों की महान परंपराओं की पुनर्स्थापना की । लुप्तप्राय संस्कार परंपरा को पुनर्जीवित कर जन-जन को अवगत कराया ।
- **अवतारी चेतना** : जिन्होंने "धरती पर स्वर्ग के अवतरण और मनुष्य में देवत्व के जागरण" की अवतारी घोषणा को अपना जीवन लक्ष्य बनाया और चेतना का ऐसा प्रवाह चलाया कि करोड़ों व्यक्ति उस ओर चल पड़े ।

गायत्री परिवार जीवन जीने कि कला के, संस्कृति के आदर्श सिद्धांतों के आधार पर परिवार, समाज, राष्ट्र युग निर्माण करने वाले व्यक्तियों का संघ है। **वसुधैवकुटुम्बकम्** की मान्यता के आदर्श का अनुकरण करते हुये हमारी प्राचीन ऋषि परम्परा का विस्तार करने वाला समूह है गायत्री परिवार। एक संत, सुधारक, लेखक, दार्शनिक, आध्यात्मिक मार्गदर्शक और दूरदर्शी युगऋषि पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य जी द्वारा स्थापित यह मिशन युग के परिवर्तन के लिए एक जन आंदोलन के रूप में उभरा है।